हिन्दी समिति ग्रन्थमाला — ७

# संस्कृति का दार्शनिक विवेचन

[ सृजनात्मक मानववाद की भूमिका ]

डॉ० देवराज

दर्शन-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

# प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राजकार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङ्मय के सभी अवयवों पर प्रामाणिक ग्रन्थ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गयी है। यह समिति विगत वर्षों में हिन्दी के ग्रन्थों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब इसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अंगों के सम्बन्ध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंच-वर्षीय योजना बनायी गयी है, जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिये गये हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उन विषयों अथवा उन विषयों को दी जाय जिनकी हिन्दी में नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नही है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते हैं जिनका प्रकाशन कतिपय कारणो से अन्य स्थानो से नही हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रो से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भडार को परिपूर्ण करने मे उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

**भगवती शरण सिह**

सचिव, हिन्दी समिति

देशभक्त, लेखक और नीतिवेत्ता

जवाहरलाल नेहरू

को

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नही है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते है जिनका प्रकाशन कतिपय कारणो से अन्य स्थानो से नही हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रो से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भडार को परिपूर्ण करने मे उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

**भगवती शरण सिह**

सचिव, हिन्दी समिति

देशभक्त, लेखक और नीतिवेत्ता

जवाहरलाल नेहरू

को

# प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक में एक नये जीवन-दर्शन की रूपरेखा देने का प्रयत्न किया गया है। इस जीवन-दर्शन को "सृजनात्मक मानववाद" की संज्ञा दी गई है, और उसके अन्तर्गत मानवीय अनुभूति के कतिपय महत्वपूर्ण क्षेत्रों का स्वरूप समझने की कोशिश की गई है। एक नयी जीवन-दृष्टि के प्रतिपादन के मूल में युग की कुछ जरूरतें रहती हैं। हमारे युग की जरूरतें या समस्याएँ अनेक और विविध हैं। हमारी सबसे बड़ी जरूरत है—जीवन-मूल्यों के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण। आज के मनुष्य के मन में यह धारणा क्रमशः घर कर गई है कि हमारे नैतिक तथा दूसरे मूल्य बहुत कुछ सापेक्ष होते हैं। प्रस्तुत पुस्तक का एक प्रयोजन है, मूल्यों-सम्बन्धी इस संशयवादी तथा निषेधात्मक मनोभाव का निराकरण। उसका दूसरा प्रयोजन है, मनुष्य की उन क्रियाओं की जिनके द्वारा वह विभिन्न मूल्यों की सृष्टि और उपभोग करता है, सम्यक् अवगति प्राप्त करना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लेखक द्वारा किये हुए व्यवस्थित विवेचन के प्रयत्न ने क्रमशः एक व्यापक "संस्कृति दर्शन" का रूप धारण कर लिया। यह महसूस किया गया कि इस प्रकार का दर्शन ही उन अनेक समस्याओं का समन्वित समाधान दे सकता है जो हमारे युग को आन्दोलित कर रही हैं।

एक नवीन जीवन-दर्शन की उपलब्धि के लिये कोई छोटा मार्ग नहीं है। जो व्यक्ति इस प्रकार के दर्शन या दृष्टि को विकसित करना चाहता है, उसे अनिवार्य रूप से ज्ञान-बोध और मूल्यानुभूति के समस्त क्षेत्रों की परीक्षा और समीक्षा करनी पड़ेगी। संस्कृति-दर्शन इन क्षेत्रों की छानबीन इस दृष्टि से करता है कि वह उनके पारस्परिक सम्बन्धों को उद्घाटित करते हुए, यह बता सके कि उनमें से प्रत्येक का, जीवन के व्यापक प्रयोजन एवं योजना की दृष्टि से, क्या [illegible] स्थान है।

आज के "वैज्ञानिक" मनोवृत्ति के विचारक, फिर चाहे वे मनोविज्ञानी हों, अथवा समाज-शास्त्री किंवा तर्क-मूलक भाववाद से प्रभावित दार्शनिक, सब समान रूप से मूल्यानुभावित अनुभवों तथा वाक्यों के प्रति शंका का भाव रखते हैं। [illegible], [illegible]

के चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रचलित धारणा यह है कि मूल्यो की बात करनेवाला शास्त्र या अन्वेषक अवैज्ञानिक होता है। इस प्रचलित मतवाद या फैशन के विरुद्ध प्रस्तुत निबन्ध मे यह प्रस्तावित किया गया है कि दर्शन को विज्ञान से भिन्न या अवैज्ञानिक ही होना चाहिए। मनुष्य की समस्त क्रियाओ का—और उनमे बोध-क्रिया का भी समावेश है—लक्ष्य मूल्यो का उत्पादन है। मनुष्य जानने की इच्छा करता है या तो इसलिये कि "जानना" अपने मे एक सतोपप्रद अनुभव है, अथवा इसलिये कि उसके द्वारा बाह्य परिवेश को अपनी जरूरतो के अनुरूप ढालने मे मदद मिलती है। ज्ञान दो प्रकार का होता है, वैज्ञानिक और दार्शनिक। वैज्ञानिक बोध हमे मुख्यत परिवेशगत वस्तुओ तथा घटनाओ पर नियत्रण देता है, इसके विपरीत दार्शनिक बोध वह है जो हमे अनुभूति के, अर्थात् सोचने, महसूस करने और सकल्प करने के, उच्चतर तथा निम्नतर रूपो मे विवेक करना सिखलाये। इस दृष्टि से हम दर्शन की परिभाषा निम्न प्रकार से कर सकते है दर्शन का कार्य मनुष्य या मानव-जीवन से सम्बन्धित चरम मूल्यो की प्रकृति का अन्वेपण या उद्घाटन है। जिसे हम वैज्ञानिक व्याख्या कहते है वह कारण-मूलक तथा वस्तुओ के अस्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाली होती है, अर्थात् वह उन स्थितियो या दशाओ का सकेत करती है जो वस्तुओ या घटनाओ के आविर्भाव, तिरोभाव और विशेप अवधि तक बने रहने से सहचरित होती है। इसके विपरीत दर्शन का कार्य मनुष्य की निरुपयोगी, सास्कृतिक क्रियाओ की आदर्श-सापेक्ष व्याख्या और मूल्याकन करना है। यह कहने की जरूरत नही कि दर्शन का विपय उक्त क्रियाओ के सामान्य रूप है। दर्शन मे उन सास्कृतिक क्रियाओ या अनुभूतियो का जो कला, वैज्ञानिक चिन्तन, नैतिक व्यवहार, आध्यात्मिक साधना तथा दर्शन मे भी निहित होती है, विश्लेपण ओर व्याख्या की जाती है, इस उद्देश्य से कि उन नियमो अथवा मानदडो का उद्घाटन किया जाय जिनके द्वारा उन क्रियाओ अथवा अनुभूतियो के उच्चतर रूपो को निम्नतर रूपो से विविक्त किया जा सके। इस दृष्टि से नीतिशास्त्र, सौन्दर्य-दर्शन और अध्यात्म-दर्शन (Philosophy of Religion) उसी प्रकार दर्शन के अग है जैसे कि तर्क-शास्त्र और ज्ञानमीमासा। हमारे मत मे दर्शन प्रधानतया मानवीय व्यक्तित्व के गुणात्मक विकास का उपकरण है।

प्रस्तुत पुस्तक का मूल प्रयोजन रचनात्मक है। फिर भी लेखक को अनेक अध्यायो मे तर्क-मूलक भाववाद से मतभेद प्रकट करते हुए उसकी परीक्षा करनी पडी है। कारण यह है कि उक्त सम्प्रदाय केवल तर्क-शास्त्र की ही प्रामाणिकता को स्वीकार करता है,

और नीति-शास्त्र, सौन्दर्य-दर्शन तथा अध्यात्म-दर्शन को सन्देह की दृष्टि से देखता है अर्थात् यह कहता है कि ये प्रामाणिक विद्याएँ नहीं हैं।

तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार दर्शन को तर्क-शास्त्र से समीकृत किया जा सकता है, अथवा दर्शन तर्क-शास्त्र का ही एक विभाग है। यह मन्तव्य दो मान्यताओं (Assumptions) पर आधारित है। पहली मान्यता यह है कि जहाँ मनुष्य का तार्किक मस्तिष्क नियमानुसारी ढंग से व्यापृत होता है, वहाँ उसकी नैतिक तथा सौन्दर्यात्मक चेतना किन्हीं नियमों के अनुसार व्यापृत नहीं होती। दूसरी मान्यता यह है कि जहाँ दर्शन के लिये यह अन्वेषण जरूरी है कि मनुष्य की तार्किक प्रकृति किस प्रकार कार्य करती है, वहाँ उसे (दर्शन को) इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि हम नैतिकता तथा सौन्दर्य के क्षेत्रों में एक मानदंड को मानकर चलते हैं या दूसरे को। विज्ञानावलम्बित क्रियाओं द्वारा हम बाह्य परिवेश को परिवर्तित और नियंत्रित करते हैं, तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार शायद यह परिवर्तन और नियंत्रण ही महत्व-पूर्ण है। उसके मत में दर्शन को वैज्ञानिक वक्तव्यों के स्पष्टीकरण का उपकरण होना चाहिए, क्योंकि विज्ञान ही महत्वपूर्ण है। कला और नैतिकता महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि उनका सम्बन्ध हमारी चेतना के परिवर्तन या परिष्कार से है, बाह्य परिवेश से नहीं।

तर्क-मूलक भाववादियों की चिन्ता का सब से बड़ा विषय यह है कि हमें केवल निश्चयात्मक ज्ञान के क्षेत्र में ही रहना चाहिए। निश्चयात्मकता की खोज करते-करते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मानव-जीवन के समस्त मूल्य सापेक्ष ही नहीं, निराधार है। अपनी पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' (हिस्टरी आफ् वेस्टर्न फिलासफी) के चौबीसवें अध्याय के प्रारम्भ में यूनानियों का उल्लेख करते हुए श्री बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है कि उन्होंने कला, साहित्य और दर्शन में जो उपलब्धियाँ की उन्हें, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, श्रेष्ठ या हीन कहा जा सकता है किन्तु ज्यामिति के क्षेत्र में उनकी उपलब्धि को लेकर दो मत नहीं हो सकते। मतलब यह कि कला, साहित्य आदि क्षेत्रों में कभी निश्चयात्मक मूल्यांकन नहीं हो सकता। सम्भवतः ही किसी क्षेत्र के इतिहासकार के बारे में कभी ऐसी निश्चयात्मक सम्मति प्रकट की हो।

तर्क-मूलक भाववादियों की यह निश्चित धारणा है कि दर्शन को सौन्दर्य, नैतिकता आदि के सम्बन्ध में मूल्यांकन प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है। उनका मन्तव्य

यह है कि दर्शन के अध्ययन से हमे किसी प्रकार के जीवन-विवेक को पाने की कोशिश नही करनी चाहिए।

दर्शन की यह स्थिति सकट की स्थिति कही जा सकती है। यदि दर्शन को जीवन के मूल्यो के वारे मे कुछ नही कहना है, यदि वह हमें जीवन-विवेक नही दे सकता, यदि वह विज्ञान का सहकारी मात्र है और उसका विज्ञान से कुछ वैसा ही सम्वन्ध है जैसा स्वामी से सेवक का होता है, यदि दर्शन का कार्य वैज्ञानिक चिन्तन के मार्ग को साफ करना भर है, तो यह स्पष्ट है कि उसका जीवन के उन पहलुओ से जो हमे महत्वपूर्ण लगते हैं, कोई सम्पर्क या लगाव नही रह जाता।

हमारी समझ मे दर्शन की इस स्थिति के मूल में योरपीय विचारको का एक दुराग्रह या भूल है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने प्राय· तेईस शताब्दियो पूर्व अपने प्रसिद्ध ग्रथ "नीति-दर्शन" में लिखा था 'शिक्षित मनुष्य का यह लक्षण है कि वह प्रत्येक वर्ग की वस्तुओ में उतने ही सहीपन की माँग करे जितना कि विपय की प्रकृति सभव वनाती है, स्पष्ट ही यह मूर्खता है कि हम एक गणितज्ञ से केवल सम्भाव्य प्रमाण की माँग करें, और एक अलकारशास्त्री ( Rhetorician ) से वैज्ञानिक उपपत्ति की।' चूंकि मनुष्य का व्यवहार सृजनात्मक होता है, इसलिये उसके नियामक कानून प्रकृति-जगत् के नियामक कानूनो से अवश्य ही भिन्न होगे। फलत हम मानवीय व्यवहार का अध्ययन उन पद्धतियो से नही कर सकते जिन से प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। योरपीय दर्शन के इतिहास में विचारको ने जो वार-वार इसका प्रयत्न किया है कि दर्शन को गणितात्मक अथवा वैज्ञानिक वना दें, उसके मूल में उनके द्वारा उक्त तथ्य की उपेक्षा ही रही है।

इस पुस्तक मे मानवीय सृजनशीलता का अध्ययन यह समझने के लिये किया गया है कि मनुष्य द्वारा किये गये मूल्यो के उत्पादन और उपभोग में उसका क्या हाथ रहता है। यहाँ सृजनशीलता की धारणा का उपयोग जहाँ एक ओर मानवीय सस्कृति के विभिन्न रूपो के वोध या व्याख्या के लिए किया गया है, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक मनुष्य की प्रमुख समस्याओ के समाधान के लिये भी। 'भूमिका' मे सृजनशीलता के स्वरूप का वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु वह वर्णन पूर्ण नही है। जैसे-जैसे विवेचन अग्रसर होता है, उक्त धारणा का अर्थ अधिकाधिक परिस्फुट और समृद्ध होता जाता है। किन्तु पाठक देखेंगे कि इस पुस्तक में उक्त धारणा का प्रयोग

किसी रहस्यमय, काल्पनिक अथवा तत्व-कल्पना से संबंधित ( Metaphysical ) अर्थ में नहीं किया गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत लेखक तथा फ्रांसीसी दार्शनिक हेनरी बर्गसाँ के मतों में प्रायः कुछ भी समानता नहीं है। अन्तिम विश्लेषण में बर्गसाँ की दर्शन-पद्धति काफी हद तक बुद्धि-विलासी (Speculative) है, जब कि प्रस्तुत लेखक को दार्शनिक चिन्तन की वह शैली पसन्द है जो परिचित अनुभव से अधिक दूर नहीं जाती।

हमारे मत में दर्शन का विषय कोई इन्द्रियातीत तत्व पदार्थ नहीं है। दर्शन का काम मानवीय चेतना के उन सामान्य रूपों का विश्लेषण और व्याख्या है जो स्वयं में मूल्यवान् समझे जाते हैं। दर्शन में परिवर्तन और विकास होता है क्योंकि, मनुष्य के सृजनात्मक इतिहास की प्रगति के साथ, उक्त चेतना के रूप भी परिवर्तित और विकसित होते रहते हैं। दर्शन की परम्परागत शाखाएँ अर्थात् नीति-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, तर्कशास्त्र आदि उक्त रूपों की विभिन्न विशेषताओं के प्रगतिमान उद्घाटन में लगे रहे हैं, साथ ही वे उन सिद्धान्तों तथा मानदण्डों का विकासमान निरूपण भी करते रहे हैं जिनसे उक्त चेतना-रूपों की प्रामाणिकता तथा महत्त्व को आँका जा सके। इस आलोक में देखने पर यह ज्ञात पड़ेगा कि नीति-शास्त्र अथवा सौन्दर्य-दर्शन के उत्तरकालीन सिद्धान्त पूर्व सिद्धान्तों का उसी प्रकार खण्डन नहीं करते जिस प्रकार कि आधुनिक गणित-मूलक तर्क-शास्त्र ( Mathematical Logic ) अरस्तू के तर्कशास्त्र का खण्डन नहीं करता। उदाहरण के लिये सौख्यवादियों का यह सिद्धान्त कि मनुष्य को "अधिकांश मनुष्यों के अधिक सुख" को अपने कर्मों का लक्ष्य बनाना चाहिए इन दूसरे सिद्धान्तों का खण्डन नहीं करता जिनके अनुसार हमें सत्य, सौन्दर्य, साधुता अथवा आध्यात्मिक पूर्णता को जीवन का ध्येय बनाना चाहिए। इसी प्रकार कला-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त और पैमाने एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक होते हैं।

प्रस्तुत लेखक स्वभाव से बहुत पुस्तकानीन और मननशील रहा है। इस दुनिया में उसने अनेक मतवादों से मतभेद प्राप्त किया है, किन्तु उसे सदैव उचित मार्ग स्वयं अपनी शंकाओं तथा सन्देहों से बनाना पड़ा है। शायद इसीलिये जहाँ उसने प्रयोगवाद तथा भौतिकवाद को अस्वीकार किया है, वहाँ वह किसी श्रेणी के आत्मवाद या प्रत्ययवाद को स्वीकार नहीं कर सका है। कुछ दिनों उसे यह सोचने पर गर्व और कष्ट भी रहा कि उसकी चिन्तन-पद्धति पर भारत की प्राचीन दार्शनिक परम्परा

से कोई लगाव नही दीखता। किन्तु एक दिन उसने सहसा एक गहरे वैसे लगाव की चेतना प्राप्त की, और तब उसे बडा सन्तोष और प्रसन्नता हुई। इस लगाव का विशेष सम्बन्ध वेदान्त दर्शन से है। अद्वैत वेदान्त के प्रमुख विचारको ने विश्व-ब्रह्माड की कारण-मूलक व्याख्या मे कभी विशेष रुचि नही ली, उनका प्रधान लक्ष्य यह था कि मानव-अस्तित्व को उच्चतर तथा पूर्णतर बनाने के उपायो का निर्देश करे। प्रस्तुत लेखक की सम्मति मे भी दार्शनिक चिन्तन और बोध का प्रमुख ध्येय यही है, अर्थात मानव-व्यक्तित्व को अधिक परिष्कृत और श्लाघ्य बनाना। फिर भी यह कहना उचित नही होगा कि अद्वैत वेदान्त और प्रस्तुत लेखक के विचारो में बहुत ज्यादा समानता है। मै वेदान्त के वैराग्यवाद और परलोकवाद को स्वीकार नही करता, प्रस्तुत गुणात्मक मानववाद मे भी अनेक भारतीय दर्शनो के वैराग्यवाद के लिये स्थान नही है।

इस समय हमारे देश मे दार्शनिक जिज्ञासा और चिन्तन बडी अवनत अवस्था मे हैं। मौलिक चिन्तन का अभ्यास तो जैसे हम भूल ही गये हैं। विदेशी शासन के समय में हमारे देश के अनेक मनीषियो, जैसे स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, तथा सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, और श्री अरविन्द तथा गाधीजी ने भी, प्राचीन विचार-पद्धतियो की नयी, युगोचित व्याख्याएँ दी। इन व्याख्याओ ने हमारे देशवासियो मे आत्म-गौरव की भावना जागृत करने में मदद दी, और इस प्रकार हमारे स्वतत्रता-सग्राम को प्रच्छन्न रूप मे पुष्ट किया। किन्तु हमारी धारणा है कि प्राचीन दर्शनो की पुनर्व्याख्या कभी नये चिन्तन तथा नवीन विचार-पद्धतियो के निर्माण का स्थान नही ले सकती। यह उचित ही है कि हम अपनी प्राचीन दार्शनिक धरोहर पर गर्व करे, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि आज हम, नये युग के नये बोध और प्रश्नो को ध्यान में रखते हुए, नवीन, साहसपूर्ण चिन्तन न करे।

यातायात के बढे हुए साधनो ने आज विभिन्न देशो का भौगोलिक एकान्त समाप्त कर दिया है, इसलिए आज के भारतीय विचारको को जहाँ प्राचीन भारत से प्रेरणा लेनी चाहिए, वहाँ अन्य सभ्य देशो की समृद्ध सास्कृतिक परम्पराओ की उपेक्षा न करते हुए उनसे भी पूर्ण लाभ उठाना चाहिए। आज हम ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र मे, विशेषत आधुनिक योरप की, सास्कृतिक लब्धियो की उपेक्षा नही कर सकते। हम उपेक्षा कर भी नही रहे हैं जनतत्र तथा समाजवाद के सम्बद्ध प्रयोगों एव बढ़ते हुए औद्योगिक प्रयत्नो के रूप मे आज योरपीय सस्कृति हमारे जीवन के भीतरी कक्षो में प्रवेश कर चुकी है।

इस कृति के प्रतिपाद्य विपय पर मै प्राय' चार-पाँच वर्ष से काम कर रहा था, और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा स्थापित "हिन्दी समिति" की ओर से "सस्कृति का दार्शनिक विवेचन" पुस्तक की माँग होने से पूर्व, उस विपय पर अग्रेजी मे बहुत-कुछ लिख चुका था। अपने वर्तमान रूप मे यह पुस्तक इस आशा से देश के आत्म-गौरवी युवक-युवतियो को अर्पित की जा रही है कि वह उन मे मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति को विकसित और उत्तेजित करेगी।

इस पुस्तक की विपय-वस्तु बडी व्यापक है, फलत मुझे अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिए अनेक शब्द तथा व्यजनाएँ गढनी पडी हैं। पाठको की सुविधा के लिये परिशिष्ट-रूप मे आवश्यक शब्द-कोश दे दिया गया है। पुस्तक मे जहाँ 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग उद्धरणकामाओं के बीच हुआ है, वहाँ उसका अभिप्राय नर-विज्ञान के प्रचलित अर्थ के अनुकूल है। अन्यत्र प्राय उसका वह अर्थ है जो प्रस्तुत लेखक को अभिप्रेत है।

इस पुस्तक मे प्रस्तुत की हुई विचार-पद्धति के निर्माण मे मुझे जिन असख्य स्वदेशी-विदेशी चिन्तको और लेखको से प्रेरणा मिली है उनके प्रति उपयुक्त कृतज्ञता-प्रकाशन सम्भव नही है। मैं खासतौर से जर्मन दार्शनिक काट, बौद्ध विचारक नागार्जुन और धर्मकीर्ति, तथा वेदान्त के आचार्यो से प्रभावित रहा हूँ। तर्क-मूलक भाववाद ने मेरे विज्ञान-सम्बन्धी मन्तव्यो को गठित किया है। अनेक साहित्य-मीमासको (जैसे टी० एस्० इलियट) ने भी मुझे प्रभावित किया है।

लखनऊ विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर काली प्रसाद, डॉ० राजनारायण, डॉ० राधाकमल मुकर्जी, और प्रोफेसर के० सुब्रह्मण्य अय्यर से मुझे समय-समय पर सुझाव और प्रोत्साहन मिलते रहे, उन सबका मैं कृतज्ञ हूँ।

लखनऊ

देवराज

---

# विश्लेषणात्मक विषय-सूची

## अध्याय १

### भूमिका

**भाग १ : वर्तमान सांस्कृतिक संकट**

संकट का अर्थ, बौद्धिक विभ्रम और अन्धता की भावना—संकट के दो भेद—संकट का अर्थ है अवरुद्ध सृजनशीलता। साम्प्रतिक संकट एक दार्शनिक समस्या है। उन्नीसवीं सदी का संकट, और उससे भेद। बीसवीं सदी का अबुद्धिवाद, सापेक्षवाद और संशयवाद। ... ... ... ... १–९

**भाग २**

सृजनात्मक मानववाद की परिभाषा—एक मानव-केन्द्रित दर्शन, उसकी दो मान्यताएँ—अतिमानव तत्वों का बहिष्कार, मानवीय ज्ञान की रुचि-सापेक्षता। मानवीय सृजनशीलता के चार रूप। शिलर और कॉर्लिस लेमान्ट के मानववादी दर्शनों से भिन्नता। पद्धति-मूलक द्वैतवाद। ... ... ९–१८

**भाग ३**

मानवीय सृजनशीलता और मानवीय क्रियाएँ। वस्तुनिष्ठता का अर्थ, सापेक्षता और वस्तुनिष्ठता। तर्कना का आधार, सम्भावनाओं की अवगति, परिचित अनुभव का विस्तार और पुनः संगठन। भिन्नों तथा विपरीतों की सहभागिता का नियम। ज्ञान में सृजनात्मक तत्त्व। मानवीय सृजनशीलता की अभिव्यक्तियाँ, संस्कृति और सभ्यता। विज्ञान और दर्शन। मोक्षधर्म का महत्त्व। सारांश और निष्कर्ष।

१८–३९

## अध्याय २

### मूल्यों की वस्तुनिष्ठता : यथार्थ व अस्तित्व के क्रम

विषय-प्रवेश। [illegible] और [illegible] समीक्षा। [illegible] का खंडन। [illegible] का खंडन। वस्तुनिष्ठता की परिभाषा—वस्तु-

सिद्धान्त और उनकी कमियाँ। प्रभाववादी समीक्षा और उसकी कमियाँ। अभि-व्यजनावादी समीक्षा-दृष्टि का खडन—साराश और निष्कर्ष। २११—२४७

## अध्याय ६

## दर्शन का स्वरूप

दर्शन के सम्बन्ध मे साम्प्रतिक अनिश्चय और उसका कारण। चिंतन के उदय का कारण, अनुभवो मे सगति की खोज—विज्ञान और दर्शन। दर्शन-सम्बन्धी स्पेन्सर का मत और उसकी समीक्षा—दर्शन का कार्य व्यापक नियमो का अन्वेषण नही है। विज्ञानो की एकता का अन्दोलन, उसकी समीक्षा। भूतशास्त्रवाद की समीक्षा। दर्शन की परिभाषा—सास्कृतिक अनुभूति के विश्लेपण, व्याख्या और मूल्याकन का प्रयत्न। दार्शनिक विश्लेषण का स्वरूप—प्रवाहशील क्रिया का विश्लेपण कैसे हो मकता है? आक्षेप का समाधान—अर्थ और प्रेषण—विश्लेपण की परिभापा—तर्क-मूलक भाववाद के विश्लेपण-सम्बन्धी मन्तव्य से भेद। व्याख्या का अर्थ—प्रत्यय या धारणा की व्याख्या—कथनो की व्याख्या। दर्शन का मूल्याकन व्यापार—दो प्रकार का मूल्याकन। दर्शन की समन्वय-क्रिया—दार्शनिक समन्वय अस्तित्व-मूलक नही होता, बल्कि मूल्यात्मक होता है। उक्त मन्तव्य की पुष्टि—वेदान्त का मत, कान्ट का मत, बौद्ध मत। दर्शन केवल विश्लेपण नही। दार्शनिक चिन्तन का मडन।

२४८—२८७

## अध्याय ७

## नीति-धर्म या आचार-नीति

नैतिक अनुभूति की व्यापकता नैतिक चिन्तन का उदय। नैतिक निर्णयों की सापेक्षता। श्री टूलमिन का मन्तव्य, श्रेयत्व अथवा नैतिक अच्छाई-बुराई गुण नही है। समस्या नैतिक मतभेदो की नैतिक मूल्यो की वस्तुनिष्ठता से कैसे सगति बिठाई जाय? श्रेयत्व और नैतिक औचित्य दोनो गुण है। साध्यात्मक और साधनात्मक मूल्य। चरम श्रेय सम्बन्धी भिन्न मतो का समन्वय। नैतिक व्यवहार के नियम—उनकी व्याख्या सृजनात्मक होनी चाहिए। दो नियम (१) दूसरो के प्रति वैसा आचरण न करो जो अपने प्रतिकूल है (२) मनुष्य को यथाशक्ति निर्वैयक्तिक ढग से स्वतत्र और अर्थवान् जीवन-कणो को उत्पन्न करने की कोशिश करनी चाहिए। कर्तव्य-

सिद्धान्त और उनकी कमियाँ। प्रभाववादी समीक्षा और उसकी कमियाँ। अभिव्यजनावादी समीक्षा-दृष्टि का खडन—साराश और निष्कर्ष। २११—२४७

## अध्याय ६

## दर्शन का स्वरूप

दर्शन के सम्बन्ध में साम्प्रतिक अनिश्चय और उसका कारण। चितन के उदय का कारण, अनुभवो मे सगति की खोज—विज्ञान और दर्शन। दर्शन-सम्बन्धी स्पेन्सर का मत और उसकी समीक्षा—दर्शन का कार्य व्यापक नियमो का अन्वेषण नही है। विज्ञानो की एकता का अन्दोलन, उसकी समीक्षा। भूतशास्त्रवाद की समीक्षा। दर्शन की परिभाषा—सास्कृतिक अनुभूति के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्याकन का प्रयत्न। दार्शनिक विश्लेषण का स्वरूप—प्रवाहशील क्रिया का विश्लेषण कैसे हो सकता है? आक्षेप का समाधान—अर्थ और प्रेषण—विश्लेपण की परिभापा—तर्कमूलक भाववाद के विश्लेपण-सम्बन्धी मन्तव्य से भेद। व्याख्या का अर्थ—प्रत्यय या धारणा की व्याख्या—कथनों की व्याख्या। दर्शन का मूल्याकन व्यापार—दो प्रकार का मूल्याकन। दर्शन की समन्वय-क्रिया—दार्शनिक समन्वय अस्तित्व-मूलक नही होता, बल्कि मूल्यात्मक होता है। उक्त मन्तव्य की पुष्टि—वेदान्त का मत, कान्ट का मत, बौद्ध मत। दर्शन केवल विश्लेषण नही। दार्शनिक चिन्तन का मडन।

२४८—२८७

## अध्याय ७

## नीति-धर्म या आचार-नीति

नैतिक अनुभूति की व्यापकता नैतिक चिन्तन का उदय। नैतिक निर्णयो की सापेक्षता। श्री टूलमिन का मन्तव्य, श्रेयत्व अथवा नैतिक अच्छाई-बुराई गुण नही है। समस्या नैतिक मतभेदो की नैतिक मूल्यो की वस्तुनिष्ठता से कैसे सगति बिठाई जाय? श्रेयत्व और नैतिक औचित्य दोनो गुण है। साध्यात्मक और साधनात्मक मूल्य। चरम श्रेय सम्बन्धी भिन्न मतो का समन्वय। नैतिक व्यवहार के नियम—उनकी व्याख्या सृजनात्मक होनी चाहिए। दो नियम (१) दूसरो के प्रति वैसा आचरण न करो जो अपने प्रतिकूल है (२) मनुष्य को यथाशक्ति निर्वैयक्तिक ढग से स्वतत्र और अर्थवान् जीवन-क्षणो को उत्पन्न करने की कोशिश करनी चाहिए। कर्तव्य-

साझेदार बनाने की आकांक्षा। प्रेम और निर्भरता–प्रेम और प्रेरणा–प्रेम और विवाह–प्रेम और मैत्री। प्रेम और सन्त जीवन।

शिक्षा की कुछ परिभाषाएँ शिक्षा सास्कृतिक विरासत का नियन्त्रित और चयनात्मक सम्प्रेपण है। शिक्षा लाभप्रद समझी जाती है। शिक्षा के आदर्श और जीवन-लक्ष्य-विषयक धारणाएँ। दो विरोधी मन्तव्य प्रथम को वैज्ञानिक-यथार्थ-वादी कह सकते हैं, ज्ञान की सार्थकता कर्म मे है—परिवेश पर नियन्त्रण ध्येय है, अनुभव-मूलक समीक्षात्मक अन्वेषण-पद्धति साधन। दूसरा मत, नैतिक-सौन्दर्यात्मक-मानववादी सस्कृत व्यक्तित्व लक्ष्य है, "होना" पर गौरव "पाने" और "करने" पर नही। उक्त मतो का समन्वय विविध मूल्यो के उत्पादन, उपभोग और रक्षण की क्षमताओ का सपादन ही शिक्षा का ध्येय है। विशेषीकरण की आवश्यकता। मूल्य-जगत मे प्रवेश–मानव व्यक्तित्व के प्रति ममता और श्रद्धा–व्यक्तित्व का गुणात्मक विकास। भौतिक सम्पत्ति और सुख-भोग के प्रति उचित दृष्टि–वर्तमान भोगवाद की आलोचना।

## व्यक्ति, समाज और राज्य

समस्या जनता के गुणात्मक विकास की सामाजिक, राजनीतिक हेतुस्थितियो का अन्वेपण। उचित शिक्षा सुव्यवस्थित समाज में ही सम्भव है। राज्य की लगातार विद्यमानता को मान कर चला जा सकता है। राज्य के प्रति दो भिन्न दृष्टियाँ–अरस्तू और हीगल–साम्यवादी और अराजकतावादी। राज्य केवल वर्ग की सस्था नही। केवल जनतन्त्रीय सरकार ही अपनी शक्ति कम कर सकती है। साम्प्रतिक स्थिति मे क्रान्ति की अशक्यता। जनतन्त्र और समाजवाद–जनतन्त्रीय सरकार वर्ग की सरकार नही होती। समाजवाद का अर्थ और महत्व। राज्य एक युद्धकर्ता के रूप में। युद्ध वर्ग-विभाग का कार्य नही—प्रो० लास्की का खडन। राजनीति जीवन-दर्शन की स्थानापन्न नही—मनुष्य केवल सामाजिक जीव या नागरिक नही। आत्मिक मूल्यो पर गौरव की आवश्यकता–आत्म-परिप्कार पर गौरव होना चाहिए। सभ्यता और सस्कृति के विरोव की धारणा, उसका खडन। विश्व-शान्ति और प्रभावशील विश्व-व्यवस्था का आधार। ... २५०–३९०

शव्दकोप .. ३९१–३९७

---

# संस्कृति का दार्शनिक विवेचन

नहीं होती जितनी कि वे चीजें जो हमारे अवचेतन या उपचेत मे क्रियाशील होती हैं। यहाँ हम जिस सकट का उल्लेख कर रहे हैं उसका सम्बन्ध मुख्यत व्यक्तियो के जीवन से होता है, और वह अपने को उनकी कल्पना की उस अक्षमता में व्यक्त करता है जिसके कारण वे आस्था-पूर्वक जीवन के लक्ष्यो एव प्रयोजनो का स्वरूप स्थिर नही कर पाते। जब मानवीय कल्पना, अनिश्चय और भ्रम में पडकर, अपना सृजनात्मक कार्य नही कर पाती, तो सकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कल्पना का सृजनात्मक कार्य यह है कि वह महत्वाकाक्षी व्यक्ति के सम्मुख लगातार उच्चतर तथा श्रेष्ठतर जीवन-रूपो को प्रस्तुत करती रहे। ये जीवन-रूप या आदर्श ऐसे होने चाहिएँ कि उनका समसामयिक दर्शन-पद्धतियो द्वारा विश्वास-पूर्वक मडन हो सके, और जिनका उत्तम तथा महान लोग अनुसरण करे। ऐसे आदर्शों के अभाव में जीवन दिशाहीन, निरर्थक और उबाने वाला हो जाता है। इस प्रकार की आत्मिक ऊब आज के मनुष्य की केन्द्रगत बीमारी है। हमारे युग का बुद्धिमान तथा सवेदनशील व्यक्ति अपने सामने किसी ऐसे लक्ष्य या प्रयोजन को नही रख पाता जो उसकी उच्चतम शक्तियो का आह्वान करे, और उन्हे कार्य-लग्न कर दे। इस प्रकार के लक्ष्य के अभाव मे मनुष्य के असख्य प्रयत्न और क्रियाएँ, यहाँ तक कि उसकी सफलताएँ भी, उसमे वास्तविक आत्मिक तृप्ति और सतोष की भावना पैदा नही कर पाती।

जान पडता है कि मनुष्य केवल अपने वर्तमान के सम्बन्ध मे ही अरक्षा-भावना मे पीडित नही होता, वह जीवन की भावी सम्भावनाओ के लिए भी चिन्तित और अरक्षित महसूस करता है। अवश्य ही वह यह चाहता है कि अपने जीवन के उस ढर्रे के सम्बन्ध मे, जिससे उसकी दैनिक जरूरतें पूरी होती है, निश्चिन्तता तथा सुरक्षा का अनुभव करे। किन्तु वह एक दूसरी कोटि की सुरक्षा भी चाहता है। वह चाहता है कि उसके जीवन की गति ऐसी हो कि वह लगातार नयी, अप्रत्याशित सफलताओ तथा तृप्तियो को पाता रहे। मतलब यह कि मनुष्य न केवल अपने से सम्बन्धित मौजूदा स्थिति की ही सुरक्षा चाहता है, बल्कि इसकी भी कि वह अनवरत सृजनात्मक प्रगति एव उपलब्धियाँ करता रहे। इस दृष्टि से देखने पर हम सकट की परिभाषा **अवरुद्ध सृजनशीलता** कर सकते है। वह कोई भी स्थिति जिसमें हमारी बुद्धि या कल्पना सृजनात्मक सफलता नही प्राप्त कर पाती, सकटमय लगती है। किन्तु सृजनशील शक्तियो का अवरोध तब विशेष बुरा लगता है जब उसके मूल मे जीवन की सभावनाओ अथवा मूल्यो के प्रति अविश्वास रहता है।

मूल्यो को आकता है। जब तक मनुष्यो में ऐसा विवेक नही होगा, तब तक वे उन साधनों तथा उस सामग्रियो का उचित उपयोग नही कर सकेंगे जो विज्ञान ने हमारे लिए सुलभ कर दी है। अपने अस्तित्व के अनेक भौतिक-आत्मिक रूपो का अन्वेषण अथवा उपभोग करके ही मनुष्य यह जान पाता है कि उनमे से कौन रूप कम या अधिक वाछनीय है, इस दिशा मे विभिन्न यन्त्रो का प्रयोग करने की विकसित क्षमता विशेष लाभदायक नही होती। मानव-जीवन की असली स्वतन्त्रता और समृद्धि के लिए यह जरूरी है कि मनुष्य को विभिन्न भौतिक, सामाजिक तथा आत्मिक जीवन-रूपो के गुणात्मक भेदो की समुचित अवगति हो। इस प्रकार की अवगति या विवेक, जिसमें उन विभिन्न न्यूनाधिक सही पैमानो के स्वरूप एव प्रयोग की जानकारी निहित रहती है जिनके द्वारा तर्कात्मक चिन्तन, कला, नीति एव अध्यात्म के क्षेत्रो में मनुष्य घटिया-बढिया को पहचानता है, दार्शनिक चिन्तन का परम्परागत लक्ष्य रहा है। इसलिए आज का सकट, जिसके मूल मे मनुष्यो का मूल्याकन-सम्बन्धी असमजस है, मुख्यत उसकी दार्शनिक बुद्धि के लिए एक चुनौती प्रस्तुत करता है।

## उन्नीसवी सदी

मानवीय बुद्धि को एक ऐसी ही चुनौती उन्नीसवी सदी में उस समय मिली थी, जब डार्विन के सिद्धान्त ने जीव-योनियो की उत्पत्ति का एक नया विवरण प्रस्तुत किया था। उस विवरण मे यह बतलाया गया था कि जीव-योनियो में अकस्मात् परिवर्तन होते है, जिनमें से कुछ लाभकारी रहते है और किसी योनि के थोडे सदस्यो मे ही प्रकट होते है। इन सदस्यो तथा जीव-योनियो में आवश्यक भोजन आदि के लिये निरन्तर सघर्ष चलता रहता है। इस सघर्ष में योग्यतम सदस्यो अथवा जीवयोनियो की विजय, अर्थात् प्रकृति द्वारा उनका चुनाव, होता है। इस प्रकार विकास की प्रगति मे वे जीव तथा जीव-योनियाँ बच रहती है जिनमे उपयोगी अगों का विकास हुआ है। इस विधि मे डार्विन ने यह दर्शित किया कि जीवो की प्रयोजनवती शरीर-रचना की व्याख्या करने के लिए चरम हेतुओ की कल्पना आवश्यक नही है।

डार्विन के सिद्धान्त ने हीगल से प्रभावित उस दर्शन को निश्चित रूप मे धक्का पहुँचाया जो यह मानता था कि विश्व-ब्रह्माण्ड मानवीय रुचियो तथा प्रयोजनो का अनुवर्ती है। डार्विनीय सिद्धान्त ने यह प्रमाणित किया कि जीवो की विचित्र शरीर-रचना की व्याख्या के लिए किसी सर्वज्ञ स्रष्टा की जरूरत नही है। किन्तु यह बात

इतनी मुख्य नहीं थी। डार्विन से पहले भी एशिया तथा योरप के अनेक विचारकों ने ईश्वर की सत्ता में सन्देह प्रकट किया था। डार्विन सिद्धान्त की ज्यादा चौंकाने वाली बात यह मान्यता थी कि मनुष्य का अन्तर्भाव पशु-जगत में होना चाहिये, जिसका मतलब था कि मानवीय जीवन का कोई ऐसा लक्ष्य नहीं हो सकता जो पशु-सुलभ अस्तित्व के परे हो। कुछ संवेदनशील लोगों को जीवन तथा जगत की जड़वादी व्याख्याएँ सन्तुष्ट नहीं करतीं, उसका प्रमुख कारण यह है कि वे मनुष्य की अनन्त अर्थ-पूर्ण लक्ष्य अथवा पूर्णत्व की खोज या लालसा का कोई अर्थ नहीं लगा पातीं। उपनिषद में लिखा है 'जो भूमा अथवा अनन्त है वही सुख है, सान्त या ससीम में सुख नहीं है।'[१] एक सन्तोषप्रद दर्शन-पद्धति को यह बता सकना चाहिए कि ससीम मानव मस्तिष्क में असीम का यह अयुक्त पक्षपात क्यों है।

उन्नीसवीं सदी में डार्विन से प्रभावित भौतिकवाद के निराशा-जनक प्रभाव पर दो तरीकों से विजय पायी। प्रथमतः कुछ विचारकों ने विकासवाद की तर्क-पद्धति का स्वयं भौतिकवाद के विरुद्ध उपयोग किया। जिस विश्व ने मनुष्य के विकास को सम्भव किया है वह केवल अन्धी, जड़ शक्तियों की क्रीड़ा-भूमि नहीं हो सकता। इस दृष्टि से देखा जाने पर विकास-सिद्धान्त हेगल की आध्यात्मिक द्वन्द्व-प्रक्रिया (Idealistic Dialectic) का मंडन करता है न कि खंडन। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में योरप के अध्यात्मवादी विचारकों ने भौतिकवाद के विरुद्ध एक दूसरी रक्षा-पंक्ति का निर्माण किया। इस मंडन ने सूक्ष्म ज्ञानमीमांसा-सम्बन्धी चिन्तन का रूप धारण किया, जिसका लक्ष्य भौतिकवाद की जड़ पर ही कुठाराघात करना था। इस कोटि के चिन्तन ने इंगलैण्ड के टामस हिल ग्रीन तथा एफ० एच० ब्रैडले, अमरीका के जोसिया रायस, इटली के बी० क्रोचे तथा जर्मनी के विण्डेलबैण्ड, रिकर्ट, कोहेन आदि की विचार-पद्धतियों में फिर एक बार हेगल की बुद्धिवादी (Rationalistic) प्रवृत्ति को उज्जीवित किया।

## बीसवीं सदी का अबुद्धिवाद, सापेक्षवाद और सन्देहवाद

बीसवीं सदी का आरम्भ अध्यात्मवादी विचारकों की [illegible] [illegible] [illegible] के विरुद्ध प्रतिक्रिया से आरम्भ हुआ। इस प्रतिक्रिया के [illegible] [illegible] [illegible] विलियम जेम्स, इंगलैण्ड में एफ० सी० एस० शिलर और फ्रांस में हेनरी बर्गसां। इनके लेखन और चिन्तन [illegible] [illegible]

शत्रु थे। बर्गसा के अबुद्धिवाद का विरोध मुख्यत वैज्ञानिक यत्रवाद से था, यद्यपि वह अध्यात्मवादी प्रयोजनवाद के भी उतना ही विरुद्ध था। जेम्स और शिलर ने बुद्धि के स्थान पर कृति-शक्ति (Will) को महत्वपूर्ण घोपित किया, और आत्म-सगति (Coherence) के स्थान पर व्यावहारिक सफलता को सत्य की कसौटी वतलाया। कुछ ही दिनो वाद योरप और अमेरिका मे नव्य तथा समीक्षात्मक यथार्थ-वाद (New and Critical Realism) के सम्प्रदायो का उदय हुआ, जिन्होने मुख्यत अध्यात्मवादी ज्ञानमीमासा को चुनौती दी। किन्तु यथार्थवादी विचारकोमे जेम्स और बर्गसा के बुद्धिविरोधी पक्षपात का अभाव था।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद योरप तथा अमेरिका के बौद्धिक जीवन पर दूसरे प्रभाव पडने लगे। इनमे सबसे महत्वपूर्ण नवीन भौतिक विज्ञान का प्रभाव था। यद्यपि श्री मैक्स प्लैक ने अपने "क्वेटम"–सिद्धान्त का प्रतिपादन उन्नीसवी सदी के अन्तिम महीनो मे किया था, और आइन्स्टाइन का सीमित सापेक्षवाद (Restricted Principle of Relativity) सन् १९०५ मे निरूपित हो गया था, फिर भी दूसरे क्षेत्रो के विचारक उनके क्रान्तिकारी निष्कर्षो या अभिप्रायो को काफी बाद मे हृदयगम कर सके। आइन्स्टाइन ने अपना सामान्य सापेक्षवाद का सिद्धान्त (General Principle of Relativity) सन् १९१५ मे प्रतिपादित किया, और हाइजेनबर्ग का अनिर्धारण-सिद्धान्त (Principle of Indeterminacy) सन् १९२७ मे प्रस्तुत किया गया। भौतिकशास्त्र की इन नयी प्रगतियो के फलस्वरूप दर्शन मे उस महत्वपूर्ण सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसे तर्क-मूलक भाववाद (Logical Positivism) कहते हैं और जिसका बाद के दशको मे निश्चित प्रभाव रहा।

हम कह सकते हैं कि तर्क-मूलक भाववाद तथाकथित अनुभववाद का अतिरजित रूप है, जिसे तत्वदर्शन-सम्बन्धी ( Metaphysical ) चिन्तन से विशेप शत्रुता है। यद्यपि तर्क-मूलक भाववादी बुद्धि के विरोधी नही है, फिर भी उन्हे विशुद्ध बौद्धिक चिन्तन (Speculative Reasoning) में गम्भीर अविश्वास है। वे किसी भी ऐसी स्थापना (Hypothesis) या सिद्धान्त (Theory) को अर्थपूर्ण नही मानते जिसे इन्द्रिय-अनुभव द्वारा परीक्षित न किया जा सके। तर्कमूलक भाववाद ने अपने को विज्ञान के एक महत्वपूर्ण दर्शन मे विकसित किया और घोपणा की कि ऐसा कोई सत्य नही है जो विवादास्पद न हो, और यह कि समस्त वैज्ञानिक स्थापनाएँ अस्थायी कल्पनाएँ मात्र होती है, जिनमे भावी प्रयोगात्मक अन्वेपणो द्वारा सशोधन आवश्यक

हो सकता है। इस प्रकार, तर्कमूलक भाववाद के अनुसार कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त अन्तिम सत्य की झाँकी नहीं कराता। विज्ञान के सारे सिद्धान्त उपयोगी कल्पनाएँ भर होते हैं। तर्कमूलक भाववादियों को इस बारे में निश्चित सन्देह है कि विज्ञान प्रकृति के बारे में कभी अन्तिम सत्यों को पा सकता है। और विज्ञान के बाहर के क्षेत्रों जैसे नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र में, तो किसी प्रकार के सत्य को पाया ही नहीं जा सकता। इस प्रकार निश्चित अथवा अन्तिम सत्यों की प्राप्ति के सम्बन्ध में—फिर वह प्राप्ति चाहे केवल तर्क से हो, अथवा अनुभव द्वारा परीक्षित तर्क से—तर्कमूलक भाववादियों का मनोभाव निषेधात्मक तथा निराशावादी है। इस प्रकार तर्कमूलक भाववाद में जेम्स आदि की बुद्धि-विरोधी दृष्टि सन्निहित है। साथ ही उसे बुद्धि से भिन्न मनुष्य की किसी दूसरी क्षमता में विश्वास नहीं है जैसा कि जेम्स को धृति-शक्ति में था। तर्कमूलक भाववाद मानता है कि प्रत्येक विवाद में हमारी आखिरी अदालत इन्द्रियानुभूति है। ऐन्द्रिय अनुभूति के समर्थक होने के नाते इस सम्प्रदाय के लोग ह्यूम की भाँति सार्वभौम संयोजक कथनों या तथ्यों (Synthetic Necessary Propositions) की सम्भावना से इनकार करते हैं।

फ्रायडीय सिद्धान्त दूसरा शक्तिशाली सम्प्रदाय है जो हमारे युग के बुद्धि-विरोधी पक्षपात को पुष्ट करता है। फ्रायड के अनुसार हमारी अधिकांश तर्कना हमारे आवेगों तथा आवेगमूलक पक्षपातों द्वारा सञ्चालित रहती है; प्रायः हम अपने आन्तरिक पक्षपातों के मंडन के लिये तर्क करते हैं, न कि वस्तु परक सत्य की प्राप्ति के लिए। इसलिए सत्य ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त हम बुद्धि नामक उपकरण पर निर्भर नहीं कर सकते।

हमें कुछ रुककर इन सम्प्रदायों के फलित भयंकर निष्कर्षों पर ध्यान देना चाहिए। तर्कमूलक भाववाद के अनुसार जहाँ हम प्रकृति का केवल कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, वहाँ उन जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में जिनका हमारी जिन्दगी से गहरा लगाव है, हम किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। फ्रायड के अनुसार भी मानवीय तर्कना एकदम बुद्धि-विरोधी है। चूँकि मनुष्य अपने स्वार्थों तथा प्रेरणाओं का गुलाम रहते समय बुद्धिपूर्वक व्यवहार नहीं कर सकता, इसलिए यह प्रश्न कि मानव-जगत् का सत्य क्या है, निरर्थक हो जाता है।

एक दूसरी ओर से भी आज का मनुष्य इसी निष्कर्ष पर पहुँचता दिखाई देता है। [illegible]

विकासवाद का विशेप प्रभाव रहा। वे यह मानती रही कि मनुष्य क्रमश उच्चतर स्थितियो की दिशा में विकास करता आया है। जैसा कि श्री सोरोकिन ने लक्षित किया है ' अठारहवी और उन्नीसवी सदियो का सामाजिक चिन्तन इस विश्वास से अनुप्राणित था कि विकास एक रेखा में प्रगति की ओर होता है।'[३] वर्तमान शताब्दी में उक्त विज्ञानो ने अपने को विकासवाद के जादू से मुक्त कर लिया है, उनका यह विश्वाम जाता रहा है कि मनुष्य अनिवार्य रूप में प्रगति करता है। अब वे विज्ञान, अर्थात् समाजशास्त्र और नर-विज्ञान, विकसित हो चले हैं। इधर उन्होंने जिस चीज पर विशेष गौरव दिया है वह है—मूल्य-सम्वन्धी एकान्त सापेक्षता।

समाजशास्त्रियो में श्री वेस्टरमार्क का नाम खास तौर से नैतिक सापेक्षतावाद (Ethical Relativity) से सम्बद्ध है। उनकी एक पुस्तक का, जो सन् १९३२ में प्रकाशित हुई थी, नाम भी यही है, अर्थात् "नैतिक सापेक्षता"। इससे पहले उनकी एक दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई थी जिसका अब नाम था "नैतिक धारणाओ का उद्भव और विकास।" इस पुस्तक में श्री वेस्टर मार्क इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि नैतिक वक्तव्यो का उद्गम हमारे आवेगो में होता है। इस निष्कर्ष का साफ अभिप्राय यह है कि हमारे नैतिक वक्तव्य वस्तुगत रूप में प्रामाणिक नही होते, जैसा कि हमारी सहज बुद्धि और नीति-शास्त्र के आदर्श-मूलक सिद्धान्त प्रकट करते हैं।[४] नैतिक सापेक्षता का 'मतलब यह है कि नैतिक जीवन का कोई वस्तुगत पैमाना नही है',[५] जिसे सब मनुयष्‍ स्वीकार कर सकें। नैतिकता के वस्तु-परक पैमानो के सम्ब्रन्ध में ऐसा ही विश्वास आज के नर-विज्ञानी भी प्रकट करते हैं।

ऊपर हमने उन कारणतत्वो का परिगणन किया जो आज के सास्कृतिक सकट का मूल हैं, अर्थात् जो जीवन के मूल्यो तथा आदर्शो के सम्बन्ध में अनिश्चय एव भ्राति को जन्म देते हैं। हमारे युग का यह सकट उन्नीसवी सदी के सकट से अधिक उग्र है, और इसलिये उसका प्रभाव भी अधिक विषाक्त है। उन्नीसवी सदी में यह विश्वास वर्तमान था कि मानवीय वुद्धि सत्य का अनुसधान कर सकती है। इसके विपरीत हमारी शताब्दी को मानवीय वुद्धि मे एकदम ही आस्था नही है, और वह यह मानकर चलती प्रतीत होती है कि मनुष्य कभी उन मूल्यो के स्वरूप से परिचित नही हो सकता जिनके लिये उसे जीना चाहिए। मूल्यो के सम्वन्ध में मनुष्य कोई भी मन्तव्य क्यो न वनाये, वह अनिवार्य रूप मे आत्म-परक होगा। इसका मतलव यह है कि ऐसे कोई वस्तु-परक अर्थात् वास्तविक मूल्य नही हैं जिनके लिए मानव-जीवन को जिया जाय।

मनुष्य-सम्बन्धी विद्याएँ आज जिस दुरवस्था में हैं उसके कारणों को ठीक-ठीक न समझते हुए कुछ परीक्षकों ने यह प्रस्ताव किया है कि मानवीय विद्याओं को भौतिक विज्ञानों की अन्वेषण-पद्धतियों का अवलम्ब लेना चाहिये। ये भोले लोग समझते हैं कि इस प्रकार की पद्धतियों का प्रयोग करके मनुष्य अपने पर तथा अपने भविष्य पर अधिक नियन्त्रण कर सकेगा। मानो कि माप और गणना की मात्रा-मूलक क्रियाएँ विभिन्न जीवन-नीतियों या आदर्शों के गुणात्मक भेद पर प्रकाश डाल सकेंगी! मानो कि अभी दुनिया की सरकारें, प्रेस, रेडियो और पुलिस की सहायता से, अपनी जनता पर आवश्यकता से अधिक नियन्त्रण नहीं रख रही हैं!

संकट की धारणा ही गुणात्मक है, जिसमें अनेक मूल्यात्मक अर्थात् गुणात्मक निर्णय सन्निहित हैं। यह कैसे सम्भव है कि हम उसे मूल्य-बहिष्कारी प्रत्ययों की मदद से समझ लें, और विशुद्ध मात्रा-मूलक व्यापारों द्वारा उसका प्रतिकार कर सकें? जब तक हम यह निश्चित रूप से न दिखा दें कि मनुष्य की गुणात्मक प्रतीतियाँ और पक्षपात, उसका तर्क-मूलक व्यवहार और उसकी नैतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ, अनिवार्य रूप से उन यान्त्रिक तथा रासायनिक परिवर्तनों से सहचरित हैं जिन्हें ठीक-ठीक नापा-जोखा जा सकता है, तब तक मात्रा-मूलक पद्धतियों के प्रयोग का उचित मण्डन नहीं हो सकता। हमारे युग की, और सम्भवतः सब युगों की, मुख्य समस्या यह है कि कैसे मनुष्यों में वह विवेक और क्षमता उत्पन्न की जाय जिससे वे उच्चतर एवं निम्नतर जीवन-स्थितियों में भेद कर सकें और उच्चतर के अन्वेषण में प्रवृत्त हो सकें।

## २

प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य संस्कृति का, उसे एक मूल्य मानते हुए, विश्लेषण और निरूपण करना है। संस्कृति का जो विवेचन यहाँ किया गया है वह दो मौलिक मान्यताओं पर निर्भर है। ये दोनों मान्यताएँ "सृजनात्मक मानववाद' व्यंजना में समावेशित हैं। पहले हम उस सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को समझाने का प्रयत्न करेंगे जो उक्त व्यंजना में निहित है।

"मानववाद' शब्द का शुरू से ही भिन्न-भिन्न लोगों के लिये अलग-अलग अर्थ रहा है, और आज भी स्थिति ऐसी ही है। इसके निम्न अर्थ प्रचलित रहे हैं: धार्मिकता का अभाव और मध्ययुगीन मनोवृत्ति का विरोध, यूनानी जीवन-दृष्टि (Paganism)

और इन्द्रियो अथवा इन्द्रिय-जन्य सुखो के महत्व की घोषणा, इहलोकवाद, वुद्धिवाद और व्यक्तिवाद, मानवीय अधीतियो की अर्थात् साहित्य, दर्शन और अध्यात्म से सम्वन्धित "क्लासिक्स" के अध्ययन में अभिरुचि, मानव-जीवन और अनुभूति के महत्व में आस्था, इत्यादि। प्रो० एडवर्ड चेने के अनुसार 'सोलहवी सदी के वाद से मानववाद से अभिप्राय उस दर्शन का रहा है जिसका केन्द्र और प्रमाण दोनो मनुष्य ही है।'[६]

प्रो० चेने ने मानववाद का जो वर्णन दिया है वह, वहुत स्पष्ट न होते हुए भी, इतना आकर्षक है कि किसी को अग्राह्य नही होसकता। वह अस्पष्ट है, और वैसे ही अस्पष्ट है जैसे कि यूनानी सोफिस्ट विचारक प्रोटेगोरस की यह उक्ति कि 'मनुष्य ही सब चीजो का माप या मानदण्ड है।' इसका कारण है दोनो मे कोई भी 'मनुष्य' शब्द का ठीक अर्थ नही वतलाता। स्पष्ट ही उक्त वक्तव्यो का यह अर्थ नही हो सकता कि ज्ञानवान् एव विवेकी पुरुप और मूर्ख, सामान्य मनुष्य और असामान्य (Abnormal) अथवा अवसामान्य (Subnormal) व्यक्ति, समान रूप में मानववादी दर्शन का प्रमाण हो सकते है। इन्ही कारणो से हम पाठको से निवेदन करेंगे कि वे इस पुस्तक में प्रयुक्त "सृजनात्मक मानववाद" व्यजना पर परम्परागत अर्थो तथा अनुपगो ( Associations ) का भार न लादें, और उसे एक पारिभापिक पदावली मानकर अग्रसर हो। यहाँ हम जिस मानववाद का प्रतिपादन करना चाहते है उसे दूसरी दृष्टि से गुणात्मक मानववाद ( Qualitative Humanism) भी कहा जा सकता है। श्री क्रेन व्रिन्टन ने अपनी पुस्तक "विचार और मनुष्य" (Ideas and Men) में एक विशेष कोटि के मानववाद का उल्लेख किया है, अर्थात् उद्दाम उल्लास-मूलक मानववाद ( Exuberant Humanism ) का, गुणात्मक मानववाद उससे भिन्न होगा, क्योकि वह जीवन की गुणात्मक विशेपता पर अधिक गौरव देगा। फिर भी हमने "सृजनात्मक" शब्द के प्रयोग को पसन्द किया है, कारण यह है कि इस शब्द का हमारी मानव-प्रकृति और मानव-उपलब्धियो से सम्वन्धित मन्तव्यो की अपेक्षा से विशिष्ट अभिप्राय और महत्व है।

सृजनात्मक मानववाद एक मानव-केन्द्रित दर्शन है जिसके अनुसार मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेपता उसकी सृजनशीलता है। यहाँ 'मानव-केन्द्रित' व्यजना के दो अभिप्राय है। प्रथमत हम मानते है कि दार्शनिक चिन्तन का वास्तविक विषय स्वय मनुष्य है, अर्थात् वह मनुष्य जो मूल्यो का वाहक और स्रष्टा है। जैसा कि

कवि पोप ने कहा है, मानव जाति के अध्ययन का उचित विषय मनुष्य है। दार्शनिक अध्ययन का विषय मनुष्य है, इस मान्यता पर गौरव देने के लिये हमने आगे दर्शन का 'मानवात्मा अथवा मानवीय संस्कृति का अपरोक्षानुभूतिक वर्णन' (Phenomenology of Human spirit or Human Culture) वर्णित किया है। हमारी दर्शन की परिभाषा इस प्रकार है : दर्शन सांस्कृतिक अनुभव के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन का प्रयत्न है। मनुष्य को आत्म-ज्ञान सम्पादित करना चाहिए, ऐसा विचारक लोग प्राचीन काल से कहते आये हैं, यह शिक्षा उपनिषदों में भी मिलती है और यूनानी विचारक सुकरात में भी। दूसरे, मानव-केन्द्रित विशेषण का अभिप्राय यह है कि इस जीवन-दर्शन में परलोक और पारलौकिक शक्तियों के लिये स्थान नहीं है। हम मनुष्य से ऊँची किसी सत्ता में विश्वास नहीं रखते। फिर भी यह दर्शन प्रकृति-वाद से भिन्न है,क्योंकि हम मानते हैं कि मनुष्य का अध्ययन उसे प्रकृति का अंग मानकर नहीं किया जा सकता। अधिकांश विचारक जो परलोक को नहीं मानते, अपने को प्रकृतिवादी कहते हैं; प्रकृतिवाद और भौतिकवाद लगभग पर्यायवाची शब्द हैं। सृजनात्मक मानववाद का किसी भी कोटि के प्रकृतिवाद अथवा भौतिकवाद से कोई लगाव नहीं है।

भूततत्त्व अथवा पुद्गल की कोई ऐसी परिभाषा देना कठिन है जिसे सब स्वीकार कर सकें। उसके अन्तर्गत हम उन सब सूक्ष्म तथा विशाल वस्तुओं का समावेश करते हैं जिनका अध्ययन भौतिक विज्ञानों में होता है। हमारी मान्यता और विश्वास है कि वे विज्ञान किसी भी भांति मानव-जीवन और अनुभूति का [illegible] अध्ययन भी नहीं कर सकते। वे वास्तविकताएँ जो खास तौर से मानवीय हैं, भौतिक शास्त्र तथा रसायनशास्त्र जैसे विज्ञानों की पकड़ में बिल्कुल ही नहीं आ सकतीं। इसलिये मानवीय जीवन तथा अनुभूति के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण समीचीन नहीं है।

ऊपर हमने कहा कि हमारी अलौकिक अथवा अतिमानव सत्ताओं में आस्था नहीं है, इसका मतलब यह है कि हम ईश्वर, तथा वैसे पदार्थों को, जिनकी स्थिति मानवीय अनुभूति से परे समझी जाती है, मानना ठीक नहीं समझते। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सृजनात्मक मानववाद धर्म-विरोधी है। हमारे मत में धर्म का उत्थान भी विशिष्ट मानवीय अनुभव से ही है; [illegible] आध्यात्मिक अनुभूति [illegible] अनुभूति [illegible] है। किन्तु [illegible] मानवीय [illegible]

क्रमण ही करती है, और न अ-बुद्धिगम्य ही होती है। प्रस्तुत लेखक के मत में आध्यात्मिक अनुभूति का तत्व दो चीजो में निहित होता है सब प्रकार के सीमित एव नश्वर पदार्थो तथा मूल्यो के प्रति वैराग्य-भावना में, और इस आस्था में कि मानव-जीवन की कोई ऐसी परिणति है जिसमें अनन्त सार्थकता या मूल्य है। सब प्रकार की उच्च सास्कृतिक क्रियाओ में धार्मिक उदासीनता तथा रहस्यपूर्ण ऊँचे लक्ष्य के प्रति लगाव का अश रहता है, ये चीजें गहरी तथा तीव्र आदर्शोन्मुख (Platonic) प्रेमानुभूति में भी पायी जाती है। अपने अस्तित्व का कल्पना-मूलक विस्तार करके प्राय सभी मनुष्य सभी देशो तथा युगो के रहस्यवादियो एव प्रेमियो की उल्लासपूर्ण अनुभूतियो में साझेदार बन जाते है।

तीसरे, मानव-केन्द्रित व्यजना एक अन्वेपण-सम्बन्धी मन्तव्य को प्रकट करती है सब प्रकार का व्यवस्थित या सगठित ज्ञान मानव-रुचियो और प्रयोजनो का सापेक्ष होता है, और कोई ज्ञान ऐसा नही है जो मानवीय अनुभूति तथा कल्पना की सीमाओ का अतिक्रमण करता हो। इस मन्तव्य के उत्तरार्ध को हम ऊपर समझा चुके है, आगे हम उसके पूर्वार्ध की व्याख्या करेंगे।

सब प्रकार का ज्ञान, विशेपत सगठित एव व्यवस्थित ज्ञान, मानवीय रुचियो का सापेक्ष होता है। सम्भव है कि मनुष्य के कुछ मामूली सवेदन उसकी रुचियो तथा प्रयोजनो से सम्बन्धित न होते हो, किन्तु उसकी समस्त प्रतीक-मूलक चिन्तन-क्रियाएँ, सब प्रकार का प्रत्ययात्मक बोध, आवश्यक रूप में उसके एक या दूसरे प्रयोजन से सम्बद्ध होता है। मनुष्य की सारी बातचीत और विवेचना प्रयोजन-सापेक्ष होती है, और प्रयोजनो के सन्दर्भ में ही उसकी धारणाओ तथा वक्तव्यो का अर्थ होता है। इस प्रतीति का कि भौतिक विज्ञानो का बोध प्रयोजन-निरपेक्ष या उदासीन होता है, कारण यह है कि विज्ञान का सीधा लगाव साधनो से होता है, और उसका साध्यो या लक्ष्यो से दूर का सम्बन्ध ही रहता है। विज्ञान उसी अर्थ में पूर्णतया वस्तु-परक (Objective) और बुद्धचनुसारी (Rational) होता है, जिस अर्थ में एक स्पष्ट, बुद्धि-सगत लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त साधन बुद्धचनुसारी हो सकते है। जहाँ तक जीवन के लक्ष्यो का सवाल है, उनमें से किसी को वैज्ञानिक अथवा तर्क-मूलक पद्धति से बुद्धि-सगत सिद्ध नही किया जा सकता। उदाहरण के लिये हम यह कभी सिद्ध नहीं कर सकते कि किसी जीवधारी की स्वस्थ स्थिति, अथवा मानव-अस्तित्व का लगातार बने रहना, ऐसी वाछनीय चीजें है जिनके लिये प्रयत्न किया जाय।

जहाँ तक उन धारणाओं का प्रश्न है जो साधनों के क्रम का वर्णन करती हैं, यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि वे मानवीय लक्ष्यों से असम्बद्ध होती हैं। उदाहरण के लिये मात्रा या बोझ, दूरी, वेग आदि की धारणाएँ, सीधे या दूरवर्ती ढंग से, एक या दूसरे मानव-प्रयोजन से सम्बन्धित हैं। प्रकृति-जगत का वर्णन करते हुए मनुष्य इन धारणाओं का प्रयोग करता है, क्योंकि उसे दूरियां तय करने और विभिन्न वस्तु-पिण्डों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में अभिरुचि है।

किन्तु, इस कथन का कि मनुष्य का समस्त ज्ञान प्रयोजन-सापेक्ष है, यह अर्थ नहीं कि वह निष्पक्ष, वस्तु-परक या तटस्थ अन्वेषण कर ही नहीं सकता। हमारा अनुमान है कि इस सम्बन्ध में परम्परागत व्यवहारवाद (Pragmatism) का सिद्धान्त भ्रामक चिन्तन का अपराधी रहा है। यह ठीक है कि मनुष्य वेग (Speed) नामक धारणा का प्रयोग इसलिये करता है कि उसका उसके प्रयोजनों से सम्बन्ध है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि ध्वनि, प्रकाश आदि के वेगों का निर्धारण करते हुए अन्वेषक पर, व्यक्तिगत प्रयोजनों का प्रभाव रहता है। वस्तुतः लेखक के मत में सब प्रकार की उच्च सांस्कृतिक क्रिया में उन चीजों के प्रति जो केवल व्यक्तिगत और उपयोगी हैं, आवश्यक रूप से उदासीनता का भाव रहता है। इस दृष्टि से वैज्ञानिक अन्वेषण तथा चिन्तन भी व्यक्तिगत प्रयोजनों तथा उपयोगिता का अतिक्रमण करता है। यह ठीक है कि मानवीय ज्ञान अनिवार्य रूप से उन बौद्धिक सांचों में ढाला जाता है जिनका रूप मानवीय प्रयोजनों से निरूपित होता है; किन्तु उन प्रयोजनों का सम्बन्ध मनुष्य नामक जीव-योनि की सामान्य रचना से होता है, न कि अन्वेषकों के व्यक्तिगत स्वार्थों से।

हमारे तथा व्यवहारवाद के मन्तव्यों में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण भेद है। व्यवहार-वादी प्रायः प्रयोजन का अर्थ मनुष्य का वह स्वार्थ समझते हैं जिसका सम्बन्ध उसकी [illegible] रक्षा तथा सुरक्षा से रहता है। हमारे विचार में [illegible] समाज के [illegible] मनुष्य [illegible] का आध्यात्मिक प्रयोजन भी है। [illegible] कि वह अपने [illegible] को एक [illegible] बौद्धिक समष्टि में [illegible] अपने अनुभवों को सम्बद्ध रूप में [illegible]। [illegible] प्रयोजन [illegible] की परिधि में नहीं आता, [illegible] की [illegible]। [illegible] प्रयोजन की पूर्ति चाहने [illegible] का [illegible] [illegible] उदासीन होता है। मनुष्य [illegible] प्रयोजन [illegible]

या प्रवृत्ति से सम्बद्ध होकर व्यापृत होता है, अर्थात् उसकी अपने आन्तरिक अस्तित्व का विस्तार करने की प्रवृत्ति।

अब तक हमने 'मानव-केंद्रित' पद का अर्थ समझाने की कोशिश की। अब हम सृजनात्मक मानववाद की दूसरी मान्यता की व्याख्या करेंगे, अर्थात् इस मान्यता की कि मनुष्य सृजनशील प्राणी है। मनुष्य की सृजनशीलता का ज्ञान हमें स्वानुभूति या आत्मानुभूति से होता है। हम यहाँ उसे एक मान्यता (Postulate) के रूप में स्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि यह कठोर तर्क-प्रणाली से सिद्ध नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य सृजनशील ढग से आत्म-निर्धारण करता है। मनुष्य उपयोगी तथा निरुपयोगी या सास्कृतिक दोनों धरातलों पर सृजनशील होता है। उसकी सृजनशीलता अपने को निम्न रूपो में प्रकट करती है

(क) मनुष्य प्रकृति के तथ्य-क्रम में अपने उपयोगात्मक तथा सौन्दर्य-मूलक प्रयोजनो के अनुसार परिवर्तन और नये सगठन उत्पन्न करके अपनी सृजनशीलता को प्रमाणित करता है। इस कोटि की सृजनशीलता की अभिव्यक्ति हमें निम्न श्रेणी के जन्तुओं में भी मिलती है, जैसे कि चिडियो में जो अपने घोसले बनाती हैं। जब कोई जीव प्रकृति द्वारा प्रस्तुत किये हुए वस्तु-क्रम को ज्यो का त्यो स्वीकार नही करता और उसे इस प्रकार तोडता-फोडता तथा पुनर्गठित करता है कि वह उसके विशिष्ट प्रयोजनो की पूर्ति कर सके, तब उसका व्यवहार सृजनात्मक होता है। आज हम नगरो आदि के जिस कृत्रिम परिवेश में रहते हैं उसके अस्तित्व का एक मात्र कारण मनुष्य है। मनुष्य के हस्तक्षेप के बिना यह परिवेश, जो प्राकृतिक क्रियाओ के निहित उद्देश्यो से एकदम बहिर्भूत है, कभी भी अस्तित्व में न आता।

(ख) मनुष्य अपने परिवेश को एक सार्थक क्रम या व्यवस्था (Meaningful Order) के रूप में जानता या ग्रहण करता है। वह विभिन्न वस्तुओ, जैसे सोने, सिक्को और नोटो के प्रति समान प्रतिक्रिया करता है, और विभिन्न अवसरो पर, उन्ही वस्तुओ के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएँ करता है। तात्पर्य यह कि वस्तुओ तथा घटनाओ के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ यान्त्रिक, एकरूप या सुनिश्चित न होकर परिवर्तनशील होती हैं और वस्तुओ के विभिन्न अवसरो पर बदले हुए अर्थो के अनुसार बदल जाती हैं। विभिन्न मौको पर मनुष्य अपनी उन्ही जरूरतो को विभिन्न ढगो से पूरा करता है, और वह अपनी जरूरतो एव उनकी पूर्तियो के क्रमों को नये सगठनो में ग्रथित करता रहता है।

(ग) मनुष्य लगातार अपनी प्रतिक्रियाओं की सीमा में विस्तार करता रहता है, जिस यथार्थ के प्रति वे प्रतिक्रियाएँ की जाती हैं, वह भी निरन्तर विस्तृत होता रहता है। यही कारण है कि हम परिवर्तन की कामना करते हैं, यात्राएँ करना चाहते हैं, दूसरे साथियों के साथ समाज में बैठना और गप करना पसन्द करते हैं, सिनेमा जाते हैं, कथा-साहित्य पढ़ते हैं और दूसरे सैकड़ों काम करते हैं।

(घ) अन्त में, कहा जा सकता है कि मनुष्य की सृजनशील प्रकृति का सबसे स्पष्ट प्रकाशन उसकी प्रतीक-बद्ध कल्पना-मूलक निर्मितियों में होता है। कविता और कथा-साहित्य में ही नहीं, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचार-पद्धतियों में, विभिन्न स्थापनाओं और सिद्धान्तों, योजनाओं और आदर्शों में, मनुष्य की सृजनशील कल्पना अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है।

सृजनात्मक मानववाद का मानववाद की कतिपय दूसरी दार्शनिक कोटियों से तुलित एवं पृथक् करना उपयोगी होगा। मानववाद के कुछ अदार्शनिक रूप भी हैं, जैसे स्वर्गीय प्रो० इर्विंग बैबिट और स्व० पाल एल्मर मोर का पाण्डित्य-मूलक मानववाद (Academic Humanism) और श्री जाक मारितां का समन्वयात्मक या कैथालिक मानववाद (Integral or Catholic Humanism)। इनसे हमारे मन्तव्यों की तुलना पाठकों के लिये विशेष लाभदायक नहीं होगी।

व्यवहारवाद (Pragmatism) से मिलते-जुलते एक प्रकार के दार्शनिक मानववाद का प्रतिपादन ऑक्सफोर्ड के श्री एफ० सी० एस० शिलर ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में किया था। शिलर ने प्रोटेगोरस की इस प्रसिद्ध उक्ति को कि 'वस्तुओं का मानदण्ड मनुष्य है', अपने चिन्तन का आरम्भ-बिन्दु बनाया। उक्ति के व्यक्तिगत मनुष्य शब्द का अर्थ उन्होंने मानव जाति किया, जो कि उचित था। [illegible] सम्पूर्ण मानव जाति ही [illegible] वस्तुओं का अस्तित्व [illegible] सकती है। [illegible] का 'मानदण्ड' शब्द की [illegible] शिलर ने [illegible] (Measure) शब्द का आशय [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] (क) [illegible] (ख) [illegible]

विशुद्ध चिन्तन का विशेष महत्व नही है, वस्तुत विशुद्ध बुद्धि अथवा चिन्तन की स्थिति ही नही है। तात्पर्य यह कि समस्त चिन्तन व्यावहारिक प्रयोजनो की पूर्ति के लिये होता है। (ग) शिलर के मानववाद ने इस बात पर जोर दिया कि ज्ञान के क्षेत्र मे कृति-शक्ति (Will) का विशेष स्थान होता है। जिसे हम तात्विक पदार्थ या यथार्थ कहते है वह, वह चीज है जो हमारी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करती है। तथाकथित बुद्धि 'वह हथियार है जिसके द्वारा हम अपने को परिवेश के अनुकूल बनाते और जीवन सग्राम मे विजयी होते हैं।'[९] इस मान्यता का एक निष्कर्ष यह है कि समस्त सच्चा ज्ञान उपयोगी होता है, और निरुपयोगी ज्ञान मिथ्या होता है। (घ) काट ने व्यावहारिक बुद्धि की मुख्यता (Primacy of Practical Reason) का मन्तव्य प्रतिपादित किया था। उसे स्वीकार करते हुए शिलर मानते है कि श्रेय (Good) की धारणा प्रधान है, और सत्य तथा यथार्थ की धारणाएँ गौण या अप्रधान हैं।

सृजनात्मक मानववाद शिलर की इस मान्यता से सहमत है कि मनुष्य का ज्ञान उसके प्रयोजनो का सापेक्ष होता है। किन्तु वह यह नही मानता कि मनुष्य के प्रयोजन केवल उपयोगी या व्यावहारिक ही होते हैं। मानव-जीवन केवल बाह्य परिवेश की अपेक्षा मे अनुकूलीकरण (Adaptation) नही है, और मानव-बुद्धि का कार्य उस अनुकूलता की स्थिति को उत्पन्न करके ही समाप्त नही हो जाता। सफल अनुकूलीकरण तथा प्रभावपूर्ण अस्तित्व की जरूरतो से कही ऊपर उठकर मनुष्य की बुद्धि और कल्पना उसे कला-सृष्टि और वैज्ञानिक तथा दार्शनिक चिन्तन की सृजनात्मक क्रियाओ मे लगा देती है, जिनके द्वारा मानव-आत्मा का विस्तार या प्रसार होता है। सृजनात्मक मानववाद की शिक्षा मे निहित एक तत्व यह है कि मनुष्य को उसके प्रति जो केवल उपयोगी और व्यक्तिगत है, कुछ हद तक उदासीन होना चाहिए। इसलिये इस कथन का कि समस्त ज्ञान प्रयोजन-मूलक होता है यह अर्थ नही (जैसा कि व्यवहारवादी प्रतिपादित करते हैं) कि समस्त ज्ञान उपयोगी होता है। सृजनात्मक मानववाद यह भी नही मानता कि सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा बौद्धिक क्रियाओ की अपेक्षा नैतिक व्यवहार आवश्यक रूप मे उन्नतर होता है। वस्तुत, जैसा कि आगे दिखाया जायगा, 'नैतिक' शब्द का अर्थ अनिश्चित है। उसका मतलब या तो वह चीज हो सकती है जो प्रत्याशित और कर्तव्य है, या वह व्यवहार जिसमे सृजनशील धार्मिकता या साधुता की अभिव्यक्ति होती है। जब हम नैतिक को इस दूसरे अर्थ मे लेते है, तब उसे सौन्दर्य-सम्बन्धी व्यवहार तथा बौद्धिक व्यवहार से कुछ ऊपर स्थान दिया जा सकता है।[१०]

जरूरते पूरी हो जायें, यह उस जीवन की सार्थकता का महत्वपूर्ण अग भी नही है। मनुष्य की सार्थकता इसमे है कि वह ऐसी चीजो की चेतना प्राप्त करे जिनका उसकी जरूरतो से दूर का सम्बन्ध भी नही है, और इस प्रकार जरूरतो के क्षेत्र का अतिक्रमण करके अपने को विश्व की निरुपयोगी छवियो से सम्बद्ध असख्य जीवन-सभावनाओ में उत्क्षिप्त करे। परम्परा के अनेक प्रतिबन्धो के होते हुए भी किसी के लिये यह बडी बात नही है कि वह अपने को इन्द्रिय-सुखो के आवर्त में डाल दे, वैसी परम्परा का विरोध भी कोई बडी बात नही है। ऐतिहासिक समाजो के प्रतिबन्धो के बीच ऐसे मनुष्य सदैव होते आये है जो इन्द्रिय-सेवी थे, सदैव ऐसे मनुष्य रहे है जो पुरानी रीतियो का आदर नहीं करते थे, और देवी-देवताओ से नही डरते थे। किन्तु इन्द्रिय सुखो के उपभोग के जीवन मे यह क्षमता नही होती कि मानव-प्रकृति को उदात्त बना सके। इसके विपरीत वह जीवन मनुष्य को उससे बाँध रखता है जो तत्काल सामने है, और इस प्रकार उसकी कल्पना के परो को कतर कर उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में बाधा डालता है।

लेमान्ट का कथन है कि मनुष्य और प्रकृति का द्वैत मिथ्या है।[१३] इसके विपरीत सृजनात्मक मानववाद इस द्वैत को अन्वेषण-सम्बन्धी आवश्यक मान्यता (Methodological Postulate)) के रूप में स्वीकार करता है। मनुष्य का सचेत व्यवहार शायद ही कभी एक निश्चित दिशा मे निर्धारित होता है। मानव कर्त्ता प्राय अनेक सम्भावनाओ के क्षेत्र मे व्यापृत होता है। इन सम्भावनाओं में से एक उसकी सकल्प-शक्ति के हस्तक्षेप से यथार्थ बन जाती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य का व्यवहार, बुद्धि-गम्य और व्याख्येय होते हुए भी, ऐसा नही होता कि उसकी ठीक-ठीक भविष्यवाणी की जा सके। इन दृष्टियो से प्रकृति के व्यवहार मानवीय व्यवहारो से उलटे अर्थात् विरोधी ध्रुव पर स्थित होते है। इसलिये वे अन्वेषण-पद्धतियाँ जो प्रकृति के अध्ययन में काम आती है, मनुष्य के अध्ययन के लिए उपयोगी नही होती।

## ३

मनुष्य को समझने की ओर पहला कदम यह है कि हम उसकी प्रकृति की सृजन-शीलता को मुक्त भाव से स्वीकार कर लें। यह सृजनशीलता मनुष्य को प्रकृति से भिन्न बना देती है। इस स्वीकृति के बिना हम अनन्त काल तक इस बात पर विस्मय प्रकट करते रहेंगे कि मानवीय विद्याएँ वैसी प्रगति क्यो नही कर रही है जैसी कि भौतिक

विचार कर रहे हैं, और फिर भी उक्त पहेली के किसी हल या समाधान पर नहीं पहुँच सकेंगे। वस्तुतः यह परिस्थिति उन लोगों के लिये जो मनुष्य को प्रकृति में निमग्न कर देना चाहते हैं, एक न बूझने योग्य पहेली ही है। किन्तु उन अन्वेषकों को जो इस स्पष्ट तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य सृजनशील है, और उसकी प्रतिक्रियाएँ बदलती रहती हैं, धैर्य-पूर्वक यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि मानव-प्रकृति की उक्त विशेषता मानवीय विद्याओं को किन ढंगों से प्रभावित कर सकती है।

## वस्तुनिष्ठता का अर्थ

विश्व की विभिन्न वस्तुओं को मनुष्य सार्थक तथ्यों के रूप में ग्रहण करता है; उसकी बुद्धि से ये तथ्य अर्थपूर्ण पद्धतियों के अंग बन जाते हैं। चूँकि मनुष्य में विभिन्न रुचियाँ एवं प्रयोजन पाये जाते हैं, वह वस्तुओं को अनेक रूपों में अर्थपूर्ण पाता है। विभिन्न अवसरों पर एक ही वस्तु के मनुष्य के लिये विभिन्न अर्थ हो सकते हैं, अथवा वह विभिन्न रूपों में मूल्यवान प्रतीत हो सकती है। इसी प्रकार भिन्न दीखने वाले पदार्थ भी उसके लिये एक अर्थ रख सकते हैं। उदाहरण के लिये जब हम एक सिंह या मगरमच्छ को चिड़ियाघर में देखते हैं तब वे हमारे लिए सौन्दर्यात्मक पदार्थ हो जाते हैं, जिनके देखने में हम रस का अनुभव करते हैं, किन्तु प्रकृति के प्रांगण में देखने पर वे ही जन्तु हमारे भय का कारण बन जाते हैं। इसी प्रकार जब हमारा प्रयोजन कुछ चीजें बेचना या खरीदना होता है, तो चाँदी या सोने के सिक्कों और कागज के नोटों का एक ही अभिप्राय होता है। एक और बात है; विभिन्न लोग एक ही वस्तु को अलग-अलग अर्थ-सन्दर्भों में रखकर उसे अलग-अलग रूपों में देखते हैं। उदाहरण के लिये एक शान्तिवादी ( Pacifist ) की क्रियाएँ एक व्यक्ति को बुद्धि-विरोधी तथा देशभक्ति के विपरीत प्रतीत हो सकती हैं, और दूसरे को युक्ति-संगत तथा उचित और सामयोचित। पर ऐसे सन्यासी अथवा सन्त की दृष्टि में, जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, सोने का टुकड़ा भी मूल्य नहीं रखता। इसी प्रकार गणित की एक सारिणी अशिक्षित या बालक-बुद्धि के लिए निरर्थक वस्तु हो सकती है।

तो क्या यह मानना चाहिये कि वस्तुओं में हम जिन मूल्यों का आरोप करते हैं, वे पूर्णतः आत्मनिष्ठ होते हैं? इस प्रश्न का हम इस प्रकार उत्तर देंगे। यदि आत्मनिष्ठता से यह बोध होता है कि [illegible] अथवा वस्तुनिष्ठता से [illegible] में भिन्न है, तब तो [illegible] ( R[illegible] )

वैसे ही आत्मनिष्ठ बन जायेंगे जैसे कि गौण गुण तथा मूल्य। उक्त दशा मे सब चीजें समान रूप में आत्मनिष्ठ या आत्म-परक बन जायेंगी, और आत्म-परक तथा वस्तु-परक का भेद खत्म हो जायगा। इस कठिनाई से बचने के लिये हमें वस्तुनिष्ठ या वस्तु-परक की परिभाषा इस प्रकार देनी चाहिये 'एक अर्थ वस्तु-परक होता है यदि, एक खास सन्दर्भ में, सब सामान्य ( Normal ) प्रेक्षको के लिये उसका एक ही वाच्य या अभिप्राय हो।' विभिन्न अर्थ विभिन्न रुचियों अथवा प्रयोजनों के सन्दर्भ में ही अस्तित्ववान् होते हैं, और सब सामान्य मनुष्य, सहानुभूति-मूलक कल्पना द्वारा, उन सन्दर्भो में प्रवेश कर सकते हैं। इस प्रकार अर्थो की अवगति प्राय मनुष्य की सृजनशील कल्पना पर निर्भर करती है, वह कल्पना व्यक्ति की तात्कालिक जरूरतो की निरपेक्ष होकर व्यापृत होती है।

प्रस्तुत लेखक ब्रेडले के इस मन्तव्य को स्वीकार करता है कि समस्त गुण आपेक्षिक होते हैं, उसे नागार्जुन और ब्रेडले का यह अधिक सामान्य सिद्धान्त भी स्वीकार है कि समस्त चीजो की स्थिति आपेक्षिक या सापेक्ष होती है। वह एक सम्बन्धहीन, निरपेक्ष तत्व या ब्रह्म की धारणा को स्वीकार नही करता। प्रस्तुत लेखक अध्यात्मवादी विचारको के इस मन्तव्य को स्वीकार करता है कि ज्ञात विश्व, आवश्यक रूप में, मानवीय बुद्धि का सापेक्ष होता है। वस्तुत जर्मन दार्शनिक कान्ट के समान वह यह मानता है कि ज्ञात विश्व पर मानवीय प्रज्ञा, अथवा मानवीय प्रयोजनो द्वारा, निर्धारित सामान्य रूपाकार ( Forms ) आरोपित रहते है। किन्तु हमारी समझ में यह स्थिति यथार्थवाद ( Realism ) के विरुद्ध अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद की पुष्टि नही करती, कारण यह कि स्वय मनुष्य के प्रयोजन भी वाह्य जगत् की अपेक्षा में ही समझे जा सकते है। वाह्य विश्व और मानवीय बुद्धि या चेतना एक-दूसरे की सबद्धता में ही समझ में आ सकते हैं।

श्री वेस्टर मार्क ने लिखा है 'नैतिक मूल्यो की तथाकथित वस्तुनिष्ठता का अर्थ यह होगा कि वे मूल्य मानवीय मस्तिष्क की निरपेक्षता में अस्तित्ववान हो सकते हैं।'[१४] हम नही समझते कि नैतिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी, अथवा तर्क-मूलक किसी भी प्रकार के मूल्यो की वस्तुनिष्ठता का यह विचित्र अर्थ कैसे हो सकता है। वस्तुत विश्व के पदार्थो मे किसी भी ऐसी विशेषता को पाना कठिन है जिसका मानवीय मस्तिष्क से, साक्षात् या दूर का, सम्बन्ध नही है। जहाँ तक चरम मूल्यो का प्रश्न है, वे चेतन अनुभव

के कुछ रूपों के समानात्मक होते हैं। भावनात्मक मूल्यों को तो साध्यात्मक मूल्यों की अपेक्षा में ही समझा जा सकता है। मूल्यों को वस्तु-परक कहने से हमारा मतलब यह है कि सामान्य संवेदना तथा कल्पना से सम्पन्न सभी मनुष्य उन्हें चेतन जीवों के सुख के साधनों अथवा उपादानों के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

सचेत अनुभव (Sentient Experience) की वे सम्भावनाएँ (Possibilities) भी जिनका साक्षात्कार सब सामान्य (Normal) व्यक्ति कर पाते हैं, वस्तु-परक या वस्तुनिष्ठ कही जा सकती हैं।

समस्त तर्कना, साक्षात् प्रतीति के अतिरिक्त साधनों से घटित होने वाला समस्त ज्ञान-विस्तार, सम्भावनाओं की अवगति पर निर्भर करता है। विज्ञान में हम किसी स्थापना को स्वीकार करके उसके सम्भव निष्कर्षों पर ध्यान देते हैं। तथ्यान्वेषी (Positive) तथा आदर्शान्वेषी (Normative) समस्त शास्त्रों का ज्ञान सम्भावनाओं के साक्षात्कार पर आधारित है।

भौतिक विज्ञान तथा गणित में विस्तृत चिन्तन तभी हो सकता है जब हम स्थापनाओं को लेकर चलें और उन्हें सही मानकर उनके निष्कर्ष निकालें। मूल्य-विज्ञानों के क्षेत्र में जिन सम्भावनाओं पर विचार किया जाता है, और जिनका मूल्यांकन करना होता है, वे दो तरह की होती हैं। कुछ सम्भावनाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें मनुष्य के सुपरिचित अनुभव के आधार पर समझा जा सकता है। सुधार तथा नवनिर्माण की अधिकांश योजनाएँ इस कोटि में आती हैं। दूसरी सम्भावनाएँ दार्शनिक अथवा धार्मिक मान्यताओं पर आधारित होती हैं, जिन्हें सीधी अन्तर्दृष्टि से नहीं जाना जा सकता। इस कोटि की मान्यताओं के कुछ उदाहरण हैं: हिन्दू दार्शनिकों की मोक्ष-कल्पना की धारणा, साम्यवादियों द्वारा कल्पित वर्गहीन समाज (Stateless Society) इत्यादि। इस प्रकार की मान्यता [illegible] आधार पर कल्पित सम्भावनाएँ [illegible] न्यूनाधिक अनिश्चित बनी रहेंगी। हमारे मत में [illegible] का [illegible] करने वाले [illegible] उन तथ्यान्वेषी विज्ञानों में भी [illegible] जहाँ परीक्षण (Verification) सम्भव होती है; [illegible] निश्चित आदर्शान्वेषी [illegible] होंगी।

दूसरी ओर हम यह मानते हैं कि सम्भावनाओं [illegible] अनुभव के विस्तार और सूक्ष्म [illegible] पर निर्भर करता है [illegible]

होता है। हम मानते हैं कि मानवीय विज्ञानो तथा आचार-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के वे सिद्धान्त या नियम जो कल्पना-प्रसूत ( Speculative ) नही होते, इसी प्रकार परिचित अनुभव के विस्तार और पुन सगठन द्वारा प्राप्त होते है। इस प्रकार के नियम और सिद्धान्त भौतिक विज्ञानो के कल्पना-प्रसूत एव परीक्षित नियमो से भी अधिक दृढ आधार वाले होते हैं। बात यह है कि, अन्तिम विश्लेपण में, भौतिक विज्ञान के नियम कल्पना-प्रसृत होते है, और उनकी प्रामाणिकता का आधार व्याव-हारिक सफलता होती है। इस मन्तव्य से यह अनुगत होता है कि कुछ दृष्टियो मे मान-वीय विद्याएँ भौतिक विज्ञानो से भी अधिक निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि मानवीय विद्याओ के अनुभवात्मक कल्पना-मूलक (Empirico-imaginative) नियमो तथा सिद्धान्तो की निश्चयात्मकता पूर्णतया गुणात्मक होती है, वह नाप-जोख पर निर्भर नही करती। इस क्षेत्र में आँकडो तथा दूसरी मात्रा-मूलक पद्धतियो का प्रयोग भी ऐसे नियमो पर नही पहुँचाता जो मात्रा-मूलक हैं। मानवीय विद्याओ में आँकडो और व्यक्तिगत तथा सामान्य इतिहासो का अध्ययन हमारे मन में मानवीय अनुभव तथा व्यवहार की गुणात्मक सभावनाओ की चेतना ही उत्थित करता है। मानवीय विद्याएं अर्थो के उन गुणात्मक सम्बन्धो का अध्ययन करती हैं जो मानव-जीवन तथा अनुभूति के उपादान होते हैं।

आदर्शान्वेपी विद्याओ के तथ्य मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा नैतिक पसन्दें होती है, ये पसन्दें या नापसन्दें उतनी ही मानव-प्रकृति में निहित होती हैं जितने कि मनुष्य के देखने, तर्क करने के तरीके। मूल्यो के क्षेत्र में कभी-कभी मनुष्यो के बीच आकाश-पातल के अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं, इसके दो कारण हैं। प्रथमत मनुष्य जब कतिपय कल्पना-प्रसूत आदर्शो तथा लक्ष्यो को पकड बैठता है, तो वह उन मूल्यो की यथार्थ प्रकृति को नही देख पाता जो सामान्य मानव-सवेदना को आकर्षक लगते हैं। उदाहरण के लिये मोक्ष की एक खास धारणा को मानकर चलने वाले जैन साधु अपने सिर के बाल नोच डालते हैं, और इसके लिये उनकी प्रशसा की जाती है। यदि हम जैनियो के विशिष्ट आदर्श को न मान लें, तो कभी ऐसे रोमाचक व्यवहार की प्रशसा नही कर सकते। इस सम्बन्ध में यह बात याद रखने की है कि अपने पर नियन्त्रण और कष्ट-सहन की क्षमता प्रशसनीय चीजे हैं, जिनके द्वारा व्यक्तित्व का गुणात्मक विकास हो सकता है। इस दृष्टि से जैन साधुओ का व्यवहार प्रशसनीय माना जा सकता है। दूसरी चीज, जो मूल्य-दृष्टियो में भेद उत्पन्न करती है, निम्न है। विभिन्न मनुष्य

हुआ कि मनुष्य का मूल्यानुप्राणित व्यवहार मूलत बुद्धि-सगत होता है। यदि ऐसा न हो तो नर-विज्ञान के पडित उन लोगो के व्यवहार की व्याख्या न कर सकें जिनकी "सस्कृति" अन्वेषको की अपनी 'सस्कृति" से नितान्त भिन्न है। इसलिये यह मानने का कोई वढिया हेतु नही है कि लोगो का मूल्यानुप्राणित व्यवहार किसी महत्वपूर्ण अर्थ में आत्मपरक होता है।[१५]

## ज्ञान मे सृजनात्मक तत्व

ऊपर हम कह चुके हैं कि मानवीय विद्याओ के सामान्य कथन परिचित अनुभव-तत्वो के विस्तार और पुन सगठन द्वारा प्राप्त होते हैं। ये दोनो क्रियाएँ सृजनात्मक हैं। मानव-सम्वन्धी बोध का उपादान सभावनाओ की अवगति है, यह अवगति एक सृजनात्मक क्रिया है। किन्तु इसका यह मतलब नही कि बोध-क्रिया की सृजनात्मकता केवल मानवीय विद्याओ की विशेषता, अर्थात् केवल मानवीय विद्याओ के क्षेत्र की चीज है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार (और यह परम्परा बडी महत्वपूर्ण तथा आदरणीय है) ज्ञान के दो प्रमुख स्रोत हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान। भारतीय तर्क-शास्त्र युक्ति या तर्क को प्रमाण, अर्थात् नये ज्ञान का उपकरण या स्रोत, नही मानता।[१६] किन्तु पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनुमान और तर्क में कोई भेद नही किया है। कुछ दिन पूर्व तक पश्चिमी विचारक भी प्रत्यक्ष और तर्कना या अनुमान को ही ज्ञान का स्रोत मानते थे। वेकन के समयसे पश्चिम के तर्क शास्त्री निगमन अर्थात् रूपाकार-मूलक तर्क ( Formal Reasoning ) और आगमन अथवा विपय-मूलक अनुमान या तर्क ( Material Reasoning ) में अन्तर करने लगे हैं। भारतीय तर्क-शास्त्र भी आगमनात्मक तर्क को व्याप्ति की स्थापना के उपकरण के रूप में स्वीकार करता है। व्याप्ति का उदाहरण इस प्रकार होगा जहाँ-जहाँ धुंआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है।

आलोचको ने आगमनात्मक तया निगमनात्मक दोनो तर्क-पद्धतियो को सदोप घोपित किया है। उदाहरण के लिये जान स्टुअर्ट मिल का कहना है कि निगमन-विधि में अन्योन्याश्रय दोप होता है। वहाँ निष्कर्प (सुकरात मरणशील है) तो पक्षवाक्य (सब मनुष्य मरणशील हैं) पर निर्भर करता ही है, स्वय पक्षवाक्य भी निष्कर्प पर

निर्भर करता है, क्योंकि यदि निष्कर्ष-वाक्य गलत हो, तो पक्षवाक्य भी सही नहीं हो सकता। इसी प्रकार आगमन-विधि ( Induction ) की भी आलोचना की गई है वहाँ 'कुछ' उदाहरणों को देखकर 'सब' के बारे में सामान्य कथन किया जाता है, जिसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। आज के युग में विज्ञान-दर्शन (Philosophy of Science) के विचारकों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि वैज्ञानिक चिन्तन की पद्धति मूलत निगमनात्मक, अथवा प्राक्कल्पना-निगमन-मूलक ( Hypothetical Deductive ) होती है।[15] हर हालत में हमारे सामने यह प्रश्न बना ही रहता है क्या निगमन विधि हमें ऐसा ज्ञान दे सकती है जो पक्षवाक्यों में निहित नहीं है, और वस्तुत नया है? और क्या ऐसा नया ज्ञान प्रामाणिक हो सकता है?

तर्क-मूलक भाववादियों का विचार है कि निगमन और विश्लेषण दोनों में हम कथनों या वक्तव्यों को दूसरे समानार्थक कथनों में परिवर्तित करते हैं।[16] इस मन्तव्य के अनुसार गणित नाम का शास्त्र समानार्थक कथनों और परिवर्तनों (Tautologous Assertions and Transformations) की वृहत् पद्धति मात्र है। तर्क-मूलक भाववादियों का प्रस्ताव है कि दार्शनिक वक्तव्यों को भी इसी प्रकार की पद्धति का रूप धारण करना चाहिये।

तो क्या गणित शास्त्र एक वृहद् पुनरुक्ति-पद्धति मात्र है? फ्रांस के प्रसिद्ध गणितशास्त्री एच्० प्वांकरे ने इस समस्या को उठाया, और अन्त में उसका निषेधात्मक उत्तर दिया। उन्होंने बतलाया है कि गणित के अन्वेषणों में हम विशेष उदाहरणों से चलकर सामान्य सिद्धान्तों पर पहुँचते हैं, इसलिये इस अन्वेषण-पद्धति को निगमनात्मक नहीं कह सकते। वे कहते हैं कि गणित की तर्क-पद्धति में एक सृजनात्मक तत्त्व होता है, इसलिये उसे अरस्तू के 'सिलॉजिज्म' में निहित निगमन-विधि से भिन्न समझना चाहिए। उनके विचार में गणितात्मक आगमन ( Mathematical Induction ) मूल रूप में आवृत्ति-मूलक प्रमाण या उपपत्ति (Proof by Recurrence ) होता है। उसी रूप में

गणितशास्त्र के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाला आगमन [illegible] होता है, क्योंकि वह इस विश्वास पर आधारित होता है कि [illegible] है, [illegible]। [illegible]

हुआ कि मनुष्य का मूल्यानुप्राणित व्यवहार मूलत बुद्धि-सगत होता है। यदि ऐसा न हो तो नर-विज्ञान के पडित उन लोगो के व्यवहार की व्याख्या न कर सकें जिनकी "सस्कृति" अन्वेषको की अपनी 'सस्कृति" से नितान्त भिन्न है। इसलिये यह मानने का कोई बढिया हेतु नही है कि लोगो का मूल्यानुप्राणित व्यवहार किसी महत्वपूर्ण अर्थ में आत्मपरक होता है।[५]

## ज्ञान मे सृजनात्मक तत्व

ऊपर हम कह चुके है कि मानवीय विद्याओ के सामान्य कथन परिचित अनुभव-तत्वो के विस्तार और पुन सगठन द्वारा प्राप्त होते है। ये दोनो क्रियाएँ सृजनात्मक हैं। मानव-सम्बन्धी बोध का उपादान सभावनाओ की अवगति है, यह अवगति एक सृजनात्मक क्रिया है। किन्तु इसका यह मतलब नही कि बोध-क्रिया की सृजनात्मकता केवल मानवीय विद्याओ की विशेषता, अर्थात् केवल मानवीय विद्याओ के क्षेत्र की चीज है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार (और यह परम्परा बडी महत्वपूर्ण तथा आदरणीय है) ज्ञान के दो प्रमुख स्रोत हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान। भारतीय तर्क-शास्त्र युक्ति या तर्क को प्रमाण, अर्थात् नये ज्ञान का उपकरण या स्रोत, नही मानता।[६] किन्तु पाश्चात्य दार्शनिको ने अनुमान और तर्क में कोई भेद नही किया है। कुछ दिन पूर्व तक पश्चिमी विचारक भी प्रत्यक्ष और तर्कना या अनुमान को ही ज्ञान का स्रोत मानते थे। बेकन के समयसे पश्चिम के तर्क शास्त्री निगमन अर्थात् रूपाकार-मूलक तर्क ( Formal Reasoning ) और आगमन अथवा विषय-मूलक अनुमान या तर्क ( Material Reasoning ) में अन्तर करने लगे हैं। भारतीय तर्क-शास्त्र भी आगमनात्मक तर्क को व्याप्ति की स्थापना के उपकरण के रूप में स्वीकार करता है। व्याप्ति का उदाहरण इस प्रकार होगा जहाँ-जहाँ धुंआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है।

आलोचको ने आगमनात्मक तथा निगमनात्मक दोनो तर्क-पद्धतियो को सदोप घोपित किया है। उदाहरण के लिये जान स्टुअर्ट मिल का कहना है कि निगमन-विधि में अन्योन्याश्रय दोप होता है। वहाँ निष्कर्प (सुकरात मरणशील है) तो पक्षवाक्य (सब मनुष्य मरणशील हैं) पर निर्भर करता ही है, स्वय पक्षवाक्य भी निष्कर्प पर

निर्भर करता है, क्योकि यदि निष्कर्ष-वाक्य गलत हो, तो पक्षवाक्य भी सही नही हो सकता। इसी प्रकार आगमन-विधि ( Induction ) की भी आलोचना की गई है वहाँ 'कुछ' उदाहरणो को देखकर 'सब' के बारे मे सामान्य कथन किया जाता है, जिसका औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता। आज के युग मे विज्ञान-दर्शन (Philosophy of Science ) के विचारको ने यह मत प्रतिपादित किया है कि वैज्ञानिक चिन्तन की पद्धति मूलत निगमनात्मक, अथवा स्थापना-निगमन-मूलक ( Hypothetical Deductive ) होती है।[17] हर हालत मे हमारे सामने यह प्रश्न बना ही रहता है क्या निगमन विधि हमे ऐसा ज्ञान दे सकती है जो पक्षवाक्यो मे निहित नही है, और वस्तुत नया है? और क्या ऐसा नया ज्ञान प्रामाणिक हो सकता है?

तर्क-मूलक भाववादियो का विचार है कि निगमन और विश्लेपण दोनो मे हम कथनो या वक्तव्यो को दूसरे सामानार्थक कथनो में परिवर्तित करते है।[18] इस मन्तव्य के अनुसार गणित नाम का शास्त्र समानार्थक कथनो और परिवर्तनो (Tautologous Assertions and Transformations ) की वृहत् पद्धति मात्र है। तर्क मूलक भाववादियों का प्रस्ताव है कि दार्शनिक वक्तव्यो को भी इसी प्रकार की पद्धति का रूप धारण करना चाहिये।

तो क्या गणित शास्त्र एक वृहत् पुनरुक्ति-पद्धति मात्र है? फ्रास के प्रसिद्ध गणितशास्त्री एच्० प्वाकरे ने इस समस्या को उठाया, और अन्त मे उसका निषेधात्मक उत्तर दिया। उन्होंने बतलाया है कि गणित के अन्वेषणो में हम विशेप उदाहरणो से अन्तत सामान्य सिद्धान्तो पर पहुँचते है, इसलिये उस अन्वेषण-पद्धति को निगमनात्मक नही कह सकते। वे कहते है कि गणित की तर्क-पद्धति मे एक सृजनात्मक तत्व होता है, इसलिये उसे अरस्तू के "सिलाजिज्म" में निहित निगमन-विधि से भिन्न समझना चाहिए। उनके विचार मे गणितात्मक आगमन ( Mathematical Induction ) मूल रूप में आवृत्ति-मूलक प्रमाण या उपपत्ति (Proof by Recurrence ) होता है। उनके मत मे

भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाला आगमन सदैव अनिश्चित होता है, क्योंकि वह इस विश्वास पर आधारित होता है कि विश्व में एक सामान्य व्यवस्था है, एक ऐसी व्यवस्था जो हमसे बाहर की चीज है। इसके विपरीत गणितात्मक

हुआ कि मनुष्य का मूल्यानुप्राणित व्यवहार मूलत बुद्धि-सगत होता है। यदि ऐसा न हो तो नर-विज्ञान के पडित उन लोगो के व्यवहार की व्याख्या न कर सकें जिनकी "सस्कृति" अन्वेषको की अपनी 'सस्कृति" से नितान्त भिन्न है। इसलिये यह मानने का कोई वढिया हेतु नही है कि लोगो का मूल्यानुप्राणित व्यवहार किसी महत्वपूर्ण अर्थ में आत्मपरक होता है।[15]

## ज्ञान मे सृजनात्मक तत्व

ऊपर हम कह चुके है कि मानवीय विद्याओं के सामान्य कथन परिचित अनुभव-तत्वो के विस्तार और पुन सगठन द्वारा प्राप्त होते हैं। ये दोनो क्रियाएँ सृजनात्मक हैं। मानव-सम्बन्धी बोध का उपादान सभावनाओ की अवगति है, यह अवगति एक सृजनात्मक क्रिया है। किन्तु इसका यह मतलब नही कि बोध-क्रिया की सृजनात्मकता केवल मानवीय विद्याओ की विशेषता, अर्थात् केवल मानवीय विद्याओ के क्षेत्र की चीज है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार (और यह परम्परा बडी महत्वपूर्ण तथा आदरणीय है) ज्ञान के दो प्रमुख स्रोत हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान। भारतीय तर्क-शास्त्र युक्ति या तर्क को प्रमाण, अर्थात् नये ज्ञान का उपकरण या स्रोत, नही मानता।[16] किन्तु पाश्चात्य दार्शनिको ने अनुमान और तर्क में कोई भेद नही किया है। कुछ दिन पूर्व तक पश्चिमी विचारक भी प्रत्यक्ष और तर्कना या अनुमान को ही ज्ञान का स्रोत मानते थे। वेकन के समयसे पश्चिम के तर्क शास्त्री निगमन अर्थात् रूपाकार-मूलक तर्क ( Formal Reasoning ) और आगमन अथवा विपय-मूलक अनुमान या तर्क ( Material Reasoning ) मे अन्तर करने लगे है। भारतीय तर्क-शास्त्र भी आगमनात्मक तर्क को व्याप्ति की स्थापना के उपकरण के रूप में स्वीकार करता है। व्याप्ति का उदाहरण इस प्रकार होगा जहाँ-जहाँ धुँआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है।

आलोचको ने आगमनात्मक तथा निगमनात्मक दोनो तर्क-पद्धतियो को सदोष घोपित किया है। उदाहरण के लिये जान स्टुअर्ट मिल का कहना है कि निगमन-विधि में अन्योन्याश्रय दोप होता है। वहाँ नि कर्प (सुकरात मरणशील है) तो पक्षवाक्य (सव मनुष्य मरणशील हैं) पर निर्भर करता ही है, स्वय पक्षवाक्य भी निष्कर्ष पर

अथवा गेटे के जीवन को, जो हमारे जीवन से इतना भिन्न और इतना समृद्ध है, न तो आगमन-विधि से जानते हैं, और न निगमन-विधि से। यह भी स्पष्ट है कि हम प्रत्यक्ष द्वारा उसका साक्षात्कार नहीं करते। उस जीवन को समझने और पकड़ में लाने का एक ही तरीका है, अर्थात् परिचित अनुभव की संभावनाओं के सृजनात्मक विस्तार और पुनःसंगठन का तरीका।

उन सब स्थलों में जहाँ निगमन-विधि हमें ऐसा नया ज्ञान देती है जो पक्षवाक्यों में निहित नहीं है, और जहाँ आगमनात्मक चिन्तन में हम 'कुछ' से 'सब' की ओर संक्रमण करते हैं, समझना चाहिए कि हमारी बोध-शक्ति सृजनात्मक ढंग से व्यापृत हुई है। सच यह है कि सब प्रकार के संगठित ज्ञान में सृजनात्मक तत्व का प्रवेश रहता है। वैज्ञानिकों की स्थापनाएँ, और कवियों तथा क्रान्तिकारियों की प्रतीतियाँ और आदर्श, लगातार हमारे साक्षात् अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं।

मनुष्य की सृजनशीलता अपने को विज्ञान और दर्शन द्वारा निर्मित प्रत्ययों या धारणाओं में, और उन कल्पना-मूलक स्थापनाओं में जो उन प्रत्ययों को नये रूपों में ग्रथित करती हैं, प्रकट करती है। उदाहरण के लिये, जैसा कि ह्यूम ने बतलाया था, कार्य-कारण की धारणा उन तत्वों का अतिक्रमण करती है जो केवल अनुभव द्वारा दिये हुए होते हैं, उस धारणा में अनुभूत तत्वों से अधिक चीजों का समावेश रहता है। विज्ञान और दर्शन की महत्वपूर्ण धारणाएँ (Concepts) अनुभूत वस्तुओं के सामान्य गुणों के प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त नहीं होतीं। उनका उद्भव उस प्रयत्न से होता है जिसके द्वारा हम किसी अनुभव-क्षेत्र की रचना (Structure) को स्थापित करते हैं।

"फीडो" नामक संवाद ग्रन्थ में प्लेटो द्वारा चित्रित सुकरात ने एक विचित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह सिद्धान्त यह है कि हमारा समस्त ज्ञान स्मृति होता है। उदाहरण के लिये सुकरात कहते हैं कि अनुभव द्वारा हम कभी पूर्ण समानता (Perfect Equality) को नहीं जान सकते, क्योंकि किन्हीं दो चीजों का [illegible] ठीक-ठीक समान परिमाण की हों। हम किन्हीं भी दो [illegible] में जो बराबर लगती हों, वे कभी भी [illegible] बराबर नहीं होतीं। इसलिये सुकरात कहते हैं कि पूर्णतया समान परिमाण की धारणा या प्रत्यय हमें किसी पिछले जन्म में प्राप्त हुआ होगा, [illegible]

आगमन' अर्थात् पुनरावृत्ति-मूलक उपपत्ति हमारे लिए निश्चयात्मक या अनिवार्य सत्य होती है, क्योकि उसका आधार हमारी ही बुद्धि की एक विशेषता रहती है।[२०]

प्रश्न है, गणितात्मक आगमन, अथवा आवृत्ति-मूलक उपपत्ति, की निश्चयात्मकता का क्या रहस्य है? एक जगह प्वाकरे ने प्रकट किया है मानो उक्त उपपत्ति मे अनन्त "सिलाजिज्म" या आनुमानिक वाक्य-समूह सक्षिप्त होकर सनिविष्ट हो जाते है।[२१] अन्यत्र उन्होने सकेत किया है कि उपरोक्त उपपत्ति निगमन-विधि अथवा प्रयोग पर आधारित नही है, और एक प्रकार का अनुभव-निरपेक्ष सयोजक प्रतिभान ( Apriori Synthetic Intuition )[२२] है। इस सम्बन्ध में उनकी अन्तिम सम्मति निम्न अवतरण में निहित जान पडती है

ऐसा क्यो है कि यह मन्तव्य या उपपत्ति हमारे ऊपर इतने प्रबल रूप मे आरोपित हो जाती है? इसका कारण यह है कि वह स्वय हमारी बुद्धि की उस शक्ति की घोषणा करती है जिसके द्वारा वह सचेत भाव से एक क्रिया की असख्य पुनरावृत्तियाँ कर सकती है, यदि वह क्रिया एक बार सभव हो जाय। हमारी बुद्धि या चेतना को अपनी शक्ति का साक्षात् आभास है, प्रयोग उसके उपयोग का अवसर मात्र बन जाता है, जिसके द्वारा वह उसकी अवगति प्राप्त करती है।[२३]

प्वाकरे द्वारा व्याख्यात गणित की आगमन-विधि बुद्धि की उस क्रिया का एक निदर्शन है जिसे हमने "परिचित ज्ञान का विस्तार" कहा है। एक ही व्यापार की पुनरावृत्ति भी एक तरीका है जिसके द्वारा परिचित अनुभव का विस्तार घटित होता है। परिचित ज्ञान के पुनरावृत्ति-मूलक विस्तार से ही हम "एक करोड" जैसी बडी सख्याओ का ज्ञान प्राप्त करते है, यह ज्ञान विश्लेषण अथवा समानार्थक परिवर्तन ( Tautologous Transformation ) द्वारा प्राप्त नही होता।

निष्कर्ष यह है कि गणित के सामान्य सिद्धान्त उस ज्ञान-व्यापार के निदर्शन है जिसे हमने "परिचित अनुभव का सृजनात्मक विस्तार" कहा है। हम इस बात पर गौरव देना चाहते है कि इतिहास का ज्ञान भी इसी कोटि का होता है, वहाँ हम परिचित प्रेरणाओ (Motives) तथा कार्य-प्रणालियो के विस्तार और पुन सगठन द्वारा ज्ञान प्राप्त करते है। इस वक्तव्य के स्पष्टीकरण की जरूरत है। हम एक नोपोलियन

अथवा गेटे के जीवन को, जो हमारे जीवन से इतना भिन्न और इतना समृद्ध है, न तो आगमन-विधि से जानते है, और न निगमन-विधि से। यह भी स्पष्ट है कि हम प्रत्यक्ष द्वारा उनका साक्षात्कार नही करते। उन जीवन को समझने और पकड़ में लाने का एक ही तरीका है, अर्थात् परिचित अनुभव की सभावनाओ के सृजनात्मक विस्तार और पुनः सगठन का तरीका।

उन सब स्थलो मे जहा निगमन-विधि हमे ऐसा नया ज्ञान देती है जो पक्षवाक्यो मे निहित नहीं है, और जहाँ आगमनात्मक चिन्तन में हम 'कुछ' से 'सब' की ओर सक्रमण करते है, समझना चाहिए कि हमारी बोध-शक्ति सृजनात्मक ढग से व्यापृत हुई है। सच यह है कि सब प्रकार के सगठित ज्ञान में सृजनात्मक तत्व का प्रवेश रहता है। वैज्ञानिकों की स्थापनाएँ, और कवियो तथा क्रान्तिकारियो की प्रतीतियाँ और आदर्श, लगातार हमारे साक्षात् अनुभव की सीमाओ का अतिक्रमण करते हैं।

मनुष्य की सृजनशीलता अपने को विज्ञान और दर्शन द्वारा निर्मित प्रत्ययों या धारणाओं मे, और उन कल्पना-मूलक स्थापनाओं मे जो उन प्रत्ययों को नये रूपो में ग्रथित करती है, प्रकट करती है। उदाहरण के लिये, जैसा कि ह्यूम ने बतलाया था, कार्य-कारण की धारणा उन तत्वो का अतिक्रमण करती है जो केवल अनुभव द्वारा दिये हुए होते है, उस धारणा में अनुभूत तत्वो से अधिक चीजो का समावेश रहता है। विज्ञान और दर्शन की महत्वपूर्ण धारणाएँ (Concepts) अनुभूत वस्तुओं के सामान्य गुणों के प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त नहीं होती। उनका उद्गम उस कल्पना से होता है जिसके द्वारा हम किसी अनुभव-क्षेत्र की रचना (Structure) को स्थापित करते है।

'फीडो' नामक संवाद ग्रन्थ मे प्लेटो द्वारा चित्रित सुकरात ने एक विचित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह सिद्धान्त यह है कि हमारा समस्त ज्ञान स्मृति होता है। उदाहरण के लिये सुकरात कहते है कि अनुभव द्वारा हम कभी पूर्ण समानता (Perfect Equality) को नही जान सकते, क्योंकि ऐसी दो चीजों का अनुभव असम्भव है जो नाप-परिमाण में समान परिमाण की हों। हम कितनी भी होशियारी से दो बराबर चीजें, वे कभी भी सर्वथा समान नहीं होंगी। इसलिये सुकरात कहते है कि पूर्णतया समान परिमाण की धारणा का उद्भव हमें किसी पिछले जन्म में प्राप्त ज्ञान से होता, जिसकी हमें अब याद आती है। किन्तु इस विचित्र सिद्धान्त के पीछे

हम इस सभावना को क्यो न स्वीकार कर ले कि हमारी वुद्धि मे यह शक्ति है कि अपूर्ण समानता के अनुभव के आधार पर पूर्ण समानता की कल्पना कर ले ? इस शक्ति के द्वारा ही हम मौजूदा सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था से श्रेष्ठतर व्यवस्थाओ की कल्पनाएँ कर सकते है।

मानवीय वुद्धि की सृजनशील शक्तियो के अद्भुत निदर्शन उन तरीको मे देखने को मिलते है जिनसे वैज्ञानिक लोग, नये अन्वेषण के लिये, अथवा किसी स्वीकृत सिद्धान्त के परीक्षण के लिये, नये प्रयोगो का आविष्कार करते है। यह कहने की जरूरत नही है कि जटिल विचार-पद्धतियो का निर्माण सृजनशीलता की अपेक्षा रखता है। श्री रिग्नानो ने प्रथम कोटि की सृजनशीलता का एक वढिया उदाहरण दिया है। वैज्ञानिक लोग जानते है कि धातु की सलाखे गर्मी के प्रभाव से लम्बाई मे वढ जाती है, वे यह भी जानते है कि एक छोटे पेण्डुलम (Pendulum) की अपेक्षा वडा पेण्डुलम ज्यादा धीरे इधर-उधर गतिमान होता है। किन्तु इन दो ज्ञान-खडो मे इस बात का कोई सकेत नही है कि एक पैण्डुलम को ठडे से एक गरम कमरे मे ले जाया जाय। 'इस ले जाने की क्रिया से एक नयी घटना का जन्म हुआ जिसका श्रेय मेरी वुद्धि को है, और जिसके घटित होने के बाद मै मन से यह जान सका कि जो पेन्डुलम अव गर्म कमरे मे ज्यादा धीरे हिल रहा है, वही ठडे कमरे मे ज्यादा तेजी से हिल रहा था।'[२६]

एक विचार-पद्धति के निर्माण मे मानव मस्तिष्क जिस सृजनात्मक निपुणता का परिचय देता है उसके निदर्शन सुलभ ही है। स्पिनोजा, हीगल, साख्य और वेदान्त की पद्धतियाँ व्याख्यात्मक प्रत्ययो के सगठन का उत्कृष्ट उदाहरण ह। वे तर्क-मूलक भाववादी जो निगमन और विश्लेपण मे नूतनता, तथा सयोजक ज्ञान मे अवश्यभाविता की सभावना से इनकार करते है, उन सृजनशील मानसिक तत्वो को नही देख पाते जो ज्ञान-क्रिया मे निहित रहते है।

## मानवीय सृजनशीलता की अभिव्यक्तिया सस्कृति और सभ्यता

मानव-निर्मित परिवेश की प्राय प्रत्येक ऐसी चीज जो मानव-जीवन के लिये महत्वपूर्ण हे, मानवीय सृजनशीलता मे उद्भूत हुई है, और उसी का आधार लेकर लगातार वनी रहती हे। यह सृजनशीलता वाह्य वास्तविकता तथा आन्तरिक जीवन दोनो की अपेक्षा मे व्यापृत होती ह। पहली दशा मे उसका लक्ष्य उपयोगिता होता है,

और दूसरी मे मनुष्य के आन्तरिक जीवन का प्रसार और समृद्धि। उपयोगिता के धरातल पर क्रियाशील होती हुई मानवीय सृजनशीलता, औद्योगिक वस्तु-क्रम (Technological Order) को उत्पन्न करती है, जो सभ्यता का एक आवश्यक अंग है, मानवीय जीवन की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती संभावनाओ का अन्वेषण करती हुई वह संस्कृति की सृष्टि करती है, जिसकी अभिव्यक्ति कला तथा चिन्तन की कृतियो मे होती है। मनुष्य का संस्थाबद्ध जीवन वह बिन्दु है जहाँ आकर उपयोगी और निरुपयोगी जीवन-क्रम मिलते है। वैज्ञानिक अन्वेषण की क्रिया जहाँ तक निरुपयोगी होती है, वहाँ तक उसका स्थान जीवन के सांस्कृतिक क्रम मे है।

संस्कृति का अर्थ है सृजनात्मक अनुचिन्तन, उसका निर्माण उन क्रियाओ द्वारा होता है जिनके द्वारा मनुष्य यथार्थ की सार्थक किन्तु निरुपयोगी छवियो की सम्बद्ध चेतना प्राप्त करता है। संस्कृति की दूसरी परिभाषा इस प्रकार होगी। वह उन क्रियाओ का समुदाय है जिनके द्वारा मनुष्य के आत्मिक (मानसिक) जीवन मे विस्तार और समृद्धि आती है। मनुष्य का आत्मिक जीवन प्राय अपने को प्रतीकों में रूपायित करता है। अपने ज्यादा कर्मशील रूपो मे सांस्कृतिक क्रिया अपने को आत्मिक या आन्तरिक जीवन के ऐसे सार्थक रूपो की सृष्टि मे व्यक्त करती है जिन्हे दूसरे लोग कल्पना द्वारा ग्रहण कर सकें। सामान्य रूप मे हम कह सकते है कि संस्कृति मानव जाति के सर्वग्राह्य आत्मिक जीवन-रूपो की सृष्टि और उनका उपभोग है। एक उपलब्धि के रूप मे मानवीय संस्कृति क्रमश वर्द्धमान (Cumulative) और ऐतिहासिक होती है। सांस्कृतिक प्रगति की दो दिशाएँ होती है एक ओर वह मनुष्य के आन्तरिक या आत्मिक जीवन-रूपो का विस्तार है, तो दूसरी ओर उसके बोध और संवेदनाओ का उत्तरोत्तर परिष्कार।

## विज्ञान और दर्शन

विज्ञान और दर्शन दोनो सांस्कृतिक क्रियाएँ है। विज्ञान मे अस्तित्ववान तथ्य-क्रम का अनुचिन्तन किया जाता है और उन नियमो का अन्वेषण जो घटनाओ के गोचर तथा अगोचर होने और उनके रूपात्मक परिवर्तनो की, व्याख्या करते है। इसके विपरीत दर्शन का कार्य मनुष्य की उन दिशाओं का अनुचिन्तन करना है जिन्हे वह स्वयं अपने मे महत्वपूर्ण मानता है, और जो उसके जीवन को सम्पन्न बनाती है। जीवन

की वे प्रक्रियाएँ जिन्हे हम स्वय मे मूल्यवान मानते है, और जिनकी कामना हम स्वय उन्ही के लिए करते है, हमारे जीवन के चरम मूल्यो का निर्माण करती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि दर्शन मूल्यो का अध्ययन करने वाली सामान्य विद्या है, अथवा वह चरम मूल्यो का विज्ञान है। दर्शन का प्रमुख कार्य या प्रयोजन उन मानदडो का अन्वेपण है जिनके द्वारा हम विभिन्न सास्कृतिक क्रियाओ की प्रामाणिकता और महत्व आँक सकें।

दर्शन विभिन्न कोटियो की सास्कृतिक अनुभूति का विश्लेपण और व्याख्या भी करता है, किन्तु इन क्रियाओ का चरम प्रयोजन यही है कि उन अनुभूतियो या व्यापारो का मूल्याकन हो हसके। दर्शन के तीन मुख्य विभाग तर्क-शास्त्र, आचार-विज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र है, किन्तु इनमे दर्शन की परिसमाप्ति नही हो जाती। दार्शनिक क्रिया का सर्वोच्च रूप मोक्ष-धर्म (Religion) के दार्शनिक विवेचन मे होता है, जिसका कार्य मनुप्य द्वारा प्राप्य उच्चतम अनुभूति का निरूपण है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि दर्शन मानवीय जीवन और अनुभूति के गुणात्मक विकास का उपकरण है।

कतिपय जर्मन विचारको ने, जैसे रिकर्ट, विन्डेल-बैण्ड, डिल्थे और स्प्रैंगर ने, प्राकृतिक (Natural) और सास्कृतिक (Cultural) विद्याओ में अन्तर किया है। उनके अनुसार जहाँ प्राकृतिक विद्याओ का लक्ष्य व्याख्या है, वहाँ नास्कृतिक विद्याओ का ध्येय समझना (Understanding) है, प्रथम कोटि की विद्याएँ 'सामान्य' का अध्ययन करती है, और दूसरी कोटि की 'विशेष' का।[५] हम इस प्रभेद को कुछ परिवर्तनो के साथ स्वीकार करते है। जहाँ एक ओर हमने, विपय-वस्तु और अन्वेपण-पद्धति दोनो के आधार पर, मानवीय विद्याओ तथा भौतिक विज्ञानो में भेद किया है, वहाँ दूसरी ओर मानवीय विद्याओ के दो उपविभाग किये है, अर्थात् मानवीय शास्त्र (Humanistic Sciences) जैसे अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि, और मानवीय अवीतियाँ (Humanities) जिनमे कलाओ तथा दर्शन, आध्यात्मिक चिन्तन या मोक्षधर्म आदि का समावेश है। हमारे विचार मे सब प्रकार के विज्ञानो का, फिर चाहे वे भौतिक हो या मानवीय, सामान्य ध्येय अन्वेपित घटनाओ की कारण-मूलक व्याख्याएँ प्रस्तुत करना है। भौतिक विज्ञानो में ये व्याख्याएँ स्थापना-निगमन-मूलक (Hypothetical-Deductive) तथा मात्रा-

मूलक (Quantitative) होती है, जब कि मानवीय शास्त्रो मे वे गुणात्मक तथा साक्षात्कार-मूलक या कलात्मक होती है। मानवीय शास्त्रो से भिन्न मानवीय अवीतियो का कार्य यह होता है कि वे विभिन्न कोटियो के सास्कृतिक अनुभव की सृष्टि और मूल्याकन करें। कला, नैतिकता तथा अध्यात्म के क्षेत्रों मे आत्मिक जीवन-रूपो की सृष्टि होती है, दर्शन की विभिन्न शाखाओ जैसे नीति शास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र और अध्यात्म-दर्शन (Philosophy of Religion) मे उक्त रूपो का विश्लेषण और आलोचनात्मक मूल्याकन किया जाता है। दर्शन का एक विभाग और है, अर्थात् तर्क-शास्त्र और ज्ञान-मीमासा, जिनका काम मनुष्य की सब प्रकार की वैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली का विश्लेषण और मूल्याकन है।

दर्शन के सम्बन्ध मे यह दृष्टिकोण कि वह मूल्यो अथवा मानव आत्मा की वरण-क्रियाओ (Spiritual Preferences) का अध्ययन है, भारत के वेदान्ती विचारको की चिन्तन-प्रणाली मे पुष्टि पाता है, बौद्ध तथा दूसरी कोटियो के अध्यात्मवादी दर्शन भी उसका समर्थन करते है। केवल न्याय-वैशेषिक और साख्य ही, कुछ हद तक, उक्त दृष्टिकोण का अपवाद है। डा० मैत्र ने ठीक ही कहा है कि 'हमारी परम्परा है मूल्य-केन्द्रित होना, न कि अस्तित्व-केन्द्रित होना, जैसी कि पश्चिम की परम्परा है।'[२६]

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान श्री नार्थ्रोप ने पूर्वी तथा पश्चिमी सस्कृतियो मे एक दूसरे ढग के भेद का निरूपण किया है। उनके विचार मे पूर्व के विचारक अपना ध्यान विविक्त साक्षात्कार-मूलक अनुभव-राशि (Differentiated Aesthetic Continuum) पर केन्द्रित करते है, जब कि पश्चिम के विचारक वस्तु-जगत् की रचना के सम्बन्ध मे ऐसे कल्पना-प्रसूत व्याख्या-सूत्रो (Postulational Theories) का निर्माण करते है जिनसे अनेक निगमन हो सके। वे कहते है 'पूर्व मुख्यत वस्तुओ के प्रत्यक्ष अनुभव मे आने वाले पक्ष का अन्वेषण करता रहा है, और पश्चिम उनके बुद्धिग्राह्य पक्ष का।'[२७] यह एक सर्व-विदित बात है कि पूर्व ने उस कोटि के वैज्ञानिक चिन्तन की सृष्टि नही की जो कि पश्चिम की विशेषता है। क्या इसका कारण यह था कि वे स्थापना-निगमन-मूलक चिन्तन (Hypothetical-Deductive Thinking) को पसन्द नही करते थे, अथवा उसकी योग्यता नही रखते थे ? हमारी समझ मे यह व्याख्या उचित नही होगी। नागार्जुन और धर्मकीर्ति, गौडपाद और श्रीहर्ष, तथा कुमारिल और शकर की कृतियाँ भी इस बात का प्रमाण है कि भारतीय विचारको मे न केवल निगम-

नात्मक तथा विशुद्ध युक्तिवादी (Dialectical) चिन्तन की क्षमता ही थी, वल्कि वे उसके प्रेमी भी थे। जहाँ तक यह प्रश्न है कि वे आधुनिक कोटि के वैज्ञानिक चिन्तन का विकास क्यो नही कर सके, हमें उन्हें उतना ही दोप देना या नही देना चाहिये जितना कि पुराने यूनानी और रोमन विचारको को।

हमारे मत में श्री नार्थ्रोप ने पूर्व और पश्चिम की चिन्तन-शैलियो मे जिस भेद को आभासित किया है उसकी दूसरी व्याख्या सभव है। पूर्वी सस्कृति सामान्य रूप में, और भारतीय दर्शन और सस्कृति विशेप रूप मे, इसके लिये चिन्तित रहे हैं कि मानव व्यक्ति के दु खो को कैसे दूर किया जाय, और उसे कैसे वदला जाय, वाह्य परिवेश को नियन्त्रित तथा परिवर्तित करने की विशेप चिन्ता उन्होने नही की। एशिया के, विशेपत चीन और हिन्दुस्तान के, धर्मों (जैसे बौद्ध धर्म और ताउ सम्प्रदाय) की चिन्ता का प्रधान विपय मानव जीवन के दु ख का निराकरण रहा है। न्याय-सूत्रो तथा साख्यकारिका के चिन्तन का आरम्भ इस वक्तव्य से होता है कि मोक्ष या दु ख-निवृत्ति ही प्रधान पुरुपार्थ है। एशिया के विचारक यह भी मानते रहे हैं कि व्यक्ति के सुख-दु ख के हेतु स्वय उसके व्यक्तित्व में वर्तमान होते हैं। अतएव भारत के ऋपि-दार्शनिको ने अपनी सारी शक्ति उन तत्वो के विश्लेपण और मूल्याकन मे लगा दी जो वैयक्तिक चेतना के स्वास्थ्य एव सुख से सम्वन्धित हैं। चूँकि उन तत्वो को कल्पना-मूलक प्रतिभान अथवा भीतरी अन्तर्दृष्टि द्वारा ही पकडा जा सकता है, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि वे चिन्तक उन तथ्यो का अन्वेपण कर रहे हैं जिनका वोध साक्षात् अवगति से होता है, अर्थात् उस वस्तु का जिसे श्री नार्थ्रोप ने साक्षात्कार-मूलक अनुभवराशि कहा है। इससे इस स्थिति की भी व्याख्या हो जाती है कि क्यो भारतीय दार्शनिको ने साक्षात्कार अथवा आत्मानुभूति पर इतना जोर दिया है। यहाँ एक बात और लक्षित करने की है वाह्य गोचर अनुभूति (Sensible Continuum) या अनुभव-राशि के अन्वेषण में भारतीय विचारको की उतनी अभिरुचि नही है। प्रस्तुत पुस्तक की पदावली मे प्रकट करे तो कहना होगा कि एशिया के दार्शनिक सामान्य रूप मे और भारतीय दार्शनिक विशेप रूप में, इसमें अधिक दिलचस्पी लेते हैं कि व्यक्ति अथवा वैयक्तिक चेतना का सास्कृतिक अथवा आध्यात्मिक परिष्कार कैसे हो, उन्हें इसमें ज्यादा रुचि नही है कि मानव-जीवन की भौतिक परिस्थितियो में कैसे सुधार हो। अवश्य ही वे समाज-व्यवस्था मे रुचि दिखलाते है, पर उस रुचि की प्रेरणा भी इस इच्छा में है कि व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रस्तुत

कर दी जायँ। हमारे यहाँ साधुता (Virtue) अथवा धर्म-मूलक व्यवहार पर भी गौरव दिया गया है, लेकिन उसका उद्देश्य भी यही माना गया है कि स्वार्थ-वृत्तियों के उन्मूलन तथा निम्न प्रवृत्तियों के शोधन द्वारा आत्म-शुद्धि हो जाय। इन दृष्टियों से कहा जा सकता है कि एशिया की संस्कृति में सामान्यतः, और भारतीय संस्कृति में विशेषतः, आत्मिक या आध्यात्मिक मूल्यों को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है।

## मोक्ष या आध्यात्मिकता का महत्व

आज के अधिकांश विचारकों, विशेषतः मानववादियों के, मन में धार्मिक या आध्यात्मिक मनोवृत्ति के प्रति सन्देह की भावना पायी जाती है। योरपीय पुनर्जागृति के समय से यह समझा जाता है कि मानववादी मनोवृत्ति मूलतः बुद्धिवादी तथा रहस्य-भावना की विरोधी होती है। यह भी समझा जाता कि वह मनोवृत्ति ऐहलौकिक और शरीर-परक अथवा इन्द्रिय-परक (Sensuous) होती है। भारतीय विचारक और राजनीतिज्ञ श्री मानवेन्द्र नाथ राय तथा अमरीकी लेखक श्री कारलिस लेमान्ट जैसे चिन्तक अपने मानववाद को प्रकृतिवादी (Naturalist) अथवा भौतिक-वादी वर्णित करना पसन्द करते हैं। मार्क्सवादियों का कहना है कि अध्यात्म या मोक्षधर्म जनता की अफीम या शराब है जो उनकी बौद्धिक चेतना को ढक लेती है। फ्रेजर जैसे नर-विज्ञानियों के मत में धर्म या मोक्षधर्म सोचने तथा महसूस करने का एक ढंग है जिसका निकट भविष्य में तिरोभाव अनिवार्य है।

मोक्ष-धर्म अथवा अध्यात्म के ऊपर किये गये उक्त आरोपों तथा उनसे सम्बन्धित भविष्यवाणियों के पीछे यह भावना छिपी हुई है कि मोक्षधर्म एवं तत्सम्बन्धी मनोवृत्ति कुछ ऐसी चीजें हैं जिनका मनुष्य की वास्तविक प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् जो मानव-प्रकृति के बाहर की चीज हैं। तर्क-मूलक भाववादियों ने तत्त्व-दर्शन-सम्बन्धी चिन्तन के बारे में ऐसा ही मत प्रकट किया है। इनके विपरीत हमारा विचार है कि जिस प्रकार दार्शनिक कोटि के (Metaphysical) चिन्तन का लोप सम्भव नहीं है, वैसे ही मोक्षधर्म अथवा आध्यात्मिक मनोवृत्ति का लोप भी शक्य नहीं।

श्री राधाकृष्णन् ने उचित ही लिखा है 'मोक्षधर्म लोगों के लिए मादक द्रव्य का काम नहीं कर सकता, जब तक कि उनमें कुछ ऐसी असन्तुष्ट आकांक्षाएँ न हों जिनका सम्बन्ध भौतिक जगत से नहीं है।'[२८] किन्तु अभौतिक आकांक्षाओं का यह अर्थ नहीं

लेना चाहिए कि उनका विषय मानव जीवन से बाहर होता है। यह आश्चर्य की बात है कि विभिन्न कोटियों के मानववादी विचारक, मनुष्य की शक्तियो तथा उपलब्धियोमे गर्व की भावना रखते हुए भी, उस आध्यात्मिक मनोवृत्ति की प्रकृति ओर सार्थकता का अन्वेषण नही करना चाहते जो सन्त-चरित्र जैसी उच्च वस्तु को उत्पन्न करती है। इस चरित्र का महत्व कला तथा चिन्तन की सृष्टियो से किसी प्रकार भी कम नही हे।

मानव व्यक्तित्व के विकास के मात्रा-मूलक ओर गुणात्मक दोनो पक्ष होते हैं। प्रथमत उस विकास का अर्थ हे व्यक्ति की चेतना का उन असख्य सवेदनाओ तथा बोध-दशाओ मे प्रसरित होना जिन्हे ऐतिहासिक मानव-चेतना ने सचित कर रखा हे। दूसरे, वह प्रगति अपने को उस बढते हुए विवेक मे प्रकट करती हे जिसके द्वारा हम सास्कृतिक अनुभव के उच्चतर तथा निम्नतर रूपो मे भेद करना सीखते हैं और क्रमश निम्नतर रूपो से विरत होकर उच्चतर रूपो के ग्रहण की ओर अग्रसर होते हैं। मूल्यो की गुणात्मक चेतना का सर्वोच्च रूप मोक्षधर्म या आध्यात्मिक मनोवृत्ति हे। यह मनोवृत्ति अपने को मुख्यत दो रूपो मे व्यक्त करती हे साधारण लोग जिन छोटी चीजो की विशेष कामना करते हैं उनके प्रति वैराग्य भावना मे, ओर उदारता तथा त्याग की असाधारण क्रियाओ मे जो कि सन्त-प्रकृति की अपनी विशेषताएँ हैं। वस्तुत एक व्यक्ति उसी हद तक उदार तथा पर-हित-काक्षी हो सकता है जहाँ तक उसने सन्तो के विशिष्ट गुण, अपरिग्रह-मूलक उदासीनता, का आकलन किया हे। किसी भी सास्कृतिक व्यापार मे लीन होने के लिये थोडी-बहुत उदासीनता एव अपरिग्रह-वृत्ति अनिवार्य रूप मे अपेक्षित होती है। जिस सीमा तक मनुष्य निम्न कोटि के मूल्यो के अन्वेषण से विरत होता है, वही तक वह अपने को उच्च सास्कृतिक मूल्यो के प्रत्यक्षीकरण और उत्पादन के योग्य बनाता है। जिसे हम सन्त कहते है वह दुनिया की सीमित, अस्थायी उपलब्धियो के प्रति पूर्णतया उदासीन होता है (ऐसी उदासीनता कलाकार ओर विचारक प्राय प्राप्त नही कर पाते) ओर उसकी कल्पना स्वच्छदता-पूर्वक एक ऐसे तत्व की कल्पना करती रहती हैं जो अनन्त, रहस्यमय मूल्यवत्ता का अधिष्ठान हे। यह जरूरी नही है कि उस चरम तत्व अथवा अनुभूति के सम्बन्ध मे सन्त की कोई हठपूर्ण धारणा हो। यह सम्भव है कि बुद्ध की भाँति वह उसके बारे मे कोई अन्तिम दार्शनिक राय प्रकट करने से इनकार कर दे। जरूरी केवल इतनी चीज हे कि उसे मानव-जीवन की उच्चतम सभावनाओ की उपलभ्यता मे भावात्मक विश्वास या आस्था हो।

सारांश यह कि जहाँ तक मनुष्य मूल्यों की सृष्टि और खोज करता है, वहाँ तक उसकी प्रकृति की प्रमुख विशेषता सृजनशीलता है। इस प्रकृति की माँगों के अनुरूप जीवित रहते हुए ही वह परम तृप्ति का लाभ कर सकता है। मानव-प्रगति की दिशा उसकी सांस्कृतिक अथवा मूल्यानुप्राणित चेतना के सतत विस्तार और परिष्कार की ओर है। मानव व्यक्तित्व का विस्तार और परिष्कार ही वे लक्ष्य हैं जिनकी प्राप्ति के लिये, व्यक्तियों तथा राष्ट्रों दोनों के राजनीतिक, आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्न अनुष्ठित होने चाहिएँ। अपरिमित शक्ति एवं सम्पत्ति की उपलब्धि उनका प्रकृत ध्येय नहीं है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. कार्ल यास्पर्स, मैन इन द मार्डन एज, (अंग्रेजी अनुवाद, जार्ज रटलेज एन्ड सन्स, लन्दन १९३३), पृ० ४३।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ७।२३।१

३ दे० टुएन्टिएथ सेन्चुरी सोशियालॉजी, संपादक जार्ज गुरविच और विलबर्ट मूर, (द फिलॉसिफिकल लायब्रेरी, न्यूयार्क १९४५), पृ० ९८।

४ दे० एडवर्ड वेस्टर मार्क, "एथीकल रिलेटिविटी" की प्रस्तावना, (कीगन पाल, लन्दन, १९३२)।

५. दे० टुएन्टिएथ सेन्चुरी सोशियालॉजी, ब्रिटिश सोशियालॉजी, पृ० ५७९।

६ एन्साइक्लोपीडिया आव द सोशल साइन्सेज़, भाग सात-आठ, पृ० ५४१।

७ दे० एफ० सी० एस० शिलर, ह्यूमैनिज्म, (मैकमिलन, लन्दन, दूसरा संस्करण, १९१२), प्रस्तावना पृ० २१।

८. वही, अध्याय १।

९. वही, पृ० ७।

१०. दे० नीचे, अध्याय ७।

११. कारलिस लैमान्ट, ह्यूमैनिज्म एज़ ए फिलासफी, (वाट्स एन्ड को, लन्दन, तीसरा संस्करण, १९५२), पृ० ३०–३१।

१२. दे० जॉक मारिताँ, ट्रू ह्यूमैनिज्म, (ज्याफ़रे ब्लेस, लन्दन, तीसरा संस्करण १९४१), भूमिका।

१३. कारलिस लैमान्ट, वही, पृ० ३१।

१४. एथीकल रिलेटिविटी, पृ० ३।

१५ पाठक लक्षित करें, भिन्नो तथा विपरीतो की सहप्रामाणिकता, विरुद्धो की नहीं। जीवन में हमारे सामने 'करने' तथा 'न करने' के बीच विकल्प का प्रश्न नहीं उठता, 'यह करें' या 'वह करें' का प्रश्न ही प्राय उठता है। द्वन्द्व की स्थिति प्राय दो मूल्यो को लेकर उठ खडी होती है।

१६ तु० की० तर्को न प्रमाणसगृहीतो, न प्रमाणान्तरम्, प्रमाणानामनुग्राहकः तत्वज्ञानाय कल्पते। न्याय भाष्य, १।१।१

१७ देखो नीचे, अध्याय २।

१८ तु० की० हैन्स राइशेनबाख, 'इस पर अति गौरव नहीं हो सकता कि निगमन स्वतत्र निष्कर्ष उत्पन्न नहीं कर सकता।' (द राइज आफ साइन्टिफिक फिलासफी, बार्कले एन्ड लास एजेलेस, १९५१), पृ० ५७।

१९ एच० प्वाकरे, साइस ऐन्ड हाइपाथिसिस, (अ० अनु० वाल्टर स्काट पब्लिशिंग कम्पनी, लन्दन, १९०५), पृ० ३।

२०. वही, पृ० १३।

२१ वही, पृ० ९।

२२ वही, पृ० १२-१३।

२३ वही, पृ० १३।

२४ यूगेनिओ रिग्नानो, द साइकालाजी आव् रीजनिंग, (अ० अनु० कीगन पाल, लन्दन, १९२३), पृ० १९१, गौरव लेखक का।

२५ दे० गार्डनर मर्फी, ए हिस्टारिकल इन्ट्रोडक्शन टु साइकालजी, (कीगन पाल, १९३८), अध्याय २६।

२६. दे० कान्टेम्पोरेरी इन्डियन फिलासफी, (म्योरहेड लाइब्रेरी आफ फिलासफी, दूसरा सस्करण, १९५२), पृ० ३८७।

२७ दे० एफ्० एस० सी० नार्थ्राप, द मीटिंग आव् ईस्ट ऐन्ड वेस्ट, (मेक-मिलन, लन्दन, १९४९), पृ० ३७५।

२८ सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, रिलीजन ऐन्ड फिलासफी, (एलेन ऐन्ड अनविन, लन्दन, १९४७), पृ० २३।

# अध्याय २

## मूल्यों की वस्तुनिष्ठता यथार्थ व अस्तित्व के क्रम

इस पुस्तक का उद्देश्य संस्कृति को एक मूल्य मानते हुए उसका निरूपण करना है। कोई धारणा अथवा वक्तव्य कब सन्तोषप्रद होता है ? सन्तोषप्रद होने की एक पहचान यह है कि एक वक्तव्य या धारणा उन सब सामान्य मनुष्यों द्वारा जो उसकी परीक्षा कर सकते हैं, ग्राह्य हो। मतलब यह है कि जिसे हम समुचित धारणा या वक्तव्य कहते हैं वह किसी-न-किसी प्रकार की प्रामाणिकता का दावा करता है। कुछ विचारकों, विशेषत आत्मनिष्ठतावादियों तथा तर्क-मूलक भाववादियों ने, यह मानने में इनकार किया है कि मूल्यों के सम्बन्ध में दिये हुए कथन या वक्तव्य वस्तुगत रूप में प्रामाणिक होते हैं। संस्कृति का निरूपण करने से पहले यह जरूरी है कि हम इन विचारकों की मान्यताओं की परीक्षा करें।

समीक्षा या आलोचना दो प्रकार की होती है, तर्क-मूलक और ध्वंसात्मक तथा अनुभव-मूलक और रचनात्मक। पहली कोटि की आलोचना प्राय किसी मतव्य की आतरिक विसगतियों को दर्शित करके उसका खडन कर देती है। उदाहरण के लिये जब हम किसी मन्तव्य से निष्कर्ष निकाल कर यह दिखा देते हैं कि वे निष्कर्ष अर्थहीन (Absurd) हैं, तो हम ध्वंसात्मक आलोचना करते होते हैं। इसके विपरीत रचनात्मक आलोचना किसी सिद्धान्त को जीवन और अनुभूति के तथ्यों की अपेक्षा से जांचती है, और इस दृष्टि से इसमें संशोधन अथवा उसका परित्याग करती है कि उस अनुभूति की ज्यादा अच्छी जानकारी अथवा व्याख्या प्राप्त हो जाय। तर्क-मूलक आलोचना का उद्देश्य किसी सिद्धान्त को दूषित सिद्ध करना होता है, जब कि रचनात्मक आलोचना का अन्तिम लक्ष्य हमारे यथार्थ-सम्बन्धी पर्यवेक्षण को तीक्ष्ण एव समृद्ध करना होता है। हम यह नहीं कह रहे हैं कि प्रथम कोटि की आलोचना अयुक्त होती है। फिर भी हम मानते हैं कि गम्भीर कोटि की आलोचना को, प्रेरणा और निष्पत्ति

दोनो मे, रचनात्मक होना चाहिए। सब प्रकार के सशयवादी विचारको ने, जिनमे आत्मनिष्ठतावादियो तथा तर्क-मूलक भाववादियो का भी समावेश है, ध्वसात्मक आलोचना का प्रचुर प्रयोग किया है। इस प्रकार की आलोचना को वहुत ज्यादा महत्व नही देना चाहिए। इन बातो को ध्यान मे रखते हुए हम सक्षेप मे आत्मनिष्ठतावादियो तथा तर्कमूलक भाववादियो के उन मन्तव्यो की परीक्षा करेगे जो उन्होने मूल्य-सम्बन्धी वक्तव्यो अथवा कथनो के बारे मे प्रतिपादित किये है।

## आत्मनिष्ठतावाद का खडन

आत्मनिष्ठतावाद उस सिद्धान्त को कहते है जिसके अनुसार मूल्य-सम्बन्धी कथन, जिनका विपय मानवीय कर्म अथवा कलाकृतियाँ होती है, हमे उन वस्तुओ के बारे मे कुछ नही वतलाते। उदाहरण के लिये जब हम कहते है कि एक काम बुरा है, अथवा एक कविता घटिया है, तव हम वास्तव मे उस काम या कविता के बारे मे कुछ नही कहते। हम उक्त कर्म या कविना मे उपस्थित किसी गुण का सकेत नही करते, इसके विपरीत हम सिर्फ यह प्रकट करते है कि उस कर्म या कविता के सम्वन्ध मे हमारे भीतर एक खास तरह की सवेदना या मनोभाव है। इसका मतलव यह हुआ कि हमारे मूल्य-सम्वन्धी वक्तव्य वस्तुत हमारी मनोदशाओ के बारे मे होते है, न कि किन्ही बाहरी चीजो के सम्बन्ध मे। इस मान्यता के पक्ष मे सबसे बडी युक्ति यह है कि, एक ही नैतिक अथवा सौन्दर्य-मूलक वस्तु के सम्वन्ध मे, विभिन्न व्यक्ति तथा समूह अलग-अलग सम्मतियाँ प्रकट करते है।[1] यदि वे व्यक्ति तथा समूह अपने सामने उपस्थित किन्ही वस्तुगत चीजो की ओर सकेत करते हो, तो उनमे इस प्रकार के मतभेद दिखाई न दे। विभिन्न अवसरो पर विभिन्न चीजो के महत्व के सम्वन्ध मे लोगो मे जो मतभेद होते है, वे यह सिद्ध करते है कि वे लोग वस्तुत अपनी उन मनोदशाओ के बारे मे बातचीत करते होते है जो तथाकथित नैतिक या अनैतिक एव सुन्दर या असुन्दर वस्तुओ द्वारा उनके भीतर उत्पन्न की जाती हे। ओर चूंकि विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो मे ये सवेदनाएँ या मनोदशाएँ प्राय अलग-अलग होती है, इसलिए उनके तथा-कथित नैतिक एव सोन्दर्य-सम्वन्धी वक्तव्य भी एक-दूसरे से भिन्न हो जाते है। यही कारण हे कि मनुष्यो के मूल्य-सम्वन्धी वक्तव्यो को वैज्ञानिक एकता मे ग्रथित नही किया जा सकता। इस प्रकार आत्मनिष्ठतावादी विचारक आचार-शास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र नाम की विद्याओ की सम्भावना से इनकार करते है।

आलोचको ने दिखलाया है कि आत्मनिष्ठतावाद का सिद्धान्त कतिपय विरोधाभासो को जन्म देता है। प्रोफेसर जी० ई० मूर ने इंगित किया है कि नीतिशास्त्र अथवा आचार-शास्त्र के क्षेत्र मे उक्त सिद्धान्त का एक विचित्र निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी कर्म की अच्छाई या बुराई के सम्बन्ध मे किन्ही भी दो व्यक्तियों में कभी मतभेद नही हो सकता।[२] कारण यह कि जब कोई व्यक्ति एक नैतिक निर्णय देता है, तो वह अपनी मनोदशाओ या संवेदनाओ के बारे मे बात करता है, न कि निर्णीत होने वाले कर्म के बारे मे। ऐसी स्थिति में नैतिक निर्णय प्राय ऐसे वाक्यो के समान हो जाता है जैसे कि 'मुझे चीनी अच्छी लगती है,' और 'मुझे चीनी अच्छी नही लगती'। इन दोनो वाक्यो मे कोई विरोध नही है, इसी प्रकार नैतिक निर्णयो मे भी विरोध नही होता। आत्मनिष्ठतावाद मे दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि एक ही कर्म नैतिक दृष्टि से अच्छा और बुरा दोनो हो सकता है। तीसरे, कोई भी नैतिक निर्णय गलत नही हो सकता 'जब तक कि निर्णायक अपनी संवेदनाओ अथवा मनोदशाओ के बारे मे गलत सूचना न दे।'[३] चौथे, कोई भी दो नैतिक निर्णय एक ही अर्थ नही रखते। एक ही मनुष्य दो भिन्न अवसरो पर समान निर्णय नही दे सकता, क्योकि प्रत्येक अवसर पर वह वास्तव मे यही कहेगा कि इस समय मै इस चीज को पसन्द या नापसन्द करता हूँ। सौन्दर्य-सम्बन्धी निर्णयो पर भी यही बाते लागू होगी।

आत्मनिष्ठतावाद का एक चौंकानेवाला परिणाम यह है कि किसी व्यक्ति को किसी नैतिक कर्म की भलाई-बुराई के सम्बन्ध मे, फिर चाहे वह कर्म किया जा चुका हो अथवा सकल्पित हो, सन्देह नही हो सकता। क्योकि हमारे मन मे कर्म-विशेष के सम्बन्ध मे इस समय क्या भावना है, इस बारे मे सन्देह की गुजाइश नही है। इसका मतलब यह हुआ कि आत्मनिष्ठतावाद का सिद्धान्त नैतिक द्वन्द्व की अनुभूति की व्याख्या नही कर सकता।

इस प्रकार उक्त सिद्धान्त अपने मे विरोधग्रस्त है, और अनुभूत तथ्यो का भी विरोधी है। फलत हम इस मन्तव्य को स्वीकार नही कर सकते कि हमारे नैतिक वक्तव्य या कथन संवेदनाओ अथवा संवेदनाओ के अस्तित्व को प्रकट करते हैं। किन्तु इस अस्वीकृति का यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि जब वे कथन किये जाते है तब संवेदनाओ का अभाव रहता है। हम मानते है कि ये संवेदनाएँ अकेली नही होती वे सदैव विशिष्ट बाह्य परिस्थितियो पर आश्रित होती है।[४] प्राय हमारे वक्तव्य उन परिस्थितियो का वर्णन करते हैं, जब कि स्वयं संवेदनाओ का प्रकाशन स्वर, चेहरे

के भाव, गतियो आदि के द्वारा किया जाता है। देखने की बात यह है कि उन लोगो की दृष्टि मे जो नैतिक वक्तव्य देते है उन सवेदनाओ तथा उस परिस्थिति का सम्बन्ध स्वाभाविक अर्थात् वस्तुस्थिति द्वारा उत्पादित और बुद्धिगम्य होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे तर्क करनेवालो की दृष्टि में विभिन्न पक्षवाक्यो और उनके निष्कर्पो का सम्बन्ध वस्तुगत तथा बुद्धिगम्य होता है। अवश्य ही उक्त दो स्थितियो मे कुछ भेद रहता है प्रथम सम्बन्ध की वस्तु-परकता उतनी सार्वभौम नही होती जितनी कि दूसरे सम्बन्ध की। यही कारण है कि प्रथम कोटि के सम्बन्ध के बारे में आत्म-परक होने का सन्देह किया जाता है। फिर भी यह मानना होगा कि एक ही "सस्कृति" की परिधि में विभिन्न लोगो के नैतिक वक्तव्य इतने समान होते है कि आत्मनिष्ठतावाद का सिद्धान्त भी सदिग्ध हो जाता है। नैतिक पैमानो की सापेक्षता के बारे में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि ऐसे नैतिक निर्णयो का अभाव नही है जिनके बारे में सार्वभौम मतैक्य हो। यही बात सौन्दर्य-सम्बन्धी निर्णयो के बारे मे कही जा सकती है।

## आवेग-मूलक मूल्य-सिद्धान्त

हमारे मूल्यात्मक वक्तव्यो का व्यवस्थित, वस्तुपाती अध्ययन नही हो सकता, यह मान्यता एक दूसरे सम्प्रदाय की भी है, अर्थात् तर्क-मूलक भाववादियो की। उनका सिद्धान्त आवेग-मूलक मूल्य-सिद्धान्त (Emotive Theory of Values) कहलाता है। केवल नैतिक निर्णयो के सम्बन्ध मे लिखते हुए ऐयर कहते है

नैतिक वक्तव्यो की प्रामाणिकता का निर्णय करने के लिये किसी मानदण्ड को पाना असम्भव है क्योकि उनमे वस्तुपाती प्रामाणिकता होती ही नही। जब एक वाक्य कोई कथन ही नही करता, तो स्पष्ट ही उसके सम्बन्ध में यह पूछना कि वह सही है या गलत, कोई अर्थ नही रखता वे वाक्य जो नैतिक निर्णय प्रकट करते है, कुछ भी नही कहते। वे विशुद्ध रूप मे सवेदनाओ को प्रकट करते है, और इस प्रकार सच तथा झूठ की श्रेणी में नही आते।[5]

प्रोफेसर ऐयर ने आवेग-मूलक मूल्य-सिद्धान्त को आत्मनिष्ठतावाद से पृथक् किया है। वे कहते है 'जहाँ आत्मनिष्ठतावादी यह कहता है कि नैतिक वक्तव्य कतिपय सवेदनाओ के अस्तित्व का कथन या घोषणा करते है, वहाँ हम मानते है कि नैतिक

वक्तव्य या तो सवेदनाओ को अभिव्यक्त करते है, अथवा सवेदनाओ को उकसाते है। इन दोनो रूपो में वे, आवश्यक रूप मे, कोई कथन नही करते।'[६] उदाहरण के लिये एक दम्भी व्यक्ति एक ऐसे कार्य को बुरा कह सकता है जिसका अपराधी वह स्वय है, उस कार्य को बुरा कहते समय उसके मन मे तिरस्कार की वे भावनाएँ जिनका वह दिखावा करता है, मौजूद नही भी हो सकती है।

पूछा जा सकता है कि आत्मनिष्ठतावाद तथा तर्क-मूलक भाववाद के मन्तव्यो के इस भेद का क्या महत्व है? जब आत्मनिष्ठतावादी यह कहते है कि नैतिक कथन सवेदनाओ के अस्तित्व की उपस्थिति बतलाते है, तब वे यह स्वीकार कर लेते है कि नैतिक कथनो मे किसी-न-किसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता होती है, उक्त वक्तव्य का मतलब यही होता है कि वे कथन कतिपय मानसिक तथ्यो का वर्णन करते है और इस प्रकार अनुभवमूलक वक्तव्य (Empirical Statements) होते है। किन्तु तर्क-मूलक भाववादी नैतिक कथनो मे इतनी वस्तुनिष्ठता मानने को तैयार नही है।

तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार नैतिक वक्तव्य या तो (क) इन्द्रिय-ग्राह्य तथ्यो के कथन होते है, अथवा (ख) सवेदनाएँ उकसाने वाले होते है; या फिर (ग) खास ढगों से कर्म करने के लिये आदेश-रूप होते है। हमारे विचार मे नैतिक वक्तव्यो का यह तीनो प्रकार का परिणमन उचित या न्याय्य नही है। उदाहरण के लिये श्री ऐयर का विचार है कि निम्न दो वाक्य समानार्थक है 'तुमने वह रुपया चुराया', और 'तुमने वह रुपया चुराकर बुरा काम किया।' हम ऐयर के इस मत से सहमत नही। कल्पना कीजिए कि एक आतकवादी नेता, जो रुपया चुराने को स्वय में बुरा काम नही मानता, उक्त वाक्य अपने अनुयायियो से कहता है। उसकी दृष्टि में रुपया चुराना बुरी बात तभी होगी जब वह रुपया किसी गरीब व्यक्ति, किसान या मजदूर, का हो। दूसरी स्थिति मे, जब चुराया हुआ रुपया किसी अमीर आदमी का हो, दूसरे वाक्य का वही अर्थ नही होगा जो कि पहले का। सच यह है कि जब मै एक व्यक्ति से कहता हूँ कि उसने किसी चीज को चुरा कर बुरा काम किया, तो मै केवल इस भौतिक तथ्य का सकेत नही कर रहा हूँ कि उसने एक वस्तु को स्थानान्तरित कर दिया; मै इस तथ्य के मूल्यात्मक पहलू का भी सकेत करता हूँ, अर्थात् उस पहलू का जिसके कारण वह तथ्य किसी निरपराध व्यक्ति की पीडा का कारण हो जाता है। यह समझना गलत होगा कि उक्त मूल्यात्मक पहलू चोरी के कर्म मे वैसे ही सलग्न रहता है जैसे कि पत्तियो मे हरियाली। इसके विपरीत एक कर्म में, उस पीड़ा के अनुपात में जो दूसरो

को पहुँचाई गई है अथवा जिसे पहुँचाने का इरादा किया गया है, न्यूनाधिक बुराई आ जाती है, बुराई का अनुपात इस विचार से भी न्यूनाधिक हो जाता है कि पीडा पाने वाला कहाँ तक उसके योग्य था। उदाहरण के लिये चोरी हो जाने से कष्ट पानेवाला व्यक्ति यदि स्वय एक डाकू या बदमाश है, तो हम उसके प्रति सहानुभूति नही दिखलाना चाहते, और उसके अपराधी पर ज्यादा रोप नही करते, बशर्ते कि अपराध करते समय उस अपराधी के मन मे यह भावना रही हो कि मै एक दुष्ट व्यक्ति को कष्ट पहुँचा रहा हूँ। हम आगे देखेगे कि सब वस्तुओ के समस्त गुण आपेक्षिक होते है, कर्मो तथा मनुष्यो की नैतिक विशेषताएँ इस सामान्य नियम का अपवाद नही है। जब हम विभिन्न कर्मो तथा मनुष्यो के सम्बन्ध मे नैतिक निर्णय देते है, तो हम स्वाभावत यह कामना करते है कि दूसरे लोग उन कर्मो तथा मनुष्यो को उन्ही सन्दर्भो मे देखे जिनमें वे हमारे द्वारा देखे जा रहे है।

ऐसा कम होता है कि किसी कर्म अथवा मनुष्य के सम्बन्ध में नैतिक निर्णय देते समय हम एक छोटा-सा वक्तव्य दे कर सन्तुष्ट हो जायें। प्राय हम यह कोशिश करते है कि अपने निर्णय या वक्तव्य को प्रमाणित कर दे। हमारी कोशिश यह होती है कि दूसरे लोग उस पूरे सन्दर्भ को देख लें जिसने उस निर्णय को जन्म दिया है। तर्क-मूलक भाववाद उन सब प्रक्रियाओ की चिन्ता करता नही दीखता जिनके द्वारा, किसी नैतिक विवाद मे, लोग एक दूसरे द्वारा अपना मत मनवाने की कोशिश करते है।

ऐसा जान पडता है कि किसी नैतिक कथन के अर्थ का निश्चय करना उतनी सरल बात नही है। यह कहना कि ऐसे वक्तव्य का उद्देश्य कतिपय सवेदनाओ को उकसाना होता है, स्थिति को सरल करना है। इतिहास-लेखक अक्सर ऐसे पुरुपो के कर्मो पर नैतिक निर्णय देते है जिनके विरुद्ध घृणा तथा क्रोध दोनो की भावनाएँ एकदम व्यर्थ होती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि इतिहास-लेखक अपने पाठको में नैतिक भावनाएँ जगाना चाहते है, तो भी यह स्वीकार करना होगा कि वे ऐसे तथ्यो को उपस्थित करते है जिनके द्वारा नैतिक भलाई-बुराई देखी जा सके।

विचाराधीन मन्तव्य के विरुद्व हमारा सबसे बडा अभियोग यह है कि वह सभ्य मनुष्य के इतिहास के अनुरूप नही है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार हमे यह मानना चाहिए कि बुद्ध और कनफ्यूशियस से लेकर कान्ट और गाधी तक समस्त दार्शनिक एव नैतिक शिक्षक तथा अरस्तू से लेकर टॉल्स्टाय तथा क्रोचे तक समस्त सौन्दर्य-शास्त्री

एक ऐसे कार्य मे लगे रहे है जहाँ सफलता की सभावना है ही नही, और वे सब शिक्षक जो अपने शिष्यो मे यह क्षमता उत्पन्न करना चाहते है कि वे (उदाहरण के लिये) अच्छी-बुरी कलाकृतियो मे भेद कर सकें, न केवल शिष्यो को बल्कि अपने को भी धोखा देते है, क्योकि उन क्षेत्रो मे अच्छाई-बुराई के निर्णय वस्तुत: न सही होते है, न गलत। इस प्रकार के समस्त निर्णय मूलत आवेगात्मक होते है, जिनकी प्रामाणिकता सिद्ध नही की जा सकती, वे सभी समान रूप मे सही या गलत होते है। यहाँ यह स्पष्ट है कि तर्कमूलक भाववाद का सिद्धान्त योरप की उस समस्त उदारतावादी विचार-परम्परा (Liberal Tradition) का निषेधक है जिसके अनुसार मानवीय व्यवहार तथा सस्थाओ की प्रामाणिकता को मनुष्यो की बौद्धिक स्वीकृति द्वारा जाचा जा सकता है।[७] उक्त मन्तव्य के विरुद्ध दूसरा बडा आक्षेप यह है कि सभ्य मनुष्य बहुत काल तक उसे स्वीकार करके नही चल सकते। विवेकी मनुष्यों को यह विश्वास दिलाना असभव है कि वस्तुगत दृष्टि से समस्त कलाकृतियाँ समान रूप मे अच्छी या बुरी हैं, और समस्त कर्म समान रूप मे शुभ या अशुभ हैं। मनुष्य द्वारा किये गये मूल्याकन या मूल्यात्मक निर्णय न तो खामखयाली ही होते है, और न केवल शौक की चीज, वास्तव में वे मानव प्रकृति की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि ऐसा न हो तो इस अजीब स्थिति की क्या व्याख्या होगी कि बर्ट्रान्ड रसेल और आई० ए० रिचर्ड्स जैसे विचारक, जिनका तर्क-मूलक भाववाद की ओर झुकाव है, नैतिक, राजनैतिक एवं कलात्मक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्नो पर निश्चित पक्ष लेते हुए पाये जाते है ?

यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त विचारणाएँ आत्मनिष्ठतावाद तथा तर्क-मूलक भाववाद का पूर्ण खण्डन प्रस्तुत नही करती। बात यह है कि उक्त दोनो मन्तव्य सन्देहवाद के रूप है, और सन्देहवाद का पूर्णतया खण्डन नही किया जा सकता। किन्तु सन्देहवादी दृष्टि पलायनवादी एव निषेधात्मक होती है, और उसे उस किसी भी भावात्मक प्रयत्न से घटिया मानना चाहिए जो किसी अनुभव-क्षेत्र का व्याख्यात्मक चित्र खडा करने के लिये किया जाता है। बौद्धिक हलचल तथा नैतिक अशान्ति के हरेक युग मे सन्देहवाद एक नये रूप मे अपना सिर उठाता है, और अपनी पुष्टि मे नये तर्क देता है इस प्रकार के प्रत्येक युग को इस दुर्द्धर्ष शत्रु का सामना करने के लिये नये रचनात्मक अस्त्रो का प्रयोग करना चाहिए।

इस मनोवृत्ति के साथ हम अब वस्तुनिष्ठता के स्वरूप को निरूपित करने की कोशिश करेंगे। उसके बाद हम यह देखेंगे कि कहाँ तक मूल्यो को वस्तुनिष्ठ चीज

माना सकता है। हम उन कारणो को समझने की कोशिश भी करेंगे जिनसे मूल्यो की प्रतीति तथा तत्सम्बन्धी निर्णयो के क्षेत्र मे मतभेद उत्पन्न हो जाते है। हमारा यह विश्वास है कि उन कारणो की जानकारी जो किसी विषय पर लोगो में मतभेद उत्पन्न करते है, मतभेदो को हटाने में सहायक होती है। मतभेदो की उपस्थिति हमेशा इस वात का सबूत भी नही होती कि विभिन्न दृष्टियाँ वस्तुनिष्ठता से रहित है, कभी-कभी वस्तुस्थिति का परिवर्तित होनेवाला अथवा अनिश्चित रूप ही मत-भेदो का कारण हो जाता है। हमारे विचार मे प्रकाश के स्वरूप तथा हाइज़नवर्ग के अनिर्धारण-सिद्धान्त (Principle of Indeterminacy) की उचित व्याख्या के सम्वन्ध मे वडे-वडे वैज्ञानिको में जो मतभेद है वह कुछ ऐसा ही है। इसी प्रकार वैज्ञानिको में इस वात पर भी मतैक्य नही है कि गणितशास्त्र का स्वरूप क्या है, और प्राकृतिक नियमो की प्रकृति तथा प्रामाणिकता क्या है। हमारा अनुमान है कि मूल्यो के सम्वन्ध मे प्रचलित मतभेद भी उक्त मतभेदो से अधिक आपत्तिजनक और कम बुद्धिगम्य नही है।

## वस्तुनिष्ठता की परिभाषा

वर्तमान काल के मूल्य-सम्बन्धी अनुशीलन पर एक गहरे पक्षपात का प्रभाव देखा जा सकता है। इस पक्षपात के मूल में जॉन लॉक का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि गुणो के दो विभाग होते है, अर्थात् मूल गुण तथा गौण गुण। मूल गुण वे है जो स्वय वस्तुओ मे मौजूद होते है, वस्तुओ मे गौण गुणो की प्रतीति द्रष्टा की विशेष बनावट या रचना के कारण होती है। बिना आँखो के रगो की सत्ता नही होगी, और विना कानो के ध्वनियो की, ऐसा ही दूसरे इन्द्रिय-ग्राह्य गुणो के वारे मे समझना चाहिए। मूल गुण वस्तुनिष्ठ होते है, जबकि गौण गुण आत्मनिष्ठ माने जाने चाहिएँ। इससे वस्तु-निष्ठता की निम्न परिभाषा प्राप्त होती है वस्तुनिष्ठ पदार्थ वह है जो अपनी सत्ता के लिये किसी चेतना-सम्पन्न प्राणी और उसके अनुभव पर निर्भर नही करता।

मूल तथा गौण गुणो का भेद विभिन्न विचारको के हाथो में विभिन्न नाम-रूप धारण करके प्रकट होता है। उदाहरण के लिये श्री स्टेस ने आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ मे निम्न प्रकार से भेद किया है

किसी मूल्य को हम आत्मनिष्ठ कहेंगे यदि उसकी सत्ता, पूर्णतया अथवा अशत,

किन्हीं मानवीय इच्छाओं, संवेदनाओं, सम्मतियों, अथवा दूसरी मनोदशाओं पर निर्भर करती हैं। एक वस्तुनिष्ठ मूल्य इसके विपरीत होगा। वह एक ऐसा मूल्य होगा जो मनुष्य की किसी इच्छा, संवेदना अथवा दूसरी मनोदशा पर निर्भर नहीं करता।[८]

स्टेस से भी आगे बढ़कर श्री एफ० ए० हायक घोषित करते हैं कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों द्वारा अधीन होने वाले समस्त तथ्य आत्मनिष्ठ होते हैं। उनके मत में सामाजिक विज्ञान वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन नहीं करते, वे या तो मनुष्यों तथा वस्तुओं के सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं, अथवा मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों का। और जहाँ तक मानवी कर्मों का सम्बन्ध है, 'वस्तुएँ वह होती हैं जो कर्म करने वाले लोग उन्हें समझते हैं।'[९] वैसे लोगों की दृष्टि में वस्तुएँ किसी के लिये उपयुक्त अथवा किसी के लिये उद्दिष्ट होती हैं। हायक घोषणा करते हैं कि सामाजिक विज्ञानों के तथ्य मात्र सम्मतियाँ होते हैं, अर्थात् उन कर्म करनेवालों की सम्मतियाँ जिनके कर्मों का हम अध्ययन करते हैं।[१०] उनका यह भी प्रस्ताव है कि यदि हमें वस्तुनिष्ठ के विरोधी के रूप में आत्मनिष्ठ कहना उचित न लगे, तो हम उनके बदले आरोपित (Attributed) शब्द का प्रयोग कर सकते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है यदि आत्मनिष्ठ वह है जो ज्ञाता की चेतना पर निर्भर करता है, तो क्या तर्क मूलक आक्षिप्त अभिप्राय (Implications) को भी आत्मनिष्ठ मानना चाहिए? यह स्पष्ट है कि आक्षिप्त अभिप्राय की सत्ता ज्ञाता की चेतना के लिये ही होती है। किन्तु यदि आक्षिप्त अभिप्रायों को आत्मनिष्ठ माना जाय, तो समस्त वैज्ञानिक तर्कना और समस्त विज्ञान आत्मनिष्ठ बन जायेंगे।

जहाँ तक दर्शन का प्रश्न है अब मूल गुणों तथा गौण गुणों का भेद अयुक्त माना जाता है। बहुत पूर्व बार्कले ने यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि तथाकथित मूल गुण जाननेवाली चेतनाओं के निरपेक्ष सिद्ध नहीं किये जा सकते, और इस प्रकार यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वे किसी रूप में गौण गुणों से भिन्न तथा अधिक वस्तुनिष्ठ होते हैं। रसेल ने लिखा है "बार्कले के समय से गुणों से सम्बन्धित लाक का द्वैत दार्शनिक दृष्टि से असमीचीन समझा जाता है।"[११] यह लक्षित करने की बात है कि सापेक्षवाद के बाद का भौतिकशास्त्र प्राय बार्कले के मन्तव्य से सहमत है। उदाहरण के लिये श्री जे० डब्ल्यू० एन० सलीवन लिखते हैं

यह विल्कुल स्पष्ट नही है कि प्रकृति के गणित-मूलक गुण भी आत्मनिष्ठ न माने जायें। युक्तियो द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि उपरोक्त गुण भी हमारे द्वारा प्रकृति मे आरोपित होते हैं। हम अनिवार्य रूप से प्रतीयमान तथ्यो को गणित के ढाँचे में व्यवस्थित कर लेते हैं, क्योकि हमारे मस्तिष्क की प्रकृति ऐसी ही है। कान्ट का यही मत था, और एडिगटन का भी यही मत है श्री बर्ट्रान्ड रसेल बतलाते हैं कि उस किसी भी विश्व के चारो ओर, जिसमें अनेक वस्तुएँ हैं, गणित का जाल वुना जा सकता है।[१२]

एक दूसरे सदर्भ मे श्री सलीवन ने कहा है कि वाह्य जगत् पर, वस्तुनिष्ठ रूप मे, गणित-विज्ञान उमी प्रकार लागू होता है, जैसे कि, कुछ लेखको के अनुसार, तर्क-शास्त्र लागू होता है।[१३]

ये अवतरण अनेक प्रथम श्रेणी के विचारको की सम्मतियो से गौरवान्वित हैं, और अपनी वात स्पष्ट रूप में प्रकट करते हैं। सच यह है कि इस सापेक्षवाद के युग मे यह कहना एक मामूली बात है कि 'निरपेक्ष लम्बाई, मात्रा, शक्ति, देश, काल, और गति का अस्तित्व नही है क्योकि जव तक कोई वस्तु ऐसी न मिल जाय जो निरपेक्ष रूप मे स्थिर है, तव तक हम किसी अणु का ठीक वेग नही जान सकते, और इसीलिये उसकी शक्ति, उमकी स्थितिशीलता ( Inertia ) और उसकी मात्रा का भी ठीक निश्चय नही कर मकते।'[१४] काडवेल के मत में सापेक्षवाद का सिद्धान्त हमारे यथार्थ-सम्वन्धी ज्ञान की सीमाओ का वर्णन इस प्रकार करता है कि वे सीमाएँ भौतिक तत्त्व की प्रकृति का, हमारी सवद्धता में, यथार्थ वर्णन वन जाती हैं।[१५] एडिगटन ने मछुए का उदाहरण देकर यह वतलाया है कि जिस प्रकार मछुए के द्वारा दिए हुए मछलियो के वर्णन केवल उन मछलियो पर लागू होते हैं जिन्हे पकडा जा सकता है, वैसे ही विश्व से सम्वन्धित भौतिक शास्त्र का ज्ञान केवल उन्ही वस्तुओ पर लागू हो सकता है जिन्हे हम अपनी इन्द्रियो तथा वुद्धि की पकड में ला सकते हैं। एडिग्टन ने इस मन्तव्य को "चयनात्मक आत्मनिष्ठतावाद" ( Selective Subjectivism ) की सज्ञा दी है। रूपक का परित्याग करके उक्त मन्तव्य की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं 'यदि हम निरीक्षण को भौतिक शास्त्र का आधार मानें, और इस वात पर जोर दें कि उस शास्त्र के वक्तव्य निरीक्षण द्वारा परीक्षणीय होने चाहिएँ तो हम भौतिक ज्ञान की एक चयन-मूलक कसौटी ग्रहण कर लेते हैं। यह चयन आत्मघाती होता है, क्योकि वह हमारी इन्द्रियो तथा वुद्धि के उपकरणो पर, जिनके द्वारा हम प्रत्यक्ष-मूलक ज्ञान प्राप्त

करते है, निर्भर करता है। जिन्हे हम भौतिक शास्त्र के सामान्य कथन अथवा प्रकृति के कानून कहते है वे इसी प्रकार के आत्मघाती ढग मे चयन किए हुए बोध पर, अथवा उस विश्व पर जो उन बोध द्वारा वर्णित होता है, लागू होते है।"[१६] ब्रिजमैन का दृष्टिकोण थोडा-सा भिन्न है। इन्द्रियो तथा बुद्धि के उपकरणो के बदले वे "प्रयोगात्मक क्रियाओ" का उल्लेख करते है, जिनकी अपेक्षा मे हमारी धारणाओ की परिभाषा होनी चाहिए। उदाहरण के लिये हम किसी चीज की लम्बाई की नाप कतिपय क्रियाओ द्वारा करते है, लम्बाई क्या है, यह परिभाषा उन क्रियाओ की अपेक्षा से ही हो सकती है। वैसे लम्बाई की जो कोई भी परिभाषा दी जायगी वह सदोष होगी। इसका मतलब यह हुआ कि हमारा भौतिक शास्त्र का ज्ञान प्रयोग-मूलक क्रियाओ का सापेक्ष होता है। वह कहते है 'हमारे अनुभव का वर्णन प्रत्ययो का या धारणाओ के माध्यम मे होता है। क्योकि हमारी धारणाएँ क्रियाओ द्वारा निर्मित होती है, इसलिये हमारा ज्ञान अनिवार्य रूप मे उन क्रियाओ का सापेक्ष होता है जिनका हम चयन करते है।'[१७] ब्रिजमैन के इस मत की पुष्टि एडिग्टन ने भी की है। वह कहते है, 'अब यह स्वीकृत प्रणाली बन गई है कि जब हम नयी भौतिक चीजो का समावेश करे तो यह मान ले कि वे चीजे उन माप-क्रियाओ (Measuring Operations) तथा गणित-क्रियाओ द्वारा परिभाषित होती है जिनका वे परिणाम है।'[१८]

एडिग्टन ने यह भी उल्लेख किया है कि अणुओ अथवा भूततत्त्व के कुछ गुण हमारी प्रेक्षण-सरणि ( Procedure of Observation ) का परिणाम होते है, अर्थात् प्रेक्षण-विधि द्वारा पुद्गल तत्व या अणुओ पर आरोपित कर दिये जाते है। इसका मतलब यह हुआ कि विज्ञान जिस जगत् का वर्णन करता है वह और भी ज्यादा आत्म-परक या आत्मनिष्ठ होता है।

ऊपर हमने "आत्मनिष्ठ" शब्द का प्रयोग किया, उसके बदले "सापेक्ष" शब्द भी रक्खा जा सकता है। जिस भौतिक जगत को हम जानते है वह, जहाँ तक हम उसे जानते है, हमारा सापेक्ष होता है। यदि हम उसे आत्मनिष्ठ कहे, तो आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ मे कोई अन्तर नही रह जायगा, और विश्व की प्रत्येक वस्तु आत्म-परक बन जायगी। यदि इस अन्तर को कायम रखना है (और हमारा विश्वास है कि उसे कायम रहना चाहिए) तो हमे वस्तुनिष्ठता की ऐसी परिभाषा देनी चाहिए जिसमे उसकी निरपेक्षता पर गौरव न हो।

हमारे विचार में वस्तुनिष्ठता और सापेक्षता एक-दूसरे के विरोधी नही हैं। हम मानते है कि वस्तुओ के समस्त गुण सापेक्ष होते है, और वे अपने को दूसरी चीजो की सम्बद्धता में ही प्रकट करते हैं। उदाहरण के लिये गति सापेक्ष वस्तु है, वैसे ही हरापन और लालिमा भी है। लगभग साठ वर्ष पूर्व दार्शनिक ब्रेडले ने कहा था 'बिना भेद के गुण नाम की चीज की अवस्थिति असम्भव है, और भेद एक प्रकार का सम्बन्ध है।'[१९] निष्कर्ष यह कि 'बिना सम्बन्धो के गुणो को पाना असम्भव है।'[२०] हम यह भी नही मानते कि इस प्रकार की सापेक्षता यथार्थवाद के विरुद्ध अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद को पुष्ट करती है। यथार्थवाद यह मानता है कि ज्ञेय पदार्थ ज्ञाता की चेतना का निरपेक्ष होता है, जब कि अध्यात्मवाद के अनुसार ज्ञेय पदार्थ उस चेतना पर निर्भर करता है। हम मानते हैं कि ज्ञेय का ज्ञाता से सम्बन्ध उन अनेक सम्बन्धो मे से एक है जो ज्ञेय पदार्थ तथा दूसरी वस्तुओ मे होते हैं। इसलिये वस्तुनिष्ठता की परिभाषा ऐसी होनी चाहिये कि उसके भीतर सापेक्षता के लिये स्थान हो सके।

अपनी पुस्तक "भूततत्त्व का विश्लेषण" ( *Analysis of Matter* ) में श्री बर्ट्रण्ड रसेल ने वस्तुनिष्ठता की परिभाषा इस प्रकार की है जब दो व्यक्ति साथ-साथ ऐसी प्रेक्षाएँ ( Perceptions ) पाते हैं जिन्हें वे एक ही वस्तु या समूह से सम्बन्वित समझते है, तब यदि एक के निष्कर्ष दूसरे से भिन्न हो, तो उनमें से एक अवश्य ही गलत निष्कर्ष निकाल रहा होगा, और इसलिये उसके प्रेक्षण में आत्म-निष्ठता का अंग होगा। प्रेक्षणो को वस्तुनिष्ठ हम तभी कह सकते है जब दोनो प्रेक्षणो के निष्कर्ष समान हो।[२१]

रसेल के अनुसार वस्तुनिष्ठ चीज वह है जिसका प्रेक्षण या अनुभव समान रूप में लोगो को होता है। किन्तु इस परिभाषा में निजी, आत्मनिरीक्षण से प्राप्त होने-वाले तथ्यो का समावेश नही होता। दाँत के दर्द के अनुभव को वस्तुनिष्ठ चीज मानना चाहिए, अथवा आत्मपाती ( Subjective ) ? स्पष्ट ही उक्त अनुभव भ्रान्ति (Illusion) अथवा मायिक प्रतीति या निरालम्बन प्रतीति ( Hallucination ) से भिन्न होता है, अन्यथा डॉक्टर लोग दवा देकर उसे ठीक करने की कोशिश न करे। यह भी कहा जा सकता है कि दतपीडा अथवा सिरदर्द के कुछ भौतिक-शारीरिक सह-चरित परिवर्तन होते हैं जिन्हें, कम-से-कम सिद्धान्त में, सब लोग देख सकते हैं। लेकिन हमारा निवेदन है कि चिकित्साशास्त्र रोगो के भौतिक-शारीरिक लक्षणो को दूर करने के लिये औषधियाँ निर्मित करने की चिन्ता नही करता, यदि उसे यह विश्वास न

होता कि वे लक्षण या परिवर्तन अनुभूत पीडा द्वारा सहचरित हैं। यहाँ एक रोचक बात लक्षित करने की है होमियोपैथ डाक्टर सिरदर्द आदि की दवाएँ केवल मात्र अपने रोगियो के मानसिक अनुभवो अथवा तत्सम्बन्धी वक्तव्यो के आधार पर देते हैं। निश्चय ही वे डाक्टर यह मानकर चलते हैं कि वैसे वक्तव्य विषयगत या वस्तुनिष्ठ रूप मे विश्वसनीय है।

इसलिये हमारे विचार में वस्तुनिष्ठता की सही परिभाषा ऐसी होनी चाहिए कि उसकी परिधि मे निजी अथवा आत्मनिरीक्षण के प्राप्त तथ्यो के लिये भी स्थान हो जाय। बाल्डविन के प्रसिद्ध "दर्शन और मनोविज्ञान का कोष" मे वस्तुनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठता का निम्न विवरण पाया जाता है, जो अधिक उपयुक्त है

जो जाना जाता है उसे उससे भिन्न करना चाहिए जो भ्रमवश मान या स्वीकार कर लिया जाता है, अर्थात् वह जिसमे हम धोखा खाते हुए विश्वास करते हैं। इस दृष्टि से वस्तु या वस्तुनिष्ठ यथार्थ का समानार्थक है। यह अर्थ वस्तुनिष्ठ विशेषण के साथ अधिक प्रचलित है, जो उस चीज का संकेत करता है जो वस्तुत किसी विषय-सामग्री मे है, और उससे भिन्न है जो पक्षपात, भ्रम अथवा हेत्वाभास, अथवा द्रष्टा या निर्णायक की भूल के कारण वहाँ लाया गया है, अथवा दिखाई देता है, जो उसका विरोधी है जो केवल मन में है।[२]

जो केवल मन में है वह भ्रमात्मक या कल्पित है, और उससे भिन्न है जो सचमुच देखा या महसूस किया जाता है। "वस्तुनिष्ठता और मूल्यगत्व" (Objectivity and Value) नामक अपने निबन्ध में श्री डोनाल्ड वाल्हूट ने, वस्तुनिष्ठता की परिभाषा देते हुए, उसका व्यावर्तक गुण अतिवैयक्तिक नियत्रण-क्षमता (Over-personal Control) बतलाया है।[२३] मतलब यह कि वस्तुगत वह है जिस पर केवल एक व्यक्ति का नही, बल्कि बहुत से लोगो का नियत्रण हो सके। उस परिभाषा के अनुसार दाँत का दर्द वहाँ तक वस्तुनिष्ठ है जहाँ तक उस पर चिकित्सा-विज्ञान अथवा अनेक चिकित्सक नियत्रण कर सके। वस्तुनिष्ठ वह चीज होती है जिसका अस्तित्व किसी मात्र अहम्, ज्ञाता, अथवा व्यक्ति का अतिक्रमण करनेवाला होता है। श्री एस्० एलेक्जेन्डर के अनुसार वस्तुगत उसे नही कहना चाहिए जो ज्ञातृ-चेतना से निरपेक्ष है, बल्कि उसे जो किसी व्यक्तिगत चेतना पर निर्भर नही होता और अनेक चेतनाओ की सामान्य सम्पत्ति होता है।[२४]

तो क्या दाँत के दर्द को वस्तुगत मानना चाहिए ? यह लक्षित करने की बात है कि एक व्यक्ति जिस तरह के दर्द का अनुभव करता है, ठीक वैसे दर्द का अनुभव कोई दूसरा व्यक्ति नही कर सकता। यदि हम होमियोपैथी की बात छोड दें तो यह स्पष्ट है कि चिकित्साशास्त्र दर्द के उन सहचरित भौतिक परिवर्तनो का, जिन्हें सब देख सकते है, इलाज करता है। महसूस होनेवाले दर्द को बहुत से लोग नही देख सकते, उसे अनेक लोग न आँखो से देख सकते है, न मन मे।

फिर भी महसूस होनेवाला दर्द, यदि वह भ्रमात्मक या कल्पित नही है, किसी-न-किसी अर्थ मे यथार्थ और वस्तुगत होता है, लोग वैसा विश्वास भी करते हैं। कोई कारण नही कि वस्तुनिष्ठता की परिभाषा में उसे समावेशित करने का प्रयत्न न किया जाय।

## वस्तुनिष्ठता और सामान्यरूपता

वस्तुस्थिति यह है कि हम उन सब चीजो को वस्तुगत मानते है जिनका अनुभव सामान्य (Normal) लोगो को सगत रूप में होता है। (यहाँ सगति से तात्पर्य यह है कि प्रत्याहरण और विश्लेषण के एक खास धरातल पर, अथवा कतिपय सम्बद्ध प्रयोजनो की अपेक्षा में, विभिन्न लोगो के अनुभव एक-दूसरे से समजस हो।) उदाहरण के लिये हम एक व्यक्ति की दतपीडा की वस्तुनिष्ठता में तब तक विश्वास करते हैं जब तक हमें यह सन्देह न हो कि वह व्यक्ति पागल या मिथ्यावादी है, जिसके कारण उसकी बात विश्वसनीय नही है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठता की धारणा का प्रेक्षक या प्रेक्षको की सामान्यरूपता (Normality) से सम्बन्ध जुड जाता है। वस्तुनिष्ठता की यह धारणा प्रो० डिगिल द्वारा दी हुई विज्ञान की परिभाषा में निहित है। वह परिभाषा इस प्रकार है 'विज्ञान सब सामान्य मनुष्यो के, वास्तविक या सभव, अनुभव-तत्वो का उल्लेख, अभिवर्धन और बौद्धिक सग्रथन है।'[२१]

प्रश्न है, क्या सामान्यरूपता की धारणा की सही परिभाषा अथवा विश्लेषण सम्भव है ? हमें भय है कि इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर नही दिया जा सकता। किन्तु यदि हम किसी धारणा की परिभाषा नही कर सकते, तो यह उस धारणा का दोष नही है। वस्तुत इसमे सन्देह किया जा सकता है कि मनुष्य और उसके जीवन से सम्बन्धित किसी भी धारणा का समुचित लक्षण किया जा सकता है। इस समय हमारे

ध्यान मे ऐसी धारणाएँ हैं जैसे प्रेम, घृणा, महत्वाकाक्षा, उन्नति आदि। गणित के पडित सख्या की धारणा का प्रयोग बहुत पहले से करते थे, यद्यपि उसकी परिभाषा देने का प्रयत्न बहुत बाद मे हुआ।

फिर भी हम मनुष्य-सम्बन्धी सामान्यरूपता की कुछ विशेषताओ का सकेत कर सकते है, और यह बता सकते है कि उसमे क्या चीजे समावेशित है और क्या नही। पहली बात यह है कि सामान्यरूपता का आकडा-विज्ञान अथवा गणित के औसत से कोई सम्बन्ध नही है। बौद्धिक और आवेगात्मक दोनो क्षेत्रो मे सामान्यरूपता अव-सामान्य अर्थात् सामान्य से नीचे (Subnormal) का निश्चित रूप से बहिष्कार करती है। किन्तु उसमें निश्चय ही अतिसामान्य (Super-normal) का समावेश है। सामान्य मनुष्य की धारणा में मानव-प्रकृति की उन समस्त सृजनात्मक सभाव-नाओ का समावेश है जो प्रतिभाशालियो मे अभिव्यक्ति पाती है। इसलिये, मानवीय क्रिया के विशिष्ट क्षेत्रो मे, एक विशेषज्ञ की सम्मति ही सामान्य अथवा स्वाभाविक और सही मानी जाती है, वह सम्मति ऐसी होती है कि लोग उसे लम्बे प्रशिक्षण (Training) द्वारा ही समझने योग्य बनते है। इस प्रकार विशेषज्ञो की देखरेख मे प्रशिक्षण सामान्यरूपता के विकास में बाधक न होकर सहायक होता है। चूंकि विशेष ज्ञान अनेक प्रकार का होता है, और विशेषज्ञता के दर्जे होते है, इसलिये सामान्यरूपता को एक स्थिर चीज नही कह सकते। चूंकि सामान्यरूपता औसत से समीकृत नही हो सकती, इसलिये वह एक मात्रा-मूलक धारणा भी नहीं कही जा सकती।

## प्रतिभा और सामा यरूपता

प्रतिभा और सामान्यरूपता के सम्बन्ध की समस्या कुछ जटिल प्रश्नो को उत्थित करती है। प्रश्न है, कौन व्यक्ति सामान्य है, वह जो प्रतिभाशाली और क्रान्तिकारी है, अथवा वह जो औसत एव रूढिवादी है? कई अन्वेषको ने यह मत प्रकट किया है कि प्रतिभाशाली, विशेषत कलाकार और साहित्यकार, कुछ अर्थो में असामान्य होता है। सुकरात का कुछ ऐसा ही मत था, वे प्रेरणा को एक असामान्य स्थिति मानते थे। शेक्सपियर ने एक स्थान पर कवि की तुलना पागल तथा प्रेमी से की है, जिसका मतलब है कि वे साहित्यिक प्रतिभा को असामान्यता का प्रतीक मानते है। मनोवैज्ञानिक ब्राउन कहते है 'अनेक प्रतिभाशाली विक्षिप्त मस्तिष्क वाले हुए है और प्रतिभा का विक्षि-प्तता से निकट सम्बन्ध है।'[१४] किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि समस्त साहित्यिक प्रति-

तो क्या दाँत के दर्द को वस्तुगत मानना चाहिए ? यह लक्षित करने की बात है कि एक व्यक्ति जिस तरह के दर्द का अनुभव करता है, ठीक वैसे दर्द का अनुभव कोई दूसरा व्यक्ति नही कर सकता। यदि हम होमियोपैथी की बात छोड दे तो यह स्पष्ट है कि चिकित्साशास्त्र दर्द के उन सहचरित भौतिक परिवर्तनो का, जिन्हे सब देख सकते है, इलाज करता है। महसूस होनेवाले दर्द को बहुत से लोग नही देख सकते, उसे अनेक लोग न आँखो से देख सकते है, न मन से।

फिर भी महसूस होनेवाला दर्द, यदि वह भ्रमात्मक या कल्पित नही है, किसी-न-किसी अर्थ मे यथार्थ और वस्तुगत होता है, लोग वैसा विश्वास भी करते है। कोई कारण नही कि वस्तुनिष्ठता की परिभाषा मे उसे समावेशित करने का प्रयत्न न किया जाय।

## वस्तुनिष्ठता और सामान्यरूपता

वस्तुस्थिति यह है कि हम उन सब चीजो को वस्तुगत मानते है जिनका अनुभव सामान्य (Normal) लोगो को सगत रूप मे होता है। (यहाँ सगति से तात्पर्य यह है कि प्रत्याहरण और विश्लेषण के एक खास धरातल पर, अथवा कतिपय सम्बद्ध प्रयोजनो की अपेक्षा मे, विभिन्न लोगो के अनुभव एक-दूसरे से समजस हो।) उदाहरण के लिये हम एक व्यक्ति की दतपीडा की वस्तुनिष्ठता मे तब तक विश्वास करते है जब तक हमे यह सन्देह न हो कि वह व्यक्ति पागल या मिथ्यावादी है, जिसके कारण उसकी बात विश्वसनीय नही है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठता की धारणा का प्रेक्षक या प्रेक्षको की सामान्यरूपता (Normality) से सम्बन्ध जुड जाता है। वस्तुनिष्ठता की यह धारणा प्रो० डिगिल द्वारा दी हुई विज्ञान की परिभाषा मे निहित है। वह परिभाषा इस प्रकार है 'विज्ञान सब सामान्य मनुष्यो के, वास्तविक या सभव, अनुभव-तत्वो का उल्लेख, अभिवर्धन और बौद्धिक सग्रथन है।'[२५]

प्रश्न है, क्या सामान्यरूपता की धारणा की सही परिभाषा अथवा विश्लेषण सम्भव है ? हमे भय है कि इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर नही दिया जा सकता। किन्तु यदि हम किसी धारणा की परिभाषा नही कर सकते, तो यह उस धारणा का दोष नही है। वस्तुत इसमे सन्देह किया जा सकता है कि मनुष्य और उसके जीवन से सम्बन्धित किसी भी धारणा का समुचित लक्षण किया जा सकता है। इस समय हमारे

ध्यान में ऐसी धारणाएँ हैं जैसे प्रेम, घृणा, महत्वाकाक्षा, उन्नति आदि। गणित के पडित सख्या की धारणा का प्रयोग बहुत पहले से करते थे, यद्यपि उसकी परिभाषा देने का प्रयत्न बहुत बाद में हुआ।

फिर भी हम मनुष्य-सम्बन्धी सामान्यरूपता की कुछ विशेषताओ का सकेत कर सकते हैं, और यह बता सकते हैं कि उसमें क्या चीजे समावेशित है और क्या नही। पहली बात यह है कि सामान्यरूपता का आकडा-विज्ञान अथवा गणित के औसत से कोई सम्बन्ध नही है। बौद्धिक और आवेगात्मक दोनो क्षेत्रो में सामान्यरूपता अव-सामान्य अर्थात् सामान्य से नीचे (Subnormal) का निश्चित रूप मे बहिष्कार करती है। किन्तु उसमे निश्चय ही अतिसामान्य (Super-normal) का समावेश है। सामान्य मनुष्य की धारणा मे मानव-प्रकृति की उन समस्त सृजनात्मक सभाव-नाओ का समावेश है जो प्रतिभाशालियो मे अभिव्यक्ति पाती है। इसलिये, मानवीय क्रिया के विशिष्ट क्षेत्रो मे, एक विशेषज्ञ की सम्मति ही सामान्य अथवा स्वाभाविक और सही मानी जाती है, वह सम्मति ऐसी होती है कि लोग उसे लम्बे प्रशिक्षण (Training) द्वारा ही समझने योग्य बनते हैं। इस प्रकार विशेषज्ञो की देखरेख में प्रशिक्षण सामान्यरूपता के विकास में बाधक न होकर सहायक होता है। चूंकि विशेष ज्ञान अनेक प्रकार का होता है, और विशेषज्ञता के दर्जे होते हैं, इसलिये सामान्यरूपता को एक स्थिर चीज नही कह सकते। चूंकि सामान्यरूपता औसत से समीकृत नही हो सकती, इसलिये वह एक मात्रा-मूलक धारणा भी नही कही जा सकती।

## प्रतिभा और सामा यरूपता

प्रतिभा और सामान्यरूपता के सम्बन्ध की समस्या कुछ जटिल प्रश्नो को उत्थित करती है। प्रश्न है, कौन व्यक्ति सामान्य है, वह जो प्रतिभाशाली और क्रान्तिकारी है, अथवा वह जो औसत एव रूढिवादी है? कई अन्वेषकों ने यह मत प्रकट किया है कि प्रतिभाशाली, विशेषत कलाकार और साहित्यकार, कुछ अर्थो मे असामान्य होता है। सुकरात का कुछ ऐसा ही मत था, वे प्रेरणा को एक असामान्य स्थिति मानते थे। शेक्सपियर ने एक स्थान पर कवि की तुलना पागल तथा प्रेमी से की है, जिसका मतलब है कि वे साहित्यिक प्रतिभा को असामान्यता का प्रतीक मानते हैं। मनोवैज्ञानिक ब्राउन कहते है. 'अनेक प्रतिभाशाली विक्षिप्त मस्तिष्क वाले हुए है, और प्रतिभा का विक्षि-प्तता से निकट सम्बन्ध है।'[१] किन्तु यह कहना ठीक नही कि समस्त साहित्यिक प्रति-

भाएँ साधारण लोगो से समान रूप मे दूर होती है। उदाहरण के लिये कालिदास और टॉल्स्टॉय की सवेदना जन-साधारण की सवेदना के अधिक निकट है, जब कि दास्ता-एव्स्की और नीत्शे की सवेदना उतनी निकट नही है।

उन लोगो ने जो प्रतिभाशाली को असामान्य मानते है, एक बात पर विचार नही किया है वह यह कि कालान्तर में प्रतिभाशाली के विचार और मनोभाव क्यो प्रचलित हो जाते है, और औसत, इज्जतदार लोगो के विचार परित्यक्त क्यो हो जाते है ? ऐसा नही है कि प्रतिभाशाली एक-दूसरे का विरोध नही करते, यह भी नही कि प्रतिभाशाली की सभी बातें स्वीकार कर ली जाती है। फिर भी यह ठीक है कि प्रतिभाशाली को हम याद रखते है और उसका विशेष आदर करते है, इससे सिद्ध होता है कि किसी न किसी रूप मे मानव जाति उसे उपयोगी और महत्वपूर्ण पाती है।

वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ अधिकाश मनुष्य रूढिवादी होते है वहाँ मानव प्रकृति मूलत प्रसरणशील एव सृजनोन्मुख होती है। एक सीमा के भीतर, कतिपय नियमो के अनुसार, मानव-प्रकृति अपने जानने-महसूस करने की सम्भावनाओ मे वृद्धि होने से आनन्द का अनुभव करती है। प्रतिभाशाली दो प्रकार मानवीय चेतना का विस्तार करता है प्रथमत वह उसकी बीज-रूप मे वर्तमान शक्तियो का विकास करता है, और दूसरे, वह उन प्रतिबन्धो को विरोध द्वारा हटाने मे सहायक होता है जो अस्वाभाविक है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि अनेक क्रान्तिकारी प्रतिभाएँ सामान्य मानव-हृदय की ज्यादा अच्छी प्रतिनिधि होती है, उन रूढिवादी लोगो से जो परम्परा का पक्ष लेते है। प्रतिभाशाली असामान्य जान पडता है, इसका प्रमुख कारण उसकी प्रतीतियाँ और सवेदनाएँ नही होती, इसका कारण उसका साहसी तथा प्राणवान स्वभाव होता है जो सामाजिक सुरक्षा के मामूली नियमो की परवाह नही करता, और सब प्रकार के दम्भ का विरोध करता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति प्राय उन्ही को विशेषरूप में असामान्य तथा असतुलित लगता है जो परम्परा के प्रतिबन्धो को भीरुतावश सहज ही स्वीकार कर लेते है, और जिनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ इतनी शक्तिपूर्ण नही होती कि वे परम्परागत अभ्यास की सीमाओ को तोड सके।

'प्रतिभा' शॉपेनहावर के मत में, 'पूर्ण वस्तुनिष्ठता है',[२७] जिसका मतलब है कि वह सृजनात्मक ढग से व्यापृत होने वाली सामान्यरूपता है। डा० रिचर्ड्स ने सामान्यरूपता को "स्टैण्डर्ड" अथवा आदर्श स्थिति मे समीकृत किया है।[२८] यह

समीकरण स्वीकार किया जा सकता है, यदि "स्टैण्डर्ड" की व्याख्या किसी अभिजात उच्चता के अर्थ मे न की जाय। वास्तव मे कलाकार और विश्वसनीय समीक्षक दोनो में "स्टैण्डर्ड" या आदर्श प्रतिक्रिया एक खास अर्थ मे निश्छल तथा आदिम या मौलिक प्रतिक्रिया होती है, वह प्रतिक्रिया किसी खास संस्कृति अथवा युग के सिद्धान्तो एवं पक्षपातो से प्रभावित नहीं होती। यह स्वीकार किया जा सकता है कि दुनिया का कोई कलाकार अब तक पूर्ण सामान्यरूपता के आदर्श को प्राप्त नही कर सका है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि किसी देश या जाति के श्रेष्ठतम कलाकार तथा कवि प्राय वे होते है जो दूसरे देशो तथा सांस्कृतिक युगो मे अधिक सरलता से समझे जाते है। कैसा भी कलाकार बनने की यह आवश्यक शर्त है कि कोई व्यक्ति अपनी मात्र वैयक्तिक विचित्रताओ अर्थात् विचित्र मनोवृत्तियो को छोड़कर चल सके, एक सार्वभौम कलाकार बनने के लिये यह जरूरी है कि वह अपने राष्ट्र तथा युग की विचित्रताओ को भी त्यक्त कर सके। यही दिशा है जिसमे मनुष्य के बौद्धिक सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक जीवन का विकास होना चाहिये।

इस प्रकार से परिभाषित की हुई सामान्यरूपता (Normality) दो तत्वों से निरूपित होती है प्रथमत मनुष्यो की सामान्य वृत्तियो या प्रवृत्तियो से, और दूसरे उन प्रवृत्तियो से निर्धारित आवश्यकताओ तथा प्रेरणाओ के असख्य सभव सस्थानो से जो भौतिक औद्योगिक तथा नैतिक परिवेश की विभिन्न वस्तुओ पर समवन हो जाते है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि सामान्यरूपता एक अनेक-रूप, गतिशील सतुलन की स्थिति है—मनुष्य और उसके परिवेश के बीच होनेवाले सम्बन्धो की एक पद्धति या समष्टि जिसमे बालक का प्रवेश शिक्षा द्वारा होता है। जिस दुनियाँ को हम जानते है वहाँ किसी बच्चे को सामान्य बनाने का तरीका यह नही है कि उसे प्राकृतिक अवस्था में रक्खा जाय, बल्कि यह कि उसे यथासम्भव व्यापक और अनेकात्मक शिक्षा दी जाय। भूगोल का अध्ययन, यात्राएँ, इतिहास और कल्पना-मूलक साहित्य का अनुशीलन तथा विभिन्न धार्मिक-दार्शनिक और नैतिक पद्धतियो का अध्ययन इत्यादि विधियो द्वारा व्यक्ति सामान्य मनुष्य के साधारण किन्तु महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण पर पहुँच पाता है।

## शिक्षा और सामान्यरूपता

सामान्यरूपता के विकास और शिक्षा मे क्या सम्बन्ध है, इसे हम कुछ ज्यादा ध्यान से देखें। बच्चा अपनी विभिन्न इन्द्रियो की प्रतिक्रियाओ को स्वय अपने तथा

भाएँ साधारण लोगो से समान रूप मे दूर होती है। उदाहरण के लिये कालिदास और टॉल्स्टॉय की सवेदना जन-साधारण की सवेदना के अधिक निकट है, जब कि दास्ता-एव्स्की और नीत्शे की मवेदना उतनी निकट नही है।

उन लोगो ने जो प्रतिभाशाली को असामान्य मानते है, एक बात पर विचार नही किया है वह यह कि कालान्तर मे प्रतिभाशाली के विचार और मनोभाव क्यो प्रचलित हो जाते है, और औसत, इज्जतदार लोगो के विचार परित्यक्त क्यो हो जाते है ? ऐसा नही है कि प्रतिभाशाली एक-दूसरे का विरोध नही करते, यह भी नही कि प्रतिभाशाली की सभी बातें स्वीकार कर ली जाती है। फिर भी यह ठीक है कि प्रतिभाशाली को हम याद रखते है और उसका विशेप आदर करते है, इससे सिद्ध होता है कि किमी न किमी रूप मे मानव जाति उसे उपयोगी और महत्वपूर्ण पाती है।

वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ अधिकाश मनुष्य रूढिवादी होते है वहाँ मानव प्रकृति मूलत प्रसरणशील एव सृजनोन्मुख होती है। एक सीमा के भीतर, कतिपय नियमो के अनुसार, मानव-प्रकृति अपने जानने-महसूस करने की सम्भावनाओ मे वृद्धि होने से आनन्द का अनुभव करती है। प्रतिभाशाली दो प्रकार मानवीय चेतना का विस्तार करता है प्रथमत वह उसकी बीज-रूप मे वर्तमान शक्तियो का विकास करता है, और दूसरे, वह उन प्रतिबन्धो को विरोध द्वारा हटाने मे सहायक होता है जो अस्वाभाविक है। इस दृप्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि अनेक क्रान्तिकारी प्रतिभाएँ मामान्य मानव-हृदय की ज्यादा अच्छी प्रतिनिधि होती है, उन रूढिवादी लोगो से जो परम्परा का पक्ष लेते है। प्रतिभाशाली असामान्य जान पडता है, इसका प्रमुख कारण उसकी प्रतीतियाँ और सवेदनाएँ नही होती, इसका कारण उसका साहसी तथा प्राणवान स्वभाव होता है जो सामाजिक सुरक्षा के मामूली नियमो की परवाह नही करता, और सब प्रकार के दम्भ का विरोध करता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति प्राय उन्ही को विशेपरूप मे अमामान्य तथा अमतुलित लगता है जो परम्परा के प्रतिबन्धो को भीरुतावश सहज ही स्वीकार कर लेते है, और जिनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ इतनी शक्तिपूर्ण नही होती कि वे परम्परागत अभ्याम की मीमाओ को तोड सकें।

'प्रतिभा' शॉपिनहावर के मत में, 'पूर्ण वस्तुनिप्ठता है',[२७] जिसका मतलब है कि वह मृजनात्मक ढग से व्यापृत होने वाली सामान्यरूपता है। डा० रिचर्ड्स ने मामान्यरूपता को "स्टैण्डर्ड" अथवा आदर्श स्थिति मे ममीकृत किया है।[२८] यह

समीकरण स्वीकार किया जा सकता है, यदि "स्टैण्डर्ड" की व्याख्या किसी अभिजात उच्चता के अर्थ मे न की जाय। वास्तव मे कलाकार और विश्वसनीय समीक्षक दोनो मे "स्टैण्डर्ड" या आदर्श प्रतिक्रिया एक खास अर्थ मे निश्छल तथा आदिम या मौलिक प्रतिक्रिया होती है, वह प्रतिक्रिया किसी खास संस्कृति अथवा युग के सिद्धान्तो एवं पक्षपातो से प्रभावित नही होती। यह स्वीकार किया जा सकता है कि दुनिया का कोई कलाकार अब तक पूर्ण सामान्यरूपता के आदर्श को प्राप्त नही कर सका है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि किसी देश या जाति के श्रेष्ठतम कलाकार तथा कवि प्राय वे होते हैं जो दूसरे देशो तथा सांस्कृतिक युगो मे अधिक सरलता से समझे जाते हैं। कैसा भी कलाकार बनने की यह आवश्यक शर्त है कि कोई व्यक्ति अपनी मात्र वैयक्तिक विचित्रताओ अर्थात् विचित्र मनोवृत्तियो को छोड़कर चल सके, एक सार्वभौम कलाकार बनने के लिये यह जरूरी है कि वह अपने राष्ट्र तथा युग की विचित्रताओ को भी त्यक्त कर सके। यही दिशा है जिसमे मनुष्य के बौद्धिक सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक जीवन का विकास होना चाहिये।

इस प्रकार से परिभाषित की हुई सामान्यरूपता (Normality) दो तत्वों से निरूपित होती है, प्रथमत मनुष्यो की सामान्य वृत्तियो या प्रवृत्तियो से, और दूसरे उन प्रवृत्तियो से निर्धारित आवश्यकताओ तथा प्रेरणाओ के असख्य सभव सम्थानो से जो भौतिक औद्योगिक तथा नैतिक परिवेश की विभिन्न वस्तुओ पर समवत हो जाते है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि सामान्यरूपता एक अनेक-रूप, गतिशील सतुलन की स्थिति है—मनुष्य और उनके परिवेश के बीच होनेवाले सम्बन्धो की एक पद्धति या समष्टि जिसमे बालक का प्रवेश शिक्षा द्वारा होता है। जिस दुनियाँ को हम जानते हैं वहा किसी बच्चे को सामान्य बनाने का तरीका यह नही है कि उसे प्राकृतिक अवस्था मे रक्खा जाय, बल्कि यह कि उसे यथासम्भव व्यापक और अनेकात्मक शिक्षा दी जाय। भूगोल का अध्ययन, यात्राएँ इतिहास और कल्पना-मूलक साहित्य का अनुशीलन तथा विभिन्न धार्मिक-दार्शनिक और नैतिक पद्धतियो का अध्ययन इत्यादि विधियो द्वारा व्यक्ति सामान्य मनुष्य के साधारण किन्तु महत्वपूर्ण दृष्टिकोण पर पहुँच पाता है।

## शिक्षा और सामान्यरूपता

सामान्यरूपता के विकास और शिक्षा मे क्या सम्बन्ध है, इसे हम कुछ ज्यादा ध्यान से देखे। बच्चा अपनी विभिन्न इन्द्रियो की प्रतिक्रियाओ को स्वय अपने तथा

भाएँ साधारण लोगो से समान रूप मे दूर होती है। उदाहरण के लिये कालिदास ओर टॉल्स्टॉय की सवेदना जन-साधारण की सवेदना के अधिक निकट है, जब कि दास्ता-एव्स्की और नीत्शे की मवेदना उतनी निकट नही हैं।

उन लोगो ने जो प्रतिभाशाली को असामान्य मानते है, एक बात पर विचार नही किया हे वह यह कि कालान्तर मे प्रतिभाशाली के विचार और मनोभाव क्यो प्रचलित हो जाते है, ओर ओसत, इज्जतदार लोगो के विचार परित्यक्त क्यो हो जाते है ? ऐसा नही हे कि प्रतिभाशाली एक-दूसरे का विरोध नही करते, यह भी नही कि प्रतिभाशाली की सभी बाते स्वीकार कर ली जाती है। फिर भी यह ठीक है कि प्रतिभाशाली को हम याद रखते है ओर उसका विशेप आदर करते है, इससे सिद्ध होता है कि किमी न किमी रूप मे मानव जाति उसे उपयोगी और महत्वपूर्ण पाती हे।

वस्तुस्थिति यह हे कि जहाँ अधिकाश मनुष्य रूढिवादी होते है वहाँ मानव प्रकृति मूलत प्रसरणशील एव सृजनोन्मुख होती हे। एक सीमा के भीतर, कतिपय नियमो के अनुसार, मानव-प्रकृति अपने जानने-महसूस करने की सम्भावनाओ मे वृद्धि होने से आनन्द का अनुभव करती हे। प्रतिभाशाली दो प्रकार मानवीय चेतना का विस्तार करता हे प्रथमत वह उसकी बीज-रूप मे वर्तमान शक्तियो का विकास करता हे, ओर दूसरे, वह उन प्रतिवन्धो को विरोध द्वारा हटाने मे सहायक होता हे जो अस्वाभाविक है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि अनेक क्रान्तिकारी प्रतिभाएँ सामान्य मानव-हृदय की ज्यादा अच्छी प्रतिनिधि होती हे, उन रूढिवादी लोगो से जो परम्परा का पक्ष लेते है। प्रतिभाशाली असामान्य जान पडता हे, इसका प्रमुख कारण उसकी प्रतीतियाँ ओर सवेदनाएँ नही होती, इसका कारण उसका साहसी तथा प्राणवान स्वभाव होता हे जो सामाजिक सुरक्षा के मामूली नियमो की परवाह नही करता, ओर सब प्रकार के दम्भ का विरोध करता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति प्राय उन्ही को विशेपरूप मे असामान्य तथा असतुलित लगता हे जो परम्परा के प्रतिवन्धो को भीरुतावश सहज ही स्वीकार कर लेते है, ओर जिनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ इतनी शक्तिपूर्ण नही होती कि वे परम्परागत अभ्यास की सीमाओ को तोड सके।

'प्रतिभा' शॉपेनहावर के मत मे, 'पूर्ण वस्तुनिष्ठता हे', [२७] जिसका मतलब हे कि वह सृजनात्मक ढग मे व्यापृत होने वाली सामान्यरूपता हे। डा० रिचर्ड्स ने सामान्यरूपता को "स्टैण्डर्ड" अथवा आदर्श स्थिति मे समीकृत किया हे।[२८] यह

समीकरण स्वीकार किया जा सकता है, यदि "स्टैण्डर्ड" की व्याख्या किसी अभिजात उच्चता के अर्थ मे न की जाय। वास्तव में कलाकार और विश्वसनीय समीक्षक दोनो मे "स्टैण्डर्ड" या आदर्श प्रतिक्रिया एक खास अर्थ मे निश्छल तथा आदिम या मौलिक प्रतिक्रिया होती है, वह प्रतिक्रिया किसी खास संस्कृति अथवा युग के सिद्धान्तो एव पक्षपातो से प्रभावित नहीं होती। यह स्वीकार किया जा सकता है कि दुनिया का कोई कलाकार अब तक पूर्ण सामान्यरूपता के आदर्श को प्राप्त नही कर सका है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि किसी देश या जाति के श्रेष्ठतम कलाकार तथा कवि प्राय वे होते हैं जो दूसरे देशो तथा सास्कृतिक युगो मे अधिक सरलता से समझे जाते हैं। कैसा भी कलाकार बनने की यह आवश्यक शर्त है कि कोई व्यक्ति अपनी मात्र वैयक्तिक विचित्रताओ अर्थात् विचित्र मनोवृत्तियो को छोड़कर चल सके, एक सार्वभौम कलाकार बनने के लिये यह जरूरी है कि वह अपने राष्ट्र तथा युग की विचित्रताओ को भी त्यक्त कर सके। यही दिशा है जिसमे मनुष्य के बौद्धिक सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक जीवन का विकास होना चाहिये।

इस प्रकार से परिभाषित की हुई सामान्यरूपता (Normality) दो तत्वो से निरूपित होती है, प्रथमत मनुष्यो की सामान्य वृत्तियो या प्रवृत्तियो से, और दूसरे उन प्रवृत्तियो से निर्धारित आवश्यकताओ तथा प्रेरणाओ के असख्य सभव सस्थानो से जो भौतिक, औद्योगिक तथा नैतिक परिवेश की विभिन्न वस्तुओ पर ससक्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि सामान्यरूपता एक अनेक-रूप, गतिशील सतुलन की स्थिति है—मनुष्य और उसके परिवेश के बीच होनेवाले सम्बन्धो की एक पद्धति या समष्टि जिसमे बालक का प्रवेश शिक्षा द्वारा होता है। जिस दुनियाँ को हम जानते हैं वहाँ किसी बच्चे को सामान्य बनाने का तरीका यह नहीं है कि उसे प्राकृतिक अवस्था मे रक्खा जाय बल्कि यह कि उसे यथासम्भव व्यापक और अनेकात्मक शिक्षा दी जाय। भूगोल का अध्ययन, यात्राएँ, इतिहास और कल्पना-मूलक साहित्य का अनुशीलन तथा विभिन्न धार्मिक-दार्शनिक और नैतिक पद्धतियो का अध्ययन इत्यादि विधियो द्वारा व्यक्ति सामान्य मनुष्य के साधारण किन्तु महत्वपूर्ण दृष्टिकोण पर पहुँच पाता है।

## शिक्षा और सामान्यरूपता

सामान्यरूपता के विकास और शिक्षा मे क्या सम्बन्ध है उसे हम कुछ ज्यादा ध्यान से देखे। बच्चा अपनी विभिन्न इन्द्रियो की प्रतिक्रियाओ को स्वय अपने तथा

भाएँ साधारण लोगो से समान रूप मे दूर होती है। उदाहरण के लियें कालिदास और टॉल्स्टॉय की सवेदना जन-साधारण की सवेदना के अधिक निकट है, जब कि दास्ता-एव्स्की और नीत्शे की सवेदना उतनी निकट नही हैं।

उन लोगो ने जो प्रतिभाशाली को असामान्य मानते है, एक वात पर विचार नही किया है वह यह कि कालान्तर मे प्रतिभाशाली के विचार और मनोभाव क्यो प्रचलित हो जाते है, और औसत, इज्जतदार लोगो के विचार परित्यक्त क्यो हो जाते है ? ऐसा नही है कि प्रतिभाशाली एक-दूसरे का विरोध नही करते, यह भी नही कि प्रतिभाशाली की सभी वातें स्वीकार कर ली जाती हैं। फिर भी यह ठीक है कि प्रतिभाशाली को हम याद रखते है और उसका विशेष आदर करते है, इससे सिद्ध होता है कि किसी न किसी रूप मे मानव जाति उसे उपयोगी और महत्वपूर्ण पाती है।

वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ अधिकाश मनुष्य रूढिवादी होते है वहाँ मानव प्रकृति मूलत प्रसरणशील एव सृजनोन्मुख होती है। एक सीमा के भीतर, कतिपय नियमो के अनुसार, मानव-प्रकृति अपने जानने-महसूस करने की सम्भावनाओ में वृद्धि होने से आनन्द का अनुभव करती है। प्रतिभाशाली दो प्रकार मानवीय चेतना का विस्तार करता है प्रथमत वह उसकी बीज-रूप मे वर्तमान शक्तियो का विकास करता है, और दूसरे, वह उन प्रतिवन्धो को विरोध द्वारा हटाने मे सहायक होता है जो अस्वाभा-विक है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि अनेक क्रान्तिकारी प्रतिभाएँ सामान्य मानव-हृदय की ज्यादा अच्छी प्रतिनिधि होती है, उन रूढिवादी लोगो से जो परम्परा का पक्ष लेते है। प्रतिभाशाली असामान्य जान पड़ता है, इसका प्रमुख कारण उसकी प्रतीतियाँ और सवेदनाएँ नही होती, इसका कारण उसका साहसी तथा प्राणवान स्वभाव होता है जो सामाजिक सुरक्षा के मामूली नियमो की परवाह नही करता, और सव प्रकार के दम्भ का विरोध करता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति प्राय उन्ही को विशेषरूप में असामान्य तथा असतुलित लगता है जो परम्परा के प्रतिबन्धो को भीरुतावश सहज ही स्वीकार कर लेते है, और जिनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ इतनी शक्तिपूर्ण नही होती कि वे परम्परागत अभ्यास की सीमाओ को तोड सके।

'प्रतिभा' शॉपेनहावर के मत मे, 'पूर्ण वस्तुनिष्ठता है', [२७] जिसका मतलब है कि वह सृजनात्मक ढग मे व्यापृत होने वाली सामान्यरूपता है। डा० रिचर्ड्स ने सामान्यरूपता को "स्टैण्डर्ड" अथवा आदर्श स्थिति मे समीकृत किया है।[२८] यह

के लिए जरूरी है। कल्पना-मूलक विकास मे पिछडे हुए मनुष्य इसी प्रकार किसी मनोवैज्ञानिक या नैतिक द्वन्द्व अथवा बौद्धिक या विचारात्मक क्रान्ति का महत्व समझने मे असमर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार से अधिकाश द्वन्द्वो, क्रान्तियो, विसगतियों और विरोधो का सम्बन्ध प्राय मनुष्य की कल्पना-मूलक सृष्टियो और उनके पारस्परिक सम्बन्धो से होता है। हमारे मानसिक अथवा प्रतीकाधारित जीवन के अनेक महत्वपूर्ण तथ्य, जिन पर मानवीय विद्याओ मे विचार होता है, प्राय ऐसी ही सृष्टियाँ होते हैं, वे इन्द्रिय-ग्राह्य नही होते, यद्यपि उनके विभिन्न आन्तरिक सम्बन्ध, तर्कात्मक सम्बन्धो की भाँति, एक प्रकार के साक्षात् बोध का विषय होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के निम्न प्रभाव पडते हैं (क) वह बालको या मनुष्यो का समुदाय के कल्पना-मूलक जीवन मे प्रवेश कराती है, और (ख) वह उनमें ऐसे आदर्शो तथा दृष्टियो को प्रतिष्ठित करती है जिन्हे समाज स्वीकार करता है। इस प्रकार शिक्षा सास्कृतिक एकता तथा सहयोग का प्रसार करती है। शिक्षा का एक तीसरा परिणाम भी लक्षित होना चाहिए। वह एक जाति या समूह के सदस्यो को दूसरी जाति या समूह के सदस्यो से विभक्त कर देती है, विशेषत मूल्यो तथा आदर्शो की प्रकृति के सम्बन्ध मे। शिक्षा के इस तीसरे परिणाम या दुष्प्रभाव को बचाने का उपाय यह घोषित कर देना नही है कि सब प्रकार के मूल्य और आदर्श बुद्धि-विरोधी या तार्किक आधार-शून्य होते हैं। उसे दूर करने का उचित उपाय यही है कि वैज्ञानिक पद्धति से मूल्यो आदि के सम्बन्ध से चिन्तन किया जाय और मूल्याकन के सही पैमानो को खोजा जाय। यह एक रोचक बात है कि विभिन्न जातियो के सदस्य एक-दूसरे की उन कल्पना-मूलक सृष्टियो को ग्रहण करना मुश्किल नही पाते जिनका उनके विभिन्न सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षपातो मे सम्बन्ध नही होता। यह भी लक्षित करने की बात है कि अपेक्षाकृत बडे कवि, उपदेशक और दार्शनिक दूसरी जातियो तथा समाजो में ज्यादा आदर पा जाते हैं।

हम सामान्यरूपता की परिभाषा दे चुके। जिसे हम सामान्य नर या नारी कहते हैं, उनमें प्राय मानव जाति को खास तरह से देखने तथा उसकी जरूरतें एव प्रेरणाएँ महसूस करने की शक्तियाँ तो रहती ही हैं, साथ ही उनके मन की रचना भी विशेष प्रकार की होती है जिसके कारण उनमें तर्क करने, कल्पना करने और आवेगात्मक प्रतिक्रिया करने की विशिष्ट आदतें होती हैं। चूँकि सब सामान्य मनुष्यो मे ये विशेषताएँ समान होती हैं, इसलिये वे एक-दूसरे के साथ तर्क कर पाते हैं और हानि-लाभ के सबं-

दूसरे लोगो के सम्बन्ध में समन्वित करना सीखता है, किन्तु यह उसकी शिक्षा का महत्वपूर्ण अग नही है। इस प्रकार का समन्वय या सयोजन बच्चे स्वत प्राप्त कर लेते है। विशेष रूप से मानवीय शिक्षा वह होती है जिसके द्वारा बालक अपने समाज के समृद्ध, कल्पना-मूलक जीवन और परम्परा मे प्रवेश पाता है। बालक अपने समाज के धर्म, पुराणो, इतिहास आदि मे सम्बन्धित देवी-देवताओ, सतो और पापियो, राजा-रानियो, राजकुमारो और राजकुमारियो आदि के बारे में सीखता है। वह अपने समाज के महत्वपूर्ण विधि-निषेधो से भी परिचय प्राप्त करता है। जैसे-जैसे बच्चा बढ कर तरुण बनता है, वैसे-वैसे उसका उन नैतिक, बौद्धिक और सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्नो तथा समस्याओ से परिचय होता है जिनका पूर्ण हल नही हो पाया है, और जिन्हें हल करने का प्रयत्न उसके समाज तथा सम्पूर्ण ज्ञात मानव-जगत में हो रहा है। ये समस्याएँ दो प्रकार की होती है। कुछ का उद्गम नये तथ्यो तथा स्वीकृत सिद्धान्तो की विसगति में होता है, और कुछ का उस विरोध में जो स्वीकृत आदर्शों तथा प्रचलित व्यवहारो के बीच, अथवा स्वय आदर्शों के बीच ही, पाया जाता है। इन प्रश्नो तथा समस्याओ, विसगतियो और विरोधो का आभास समाज के उन्ही सदस्यो को हो सकता है जो उसकी कल्पनामूलक विरासत से परिचित हो चुके है। एक उदाहरण लीजिए कार्य-कारण-सम्बन्ध की समस्या कितनी जटिल है, इसका पूरा आभास उसी पुरुष को हो सकता है जो विभिन्न विचारको द्वारा दिये हुए उस समस्या से सम्बद्ध समाधानो, अथवा समाधान-प्रयत्नो, से न्यूनाधिक परिचित है। कला, दर्शन, गणित और भौतिक शास्त्र के सिद्धान्तो के महत्व को हृदयगम करने के सम्बन्ध मे भी ऊपर का वक्तव्य समान रूप में लागू है। मनुष्य के कल्पनामूलक जीवन का विकास एक अविच्छिन्न क्रिया है जो क्रमश उच्चतर स्तरो पर जटिलतर रूप धारण करती रहती है। कोई भी व्यक्ति सास्कृतिक क्रिया के ज्यादा विकसित एव प्रौढ रूपो को तब तक नही समझ और आँक सकता जब तक उसने प्रारम्भिक रूपो का परिचय न प्राप्त कर लिया हो। शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति कल्पना-मूलक जीवन के प्रारम्भिक रूपो के बीच से गुजरता हुआ उसके बाद के रूपो तक पहुँच पाता है।

इसलिये यदि एक साधारण मनुष्य दार्शनिक अथवा दूसरी कोटि की समस्याओ के महत्त्व एव आकर्षण को ठीक से हृदयगम न कर सके, तो यह नही समझना चाहिए कि वह समस्या असामान्य अथवा कृत्रिम है। उससे केवल यही सिद्ध हो सकता है कि विचाराधीन व्यक्ति ने वह कल्पनामूलक तैयारी नही की है जो समस्या को समझने

के लिए जरूरी है। कल्पना-मूलक विकास मे पिछडे हुए मनुष्य इसी प्रकार किसी मनोवैज्ञानिक या नैतिक द्वन्द्व अथवा बौद्धिक या विचारात्मक क्रान्ति का महत्व समझने मे असमर्थ हो सकते है। इस प्रकार से अधिकाश द्वन्द्वो, क्रान्तियो, विसगतियो और विरोधो का सम्बन्ध प्राय मनुष्य की कल्पना-मूलक सृष्टियो और उनके पारस्परिक सम्बन्धो से होता है। हमारे मानसिक अथवा प्रतीकाधारित जीवन के अनेक महत्वपूर्ण तथ्य, जिन पर मानवीय विद्याओ मे विचार होता है, प्राय ऐसी ही सृष्टियाँ होते हैं, वे इन्द्रिय-ग्राह्य नही होते, यद्यपि उनके विभिन्न आन्तरिक सम्बन्ध, तर्कात्मक सम्बन्धो की भाँति, एक प्रकार के साक्षात् बोध का विषय होते हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि शिक्षा के निम्न प्रभाव पडते है (क) वह बालको या मनुष्यो का समुदाय के कल्पना-मूलक जीवन मे प्रवेश कराती है और (ख) वह उनमे ऐसे आदर्शो तथा दृष्टियो को प्रतिष्ठित करती है जिन्हें समाज स्वीकार करता है। इस प्रकार शिक्षा सास्कृतिक एकता तथा सहयोग का प्रसार करती है। शिक्षा का एक तीसरा परिणाम भी लक्षित होना चाहिए। वह एक जाति या समूह के सदस्यो को दूसरी जाति या समूह के सदस्यो से विभक्त कर देती है, विशेषत मूल्यों तथा आदर्शो की प्रकृति के सम्बन्ध मे। शिक्षा के इस तीसरे परिणाम या दुष्प्रभाव को बचाने का उपाय यह घोषित कर देना नही है कि सब प्रकार के मूल्य और आदर्श बुद्धि-विरोधी या तार्किक आधार-शून्य होते है। उसे दूर करने का उचित उपाय यही है कि वैज्ञानिक पद्धति से मूल्यो आदि के सम्बन्ध मे चिन्तन किया जाय और मूल्याकन के सही पैमानो को खोजा जाय। यह एक रोचक बात है कि विभिन्न जातियो के सदस्य एक-दूसरे की उन कल्पना-मूलक सृष्टियो को ग्रहण करना मुश्किल नही पाते जिनका उनके विभिन्न सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षपातो से सम्बन्ध नही होता। यह भी लक्षित करने की बात है कि अपेक्षाकृत बडे कवि, उपदेशक और दार्शनिक दूसरी जातियो तथा समाजो में ज्यादा आदर पा जाते हैं।

हम सामान्यरूपता की परिभाषा दे चुके। जिसे हम सामान्य नर या नारी कहते है उसमे प्राय मानव जाति को खास तरह से देखने तथा उसकी जरूरते एव प्रेरणाएँ महसूस करने की शक्तियाँ तो रहती ही है, साथ ही उसके मन की रचना भी विशेष प्रकार की होती है जिसके कारण उसमें तर्क करने, कल्पना करने और आवेगात्मक प्रतिक्रिया करने की विशिष्ट आदते होती है। चूंकि सब सामान्य मनुष्यो मे ये विशेषताएँ समान होती है, इसलिये वे एक-दूसरे के साथ तर्क कर पाते है और हानि-लाभ के सर्व-

साधारण मौके पर समान संवेदनाएँ महसूस कर पाते हैं। निष्कर्ष यह कि उस चीज या सम्बन्ध को वस्तुनिष्ठ कहना चाहिए जिसे सब सामान्य मनुष्य देख सकें, भले ही उस देखने के लिये कुछ लोगो मे लम्बी कल्पना-मूलक तैयारी अपेक्षित हो।

## तत्वदर्शन-सम्बन्धी कुछ निष्कर्ष

ऊपर के मन्तव्य के कतिपय महत्वपूर्ण निष्कर्ष है, जिनका सम्बन्ध तत्वदर्शन के सिद्धान्तो से है। वस्तुनिष्ठता की जो धारणा हमने दी उसका यथार्थवादी ज्ञानमीमासा से निकट सम्बन्ध है, यद्यपि इस विषय मे यथार्थवाद से हमारा थोडा मतभेद भी है। यथार्थवादी मानते है कि विना विषय के कोई ज्ञान नही होता, उनके अनुसार तर्कमूलक सम्बन्धो, विरोधो तथा विसगतियो का भी एक प्रकार का अस्तित्व या सद्भाव होता है। हमारे मत मे सौन्दर्य तथा नैतिकता से सम्बन्ध रखनेवाले गुण भी, जो वस्तुओ और स्थितियो मे पाये जाते है, किसी-न-किसी अर्थ मे वस्तुनिष्ठ होते है। किन्तु यथार्थ-वादी यह मानने से इन्कार करते है कि वस्तुओ का स्वरूप निर्मित करने मे सम्बन्धो का कोई हाथ होता है। विशेषत वे यह मानते है कि जानने का सम्बन्ध, अर्थात् ज्ञाता और विषय का सम्बन्ध, ज्ञात विषय मे कोई परिवर्तन उत्पन्न नही करता। इसके विप-रीत हमारा मत है कि वस्तुओ के गुण दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा मे ही अस्तित्ववान होते तथा जाने जाते है। उदाहरण के लिये तर्क-मूलक सम्बन्धो की सत्ता तभी सम्भव है जब उन्हे समझनेवाले ऐसे मनुष्य मौजूद हो जो कथनो का विधान करते और उनके पारस्परिक सम्बन्धो को समझते है। इसी प्रकार प्रेम, घृणा ईर्ष्या आदि की स्थिति भी दूसरे मनुष्यो की अपेक्षा मे ही हो सकती है।

उक्त मन्तव्य के तत्वदर्शन के लिये अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष होगे। इस मत के अनुसार उस किसी भी चीज को वस्तुनिष्ठ या वास्तविक मानना पडेगा जिसका बोध या अनुभव सामान्य मनुष्यो को होता है। हमारे अनुसार रूप, रग आदि गौण गुण उतने ही वस्तुगत है जितने कि तथाकथित मूल गुण। इसी प्रकार सौन्दर्य, नैति-कता आदि से सम्बन्ध रखनेवाली विशेषताएँ भी, तर्क-मूलक विशेषताओ की भाँति, वस्तुनिष्ठ है।

उक्त मान्यता को एक खास पद्धति से प्रमाणित किया जा सकता है, इस पद्धति से कि उसकी विपरीत मान्यता विरोधग्रस्त निष्कर्षो को जन्म देती है। यदि एक बार

हम उन पदार्थो तथा गुणो की वस्तुनिष्ठता से इनकार कर दे जो सामान्य अनुभव का विषय है, तो यह समझ मे नही आता कि हम कहाँ जाकर रुके। वैज्ञानिको तथा विज्ञान से प्रभावित दार्शनिको ने शुरु मे यह कहा कि रूप, रग आदि गौण गुण अवास्तविक होते है, और केवल वे मूल गुण ही जिन्हे गणित की भाषा मे अभिव्यक्ति दी जा सकती है, वास्तविक होते है. अत मे अब कहा जा रहा है कि स्वय वस्तुएँ भी वास्तविक नही होती। आधुनिक विज्ञान के अनुसार न केवल पत्तियो की हरियाली मिथ्या है, स्वय पत्तियाँ भी किसी-न-किसी अर्थ मे अवास्तविक या मिथ्या है। उदाहरण के लिए एडिंगटन ने प्रतिदिन व्यवहार मे आनेवाली मेज और उस मेज मे जिसे भौतिकशास्त्र यथार्थ रूप मे प्रदर्शित करता है, अन्तर करते हुए कहा है

'यह कहने की जरूरत नही कि आधुनिक भौतिकशास्त्र ने नाजुक परीक्षणो तथा कठोर तर्क के आधार पर मुझे यह विश्वास दिला दिया है कि हमारे लिये दूसरी, वैज्ञानिक मेज ही यथार्थ है, और वही "वहाँ" है भी—फिर चाहे "वहाँ" का कुछ भी अर्थ हो।'[१७] दूसरे शब्दो मे वैज्ञानिक मेज ही वस्तुनिष्ठ है, और परिचित मेज किसी-न किसी अर्थ मे मिथ्या है। बर्ट्रेण्ड रसेल भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है। उनके मत मे 'भौतिकशास्त्र हमे यह विश्वास दिलाता है कि सूर्य वस्तुत भास्वर या चमकीला नही है, उस अर्थ मे जिस अर्थ मे प्राय वह शब्द समझा जाता है। सूर्य प्रकाश की किरणो का स्रोत है जिनका आँखो, स्नायुओ तथा मस्तिष्क पर खास तरह का प्रभाव पडता है, किन्तु जीवित प्राणियो के सम्पर्क के अभाव मे प्रकाश की किरणे वह प्रभाव उत्पन्न नही करती, और तब किसी चीज को चमकदार कहना उचित नही रह जाता। यही विचारणाएँ "गर्म" तथा "गोल" शब्दो पर लागू है—यदि गोल को एक प्रेक्षणीय गुण माना जाय। इसके अलावा, यद्यपि सूर्य आपको अब दिखाई देता है, वह भौतिक पदार्थ जिसका अनुमान आप देखने से करते है आठ मिनट पहले अस्तित्ववान् था। यदि इस बीच मे सूर्य गायब हो जाय तो भी आप ठीक वही देखते रहेगे जो इस समय देख रहे है। इसलिये हम भौतिक सूर्य को उस चीज से समीकृत नही कर सकते जिसे हम देखते है।[१८]

निष्कर्ष यह है कि प्रतीयमान सूर्य जिसे हम देखते है किसी-न-किसी अर्थ मे "वहाँ" नही है, वह वास्तविक या वस्तुनिष्ठ नही है। रसेल का विश्वास है कि एक खगोलशास्त्री का वास्तविक सूर्य वह है जो किसी प्रकार दीखनेवाले सूर्य की आकृति का निर्धारण करता है, यद्यपि प्रथम सूर्य दूसरे से नितान्त भिन्न है। सम्भवत एडिंगटन

खगोल-शास्त्र के सूर्य को भी "भौतिकशास्त्र के छाया-जगत" (Shadow world of Physics) मे निमग्न कर देंगे। खगोलशास्त्र के सूर्य में गोलाई का अभाव घोषित करते हुए रसेल के स्वर में कुछ सकोच-सा आ जाता है, किन्तु एडिंग्टन के वक्तव्य में वैसा कोई सकोच नही है।

यह कहकर कि जिस चीज का मै वस्तुत अनुभव करता हूँ वह मेरे मस्तिष्क में घटित होनेवाली कतिपय शारीरिक क्रियाएँ है, रसेल ने विश्लेपण को और भी जटिल बना दिया है। भौतिक शास्त्र की यथार्थ वस्तुओ से जो प्रभावो की कार्य-कारण-शृखला शुरु होती है उसका अन्त मस्तिष्क की कतिपय क्रियाओ मे होता है, उन क्रियाओ की चेतना को हम देखना, सुनना आदि कहते है। उदाहरण के लिये किसी शोरगुल को सुनने की क्रिया को लीजिए। इस प्रेक्षण या प्रेक्षा के पूर्ववर्ती अनेक व्यापार है जो शोर के स्रोतभूत पदार्थ से उत्थित होकर हवा के माध्यम से देश-काल में यात्रा करते हुए कानो तथा मतिस्क तक पहुँचते है। जिसे हम शोर सुनने का अनुभव कहते है वह भौतिक कार्य-कारण-शृखला की मतिस्कवर्तिनी स्थिति का समकालीन होता है। कम-से-कम हमारे अनुसधान यही दर्शित करते है। देश-काल का वह एकमात्र प्रदेश जिससे उक्त शोर का साक्षात् सम्बन्ध होता है, श्रोता के मस्तिष्क की वर्तमान दशा है, शोर के भौतिक स्रोत से उसका सम्बन्ध दूर का ही होता है। यही युक्ति दीखनेवाली चीजो पर भी लागू होती है।[११] रसेल ने इस बात पर जोर दिया है कि 'देशकाल का एक, सिर्फ एक ही भाग है जिसका मेरे देखने से कार्य-कारण सम्बन्ध होता है, और यह भाग मेरा मस्तिष्क है, अर्थात् देखने के समय की उसकी दशा,।[१२] रसेल ने कहा है कि ये चीजे शिक्षित सहज बुद्धि को स्पप्ट सत्य जान पडेगी।[१३]

हमे खेद है कि हमने पाठको को उक्त लम्बे उद्धरणो से तग किया। यह करना आवश्यक था, उन्हें इस बात का आभास देने के लिये कि दैनिक अनुभवो की वस्तुओ की प्रकृति और यथार्थता के सम्बन्ध मे हमारी धारणाएँ कैसे असमजस की स्थिति में है। एडिग्टन के अनुसार भौतिक शास्त्र का छाया-जगत् ही यथार्थ या वस्तुनिप्ठ है, और दुनियां की अवशिप्ट चीजे भ्रमात्मक या मिथ्या है। रसेल के अनुसार भौतिकशास्त्र द्वारा मानी जानेवाली वस्तुओ के अतिरिक्त यथार्थ चीजो की एक और दुनियां है, अर्थात् मस्तिष्क की स्नायविक प्रक्रियाओ का क्षेत्र। दैनिक वस्तुओ की दुनियां उक्त क्षेत्र अथवा उक्त क्षेत्र और पूर्व दुनियां दोनो का आभास मात्र है।

किन्तु रसेल महोदय एक बात भूल जाते हैं, जिसे हम मस्तिष्क कहते हैं वह, एक शरीर-विज्ञान के विद्यार्थी की दृष्टि मे, दैनिक वस्तुओ की दुनियाँ का भाग है, और यदि उसे एक व्याख्यात्मक प्रत्यय (Theoretical Construct) माना जाय, तो उसका पद न्यूनाधिक वही है जो भौतिकशास्त्र के कल्पनामूलक पदार्थों (विद्युद्-णुओ आदि) का।

रसेल चिदचिद्भिन्नाद्वैत (Neutral Monism) के समर्थक हैं। वे मानते हैं कि विश्व के चरम तत्त्व को न चेतन कहा जा सकता है, न अचेतन। देखने की स्थिति मे ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय अलग-अलग नही होते, बल्कि एक ही होते हैं। जिन प्रक्रियाओ (Processes) को हम एक दृष्टि से देखना कहते हैं, उन्ही को दूसरी दृष्टि से दीखनेवाला पदार्थ भी कहते हैं। वास्तव मे सूर्य और सूर्य का देखना दो चीजे न होकर एक ही चीज हैं। जिन्हे हम मानसिक तथा भौतिक प्रक्रियायें कहते हैं वे वास्तव मे एक ही चिदचिद् भिन्न (Neutral) तत्त्व की प्रक्रियाये होती हैं।[१४]

ऊपर की विचारणाओ से निम्न विरोधाभास उत्थित होता है तथा-कथित मेरा मस्तिष्क क, ख, ग, आदि के मस्तिष्को की स्नायविक प्रक्रियाओ की शृंखला मात्र है, और उनके मस्तिष्क भी च, छ, ज आदि के मस्तिष्को तथा मेरे मस्तिष्क की स्नायविक प्रक्रियाओ की शृंखलामात्र हैं।

रसेल का विशिष्ट मन्तव्य उक्त विरोधाभास को जन्म देता है। रसेल और एडिंगटन के इस सामान्य सिद्धान्त मे कि दैनिक अनुभव की वस्तुएँ यथार्थ नही है, एक दूसरा, उतना ही असुविधाजनक विरोधाभास निहित है। वह ज्ञान जिसे हम भौतिक-शास्त्र कहते हैं, अन्तिम विश्लेषण मे, दैनिक अनुभव का निष्कर्षभूत है, किन्तु यदि भौतिक-शास्त्र सही है, तो हमारा दैनिक अनुभव भ्रमात्मक है। यहा स्थिति ऐसी है कि निष्कर्ष अपने पक्षवाक्यो का विरोधी है!

यह विरोध अनेक बार देखा गया है, किन्तु कभी इसका समाधान हो सका है, इसमें सन्देह है। भौतिक शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान द्वारा दिये गये दैनिक अनुभव के विवरण में एक और विरोधाभास भी निहित है। मान लिया जाय कि दैनिक अनुभव के पदार्थों की सत्ता नही है और सिर्फ भौतिक शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान द्वारा अधीत

होनेवाली चीजो या प्रक्रियाओ की ही सत्ता है। उस दशा मे यह समझ मे नही आता कि कैसे यह विचित्र ससार, जिसमें विभिन्न रग-रूपो की असख्य चीजें हैं—ऐसी सुन्दर चीजें जैसे चिडियाँ, फूल, और सरिताएँ, तथा ऐसी भयकर वस्तुएँ जैसे सर्प, चीते और भालू—किस प्रकार कल्पना या तर्कना मे उत्थित हो जाता है। क्या सचमुच ही हम मानवीय कल्पना और रचना-शक्तियो को इस सबका श्रेय दे सकते है?[१५] रसेल की भाँति यह कहना कि विभिन्न मस्तिष्को की स्नायविक तथा अन्य प्रक्रियाएँ अपने को विभिन्न आश्चर्यजनक वस्तुओ, पुस्तको आदि मे ग्रथित कर लेती है, एक बडा अन्धविश्वास जान पडता है। और जब हम ऐसा कहते है तो हम उसी शिक्षित सहज बुद्धि की दुहाई दे सकते है जिसकी दुहाई स्वय रसेल ने दी है, और ठीक ही दी है।

ऊपर के विरोधो और विरोधाभासो के मूल मे दो प्रकार की भ्रान्तियाँ है। पहली भ्रान्ति यह है कि लोग दार्शनिक मान्यताओ तथा विज्ञान की सैद्धान्तिक कल्पनाओ को भ्रम से तथ्य-रूप मान बैठते है, दूसरी भ्रान्ति का कारण यह न समझना है कि वैज्ञानिक व्याख्याओ का स्वरूप क्या होता है, और विज्ञान द्वारा प्रकल्पित पदार्थ किस अर्थ में यथार्थ होते है। इन दोनो भ्रान्तियो का हम क्रमश उद्घाटन करेंगे।

पहली कोटि की भ्रान्ति के कुछ उदाहरण लीजिए। रसेल का चिदचिद्भिन्नाद्वैत (Neutral Monism) एक दार्शनिक सिद्धान्त है, जो हाल में कुछ प्रसिद्ध रहा है। किन्तु रसेल महोदय कुछ ऐसे बात करते है जैसे वह सिद्धान्त एक तथ्य हो, ऐसा तथ्य जो खगोलशास्त्री के सूर्य तथा प्रतीयमान सूर्य के तादात्म्य का खडन करता है। इसका युक्तिगत निष्कर्ष, जो रसेल ने निकाला है, यह है कि पृथ्वी और आकाश के बीच दीखनेवाले समस्त पदार्थ, कुर्सियाँ और मेजें, ग्रह और नक्षत्र, सबके सब मस्तिष्क में घटित होनेवाली प्रक्रियाएँ मात्र है। यह बार्कले का सिद्धान्त है, जिस पर सर्वाहवाद (Solipsism) का गहरा रग है।

इसी प्रकार भौतिक तथा शारीरिक परिवर्तनो की वह शृखला जिसका पर्यवसान शोर सुनने अथवा वस्तु को देखने मे होता है, एक तथ्य न होकर बौद्धिक निर्मिति (Theoretical Construction) मात्र है। इस निर्मिति का प्रयोग अनुभव के तथ्यो का खडन करने के लिये नही किया जा सकता।

अब हम भ्रान्ति के दूसरे स्रोत पर आते हैं। पूछा जा सकता है कि भौतिक-शास्त्र, शरीर-विज्ञान आदि जिन व्याख्यात्मक पदार्थों (Theoretical Entities) की कल्पना करते हैं उनकी, दैनिक अनुभव के पदार्थों की अपेक्षा में, तात्विक स्थिति क्या है? क्या प्रथम श्रेणी के पदार्थ सचमुच ही दूसरी श्रेणी के पदार्थों का निराकरण कर सकते हैं? क्या खगोल-शास्त्र का सूर्य वस्तुतः दैनिक अनुभव के सूर्य का खंडन कर सकता है? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के लिये यह परीक्षा करना जरूरी है कि किस प्रकार भौतिक-शास्त्र, शरीर-विज्ञान आदि के व्याख्यात्मक पदार्थों का उदय होता है, और उनका क्या कार्य तथा पद (Status) निश्चित किया जा सकता है।

## विज्ञान का स्वरूप और विज्ञान-प्रकल्पित पदार्थों की तात्विक स्थिति

हम श्री हर्बर्ट डिंगिल द्वारा दी हुई विज्ञान की परिभाषा को उद्धृत कर चुके हैं। उनके अनुसार विज्ञान का सबसे प्रमुख काम निरीक्षित तथ्यों का बौद्धिक सम्बन्धन या संग्रथन (Correlation) है।[11] ये तथ्य प्रायः प्रयोगों में प्राप्त किये जाते हैं जिनका रूप मापने योग्य मात्राओं के सहचार-सम्बन्धों (Correlations) में गठित या निर्मित होता है। विज्ञान की दो मुख्य क्रियाएँ हैं, माप और परिगणन। विज्ञान मात्राओं का माप करता है, ताकि 'उनके पारस्परिक सहचार-सम्बन्धों का अन्वेषण कर सके, और उनके सहपरिवर्तन के नियमों का निरूपण कर सके।[12] प्रयोग-विधि द्वारा यह सम्भव होता है कि कतिपय तत्वों अर्थात् कारण-सत्वों को अपरिवर्तित रखा जाय, और दूसरे तत्वों को नियन्त्रित ढंग से बदलते हुए उनके प्रभावों का ठीक अध्ययन कर लिया जाय। उदाहरण के लिये रॉबर्ट ब्वायल नामक वैज्ञानिक ने यह पता लगाया कि जब तापक्रम आदि की शेष स्थितियाँ समान रहती हैं, तब किसी गैस के आयतन में उसके दबाव से विपरीत अनुपात में परिवर्तन होता है।

भौतिक शास्त्र में हम दो प्रकार के सामान्य कथन पाते हैं, प्रयोगात्मक नियम (Empirical Laws) और सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र या नियम। प्रयोगात्मक नियम प्राप्त करने के लिये दो चीजों के सम्बद्ध परिवर्तनों को गणित के समीकरण के रूप में प्रकट किया जाता है। उदाहरण के लिये ब्वायल का नियम इस प्रकार

होनेवाली चीजो या प्रक्रियाओ की ही सत्ता है। उस दशा मे यह समझ मे नही आता कि कैसे यह विचित्र ससार, जिसमे विभिन्न रग-रूपो की असख्य चीजे है—ऐसी सुन्दर चीजे जैसे चिडियॉ, फूल, और सरिताएँ, तथा ऐसी भयकर वस्तुएँ जैसे सर्प, चीते और भालू—किस प्रकार कल्पना या तर्कना मे उत्थित हो जाता है। क्या सचमुच ही हम मानवीय कल्पना और रचना-शक्तियो को इस सबका श्रेय दे सकते है?[१५] रसेल की भॉति यह कहना कि विभिन्न मस्तिष्को की स्नायविक तथा अन्य प्रक्रियाएँ अपने को विभिन्न आश्चर्यजनक वस्तुओ, पुस्तको आदि मे ग्रथित कर लेती है, एक बडा अन्धविश्वास जान पडता है। और जब हम ऐसा कहते है तो हम उसी शिक्षित सहज बुद्धि की दुहाई दे सकते है जिसकी दुहाई स्वय रसेल ने दी है, और ठीक ही दी है।

ऊपर के विरोधो और विरोधाभासो के मूल मे दो प्रकार की भ्रान्तियाँ है। पहली भ्रान्ति यह है कि लोग दार्शनिक मान्यताओ तथा विज्ञान की सैद्धान्तिक कल्पनाओ को भ्रम से तथ्य-रूप मान बैठने है, दूसरी भ्रान्ति का कारण यह न समझना है कि वैज्ञानिक व्याख्याओ का स्वरूप क्या होता है, और विज्ञान द्वारा प्रकल्पित पदार्थ किस अर्थ मे यथार्थ होते है। इन दोनो भ्रान्तियो का हम क्रमश उद्घाटन करेगे।

पहली कोटि की भ्रान्ति के कुछ उदाहरण लीजिए। रसेल का चिदचिद्भिन्नाद्वैत (Neutral Monism) एक दार्शनिक सिद्धान्त है, जो हाल मे कुछ प्रसिद्ध रहा है। किन्तु रसेल महोदय कुछ ऐसे बात करते है जैसे वह सिद्धान्त एक तथ्य हो, ऐसा तथ्य जो खगोलशास्त्री के सूर्य तथा प्रतीयमान सूर्य के तादात्म्य का खडन करता है। इसका युक्तिगत निष्कर्ष, जो रसेल ने निकाला है, यह है कि पृथ्वी और आकाश के बीच दीखनेवाले समस्त पदार्थ, कुर्सियॉ और मेजे, ग्रह और नक्षत्र, सबके सब मस्तिष्क मे घटित होनेवाली प्रक्रियाएँ मात्र है। यह बार्कले का सिद्धान्त है, जिस पर सर्वाहवाद (Solipsism) का गहरा रग है।

इसी प्रकार भौतिक तथा शारीरिक परिवर्तनो की वह श्रृखला जिसका पर्यवसान शोर सुनने अथवा वस्तु को देखने मे होता है, एक तथ्य न होकर बौद्धिक निर्मिति (Theoretical Construction) मात्र है। इस निर्मिति का प्रयोग अनुभव के तथ्यो का खडन करने के लिये नही किया जा सकता।

अब हम भ्रान्ति के दूसरे स्रोत पर आते हैं। पूछा जा सकता है कि भौतिक-शास्त्र, शरीर-विज्ञान आदि जिन व्याख्यात्मक पदार्थों (Theoretical Entities) की कल्पना करते हैं उनकी, दैनिक अनुभव के पदार्थों की अपेक्षा मे, तात्विक स्थिति क्या है ? क्या प्रथम श्रेणी के पदार्थ सचमुच ही दूसरी श्रेणी के पदार्थों का निराकरण कर सकते हैं ? क्या खगोल-शास्त्र का सूर्य वस्तुत दैनिक अनुभव के सूर्य का खडन कर सकता है ? इन प्रश्नो का समुचित उत्तर देने के लिये यह परीक्षा करना जरूरी है कि किस प्रकार भौतिक-शास्त्र, शरीर-विज्ञान आदि के व्याख्यात्मक पदार्थों का उदय होता है, और उनका क्या कार्य तथा पद (Status) निश्चित किया जा सकता है।

## विज्ञान का स्वरूप और विज्ञान-प्रकल्पित पदार्थों की तात्विक स्थिति

हम श्री हर्बर्ट डिंगिल द्वारा दी हुई विज्ञान की परिभाषा को उद्धृत कर चुके हैं। उनके अनुसार विज्ञान का सबसे प्रमुख काम निरीक्षित तथ्यो का बौद्धिक सम्बन्धन या सग्रथन (Correlation) है।[११] ये तथ्य प्राय प्रयोगो मे प्राप्त किये जाते हैं जिनका रूप मापने योग्य मात्राओं के सहचार-सम्बन्धो (Correlations) मे गठित या निर्मित होता है। विज्ञान की दो मुख्य क्रियाएँ हैं, माप और परिगणन। विज्ञान मात्राओं का माप करता है, ताकि 'उनके पारस्परिक सहचार-सम्बन्धो का अन्वेषण कर सके, और उनके सहपरिवर्तन के नियमो का निरूपण कर सके।[१३] प्रयोग-विधि द्वारा यह सम्भव होता है कि कतिपय तत्वो अर्थात् कारण-सत्वों को अपरिवर्तित रखा जाय, और दूसरे तत्वो को नियन्त्रित ढग से बदलते हुए उनके प्रभावो का ठीक अध्ययन कर लिया जाय। उदाहरण के लिये रॉबर्ट ब्वाइल नामक वैज्ञानिक ने यह पता लगाया कि जब तापक्रम आदि की शेष स्थितियाँ समान रहती हैं, तब किसी गैस के आयतन में उसके दवाव से विपरीत अनुपात मे परिवर्तन होता है।

भौतिक शास्त्र मे हम दो प्रकार के सामान्य कथन पाते हैं, प्रयोगात्मक नियम (Empirical Laws) और सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र या नियम। प्रयोगात्मक नियम प्राप्त करने के लिये दो चीजो के सम्बद्ध परिवर्तनो को गणित के समीकरण के रूप मे प्रकट किया जाता है। उदाहरण के लिये ब्वाइल का नियम इस प्रकार

व्यक्त किया जाता है द अ=स+क, जिसका अभिप्राय यह है कि किसी गैस के दवाव तथा आयतन की इकाइयो का गुणनफल कुछ सीमाओ के भीतर स्थिर रहता है।

[ भौतिक-शास्त्र के नियम गणित के समीकरणो के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं। ये समीकरण प्रयोगो द्वारा निरीक्षित सहचार-सम्वन्धो (Correlations) को प्रकट करते हैं। यह समझना भूल होगी कि गणित के समीकरण निरीक्षित सहचार-सम्बन्धो को पूर्णतया सही अभिव्यक्ति देते हैं, वस्तुत उन सम्बन्धो को गणित की भाषा मे बॉधते समय वैज्ञानिक लोग उन्हे थोडा-वहुत परिवर्तित कर देते है। निरीक्षित सहचार-सम्वन्धो के आधार पर एक सामान्य समीकरण या नियम का निर्माण किया जाता है। केल्विन कहते हैं 'अनुभवात्मक नियम वस्तुत निरीक्षित तथ्यो के आधार पर किया हुआ निर्माण होता है। वह दी हुई साक्षी के परे जाता है'।[१८] इस प्रकार अनुभवात्मक नियम के निरूपण मे भी आगमन (Induction) की समस्या *खडी हो जाती है। वहॉ देखे हुए कुछ उदाहरणो के आधार पर अनदेखे तथ्यो के बारे* मे सामान्य कथन किया जाता है। इस समस्या से बचने के लिये विटगैन्स्टीन तथा दूसरे तर्क-मूलक भाववादियो ने यह प्रस्ताव किया है कि प्राकृतिक नियम को "प्रोपोजीशनल फक्शन" (Propositional Function) के रूप मे लिखना चाहिए। चूंकि प्रकृति के नियम सामान्य कथन नही हो सकते, इसलिये वे "प्रोपोजीशनल फक्शन" होते हैं।'[३९] उनके अनुसार प्रकृति का नियम एक, 'प्रोपोजीशनल फक्शन" होता है जिससे, विवर्तमान मूल्यो (Variables) के विभिन्न मान रखकर, परीक्षणार्थ विशेप कथन प्राप्त किये जाते हैं।[४०]

एक दूसरी दिशा मे भी प्रकृति का नियम वस्तुस्थिति का एकदम सही उल्लेख नही होता। सव प्रकार के माप (Measurements) न्यूनाधिक सही होते हैं, माप के सहीपन की सीमा होती है। दूसरे, प्रकृति मे पाये जानेवाले सहचार-सम्वन्ध न्यूनाधिक वदलते रहते हैं। फलत यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि वदलते हुए सम्वन्धो के आधार पर अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियम का निरूपण कैसे किया जाय।[४१] प्रकृति के एतावत्व (Exactness) या सहीपन के अभाव की नियम के एतातत्व मे कैसे सगति विठाई जाय? ऐसा जान पडता है कि गणित की भाषा मे प्रकट किये हुए नियम प्राकृतिक तथ्यो का एकदम सही वर्णन प्रस्तुत नही करते, उनमे निवद्ध वर्णन दृष्ट तथ्यो मे न्यूनाधिक निकट सामजस्य रखता है। तथ्यो पर आरोपित

किये जानेवाले नियम उन वस्त्रों की भांति होते हैं जो शरीर पर न्यूनाधिक ही "फिट" बैठते हैं। समीकरण में निबद्ध नियम के आधार पर हिसाब लगाकर हम सहचार का जो मान (Value) प्राप्त करते हैं उसमें तथा निरीक्षित मान में प्रायः कुछ अन्तर रह जाता है। इस अन्तर को वैज्ञानिक लोग भूल (Error) कहते हैं। नियम के अनुसार की हुई भविष्यवाणी और बाद के निरीक्षण में कभी परिपूर्ण संगति नहीं होती, न्यूनाधिक संगति ही होती है। नियम के आधार पर जो मान प्राप्त किये जाते हैं, वे ज्यों के त्यों निरीक्षण में नहीं मिलते। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्स प्लैंक कहते हैं 'प्रत्येक माप अर्थपूर्ण बनता है उस सार्थकता से जो उसे सिद्धान्त (सूचित नियम) द्वारा प्राप्त होती है सूक्ष्म से सूक्ष्म और सीधे से सीधे मापों को बार-बार ठीक करना पड़ता है, ताकि उनका व्यावहारिक प्रयोग हो सके।'[१२] ऐसा मालूम होता है कि गणित की मापा प्रकृति के मात्रामूलक तथ्यों पर न्यूनाधिक ही आरोपित की जा सकती है। इस निष्कर्ष का गणित की प्रकृति और उपयोगिता समझने के लिये विशेष महत्व है।]

अब हमें अगला कदम रखना चाहिए, और यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि विज्ञान के सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्रों की उत्पत्ति कैसे होती है। वस्तुतः विज्ञान के उच्चतर सामान्य कथनों में परिकल्पित होनेवाले तत्वों के आधार पर ही यह कहा जाता है कि हमारे दैनिक अनुभव की चीजें यथार्थ नहीं हैं। हमने ऊपर ब्वाइल के नियम का उल्लेख किया। वैज्ञानिक चार्ल्स का नियम यह कहता है कि 'यदि किसी गैस का दबाव स्थिर रहे, तो उसका आयतन तापक्रम के अनुपात में बढ़ता है।' एक तीसरा नियम, ग्रैहम का नियम, बतलाता है कि 'समान स्थितियों में विभिन्न गैसों के व्यापयन (Diffusion) के वेगक्रमों (Rates) का उनके घनत्व-द्योतक अंकों के वर्गमूलों (Square Roots) से विपरीत अनुपात का सम्बन्ध होता है।'[१३]

सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र का काम यह होता है कि वह प्रयोगात्मक नियमों का एकीकरण कर दे। उदाहरण के लिये गैसों से सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्त-सूत्र को गैसीय पदार्थों का एक ऐसा सैद्धान्तिक ढाँचा प्रस्तुत करना चाहिए जिससे उपरोक्त प्रयोगात्मक नियम निगमन-विधि से प्राप्त किये जा सकते हैं। रसायन-शास्त्र के इतिहास से हम जानते हैं कि उपरोक्त नियमों के एकीकरण अथवा व्याख्या के लिये "काइनेटिक थियरी आफ गैसेज" (Kinetic Theory of Gases) निरूपित की गई। यह सिद्धान्त बतलाता है कि गैसीय पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न इकाइयों

(Molecules) द्वारा निर्मित होते है, और वे द्व्यणुक लगातार सवेग इतस्तत गतिमान रहते है।

यह कहने का क्या मतलब है कि सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र प्रयोगात्मक नियमो का एकीकरण करता है? एकीकरण की यह प्रक्रिया इस प्रकार है। वैज्ञानिक गैसो आदि की आन्तरिक रचना के सम्बन्ध में कुछ कल्पनाएँ करता है और उन कल्पनाओ को गणित के समीकरणो में आवद्ध कर देता है। यदि इन समीकरणो से निगमन-विधि (Deduction) द्वारा प्रयोगात्मक नियमो को प्राप्त किया जा सके, तो कहा जायगा कि वे प्रयोगात्मक नियम उस सिद्धान्त-सूत्र द्वारा एकीकृत और व्याख्यात हो गये। यदि सिद्धान्त-सूत्र से प्राप्त समीकरणो और प्रयोगात्मक निरीक्षण से प्राप्त समीकरणो में न्यूनाधिक सामजस्य अथवा तादात्म्य हो, तो समझना चाहिए कि सिद्धान्त-सूत्र प्रयोगात्मक नियमो की व्याख्या करने मे समर्थ है। यह मत श्री कैल्डिन ने प्रकट किया है।[४४]

श्री ज्राक रुएफ कहते है जिन कारणो से हम वस्तुओ की प्रकृति या स्वरूप का निर्माण करते है वे उन कथनो का समुदाय मात्र है जिन्हे हम तर्क करते समय पक्षवाक्य (Premises) वना लेते है और जिनका निष्कर्ष अनुभव के तथ्य होते है।[४५] अन्यत्र वे कहते है 'चूंकि ये चीजे, उदाहरण के लिये द्व्यणुक, हमारी बुद्धि को इन्द्रियो द्वारा प्राप्त नही होते, इसलिये बुद्धि उनकी सृष्टि करती है, यह सृष्टि उन चीजो के वाचक शब्दो मे अनेक धर्मो या विशेषताओ को एकत्रित कर देने से होती है। इस प्रकार के कारणो की सृष्टि सैद्धान्तिक भौतिक-शास्त्र का मूल कार्य है।'[४६]

सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्रो के सम्बन्ध मे ऐसा ही मत प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन का वतलाया जाता है। श्री आइन्स्टाइन के जीवनीकार फिलिप फ्रैंक वतलाते है कि उक्त वैज्ञानिक के अनुसार 'आधारभूत सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र (Basic Theoretical Laws) वैज्ञानिक कल्पना की स्वच्छन्द सृष्टियाँ होते है।' वैज्ञानिक आविष्कर्ता होता है, उसका आविष्कार या सृष्टि-क्रिया अपने चिन्तन में दो सीमाओ के भीतर चलती है। एक सीमा प्रयोगात्मक अनुभव की होती है। व्याख्या-सूत्र से जो निष्कर्ष निकले उन्हें अनुभव द्वारा पुष्टि मिलनी चाहिए। दूसरी सीमा का मूल तर्कशास्त्र और सौन्दर्य-सवेदना मे होता है, उसकी माग यह होती है कि व्याख्या-सूत्र सख्या मे कम-से-कम होने चाहिएँ, और परस्पर सगत होने चाहिएँ। करीब-करीब यही मन्तव्य

तर्कमूलक भाववादियो का भी है। उनके मत मे भी सामान्य या व्यापक व्याख्या-सूत्र वे वक्तव्य हैं जिनमे हमारे प्रयोगात्मक निरीक्षण निगमन द्वारा प्राप्त किये जा सकें।[४७]

अपने एक निबंध "रसेल की ज्ञान-मीमासा" मे आइन्स्टाइन ने इस मान्यता का खडन किया है कि विज्ञान के नियम आगमन-विधि (Iuduction) द्वारा प्राप्त किये जा सकते है, उन्होने रसेल तथा तर्क-मूलक भाववादियो की इस बात को लेकर भर्त्सना की है कि वे तत्त्वमीमासा के ढग के चिन्तन (Metaphysical Thinking) से डरते हैं। आइन्स्टाइन के मत में विज्ञान के प्रत्यय ही नहीं, दैनिक जीवन की धारणाये भी हमारे चिन्तन की सृष्टियाँ होती है, जो प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त नही की जा सकती। वे कहते हैं 'वे प्रत्यय जो हमारे चिन्तन और हमारी भाषा-बद्ध अभिव्यक्ति मे उदय होते हैं, तार्किक दृष्टि से देखने पर चिन्तन की स्वच्छन्द सृष्टियाँ प्रतीत होते है, उन्हे इन्द्रियो के अनुभव से प्राप्त नही किया जा सकता।'[४८] आइन्स्टाइन के मत मे दार्शनिक ह्यूम ने दर्शन के क्षेत्र मे एक खतरा पैदा कर दिया, क्योकि उनकी समीक्षाओं ने दार्शनिक कोटि के चिन्तन का भय उत्पन्न कर दिया, जो आज के अनुभववादी विचारको के लिये एक बीमारी बन गया है।[४९] इस प्रकार आइन्स्टाइन यह मानते हैं कि वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन मे कोई मौलिक भेद नही है।

वैज्ञानिक चिन्तन का इतना विश्लेषण करने के बाद हम यह प्रश्न पूछेंगे कि विज्ञान द्वारा प्रकल्पित मूलपदार्थो की तात्विक स्थिति (Metaphysical Status) क्या है? कहाँ और किस अर्थ में हम उन्हे यथार्थ (तात्विक) या अस्तित्ववान् मान सकते हैं? क्या सचमुच वे अस्तित्ववान् होते हैं, और वस्तुनिष्ठ रूप मे मौजूद होते है? क्या खगोलशास्त्री के सूर्य, और भौतिक शास्त्री के ऋणात्मक तथा धनात्मक विद्युद्-णुओं (Electrons and Protons) की वास्तविक सत्ता है? और क्या हमें यह अधिकार है कि उक्त चीजो के नाम पर दैनिक अनुभव के पदार्थों को असत् या मिथ्या घोषित कर दे?

इस सम्बन्ध मे हमें दो बातो पर और विचार करना होगा, ताकि हम ऊपर के प्रश्नो का उत्तर दे सकें। प्रथमत भौतिक शास्त्र का इतिहास बतलाता है कि भौतिक जगत के अन्तिम तत्वो के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक व्याख्यासूत्र लगातार बदलते अथवा संशोधित होते रहे हैं। जैसे-जैसे नये प्रयोगो द्वारा नये तथ्य मिलते हैं, वैसे-वैसे पुराने

सिद्धान्त-सूत्रो के वदले नये सूत्र निर्मित होते जाते हैं। उदाहरण के लिये जव रसायन-शास्त्रियो को यह मालूम हुआ कि विभिन्न तत्वो का सयोग मात्रा-मूलक अनुपातो में होता है, तो उन्होंने परमाणुवाद का प्रतिपादन किया। बाद में जब "रेडियो-ऐक्टि-विटी" (Radio-activity) से सम्बद्ध तथ्यों का पता चला तो उन्होंने परमाणुओ के स्थान पर विद्युदणुओ की कल्पना को प्रतिष्ठित कर दिया। इसी प्रकार आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद ने न्यूटन के देशकाल, गति और गुरुत्वाकर्षण-सम्बन्धी विचारो का स्थान ले लिया।

दूसरी लक्षित करने की बात यह है कि भौतिकशास्त्री प्रकल्पित पदार्थ जैसे परमाणु या विद्युदणु में केवल उन्ही गणितात्मक गुणो का आरोप करता है जो निरीक्षित, अर्थात् प्रयोगो से प्राप्त तथ्यो की, व्याख्या के लिये अपेक्षित है। उदाहरण के लिये "इलेक्ट्रान" तथा "प्रोट्रान" में, जैसा कि प्रो० डिंगिल ने बतलाया है, केवल उन्ही गुणो की अवस्थिति माननी चाहिए, और उन पर व्यवहार के उन्ही नियमो का आरोप करना चाहिए, जो विभिन्न प्रेक्षणो (Observations) को सम्बद्ध करने के लिए आवश्यक और पर्याप्त है।[५०]

अब हम देख सकते हैं कि भौतिक शास्त्र के व्याख्या-सूत्र कहाँ तक वास्तविकता के यथार्थ रूप का उद्‌घाटन करते है श्री रुएफ लिखते हैं 'इस दृष्टि से देखी हुई वास्तविकता का कोई तात्विक महत्व नही रहता। हमारे पास यह कहने का कोई आधार नही रहता कि भौतिक शास्त्र के सिद्धान्त जिन कारणो का उद्‌घाटन करते हैं वे वस्तुओ की असली प्रकृति है।[५१] ब्रिजमैन कहते हैं 'जव हम नये क्षेत्रो में जाकर प्रयोग करें तो हमें नये तथ्यो के लिए तैयार हो जाना चाहिये, भौतिकशास्त्री किन्ही ऐसे अनुभव-निरपेक्ष सिद्धान्तो को नही मानता जो नये अनुभव की सभावनाओ को सीमित करने वाले हो।'[५२] अवसर नया अनुभव पुराने सिद्धान्तो के सशोधन, और नये सिद्धान्तो के निरूपण, का कारण बन जाता है। श्री फिलिप फ्रैंक अलवर्ट आइ-न्स्टाइन के मतव्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'उनके अनुसार अन्वेपक को यह अधिकार है कि वह, भौतिक विज्ञान की उन्नति के लिये, किन्ही भी सिद्धान्त-सूत्रो की पद्धति की सृष्टि कर डाले, सिर्फ यह कि उस नियम-पद्धति को नये प्रेक्षणो से समजस होना चाहिये।'[५३]

वस्तुत जिन्हें हम भौतिक शास्त्र के सिद्धान्त कहते हैं वे, गणित की भाषा में, यथार्थ के स्वरूप की निर्मितियाँ होती हैं जिनका आधार उपलब्ध प्रयोगात्मक तथ्य

होते हैं। सापेक्षवाद के सिद्धान्त न यह स्पष्ट कर दिया है कि इन निर्मितियो का हमारे दैनिक अनुभव के अनुरूप होना बिल्कुल ही आवश्यक नही है, यदि गणित की सहायता प्राप्त हो तो वे अधिक से अधिक जटिल और असामान्य हो सकती हैं।

विज्ञान की निर्मितियाँ (Constructions) गणित की भाषा मे प्रकट की जाती है, इनसे वैज्ञानिक सिद्धान्तो की एक दूसरी सीमा का पता चलता है, उनके निरूपण का आधार अनुभव की केवल मात्रा-मूलक विशेषताएँ होती है, ऐसी विशेषताएँ जो गणित की भाषा मे प्रकट की जा सके। **भौतिक शास्त्र के व्याख्यात्मक तत्वो की कल्पना हमारे अनुभव के कुछ खास चुने हुए पहलुओ के आधार पर की जाती है, इसलिये उन तत्वो से अनुभव की दूसरी विशेषताओ को निगमन द्वारा पाने की कोशिश व्यर्थ है।** अतएव उन तत्वो की प्रकृति हमारे अनुभव की उन दूसरी विशेषताओ का अभाव सिद्ध नही करती, ठीक वैसे ही जैसे किसी वर्णमाला द्वारा सकेतित ध्वनियाँ यह सिद्ध नही करती कि पशुओ तथा मनुष्यो द्वारा भी दूसरी ध्वनियाँ उत्पन्न नही की जाती।

निष्कर्ष यह कि भौतिक शास्त्र का छाया-जगत वस्तुत यथार्थ जगत नही होता। इसके विपरीत, वह जगत मानवीय कल्पना की सृष्टि होती है जिसका निर्माण गणित के प्रतीको के माध्यम से अनुभव के चुने हुए पहलुओ के आधार पर होता है। एक जगह एडिंग्टन इस स्थिति का सकेत दे गये हैं: 'विज्ञान ऐसे विश्व का निर्माण करना चाहता है जो हमारे साधारण अनुभव-जगत का प्रतीक हो सके।'[५८] किन्तु सारे प्रतीक इस अर्थ में अमूर्त होते हैं कि वे वस्तुओ के दो-एक चुने हुए पहलुओ को ही व्यक्त करते हैं। किन्ही भी प्रतीको मे ऐसी शक्ति नही होती कि वे अस्तित्ववान् विशेष को समग्र अभिव्यक्ति दे सकें।

अतएव, यह विश्वास करने का कोई कारण नही है कि "इलेक्ट्रान," "प्रोट्रान" आदि ठीक उन रूपो म अस्तित्ववान् होते हैं जिनमें हम उनकी कल्पना करते हैं। वस्तुत विपरीत विश्वास के लिये ही हमे आधार मिलता है। इसका मतलब यह नही कि हम भौतिक शास्त्र के सिद्धान्तो को वास्तविक जगत की रचना का उद्घाटक नही मानते। हम केवल इसे अस्वीकार करते है कि वे सिद्धान्त या नियम यथार्थ का पूरा विवरण प्रस्तुत करते हैं, या कभी कर सकते हैं। चूंकि भौतिकशास्त्र की पद्धति प्रत्याहरण-मूलक है, इसलिये वह कभी भी यथार्थ के स्वरूप का पूर्ण विवरण नही दे

सकेगा। यही नही, हम कहेंगे कि भौतिक शास्त्र यथार्थ के उस एक पहलू का भी पूरा ब्योरा नही देता जिसे वह अध्ययन के लिये चुन लेता है।

इसलिये भौतिक शास्त्री को यह अधिकार नही कि वह अपने कल्पित तत्वो के दैनिक अनुभव की वस्तुओ से ज्यादा यथार्थ होने का दावा करे, वस्तुत उसे यह दावा ही नही करना चाहिए कि वे तत्व किसी भी अर्थ में यथार्थ या वस्तुनिष्ठ होते हैं। कारण यह कि वस्तुओ के कोई भी गुण स्वय उन वस्तुओ से अलग नही रह सकते। सम्भव है कि सूक्ष्म अणुओ की अवस्था मे पहुँचने पर वस्तुओ के कुछ पूर्वगुण तिरोहित हो जाते हैं हो सकता है कि परमाणुओ में दीखने वाली चीजो के सब गुण नही रहते। किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि उनमें केवल वही गुण होते हैं जिनका अध्ययन भौतिकशास्त्रियो को सुविधाजनक लगता है।

अवयवीवादी मनोवैज्ञानिको (Gestalt Psychologists) ने हमें वतलाया है कि किसी अवयवी (Whole) अथवा समष्टि में ऐसे गुण हो सकते हैं जो कि अवयवो में नही पाये जाते। सदियो पहले यही बात नैयायिको ने भी कही थी। यदि यह सही है, तो यह आवश्यक नही कि अवयवो का अध्ययन अवयवी के सभी गुणो को उद्घाटित कर दे। उदाहरण के लिये इसकी सम्भावना कम है कि एक शव के रासायनिक विश्लेपण द्वारा हम मूल प्राणी के स्वरूप को ठीक से जान लें। जब भौतिक शास्त्री इस बात पर जोर देता है कि उसके विद्युदणु आदि ही यथार्थ हैं, और दैनिक अनुभव की वस्तुएँ यथार्थ नही हैं, तो वह उस रसायनशास्त्री की भाँति व्यवहार करता है जो यह कहे कि शव के रासायनिक उपादान ही यथार्थ हैं, और पहले का जीवित शरीर यथार्थ नही था।

सभावना यह है कि रसायन-शास्त्री मूल शरीर के व्यवहार के नियमो को विल्कुल ही न समझ सके। उन नियमो को विधायक उपादानो के व्यवहारो के नियमो से पूर्णतया निष्कृष्ट नही किया जा सकता। उदाहरण के लिये पानी के कुछ गुण, जैसे उसके उवलन का तापाक, आक्सीजन तथा हाइड्रोजन के गुणो के आधार पर नही जाना जा सकता। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कैलर (Kohler) पूछते हैं 'जब भौतिकशास्त्री कहता है कि एक दीर्घ परिमाण वाला पदार्थ वस्तुत अणुओ का समुदाय है, तो क्या यह समझना चाहिए कि अणु-सम्बन्धी भौतिकशास्त्र की शाखा की दृष्टि में, दीर्घ परिमाण वाली निर्दिष्ट वस्तुओ की सत्ता ही नही है? क्या दीर्घ वस्तुएँ अणुओ में घुल जाती हैं?'[५५] कैलर ने उचित ही सकेतित किया है कि 'दीर्घ पदार्थो तथा उनके अणु-रूप उपादानो दोनों

की ही कल्पनाएँ समुचित हैं, और भौतिक अनुभव की साक्षी पर आधारित हैं।"[51] उदाहरण के लिये वे बतलाते हैं कि अपनी परमाणुमयी रचना से प्रभावित न होते हुए बड़े पदार्थ पानी में आर्किमिडीज़ के नियम के अनुसार तैरते हैं। उन्होंने ठीक ही यह विश्वास प्रकट किया है कि 'भविष्य के अन्वेषण हमारे इस कोटि के भौतिक ज्ञान को सभवत कभी भी विशेष परिवर्तित नही करेंगे।'"[52]

वस्तुस्थिति यह है कि भौतिकशास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के प्रयोग-मूलक नियम, जैसे रासायनिक सयोग के नियम, उन शास्त्रो के उन व्यापक सिद्धान्तो से जिनका विषय भूततत्त्व के चरम उपादान है, ज्यादा स्थायी होते है। परमाणु, प्रकाश, गुरुत्वाकर्षण के सम्बन्ध मे बदलते हुए सिद्धान्तो का इतिहास हमारे इस वक्तव्य की पुष्टि करता है। एक भौतिकशास्त्री जो हम से यह विश्वास करने को कहता है कि विभिन्न रग और ध्वनियाँ तथा अन्वेषण के उपकरण सचमुच अस्तित्ववान् नही है, ठीक-ठीक नही जानता कि वह क्या कह रहा है। वह मुझ से यह विश्वास करने का अनुरोध करता है कि वास्तव मे उसका और मेरा अस्तित्व नही है, कि सम्भवत न वह बात कर रहा है, और न मैं उसकी आवाज़ सुन ही रहा हूँ, क्योकि उनकी आवाज की सत्ता ही नही है। इस प्रकार का भौतिकशास्त्री मुझ से कहना चाहता है कि कुछ भी कहने की कोशिश एक भयकर भ्रम है।

## यथार्थ या अस्तित्व के विभिन्न क्रम

वस्तुस्थिति यह है कि दुनिया मे अनेक प्रकार के यथार्थ अथवा अस्तित्ववान पदार्थो के अनेक व्यवहार अलग-अलग कोटियो के नियमो का पालन करते है। उदाहरण के लिये दीर्घ परिमाण वाली वस्तुओ के अनेक वर्ग है रसायन शास्त्र के तत्त्व, तरह-तरह के यौगिक पदार्थ (Compounds); जीवधारी, ग्रहो की पद्धतियाँ, नक्षत्र, इत्यादि। इन चीजो के अस्तित्व का ज्ञान मुख्यत अनुभव से होता है। तर्कना तथा निगमनात्मक निर्मिति से हमे ऐसे तत्त्व मिलते है जैसे "इलेक्ट्रान" "देश-काल-सातत्य" (Space-time Continuum) इत्यादि, किन्तु अन्त तक ये तत्व काल्पनिक बने रहते है, और हमारे लिए कभी उतने यथार्थ नही होते जितने कि दैनिक अनुभव के पदार्थ। इस अनुभव मे अणु-वीक्षण तथा दूर-वीक्षण यत्रो द्वारा प्राप्त होने वाली प्रतीतियों का भी समावेश है। सच यह है कि "इलेक्ट्रान" आदि में जो हमारा विश्वास होता है, उसका आधार भी वे रेखाएँ रहती है जो प्रयोगों के दौरान में प्राप्त होती है।

जो अनुभव रगीन सतहो तथा चिन्हित माप आदि के यन्त्रो का उद्घाटन करता है, वही वस्तुओ के सौन्दर्य-सम्वन्धी तथा नैतिक पक्षो की भी विवृति करता है । इसलिए यह मानने का कोई कारण नही कि वस्तुओ तथा कर्मो के सौन्दर्य आदि गुण आत्मपरक है ।

हमने कहा कि वस्तुनिष्ठ चीज वह है जिसका सगतिपूर्ण अनुभव सब सामान्य मनुष्यो को होता है । हम कुछ अनुभवो को भ्रान्त घोपित कर देते है, क्योकि वे हमारे व्यवहार द्वारा परीक्षित कुछ अनुभवो के विरुद्ध पडते है । जब दो अनुभवो मे विरोव होता है, तो स्थिति की व्याख्या अपेक्षित हो जाती है । व्याख्या द्वारा हम बतलाते है कि किन दशाओ मे कोई अनुभव विश्वसनीय होता है और किन मे हमे भ्रान्त प्रतीतियाँ होती है । अन्तिम विश्लेपण मे किसी अनुभव की प्रामाणिकता अयवा भ्रमात्मकता की पहचान दो प्रकार की होती है एक व्यावहारिक, अर्थात् आशाओ के फलीभूत होने के रूप, मे और दूसरी सामूहिक या सामाजिक, जो सामान्य मनुष्यो की प्रतिक्रियाओ के सामजस्य मे प्रतिफलित होती है । कही-कही परीक्षा के ये दोनो प्रकार एक भी हो जाते है, और कही एक ही प्रकार की परीक्षा सम्भव होती है । उदाहरण के लिये आकाश नीला है, इस विश्वास का आवार मनुष्यो के तत्सम्बन्धी अनुभवो का सामजस्य ही है । अत मे हमे सामान्य लोगो के अनुभवो के सामजस्य पर ही निर्भर करना पडता है, क्योकि किसी क्रिया की सफलता-असफलता का निश्चय भी सामान्य अनुभव द्वारा ही होता है । किन्तु व्यावहारिक परीक्षण के साथ एक सुविधा रहती है—उससे लोग जल्दी ही एकमत हो जाते है । कालिदास वडा कवि है कि नही, और देश के साथ गद्दारी अपराध है या नही, इस सम्बन्ध मे मतभेद प्रकट करने पर किसी को दड नही मिलता, किन्तु उसी भाँति कोई यह नही कह सकता कि आग गर्म नही होती, अथवा परमाणु-बम सहारक अस्त्र नही है ।

विज्ञान को लोगो ने सार्वभौम रूप मे स्वीकार कर लिया है, इसका कारण यह है कि अपने मतव्यो को मनवाने मे विज्ञान व्यावहारिक अयवा उपयोगिता-मूलक पद्धति पर निर्भर करता है । कोई भी विज्ञान सामान्य मनुष्यो की अनुभव-मूलक सहमति की उपेक्षा नही कर सकता, किन्तु यह सहमति का सम्वन्ध प्राय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक सीमित होता हे । इस प्रत्यक्ष के भीतर अणुवीक्षण आदि के द्वारा देखने का भी समावेशहोता है ।

विज्ञान ने, अनुभवो के गुणात्मक पहलुओ की उपेक्षा करते हुए, यह सम्भव पाया है कि मनुष्य के भौतिक जगत सम्बन्धी अनुभवो को सगठित या सबद्ध कर दे ।

यह पाया गया है कि वस्तुओ के गुणात्मक पहलू मनुष्य के स्थूल कर्म-जगत को प्रभावित नही करते। इससे वे लोग जो स्थूल अर्थ में व्यावहारिक तथा कम सवेदनशील हैं, सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि वस्तुओ की उपेक्षित गुणात्मक विशेषताएँ यथार्थ नही है। इस तरीके से कुछ लोग जो अपने को वैज्ञानिक मनोवृत्ति वाला बतलाते हैं, इस विश्वास पर पहुँच गये कि प्रकृति के रंग, ध्वनियाँ तथा सौन्दर्य-मूलक विशेषताएँ किसी-न-किसी अर्थ मे अयथार्थ या भ्रमात्मक हैं—अथवा, एक अनिर्दिष्ट अर्थ मे, कम यथार्थ है।

विज्ञान की दृष्टि मे कार्य का अर्थ होता है वस्तुओ की गति अथवा स्थानान्तरण, और विज्ञान केवल उन्ही प्रयोजनो को समझ पाता है जिनका सम्बन्ध वस्तुओ की गति से होता है। विज्ञान के अनुसार व्यावहारिक सफलता का अर्थ है वस्तुओ मे अभीप्ट गतियाँ उत्पन्न करना। एक दूसरे प्रकार का प्रयोजन जिसे विज्ञान समझ सकता है प्रेक्षणात्मक प्रतिक्रियाओ के पूर्वाभासित (Anticipate) करने से सम्बन्ध रखता है। विज्ञान केवल एक ही कोटि की सवेदनशीलता का महत्व समझता है, अर्थात् सही निरीक्षण से सम्बन्धित सवेदनशीलता।

दूसरी कोटि के प्रयोजन और सफलताएँ भी होती है, दूसरी कोटि के कर्म और सवेदनशीलता भी हो सकती है, इसे वैज्ञानिक मनोवृत्ति वाले विचारक स्वीकार नहीं करना चाहते। कुछ ऐसे कर्म भी होते है जिनकी विशिष्टता गतियो मे निहित नहीं होती, उदाहरण के लिये ऑपरेशन करने वाले डाक्टर के छुरे की गति एक स्थिति में नैतिक और दूसरी मे अनैतिक हो सकती है। इसी प्रकार कविता लिखने में अथवा एक सिद्धान्त का निर्माण करने में जो सफलता होती है, उसकी किसी इंजिन के सचालन की सफलता से कोई समानता नही होती। वैसे ही सौन्दर्य-सम्बन्धी सवेदनशीलता प्रेक्षणात्मक सवेदनशीलता से नितान्त भिन्न होती है।

विभिन्न कोटियो के प्रयोजन, और विभिन्न प्रकार की सवेदनशीलताएँ, सफलता तथा सामजस्य के अलग-अलग प्रतिमानो से सम्बन्धित रहती है। ये विभिन्न प्रतिमान, जो विभिन्न क्षेत्रो मे मानवीय व्यापारो का नियमन करते है, एक-दूसरे से सम्बद्ध एव तुलनीय हो, यह जरूरी नहीं है। उदाहरण के लिये शतरंज के खेल अथवा मोटर चलाने मे सफलता का सकेत करने वाले पैमाने उन पैमानो से नितान्त भिन्न होते है जो काव्य-रचना अथवा संगीत-सृष्टि मे सफलता का सकेत करते है। सामान्य रूप में

यह कहा जा सकता है कि एक क्षेत्र से सम्बन्धित प्रतिमान या पैमाने प्राय: दूसरे क्षेत्र मे लागू नही होते, और दूसरे क्षेत्र के पैमानो से निष्कृष्ट भी नही किये जा सकते।

जैसा कि हमने पहले कहा था, गुणो तथा वस्तुओ के अनेक क्रम या कोटियाँ होती है, केवल मात्राओ के क्षेत्र मे भी ऐसी विविधता पाई जाती है। आधुनिक रसायन शास्त्र का कहना है कि विभिन्न तत्वो (Elements) की प्रधान विशेपताएँ उनकी परमाणु-सख्याएँ (Atomic Numbers अर्थात् वे अक जो यह बतलाते है कि किसी परमाणु मे केन्द्रीय "फोटान" के चारो ओर कितने "इलेक्ट्रान" घूमते है) होती है। उदाहरण के लिये हाइड्रोजन की परमाणु-सख्या एक है, ऑक्सीजन की आठ, इत्यादि। यहाँ प्रश्न उठता है क्या विभिन्न तत्वो की अनेक विशेपताएँ, यह मानते हुए भी कि कि वे विशेपताएँ उनकी क्रमिक परमाणु-सख्याओ का आवश्यक परिणाम या निष्कर्प हे, उनकी परमाणु-सख्याओ से कम यथार्थ होती है? क्या यह मानना चाहिए कि कोई कार्य अपने कारण या कारणो से कम तात्विक होता है? क्या सुकरात की मृत्यु उस हलाहल के प्याले से जो उस मृत्यु का कारण हुआ, कम यथार्थ हे? मान भी लिया जाय कि कतिपय ध्वनियो की सागीतिक विशेपताएँ आवश्यक रूप मे कुछ वस्तुओ के कम्पनो (Vibrations) से सहचरित रहती है, किन्तु इससे क्या यह सिद्ध होता है कि वे विशेपताएँ भ्रमात्मक है? यह कथन कि "पोटेशियम स्यानाइड" कतिपय तत्वो का, जिनकी विशिष्ट परमाणु-सख्याएँ है, यौगिक है, इस तथ्य का विरोधी नही है कि वह एक भयकर विप भी है, जिसका जीवित शरीरो पर घातक प्रभाव पडता है। जब वैज्ञानिक कहता कि दैनिक अनुभव के पदार्थ और उनके इन्द्रिय-ग्राह्य गुण अवास्तविक या मिथ्या है, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि वह क्या कहना चाहता है।

यथार्थ के बारे में वह कोई सिद्धान्त जो हमारे अनुभव-जगत को बुद्धिगम्य नही बनाता, उस हद तक असतोपजनक होता है। भौतिकशास्त्र का छायाजगत, एक धारणा के रूप मे, हमे उसी प्रकार स्वीकार्य नही हे जैसे कि हीगल की रक्तहीन प्रत्यय-समष्टि, अथवा ब्रेडले का परब्रह्म। अनुभव-जगत में विभिन्न कोटियो के गुण पाये जाते है जो हम पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालते है। अनिवार्य रूप मे हम उन विशेपताओ का महत्व उन मूल्यो की सम्बद्धता मे आँकते है जिनका अन्वेपण हम अपने मानवीय स्वभाव की प्रेरणा से करते है।

## मूल्यांकन-सम्बन्धी मतभेद

ऊपर हमने मूल्य-सम्बन्धी अनुभवों की वस्तुनिष्ठता का सामान्य रूप में मंडन किया। अब हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों के मूल्यांकनों में मतभेद क्यों होते हैं। यदि ये मतभेद बुद्धिगम्य कारणों पर आधारित हों, तो यह समझना कठिन न होगा कि उन्हें कैसे दूर किया जाय, अथवा, यदि वे दूर करने लायक न हों, तो उन्हें क्यों सहन किया जाय। कहावत है कि सबको समझने का अर्थ सब को क्षमा करना है। क्या इसका मतलब यह है कि मूल्यों के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति का दृष्टिकोण अपना सकता है? उस दशा में तो विभिन्न लोगों के बीच असली मतभेद रह ही नहीं जायेंगे। यह लक्षित करने की बात है कि लोगों के मतभेद केवल मूल्यांकन तक ही सीमित नहीं होते। जहाँ वस्तुपाती मूल्यांकन के सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया गया है, वहाँ वस्तुपाती ज्ञान के सम्बन्ध में भी संशय की स्थिति रही है। यूनान के प्रसिद्ध सन्देहवादी पिर्हो का एक शिष्य कहता है 'यदि सारी चीजें हम सब के द्वारा एक ही तरह देखी जाती होतीं तो हम सबके वही आवेग होते और वही इच्छाएँ, जो कि होता नहीं।'[५८] यह भी कहा गया है कि व्यक्ति की विभिन्न इन्द्रियाँ वस्तु-गुणों के सम्बन्ध में अलग-अलग सूचनाएँ देती हैं। एक चीज एक इन्द्रिय को प्रिय लगती है, दूसरी को अप्रिय, दाँत का खोखला भाग आँख की अपेक्षा उँगली की नोक को ज्यादा बड़ा जान पड़ता है। रसेल का कथन है कि हमारी इन्द्रियाँ हमारे निजी एकान्त का मूल हैं, और 'हम अपनी निजी दुनियाँ को सामान्य दुनियाँ के जितना समान समझते हैं, उतनी समान वह नहीं होती।'[५९]

विभिन्न लोगों के प्रेक्षणों में अन्तर होते हैं, इसके बावजूद यह सम्भव हुआ कि उन प्रेक्षणों के आधार पर भौतिकशास्त्र की भव्य इमारत बन गयी। श्री सिनेल्ल कहते हैं : 'जब तक बेकन और आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह दर्शित नहीं किया कि नियन्त्रित और परीक्षित निरीक्षण ज्ञान की नींव और उनकी परीक्षा-विधि दोनों प्रस्तुत कर सकता है, तब तक यह कहा जाता रहा कि प्रत्यक्ष की अविश्वसनीयता अनुभववाद के लिये घातक थी।'[६०] सिनेल्ल के अनुसार हमारे मूल्य-सम्बन्धी सहज अनुभव उसी प्रकार एक वस्तुपाती मूल्य-विज्ञान का आधार बन सकते हैं।

मूल्यांकन सम्बन्धी मतभेदों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। मूल्य दो प्रकार के होते हैं, आन्तरिक या साध्यात्मक, और साधनात्मक, मतभेदों का सम्बन्ध

उक्त दोनो कोटियो के मूल्यो से हो सकता है। यह कहने की जरूरत नही कि विभिन्न सन्दर्भो में एक ही मूल्य साध्यात्मक अथवा साधनात्मक हो सकता है। उदाहरण के लिये स्वास्थ्य को हम साध्यात्मक मूल्य भी कह सकते है, और साधनात्मक मूल्य भी। किन्तु सामान्य रूप में साध्यात्मक मूल्य जीवन या अनुभव की कोई दशा होती है, और साधनात्मक मूल्य उन वस्तुओ तथा स्थितियो में पाया जाता है जो उस दशा को उत्पन्न करती है।

जब श्री हायक कहते है कि सामाजिक विज्ञानो के तथ्य आत्मपाती होते है तो वे यह कहना चाहते है कि उन शास्त्रो में अधीत होने वाली वस्तुओ तथा स्थितियो का मूल्य मानवीय प्रयोजनो अथवा लक्ष्यो का सापेक्ष होता है। उदाहरण के लिये अर्थ-शास्त्र एक आत्मपाती विज्ञान है, क्योकि 'किसी आर्थिक वस्तु या सामग्री जैसे भोजन, धन आदि को उन दृष्टियो की भाषा में ही परिभाषित किया जा सकता है जो लोग उनके वारे में रखते है। अर्थशास्त्र में हमें किसी सिक्के की गोलाई, धातु आदि से कोई सरोकार नही होता। रुपये की परिभाषा देने का अर्थ उसकी उपादानभूत धातु के बारे में कुछ कहना नही है। इसी प्रकार अर्थशास्त्र लोहे या इस्पात, लकडी या तेल, गेहूँ या अडो की आन्तरिक प्रकृति के बारे में कुछ नही कहता। मतलब यह कि अर्थ-शास्त्र उक्त वस्तुओ में निहित अर्थों या मूल्यो के बारे में वात करता है। किसी खास सामग्री का इतिहास देखने से यह जान पडेगा कि जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान वदलता है, वैसे-वैसे एक ही भौतिक चीज में निहित अर्थशास्त्रीय अभिप्राय भी वदल जाता है।'[११]

श्री हायक के पक्षवाक्य सही है, किन्तु उनसे वे जो निष्कर्ष निकालते है वे भ्रामक और गलत भी है। वस्तुओ मे कुछ गुण होते है जिनके कारण वे मानवीय जरूरतो को पूरा करती है, वे गुण उसी प्रकार मिथ्या नही होते जिस प्रकार कि मनुष्यो की जरूरतें। यदि भूख एक वस्तुनिष्ठ चीज है, तो उसे सतुष्ट करने वाला भोजन भी वस्तुनिष्ठ चीज समझी जानी चाहिए। आर्थिक सम्बन्धो के सन्दर्भ में किसी भोजन का रुपये आदि के रूप में जो मूल्य होता है, वह भी वस्तुनिष्ठ होता है। किन्तु यदि हम इस वात पर जोर दें कि विभिन्न वस्तुओ के वारे में विभिन्न व्यक्तियों के अलग-अलग मत होते है, तो मूल्यो के सामान्य वर्णन और इसीलिये अर्थशास्त्र नाम के विज्ञान की सभावना नष्ट हो जायगी। अर्थशास्त्र नामक विज्ञान की सत्ता यह सिद्ध करती है कि व्यक्तियो के निजी पक्षपातो के वावजूद वस्तुओ का मूल्य होता है, अर्थात् वस्तुओ का मूल्य व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न रुचियो पर निर्भर नही करता। इसी प्रकार भोजन-

विज्ञान (Science of Dict cs) यह सिद्ध करता है कि विभिन्न खाद्य पदार्थों का मूल्य वस्तुगत होता है।

वस्तुओं के साधनात्मक मूल्य उन प्रयोजनों के सापेक्ष होते हैं जिनकी वे पूर्ति करते हैं। यदि एक स्पष्ट और बुद्धिगम्य प्रयोजन मौजूद हो, तो साधनों के महत्व को बौद्धिक तरीकों से आंका जा सकता है। बौद्धिक अथवा बुद्धि पर आधारित जीवन उसे कहेंगे जिसमें निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये उचित साधनों का प्रयोग किया जाता है। जब लक्ष्य या प्रयोजन निश्चित हो, तो साधनों का चयन बुद्धि के हिसाब की चीज बन जाती है, न कि व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द की। यदि मुझे एक निश्चित अवधि में दिल्ली पहुँचना है, और मैं किराये पर एक निश्चित रकम से ज्यादा खर्च नहीं करना चाहता, तो मेरे यात्रा करने के प्रकार सीमित हो जाते हैं। सम्भवत मैं वायुयान में इसलिये यात्रा नही कर सकता कि मेरे पास पैसे कम हैं और बैलगाडी में इसलिए नहीं कि मुझे एक खास अवधि में पहुँचना है।

मनुष्यों के साधनात्मक मूल्यों से सम्बन्ध रखने वाले मतभेद गम्भीर रूप धारण कर लेते है जब उनमे साध्यों के सम्बन्ध मे मतभेद रहते हैं। ऐसा जान पडता है कि मूल्याकन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण मतभेद प्राय विभिन्न लक्ष्यों या प्रयोजनों के महत्व से सम्बन्धित रहते हैं। इस प्रकार के मतभेद कैसे उत्पन्न होते हैं? उनका क्षेत्र कहाँ तक होता है? और कहाँ तक वे मतभेद दूर किये जा सकते हैं?

हमारे मत में आन्तरिक या साध्यात्मक मूल्य जीवन या सचेत अनुभव की वाछनीय स्थिति में निहित रहता है। प्रथम दृष्टि में यह जान पडता है कि इस विषय मे मतभेद की गुंजाइश नही है। उदाहरण के लिये सौख्यवादियो का कहना है कि एक मात्र वाछनीय वस्तु सुख या सुखोअस्तित्व है। किन्तु थोडा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थिति इतनी सरल नहीं है। उदाहरण के लिये श्री जॉन स्टुअर्ट मिल के साथ कुछ लोग कह सकते है कि एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात या जीवन ज्यादा अच्छा है। मनुष्य विभिन्न सन्तुष्टियो को अलग-अलग महत्व देते है, जिनके कारण वे विभिन्न कर्मों और लक्ष्यो के अलग-अलग मूल्याकन करने लगते हैं। इन तथ्यों का सीधा सम्बन्ध इस स्थिति से है कि मनुष्यो में अनेक प्रवृत्तियां होती हैं और वे उन प्रवृत्तियो की सन्तुष्टि अलग-अलग सीमाओं तक करना चाहते हैं।

एक ज्यादा महत्व की बात लक्षित होनी चाहिए। मनुष्य एक कल्पनाशील प्राणी है जो अपने समस्त जीवन को योजनापूर्वक चलाना चाहता है, और केवल इस या उस वृत्ति को तत्काल सन्तुष्ट करके ही नही रुक जाता। एक ओर वह उस समस्त विश्व का, जिसमें वह रहता है, मानचित्र बनाना चाहता है, और दूसरी ओर वह अपने जीवन की उच्चतम कल्पनीय या आभासित सभावनाओ के आलोक में अपने जीवन का कार्यक्रम बना लेना चाहता है। और ऐसा करते हुए वह केवल एक व्यक्ति और एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से ही व्यवहार नही करता, अपितु एक दार्शनिक-आध्यात्मिक जीव के रूप मे व्यापृत होता है। अपने समग्र जीवन की प्रगति का चित्र सामने रखते हुए—उस जीवन का जो व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी, जो इस लोक से भी सम्बन्धित है और परलोक से भी—मनुष्य जीवन के विभिन्न लक्ष्यो तथा सतोषो को या तो साध्य-साधनो के क्रम में अथवा उच्चतर एव निम्नतर के तारतम्य मे व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। वे मनुष्य जिन्होने एक आदर्श जीवन की कल्पना करके उस तक ले जाने वाले मार्ग को प्रत्यक्ष कर लिया है, विभिन्न लक्ष्यो तथा जीवन-सारणियो का मूल्याकन उस आदर्श की अपेक्षा मे करते हैं।

मनुष्य केवल व्यक्तिगत जीवन के आदर्श रूप की ही कल्पना नही करता, वह आदर्श समाज-व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्धो की कल्पनाएँ भी करता है, इन सम्बन्धो में नर-नारियो के तथा विभिन्न वर्गो के भी आपसी सम्बन्धो का समावेश रहता है। विश्व तथा समाज के सम्बन्ध मे मनुष्यो की विभिन्न दार्शनिक दृष्टियाँ प्राय उनके विभिन्न लक्ष्यो तथा मूल्यो से सम्बन्धित मनोभावो को भिन्न बना देती हैं।

मनुष्यो के बीच पैदा होने वाले मूल्य-सम्बन्धी मतभेदो के उक्त विवरण से हम कुछ ऐसे तरीको का आभास पा सकते हैं जिनके द्वारा उन भेदो को कम किया जा सके, अथवा उनसे उत्पन्न होने वाली बुराइयो को घटाया जा सके। विभिन्न लोगो की दृष्टियाँ, विश्व-सम्बन्धी मान्यताओ, अथवा जीवन-दर्शनो में सामजस्य स्थापित करने की ओर पहला कदम यह है कि उन लोगो को वैज्ञानिक ढग से शिक्षित किया जाय। ऐसी शिक्षा ही ज्ञान और चरित्र के उन पैमानो की अवगति, और उनके प्रयोग में आत्म-विश्वास, पैदा कर सकती है जो सार्वभौम रूप से स्वीकार्य है। दूसरा कदम यह है कि लोगो को विभिन्न क्षेत्रो से समवद्ध भिन्न-भिन्न जातियो के विभिन्न आदर्शो से परिचित कराया जाय, और साथ ही यह समझाने का प्रयत्न किया जाय कि आदर्शो तथा जीवन-सरणियो की विविधता का मूल स्वय मानव-प्रकृति मे है। इसके पश्चात् उन्हें ऐसा

जीवन-दर्शन सोचने का प्रोत्साहन देना चाहिए जो दोनों बातो पर ध्यान रखते, एक ओर सामान्य मानव प्रकृति पर, और दूसरी ओर उसकी विविध अभिव्यक्तियो पर।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. नैतिकता सम्बन्धी मतभेदो के प्रामाणिक विवरण के लिये दे० ई० वेस्टर मार्क, एथीकल रिलेटिविटी, (कीगन पाल, १९३२), अध्याय ७।

२. दे० जी० ई० मूर, एथिक्स, (होम यूनिवर्सिटी लायब्रेरी, लन्दन, १९४५), पृ० १०१।

३. दे० ए० सी० यूइंग, द डेफिनिशन आफ गुड, (मैकमिलन कं० न्यूयार्क, १९४७), पृ० ५।

४. तु० की० डब्ल्यू० ई० हॉकिंग, 'दिशा-हीन संवेदना उतनी ही असंभव है जितनी कि दिशाहीन क्रिया।' दे० द मीनिङ्ग ऑव् गॉड इन ह्यूमैनएक्सपीरिएन्स, (न्यू हैविन, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२८), पृ० ६६।

५. ए० जे० ऐयर, लैंग्वेज, ट्रूथ ऐन्ड लाजिक, (विक्टर गोलैंज लि०, लन्दन, दूसरा संस्करण, १९४८), पृ० १०८।

६. वही, पृ० १०९-१०।

७. दी एन्साइक्लोपीडिया आफ् द सोशल साइन्सेज, (मैकमिलन, १९४८), भाग १, पृ० १०३।

८. दे० डब्ल्यू० टी० स्टेस, रिलीजन ऐन्ड द माडर्न माइन्ड, (मैकमिलन, लन्दन, १९४३), पृ० २६।

९. एफ्० ए० हायक, द काउन्टर रिवोल्यूशन ऑव् सायन्स, (फ्री प्रेस, ग्लेन्को, इलिनॉयस, १९५२), पृ० २५,२७।

१०. वही, पृ० २८।

११. बर्ट्रेन्ड रसेल, हिस्टरी आव् वेस्टर्न फिलासफी, (जार्ज एलेन ऐन्ड अन्विन लन्दन, १९४७), पृ० ६३०।

१२. लिमिटेशन्स आफ साइन्स, (पेलिकन संस्करण), पृ० १८८-८९।

१३. वही, पृ० २०१।

१४. सी० काडवेल, द क्राइसिस इन फिजिक्स, (जान लेन द बाडले हैड, लन्दन, १९४९), पृ० ९।

१५. वही, पृ० ११।

१६. आर्थर एडिंग्टन, द फिलासफी आफ फिजिकल सायन्स, (केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४९), पृ० १७।

१७. पी० डब्ल्यू ब्रिजमैन, द लाजिक आव् मार्डन फिजिक्स, (मैकमिलन १९२७), पृ० २५।

१८. एडिंग्टन, वही, पृ० ७१।

१९ एफ्० एच० ब्रेडले, एपियरेन्स ऐन्ड रिएलिटी, (आक्सफोर्ड, दूसरा सस्करण, नवाँ मुद्रण, १९३०), पृ० २४।

२०. वही, पृ० २२।

२१. बर्ट्रान्ड रसेल'स डिक्शनरी आव् माइन्ड, मैटर, ऐन्ड मॉरल्स, (फिलॉसिफीकल लायब्रेरी, न्यूयार्क, १९५२) में उद्धृत, पृ० १६५।

२२ दे० वाल्डविन'स डिक्शनरी आव् फिलासफी ऐन्ड साइकालॉजी, (न्यूयार्क, १९१८)।

२३. द जर्नल आफ फिलासफी, मई ७, १९५५, पृ० २८५।

२४. वही, पृ० २९४ पर उद्धृत।

२५. दे० हर्बर्ट डिंगिल, सायन्स ऐन्ड ह्यूमैन एक्सपीरिएन्स, (विलियम्स ऐन्ड नार्गेट लि०, लन्दन, १९३१), पृ० १४।

२६ जे० एफ्० ब्राउन, द साइकोडायनेमिक्स आव् एवनार्मल विहेवियर (मैकग्रा हिल बुक कपनी, न्यूयार्क, १९४०), पृ० ४१०।

२७. विल ड्यूरेन्ट की द स्टोरी आफ फिलासफी, (गार्डेन सिटी पब्लिशिंग कम्पनी न्यूयार्क, १९५३), पृ० ३६३ पर उद्धृत। शॉपेनहावर आगे कहते हैं: 'प्रतिभा अपने हितों, इच्छाओ और लक्ष्यो को अलग छोड देने की शक्ति है, कुछ समय के लिये अपने व्यक्तित्व का परित्याग कर देने की शक्ति, ताकि मनुष्य शुद्ध ज्ञाता रह जाय, शुद्ध दृष्टि।' यहाँ हमें उन शर्तो की याद आती है जो श्री शकराचार्य ने उन लोगो के लिये लगाई है जो ब्रह्म को जानना चाहते है। ऐसे लोगो को इहलोक और परलोक दोनो के सुखों की इच्छा छोड देनी चाहिए। वेदान्त में एक तटस्थ, शुद्ध द्रष्टा, शुद्ध साक्षी या साक्षि-चैतन्य की धारणा खास तौर से महत्वपूर्ण है।

२८ आई० ए० रिचर्ड्स, प्रिन्सिपिल्स आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म, (कीगन पाल, लन्दन, छठा मुद्रण, १९३८), पृ० १९४।

२९. दे० आर्थर एडिंग्टन, द नेचर आव द फिजीकल वर्ल्ड, (एवरीमैन १९४७), पृ० ८। इसी प्रकार श्री मैक्स प्लैंक ने तात्विक जगत को गोचर जगत से भिन्न किया

है। 'बाद में संकेतित जगत, जिसमें भौतिक शास्त्र के मापों आदि का समावेश है, यथार्थ जगत का प्रतीक या चिन्ह मात्र है, जिसकी व्याख्या भौतिक शास्त्री करते हैं।' दे० ह्वेयर इज सायंस गोइंग? (जार्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, लन्दन, १९५३), पृ० ८४-८५।

३०. बर्ट्रान्ड रसेल, ह्यूमैन नालेज इट्स स्कोप ऐन्ड लिमिट्स, (जार्ज एलेन एन्ड अनविन, लन्दन, १९४८), पृ० २१९।

३१. वही, पृ० २१९।

३२. वही, पृ० २२१।

३३. वही, पृ० २२०।

३४. वही, पृ० २२०-२२१।

३५. विज्ञानवादियों की (जो कहते हैं कि बाह्य पदार्थ वस्तुतः मन में हैं) आलोचना करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं : 'एक ऐसे व्यक्ति को जिसने कभी बाहरपन का अनुभव नहीं किया, बाहरपन का भ्रम कैसे हो सकता है? कभी किसी को ऐसा भ्रम नहीं होता कि विष्णुमित्र बांझ के पुत्र जैसा दीखता है?' ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।२।२८ तात्पर्य यह कि मनुष्य की कल्पना अनुभव के तत्वों को पुनर्ग्रथित या पुन. संगठित ही कर सकती है, अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकती।

३६. तु० की० साइन्स ऐन्ड ह्यूमैन एक्सपीरिएन्स, पृ० १६।

३७. ई० एफ० कैल्डिन, द पावर ऐन्ड लिमिट्स आफ सायन्स, (यूनिवर्सिटी आफ लीड्स, १९४९), पृ० १४।

३८. वही, पृ० १६।

३९. दे० जे० आर० वीनबर्ग, ऐन एग्ज़ामिनेशन आव् लॉजिकल पाज़िटिविज्म, (कीगन पाल, १९३६), पृ० १४४।

४०. वही, पृ० १४७।

४१. वही, पृ० १५१।

४२. मैक्स प्लैंक, ह्वेयर इज सायंस गोइंग? पृ० ९२।

४३. ऐन ओरिएन्टेशन इन सायन्स, (मैक-ग्रा हिल बुक कंपनी, १९३८), पृ० १३४।

४४. ई० एफ० कैल्डिन, वही, पृ० २१-२२।

४५. जॉक स्एफ, फ्राम द फिज़ीकल टु द सोशल सायन्सेज, (लन्दन और आक्सफोर्ड, १९२९), पृ० ५९।

४६. वही, पृ० २३।

४७ फिलिप फंक, आइन्स्टाइन, हिज़ लाइफ ऐन्ड टाइम्स (जोनेथन केप, लन्दन, १९४८), पृ० २६१ (गौरव हमारा)।

४८ द फिलासफी आफ बर्ट्रान्ड रसेल, (द लायब्रेरी आव् लिविंग फिलासफर्स, इवैंस्टन, इलियानिस, १९४६), पृ० २८७।

४९. वही, पृ० २८९।

५०. हर्बर्ट डिंगिल, वही, पृ० ४७।

५१. जे० एएफ, वही, पृ० ६३।

५२. द लाजिक आफ मार्डन फिजिक्स, पृ० २-३।

५३. आइन्स्टाइन, हिज लाइफ ऐन्ड टाइम्स, पृ० २६१।

५४. द नेचर आफ द फिजीकल वर्ल्ड, पृ० ९।

५५ डब्ल्यू० कैलर, द प्लेस आव वैल्यू इन ए वर्ल्ड आव फैक्ट्स, (लिवरलाइन पब्लिशिंग कारपोरेशन, न्यूयार्क), पृ० १७५।

५६. वही।

५७ वही, पृ० १७४।

५८ हिस्टरी आफ फिलासफी, लेखक अल्फ्रेड वेबर, आर० बी० पेरी द्वारा परिशिष्ट सहित, (चार्ल्स स्क्रिबनर'स संस, न्ययार्क, १९२५), पृ० ११६।

५९ ह्यूमैन नालेज, इत्यादि, पृ० १९, १८।

६० दे० वैल्यू ए कोआपिरेटिव इन्क्वायरी, सपादक आर० लेप्ले, (कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, १९४९), पृ० १९७।

६१ द काउन्टर रिवोल्यूशन आव् सायन्स, पृ० ३१।

# अध्याय ३

## मानवीय विद्याओ की अन्वेपण-पद्धति

जिसे हम मूल्याकन कहते है वह मानव-व्यवहार नामक अधिक व्यापक वर्ग का अग है; कहना चाहिए कि मूल्याकन एक प्रकार का मानव-व्यवहार है। दूसरा विकल्प यह कथन हो सकता है कि मानव-व्यवहार तथा मूल्याकन दोनो का विस्तार बराबर है, अर्थात् समस्त मानव-व्यवहार मूल्याकन से अनुप्राणित रहता है। दोनो ही दशाओ मे हमे मूल्याकन के अध्ययन और मानव-व्यवहार के अध्ययन मे गहरा सम्बन्ध मानना पडेगा। मतलब यह कि मूल्यो का अध्ययन या विज्ञान मानवीय विद्याओ का ही एक अग है। इसलिये मूल्य-विज्ञान की अन्वेपण-पद्धति को विभिन्न मानवीय विद्याओ की अन्वेपण-पद्धति से अलग करके नही समझा जा सकता।

यहाँ हम कुछ ज्यादा सही ढग से मानवीय विद्याओ की प्रकृति और उनके क्षेत्र का सकेत करने की कोशिश करेगे। सामान्य रूप में उन विद्याओ का विपय वे परिवर्तन होते है जिन्हे मनुष्य सचेत रूप मे उत्पन्न करता और भोगता है। मानवीय विद्याएँ मुख्यत मनुष्यो के उन कर्मो और कर्मो के प्रभावो का अध्ययन करती है जिनका स्वयं कर्म करने वालो तथा दूसरे मनुष्यो पर प्रभाव पडता है। किन्तु वे विद्याएँ कतिपय ऐसी मानवीय स्थितियो का भी विचार करती है जो, किसी मनुष्य या मानव-समूह के सचेत सकल्प का परिणाम न होते हुए भी, विभिन्न मनुष्यो की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है, और मनुष्यो के जीवन को प्रभावित करती है। इस प्रकार की स्थितियो के कुछ उदाहरण है मूल्य-वृद्धि या महँगाई, बेकारी इत्यादि। इस प्रकार मानवीय विद्याएँ वे विद्याएँ है जिनके अध्ययन का विषय सचेत मनुष्य के हस्तक्षेप से उत्पन्न क्रियाएँ, वस्तुएँ और स्थितियाँ होती है। भौतिक तथा जीव सम्बन्धी विज्ञानो जैसे रसायन-शास्त्र, रचना-शास्त्र (Anatomy), शरीर-शास्त्र

(Physiology) का समावेश मानवीय विद्याओ में नही होता, क्योकि उनकी विपय-वस्तु मानवीय चेतना से सहचरित नही होती, यद्यपि उस विपय-वस्तु का मनुष्य के सुख दु ख से घना सम्बन्ध होता है।

हमारी उक्त परिभापा के विरुद्ध एक आक्षेप किया जा सकता है, यह कि मनुष्य की कतिपय प्रेरणाएँ अचेतन भी होती है। हम जानते है कि फ्रायड ने अचेतन अथवा अवचेतन की प्रेरणाओ पर विशेप गौरव दिया है। इसके उत्तर में हमें कहना है कि फ्रायड का अवचेतन अथवा अचेतन एक उत्सृष्ट प्रत्यय (Construct) है, वह किसी अनुभूत वास्तविकता का नाम नही है। दूसरे, अचेतन प्रेरणाओ द्वारा निर्धारित कर्म भी न्यूनाधिक सचेत धरातल पर ही अनुष्ठित होता है। फ्रायड के सिद्धान्तो के अनुसार भी तथा कथित अचेतन प्रेरणाएँ अन्तत चेतन जीवन में ही उद्भूत होती है। वे सचेत अथवा अर्ध सचेत इच्छाओ के दमन द्वारा अस्तित्व में आती है, और उन्हें मनोविश्लेषण की विधि द्वारा पुन चेतना के धरातल पर लाया जा सकता है।[1]

मानवीय विद्याओ में दो चीजो का समावेश है, अर्थात् सामाजिक-मनोवैज्ञानिक शास्त्रो का और कला तथा साहित्य, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र, तथा दर्शन और अध्यात्म का। यहाँ एक रोचक प्रश्न पूछा जा सकता है। सारी मानवीय विद्याओ की विपय-वस्तु एक ही है, अर्थात् मानव-जीवन के व्यवहार; फिर उपरोक्त अनेक विद्याओ की जरूरत क्यो पडती है ? मानव-जीवन का अध्ययन करने के लिये केवल एक ही विज्ञान क्यो नही है ? इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर देने के लिये दो चीजें जरूरी हैं, एक, मानव-व्यवहार की नितान्त जटिल प्रकृति का उद्घाटन, और दूसरे, मानवीय विद्याओ की कतिपय विशेपताओ तथा सीमाओ का निर्देश।

## मानवीय व्यवहार की जटिलता

मानवीय विद्याओ के प्राय सभी अन्वेपको ने यह स्वीकार किया है कि मनुष्य का व्यवहार एक जटिल वस्तु है। इस जटिलता का स्वरूप क्या है ? उक्त जटिलता का मानव-शरीर की दीखने वाली गतियो से विशेष सम्बन्ध नही है, चिडियों, वरो आदि जन्तुओ की गतियाँ भी मानव-शरीर की गतियो से कम जटिल नही होती। यह समझा जाता है कि दूसरे जन्तुओ की अपेक्षा मनुष्य का हाथ ज्यादा सधा हुआ और क्षमता-सम्पन्न होता है, फिर भी यह दावा नही किया जा सकता कि अपना घोसला

बनाने में लगी हुई एक चिडिया या बर्र की उडान का रेखा-चित्र उस चित्र से जो किसी मकान को बनाने वाले राज-मजदूरो की गतियो का खाका उपस्थित करेगा कम जटिल होगा। सच यह है कि जब हम मानव-व्यवहार की जटिलता की चर्चा करते है उस समय उसकी भौतिक गतियो के बारे मे नही सोचते होते। उस समय हम उसकी मानसिक वृत्तियो तथा मनोभावो का ही विशेष विचार करते है। कुछ मनुष्य ऐसे होते है कि वे देखने से रहस्यमय जान पडते है, रहस्य के आवरण मे छिपे हुए, किन्तु इस रहस्यमयता का उनकी भौतिक गतियो से विशेष सम्बन्ध नही होता। वे रहस्यमय इसलिये लगते है कि हम उनके बौद्धिक, आवेगात्मक तथा नैतिक व्यक्तित्व को ठीक-ठीक नही समझ पाते। मानव-व्यवहार की जटिलता वस्तुत मनुष्यो के विभिन्न स्वभावो, मनोभावो, विश्वासो तथा आदर्शों की जटिलता है। जटिलता का सबसे बडा अधिष्ठान मनुष्य की विविध-रूप चेतना है। फलत हम मानव-व्यवहार की जटिलता को भीतर से ही समझ सकते है, सिर्फ बाहर से देखकर नही। मानव-जीवन तथा व्यवहार की जटिलता उन आत्मिक अर्थों की जटिलता है जो उसकी विभिन्न क्रियाओ मे निहित रहते है।

प्रश्न है, इस जटिलता के स्रोत तथा उपादान क्या है?

श्री पार्सन्स और शिल्ज के अनुसार कर्म के विधायक तत्वो को तीन अन्योन्याश्रित तथा सम्बद्ध पद्धतियो मे वर्गीकृत किया जा सकता है। इन तीन पद्धतियो के नाम है. विभिन्न व्यक्ति या व्यक्तित्व, सामाजिक व्यवस्थाएँ और "सांस्कृतिक" व्यवस्थाएँ या पद्धतियाँ।[1] विभिन्न कर्ता जिन लक्ष्यो को पाना चाहते है, उनका स्वरूप इन तीनो पद्धतियो के अगभूत उपादानो से निर्धारित होता है। हम उक्त योजना को थोड़े परिवर्तित रूप में ग्रहण करेंगे, और तीन शीर्षको मे उन तत्वो का वर्णन करेंगे, जो मानव-लक्ष्यो के निर्माण का निर्धारण करते है। ये तत्व तीन वर्गों में बाँटे जा सकते है, व्यक्तिगत निर्धारक, परिवेशगत-सामाजिक निर्धारक और विचारात्मक निर्धारक। तीनो का हम क्रमश वर्णन करेंगे।

(क) व्यक्तिगत निर्धारक एक प्रकार से वे सब शक्तियाँ जो मनुष्यो के विभिन्न जीवन-लक्ष्यो का स्वरूप निर्धारित करती है, अथवा उनकी पसन्द-नापसन्द को प्रभावित करती है, स्वय व्यक्ति के अन्दर मौजूद होती है। दूसरी सारी शक्तियाँ व्यक्तिगत चेतना मे प्रतिफलित होकर ही मनुष्य के कार्यों को प्रभावित करती है।

(Physiology) का समावेश मानवीय विद्याओ में नही होता, क्योकि उनकी विपय-वस्तु मानवीय चेतना से सहचरित नही होती, यद्यपि उस विपय-वस्तु का मनुष्य के सुख दु ख से घना सम्बन्ध होता है।

हमारी उक्त परिभापा के विरुद्ध एक आक्षेप किया जा सकता है, यह कि मनुष्य की कतिपय प्रेरणाएँ अचेतन भी होती हैं। हम जानते है कि फ्रायड ने अचेतन अथवा अवचेतन की प्रेरणाओ पर विशेप गौरव दिया है। इसके उत्तर में हमें कहना है कि फ्रायड का अवचेतन अथवा अचेतन एक उत्सृष्ट प्रत्यय (Construct) है, वह किसी अनुभूत वास्तविकता का नाम नही है। दूसरे, अचेतन प्रेरणाओ द्वारा निर्धारित कर्म भी न्यूनाधिक सचेत धरातल पर ही अनुष्ठित होता है। फ्रायड के सिद्धान्तो के अनुसार भी तथा कथित अचेतन प्रेरणाएँ अन्तत चेतन जीवन में ही उद्भूत होती है। वे सचेत अथवा अर्ध सचेत इच्छाओ के दमन द्वारा अस्तित्व में आती हैं, और उन्हें मनोविश्लेषण की विधि द्वारा पुन चेतना के धरातल पर लाया जा सकता है।[1]

मानवीय विद्याओ में दो चीजो का समावेश है, अर्थात् सामाजिक-मनोवैज्ञानिक शास्त्रो का और कला तथा साहित्य, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र, तथा दर्शन और अध्यात्म का। यहाँ एक रोचक प्रश्न पूछा जा सकता है। सारी मानवीय विद्याओ की विषय-वस्तु एक ही है, अर्थात् मानव-जीवन के व्यवहार; फिर उपरोक्त अनेक विद्याओ की जरूरत क्यो पडती है? मानव-जीवन का अध्ययन करने के लिये केवल एक ही विज्ञान क्यो नही है? इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर देने के लिये दो चीजें जरूरी हैं, एक, मानव-व्यवहार की नितान्त जटिल प्रकृति का उद्घाटन, और दूसरे, मानवीय विद्याओ की कतिपय विशेषताओ तथा सीमाओ का निर्देश।

## मानवीय व्यवहार की जटिलता

मानवीय विद्याओ के प्राय सभी अन्वेपको ने यह स्वीकार किया है कि मनुष्य का व्यवहार एक जटिल वस्तु है। इस जटिलता का स्वरूप क्या है? उक्त जटिलता का मानव-शरीर की दीखने वाली गतियो से विशेप सम्बन्ध नही है, चिडियो, बरो आदि जन्तुओ की गतियाँ भी मानव-शरीर की गतियो से कम जटिल नही होती। यह समझा जाता है कि दूसरे जन्तुओ की अपेक्षा मनुष्य का हाथ ज्यादा सधा हुआ और क्षमता-सम्पन्न होता है, फिर भी यह दावा नही किया जा सकता कि अपना घोसला

बनाने में लगी हुई एक चिडिया या बर्रे की उडान का रेखा-चित्र उस चित्र से जो किसी मकान को बनाने वाले राज-मजदूरो की गतियो का खाका उपस्थित करेगा कम जटिल होगा। सच यह है कि जब हम मानव-व्यवहार की जटिलता की चर्चा करते है उस समय उसकी भौतिक गतियो के बारे मे नही सोचते होते। उस समय हम उसकी मानसिक वृत्तियो तथा मनोभावो का ही विशेष विचार करते है। कुछ मनुष्य ऐसे होते है कि वे देखने से रहस्यमय जान पडते है, रहस्य के आवरण में छिपे हुए, किन्तु इस रहस्यमयता का उनकी भौतिक गतियो से विशेष सम्बन्ध नही होता। वे रहस्यमय इसलिये लगते है कि हम उनके बौद्धिक, आवेगात्मक तथा नैतिक व्यक्तित्व को ठीक-ठीक नही समझ पाते। मानव-व्यवहार की जटिलता वस्तुत मनुष्यो के विभिन्न स्वभावो, मनोभावो, विश्वासो तथा आदर्शों की जटिलता है। जटिलता का सबसे बडा अधिष्ठान मनुष्य की विविध-रूप चेतना है। फलत हम मानव-व्यवहार की जटिलता को भीतर से ही समझ सकते है, सिर्फ बाहर से देखकर नही। मानव-जीवन तथा व्यवहार की जटिलता उन आत्मिक अर्थों की जटिलता है जो उसकी विभिन्न क्रियाओ मे निहित रहते है।

प्रश्न है, इस जटिलता के स्रोत तथा उपादान क्या है?

श्री पार्सन्स और शिल्ज के अनुसार कर्म के विधायक तत्वों को तीन अन्योन्याश्रित तथा सम्बद्ध पद्धतियो मे वर्गीकृत किया जा सकता है। इन तीन पद्धतियो के नाम है. विभिन्न व्यक्ति या व्यक्तित्व, सामाजिक व्यवस्थाएँ और "सांस्कृतिक" व्यवस्थाएँ या पद्धतियां।[२] विभिन्न कर्ता जिन लक्ष्यो को पाना चाहते है, उनका स्वरूप इन तीनो पद्धतियो के अगभूत उपादानो से निर्धारित होता है। हम उक्त योजना को थोड़ा परिवर्तित रूप में ग्रहण करेंगे, और तीन शीर्षको में उन तत्वो का वर्णन करेंगे, जो मानव-लक्ष्यो के निर्माण का निर्धारण करते है। ये तत्व तीन वर्गों में बाँटे जा सकते है, व्यक्तिगत निर्धारक, परिवेशगत-सामाजिक निर्धारक और विचारात्मक निर्धारक। तीनो का हम क्रमश वर्णन करेंगे।

(क) व्यक्तिगत निर्धारक एक प्रकार से वे सब शक्तियां जो मनुष्यो के विभिन्न जीवन-लक्ष्यो का स्वरूप निर्धारित करती है, अथवा उनकी पसन्द-नापसन्द को प्रभावित करती है, स्वयं व्यक्ति के अन्दर मौजूद होती है। इनमे सारी शक्तियां व्यक्तिगत चेतना मे प्रतिफलित होकर ही मनुष्य के कार्यों को प्रभावित करती है।

इस दृष्टि से मनुष्य द्वारा स्वीकृत होने वाले समस्त लक्ष्य व्यक्तिगत होते हैं। फिर भी हम उन लक्ष्यो को खास तोर से व्यक्तिगत कहेगे जिनका जन्म व्यक्तिगत प्रेरणाओं में होता है। व्यक्ति के व्यवहार की मनोवैज्ञानिक निर्धारक आन्तरिक प्रेरणाएँ होती हैं। इन प्रेरणाओ को मनोवैज्ञानिक कहने से हमारा मतलब यह है कि उनका अध्ययन खास तोर से मनोविज्ञान मे किया जाता है।

प्रेरणाओ (Motives) से भी ज्यादा मौलिक वे जरूरतें अथवा प्रवृत्तियाँ होती हैं जो एक जीवयोनि के समस्त सदस्यों मे पाई जाती हैं। इन जरूरतो या प्रवृत्तियो को अनेक नाम दिये गये हैं, जैसे मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts), मानसिक-भौतिक वृत्तियाँ, आन्तरिक पसन्दे, प्रेरक उत्क्षेप-क्रियाये (Prepotent Reflexes), इत्यादि। इसमें सन्देह नही कि मनुष्य की कतिपय जरूरतो अथवा प्रेरणाओ का मूल उसकी जैवो-भौतिक बनावट मे होता है, उसकी दूसरी जरूरतों का मूल उसकी सामाजिक-मनो-वैज्ञानिक प्रकृति मे रहता है। एक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक अथवा मानसिक जरूरत का उदाहरण है—नवीन तथा विविध अनुभवो की जरूरत।[1] दूसरे उदाहरण होंगे—प्रेम, आदर, अपने कामो के प्रति दूसरो का स्वीकृतिभाव आदि की जरूरते। यहाँ हमारा लक्ष्य यह वर्णन करना नही है कि कौन-सी जरूरतें मौलिक हैं, और कौन-सी मूल जरूरतो का परिणाम या कार्य। यहाँ हम सिर्फ इस वात का सकेत करना चाहते हैं कि मनुष्य अनेक तथा विविध आवश्यकताओ का अनुभव करता है।

मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, इसका मुख्य कारण उसकी असतुष्ट जरूरतें होती हैं। किन्तु एक ऐसे परिवेश मे जहाँ आवश्यकताओ की पूर्ति करने के अनेक ढग दिखाई पडते हैं, जरूरतें बदलकर इच्छाएँ वन जाती हैं, और निश्चित वस्तुओ पर ससक्त हो जाती हैं। ये इच्छाएँ जिन्हे मूल क्षुधाओ की प्रेरणा-शक्ति प्राप्त होती है, कर्म की विभिन्न प्रेरणाओ (Motives) को जन्म देती हैं। प्रेरणा की परिभाषा इस प्रकार होगी प्रेरणा एक जटिल प्रवृत्ति है जिसके प्रभाव मे हम कुछ चीजो की ओर ध्यान देते और उनकी कामना करते हैं, और फिर क्रियाओ मे प्रवृत्त होते हैं, ताकि हमारा विभिन्न लक्ष्यो से (अर्थात् लक्ष्यभूत वस्तुओ या स्थितियो से) अभीष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब विभिन्न इच्छाओ में द्वन्द्व या सघर्ष होता है, और जब विभिन्न इच्छित लक्ष्य एक-दूसरे के आश्रित अथवा विरोधी दिखाई देते हैं।

इन संघर्षों आदि का फल यह होता है कि व्यक्तियों के जीवन में क्रमश कुछ लक्ष्य तथा महत्वाकांक्षाएँ प्रधान बन जाती हैं, और कुछ अप्रधान। यह देखा गया है कि अपने अभीष्ट मूल्यों, आदर्शों, तथा आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य अपनी बहुत-सी दूसरी इच्छाओं पर कठिन नियंत्रण अथवा उनका दमन कर डालते हैं।

यह सोचा जा सकता है कि उक्त कोटि के लक्ष्य तथा आकांक्षाएँ सम्बद्ध व्यक्ति की प्रवृत्तियों तथा इच्छाओं को स्थिर रूप देने में सहायक होती होंगी। किन्तु यह अंशत ही सही है। ऐसे बहादुर लोग थोड़े ही होते हैं जो लगातार असफलताओं तथा निराशाओं के बावजूद एक बड़े आदर्श के पीछे चलते रहते हैं। ज्यादातर लोग अपने जीवन में कभी एक आदर्श की ओर झुकते हैं, और कभी दूसरे आदर्श की ओर। उनके तरह-तरह के प्रयत्नों को जैसे-जैसे सफलता या असफलता मिलती है, वैसे-वैसे उनकी आकांक्षाओं का रूप तथा स्तर बदलता अथवा ऊँचा-नीचा होता जाता है।*

सचेत मानवीय व्यापार प्राय किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये होता है, किन्तु यह बतलाना कठिन है कि सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य क्या है। हम में से अधिकांश के जीवन में, बहुत से मामलों में, लक्ष्य तथा साधन एक-दूसरे से प्राय परिवर्तनीय होते हैं। व्यक्तियों तथा समूहों दोनों के जीवन में एक प्रकार की सफलता दूसरे प्रकार की सफलता को प्राप्त करने का साधन बन जाती है, धन से शक्ति तथा मान मिलता है, और शक्ति तथा मान से धन। धन तथा शक्ति अधिकांश लक्ष्यों को प्राप्त करने के सार्वभौम साधन हैं, इसीलिये अधिकांश लोग धन-सम्पत्ति तथा शक्ति की ओर दौड़ते हैं। नर-नारी कठिन परिश्रम करते हैं, विभिन्न क्षेत्रों में विशेष योग्यता प्राप्त करते हैं, प्रभावशाली लोगों की खुशामद करते हैं, ताकि उन्हें लाभकारी पद तथा नौकरियां मिल सकें। कोई मनुष्य किस रूप में धन तथा शक्ति को पाने का प्रयत्न करेगा यह दो चीजों पर निर्भर करता है—उसकी वर्तमान स्थिति पर और उसकी कल्पना-शक्ति, चतुराई तथा साधनों को जुटाने की योग्यता पर।

(ग) परिवेशगत तथा सामाजिक निर्धारक . मनुष्य के परिवेश में दो तरह की चीजें होती हैं, भौतिक वस्तुएँ तथा सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुएँ। भौतिक वस्तुओं में उन चीजों का भी समावेश है जो विभिन्न यन्त्रों द्वारा बनाई जाती हैं। परिवेश में तरह-तरह की चीजों की उपस्थिति यह सम्भव बनाती है कि मनुष्य अपनी जरूरतों को विभिन्न तरीकों से पूरा कर ले। दूसरा परिणाम यह होता है कि आराम तथा

इस दृष्टि से मनुष्य द्वारा स्वीकृत होने वाले समस्त लक्ष्य व्यक्तिगत होते हैं। फिर भी हम उन लक्ष्यो को खास तौर से व्यक्तिगत कहेंगे जिनका जन्म व्यक्तिगत प्रेरणाओ में होता है। व्यक्ति के व्यवहार की मनोवैज्ञानिक निर्धारक आन्तरिक प्रेरणाएँ होती है। इन प्रेरणाओ को मनोवैज्ञानिक कहने से हमारा मतलब यह है कि उनका अध्ययन खास तौर से मनोविज्ञान में किया जाता है।

प्रेरणाओ (Motives) से भी ज्यादा मौलिक वे जरूरतें अथवा प्रवृत्तियाँ होती है जो एक जीवयोनि के समस्त सदस्यो में पाई जाती हैं। इन जरूरतो या प्रवृत्तियो को अनेक नाम दिये गये है, जैसे मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts), मानसिक-भौतिक वृत्तियाँ, आन्तरिक पसन्दें, प्रेरक उत्क्षेप-क्रियायें (Prepotent Reflexes), इत्यादि। इसमें सन्देह नही कि मनुष्य की कतिपय जरूरतो अथवा प्रेरणाओ का मूल उसकी जैवी-भौतिक बनावट में होता है, उसकी दूसरी जरूरतो का मूल उसकी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रकृति में रहता है। एक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक अथवा मानसिक जरूरत का उदाहरण है—नवीन तथा विविध अनुभवो की जरूरत।[1] दूसरे उदाहरण होगे—प्रेम, आदर, अपने कामो के प्रति दूसरो का स्वीकृतिभाव आदि की जरूरतें। यहाँ हमारा लक्ष्य यह वर्णन करना नही है कि कौन-सी जरूरतें मौलिक है, और कौन-सी मूल जरूरतो का परिणाम या कार्य। यहाँ हम सिर्फ इस बात का सकेत करना चाहते है कि मनुष्य अनेक तथा विविध आवश्यकताओ का अनुभव करता है।

मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, इसका मुख्य कारण उसकी असतुष्ट जरूरतें होती है। किन्तु एक ऐसे परिवेश मे जहाँ आवश्यकताओ की पूर्ति करने के अनेक ढग दिखाई पडते है, जरूरतें बदलकर इच्छाएँ बन जाती है, और निश्चित वस्तुओ पर ससक्त हो जाती है। वे इच्छाएँ जिन्हें मूल क्षुधाओ की प्रेरणा-शक्ति प्राप्त होती है, कर्म की विभिन्न प्रेरणाओ (Motives) को जन्म देती हैं। प्रेरणा की परिभाषा इस प्रकार होगी प्रेरणा एक जटिल प्रवृत्ति है जिसके प्रभाव मे हम कुछ चीजो की ओर ध्यान देते और उनकी कामना करते है, और फिर क्रियाओ में प्रवृत्त होते हैं, ताकि हमारा विभिन्न लक्ष्यो से (अर्थात् लक्ष्यभूत वस्तुओ या स्थितियो से) अभीष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब विभिन्न इच्छाओ में द्वन्द्व या सघर्ष होता है, और जब विभिन्न इच्छित लक्ष्य एक-दूसरे के आश्रित अथवा विरोधी दिखाई देते है।

इन संघर्षों आदि का फल यह होता है कि व्यक्तियों के जीवन में क्रमश कुछ लक्ष्य तथा महत्वाकांक्षाएँ प्रधान बन जाती है, और कुछ अप्रधान। यह देखा गया है कि अपने अभीष्ट मूल्यो, आदर्शों, तथा आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य अपनी बहुत-सी दूसरी इच्छाओ पर कठिन नियंत्रण अथवा उनका दमन कर डालते हैं।

यह सोचा जा सकता है कि उक्त कोटि के लक्ष्य तथा आकांक्षाएँ सम्बद्ध व्यक्ति की प्रवृत्तियो तथा इच्छाओ को स्थिर रूप देने में सहायक होती होंगी। किन्तु यह अंशत ही सही है। ऐसे बहादुर लोग थोड़े ही होते हैं जो लगातार असफलताओं तथा निराशाओं के बावजूद एक बड़े आदर्श के पीछे चलते रहते है। ज्यादातर लोग अपने जीवन मे कभी एक आदर्श की ओर झुकते है, और कभी दूसरे आदर्श की ओर। उनके तरह-तरह के प्रयत्नो को जैसे-जैसे सफलता या असफलता मिलती है, वैसे-वैसे उनकी आकांक्षाओं का रूप तथा स्तर बदलता अथवा ऊँचा-नीचा होता जाता है।[१]

सचेत मानवीय व्यापार प्राय किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये होता है, किन्तु यह बतलाना कठिन है कि सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य क्या है। हम में से अधिकांश के जीवन मे, बहुत से मामलो मे, लक्ष्य तथा साधन एक-दूसरे से प्राय परिवर्तनीय होते हैं। व्यक्तियो तथा समूहों दोनो के जीवन में एक प्रकार की सफलता दूसरे प्रकार की सफलता को प्राप्त करने का साधन बन जाती है, धन से शक्ति तथा मान मिलता है, और शक्ति तथा मान से धन। धन तथा शक्ति अधिकांश लक्ष्यो को प्राप्त करने के सार्वभौम साधन है, इसीलिये अधिकांश लोग धन-सम्पत्ति तथा शक्ति की ओर दौड़ते हैं। नर-नारी कठिन परिश्रम करते हैं, विभिन्न क्षेत्रो मे विशेष योग्यता प्राप्त करते है, प्रभावशाली लोगो की खुशामद करते हैं, ताकि उन्हें लाभकारी पद तथा नौकरियाँ मिल सकें। कोई मनुष्य किस रूप में धन तथा शक्ति को पाने का प्रयत्न करेगा यह दो चीजो पर निर्भर करता है—उसकी वर्तमान स्थिति पर और उसकी कल्पना-शक्ति, चतुराई तथा साधनो को जुटाने की योग्यता पर।

(ग) परिवेशगत तथा सामाजिक निर्धारक · मनुष्य के परिवेश में दो तरह की चीजे होती है, भौतिक वस्तुएँ तथा सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुएँ। भौतिक वस्तुओं मे उन चीजो का भी समावेश है जो विभिन्न यन्त्रो द्वारा बनाई जाती हैं। परिवेश मे तरह-तरह की चीजो की उपस्थिति यह सम्भव बनाती है कि मनुष्य अपनी जरूरतो को विभिन्न तरीको से पूरा कर लें। दूसरा परिणाम यह होता है कि आराम तथा

सुख-भोग की वस्तुओ की नई जरूरतें पैदा हो जाती हैं। उदाहरण के लिये एक आधुनिक मनुष्य को जो मोटरकार तथा रेडियो की आवश्यकता महसूस होती है, उसका कारण उसके परिवेश में उन चीजो की उपस्थिति है। इसी प्रकार हमारा सामाजिक-यान्त्रिक परिवेश हमारी वस्त्रो, मनोविनोद के साधनो, मकानो आदि की माँगो अथवा जरूरतो का स्वरूप निर्धारित करता है। हमारी जीवनचर्या पर समाज का सबसे ज्यादा प्रभाव निम्न रूप में पडता है हमें एक खास पेशे तथा पद से बाँधकर समाज हमारे अन्दर एक खास तरह की कर्तव्य-भावना तथा आशाएँ उत्पन्न कर देता है। हमारे इन कर्तव्यो तथा आशाओ का सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियो से होता है, जिनके सुपुर्द दूसरे सामाजिक काम होते हैं। श्री पार्सन्स और शिल्ज कहते हैं 'जिसे हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं वह प्राय व्यक्तियो के विभिन्न कर्तव्य-रूपो (Roles) तथा उनकी प्रत्याशाओ (Expectations) से निर्मित होती है। इन सबका उद्देश्य यह होता है कि समाज की कोई न कोई जरूरत पूरी हो जाय।'[५]

विभिन्न व्यक्तियो को विभिन्न कर्मो में लगाकर और उनके विभिन्न कर्तव्यो तथा अधिकारो का निर्देश करके समाज पारस्परिक सहयोग के आधार पर अपने समस्त सदस्यो की जरूरतें पूरी करता है। इसके बावजूद सामाजिक जीवन में तरह-तरह के सघर्ष होते रहते हैं। एक ही युवती को चाहनेवाले अनेक प्रेमी हो सकते हैं, और एक ही पद या नौकरी के लिये बहुत से उम्मीदवार रह सकते हैं। समाज में वाछनीय वस्तुओ की विरलता रहती है, और कुछ पद तथा शक्तियाँ ऐसी होती हैं जो कुछ लोगो को ही मिल सकती हैं। फलत सर्वत्र सब समाजो में व्यक्तियो तथा समूहो के बीच तरह-तरह के सघर्ष चला करते हैं। ये सघर्ष विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो की बुद्धि तथा परिश्रमशीलता, चतुराई तथा निपुणता, सहयोग करने तथा अनुशासन-पूर्वक रहने आदि गुणो की खरी परीक्षा कर लेते हैं। ऐसे समाजो में भी जहाँ आर्थिक सघर्ष नही पाये जाते, जैसे सोवियत सघ में, एक ही दल के भीतर शक्ति-सहचरित पदो के लिए सघर्ष चलता ही रहता है। इन सघर्षो का एक फल तो यह होता है कि ोग, नैतिक सिद्धान्तो को भूलकर, भले-बुरे साधनो का उपयोग करने लगते हैं, और दूसरा यह कि क्रमश उनके जीवन के लक्ष्य तथा आदर्श, और अन्ततः उनके चरित्र, बदल जाते हैं।

इन सघर्षो को कम करने अथवा दूर करने की इच्छा से विचारक तथा सुधारक लोग या तो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में सुधार की माँग करते हैं, अथवा ऐसी नई

व्यवस्थाओ की माग करते है जिनमे व्यक्तियो तथा समूहो के बीच ज्यादा सन्तोषप्रद आर्थिक-सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो सके।

(ग) विचारात्मक निर्धारक मानव-व्यवहार के विचारात्मक निर्धारक दो प्रकार के होते है मूल्य-सम्बन्धी तथा अन्य विश्वासो एव विचारो की वे पद्धतियाँ जो समाज की मौजूदा व्यवस्था के अनुकूल है, और वे जो उसके प्रतिकूल है। आज के समाज में विचारो तथा विश्वासो से सम्बन्धित मतभेद नियम-रूप है, न कि अपवाद-रूप। मतलब यह कि इस प्रकार के सघर्ष-मूलक विश्वास तथा विचार चारो ओर बिखरे हुए हैं। एक स्थिर समाज अपने सदस्यो मे उन विचारो तथा मूल्यात्मक मनोभावो को उत्पन्न करता है, जो परम्परा से चले आ रहे है। इन परम्परागत मनोभावो की उपस्थिति व्यक्ति में मौजूदा आर्थिक तथा दूसरे सम्बन्धो के बारे में—उन सम्बन्धो के जो विभिन्न वर्णों, वर्गों तथा व्यक्तियो को न्यूनाधिक सम्पत्ति, शक्ति एव सुविधाएँ प्रदान करते है—स्वीकृति की भावना उत्पन्न करती है। वे सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध भी लगाते है। उदाहरण के लिये हमारे समाज मे वर्ण तथा जाति-सम्बन्धी नियम कुछ समूहो को कतिपय पेशो तथा समाजिक-धार्मिक उत्सवो से दूर रखते है। अधिकाश व्यक्ति तथा समूह जिन्हे विशेष शिक्षा-दीक्षा नही मिली, इस प्रकार के पुराने नियमो को तब तक मानते रहते है जब तक कि कुछ सुधारक तथा विद्रोही नेता उन्हे उन नियमो के विरुद्ध भडकाते नही। आज के अधिकाश जनतन्त्रात्मक समाजो मे व्यक्तियो तथा समूहो पर लगातार विरोधी विचार-पद्धतियो का प्रभाव पडता रहता है। व्यक्तिवाद की वृद्धि के कारण, जिसका मूल कारण जनतन्त्रीय आदर्शो का प्रचार और शिक्षा का विशेष प्रसार है, आज लोग पुरानी चीजों की उतनी नकल नही करते और न परम्परा से उतना तादात्म्य ही महसूस करते है। फलत परम्परा की शक्ति कम होती जाती है। दूसरे कारण भी उपस्थित हो गये है। मनुष्यो के वे धार्मिक-दार्शनिक विश्वास तथा मनोभाव जो उनमें परम्परागत सामाजिक तथा नैतिक पैमानो की स्वीकृति उत्पन्न करते थे, अब भौतिक-शास्त्र, जीव-विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञानो के सिद्धान्तो के प्रचार ने हिला गये है। इन सब कारणो ने आधुनिक व्यक्ति के व्यवहार के विचारात्मक आधार बड़े अनिश्चित तथा रहस्यमय बन गये है। इसके प्रखर प्रमाण हमें जेम्स ज्वायस तथा ज्या पाल सार्त्र जैसे लेखको की कथा-कृतियो मे मिलते है। किन्तु राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं के प्रति मनुष्यो के भाव अपेक्षाकृत अधिक

सुख-भोग की वस्तुओ की नई जरूरतें पैदा हो जाती है। उदाहरण के लिये एक आधुनिक मनुष्य को जो मोटरकार तथा रेडियो की आवश्यकता महसूस होती है, उसका कारण उसके परिवेश में उन चीजो की उपस्थिति है। इसी प्रकार हमारा सामाजिक-यात्रिक परिवेश हमारी वस्त्रो, मनोविनोद के साधनो, मकानो आदि की मॉगो अथवा जरूरतो का स्वरूप निर्धारित करता है। हमारी जीवनचर्या पर समाज का सबसे ज्यादा प्रभाव निम्न रूप में पडता है हमें एक खास पेशे तथा पद से बाँधकर समाज हमारे अन्दर एक खास तरह की कर्तव्य-भावना तथा आशाएँ उत्पन्न कर देता है। हमारे इन कर्तव्यो तथा आशाओ का सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियो से होता है, जिनके सुपुर्द दूसरे सामाजिक काम होते हैं। श्री पार्सन्स और शिल्ज कहते है 'जिसे हम सामाजिक व्यवस्था कहते है वह प्राय व्यक्तियो के विभिन्न कर्तव्य-रूपो (Roles) तथा उनकी प्रत्याशाओ (Expectations) से निर्मित होती है। इन सबका उद्देश्य यह होता है कि समाज की कोई न कोई जरूरत पूरी हो जाय।'[५]

विभिन्न व्यक्तियो को विभिन्न कर्मों में लगाकर और उनके विभिन्न कर्तव्यो तथा अधिकारो का निर्देश करके समाज पारस्परिक सहयोग के आधार पर अपने समस्त सदस्यो की जरूरतें पूरी करता है। इसके बावजूद सामाजिक जीवन में तरह-तरह के सघर्ष होते रहते हैं। एक ही युवती को चाहनेवाले अनेक प्रेमी हो सकते है, और एक ही पद या नौकरी के लिये बहुत से उम्मीदवार रह सकते हैं। समाज में वाछनीय वस्तुओ की विरलता रहती है, और कुछ पद तथा शक्तियाँ ऐसी होती है जो कुछ लोगो को ही मिल सकती है। फलत सर्वत्र सब समाजो में व्यक्तियो तथा समूहो के बीच तरह-तरह के सघर्ष चला करते हैं। ये सघर्ष विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो की बुद्धि तथा परिश्रमशीलता, चतुराई तथा निपुणता, सहयोग करने तथा अनुशासन-पूर्वक रहने आदि गुणो की खरी परीक्षा कर लेते है। ऐसे समाजो में भी जहाँ आर्थिक सघर्ष नही पाये जाते, जैसे सोवियत सघ में, एक ही दल के भीतर शक्ति-सहचरित पदो के लिए सघर्ष चलता ही रहता है। इन सघर्षों का एक फल तो यह होता है कि ोग, नैतिक सिद्धान्तो को भूलकर, भले-बुरे साधनो का उपयोग करने लगते है, और दूसरा यह कि क्रमश उनके जीवन के लक्ष्य तथा आदर्श, और अन्ततः उनके चरित्र, बदल जाते है।

इन सघर्षो को कम करने अथवा दूर करने की इच्छा से विचारक तथा सुधारक लोग या तो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में सुधार की मॉग करते है, अथवा ऐसी नई

व्यवस्थाओ की माग करते है जिनमे व्यक्तियो तथा समूहो के बीच ज्यादा सन्तोषप्रद आर्थिक-सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो सके।

(ग) विचारात्मक निर्धारक मानव-व्यवहार के विचारात्मक निर्धारक दो प्रकार के होते है मूल्य-सम्बन्धी तथा अन्य विश्वासो एव विचारो की वे पद्धतियाँ जो समाज की मौजूदा व्यवस्था के अनुकूल है, और वे जो उसके प्रतिकूल है। आज के समाज मे विचारो तथा विश्वासो से सम्बन्धित मतभेद नियम-रूप है, न कि अपवाद-रूप। मतलब यह कि इस प्रकार के सघर्ष-मूलक विश्वास तथा विचार चारो ओर बिखरे हुए है। एक स्थिर समाज अपने सदस्यो में उन विचारो तथा मूल्यात्मक मनोभावो को उत्पन्न करता है, जो परम्परा से चले आ रहे है। इन परम्परागत मनोभावो की उपस्थिति व्यक्ति मे मौजूदा आर्थिक तथा दूसरे सम्बन्धो के बारे में—उन सम्बन्धो के जो विभिन्न वर्णों, वर्गों तथा व्यक्तियो को न्यूनाधिक सम्पत्ति, शक्ति एव सुविधाएँ प्रदान करते है—स्वीकृति की भावना उत्पन्न करती है। वे सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध भी लगाते है। उदाहरण के लिये हमारे समाज मे वर्ण तथा जाति-सम्बन्धी नियम कुछ समूहो को कतिपय पेशो तथा समाजिक-धार्मिक उत्सवो से दूर रखते हैं। अधिकाश व्यक्ति तथा समूह जिन्हे विशेष शिक्षा-दीक्षा नही मिली, इस प्रकार के पुराने नियमो को तब तक मानते रहते है जब तक कि कुछ सुधारक तथा विद्रोही नेता उन्हें उन नियमो के विरुद्ध भडकाते नही। आज के अधिकाश जनतत्रात्मक समाजो में व्यक्तियो तथा समूहो पर लगातार विरोधी विचार-पद्धतियो का प्रभाव पडता रहता है। व्यक्तिवाद की वृद्धि के कारण, जिसका मूल कारण जनतत्रीय आदर्शों का प्रचार और शिक्षा का विशेष प्रसार है, आज लोग पुरानी चीजो की उतनी नकल नही करते और न परम्परा से उतना तादात्म्य ही महसूस करते है। फलत परम्परा की शक्ति कम होती जाती है। दूसरे कारण भी उपस्थित हो गये है। मनुष्यो के वे धार्मिक-दार्शनिक विश्वास तथा मनोभाव जो उनमें परम्परागत सामाजिक तथा नैतिक पैमानो की स्वीकृति उत्पन्न करते थे, अब भौतिक-शास्त्र, जीव-विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञानो के सिद्धान्तो के प्रचार से हिल गये है। इन सब कारणो से आधुनिक व्यक्ति के व्यवहार के विचारात्मक आधार बडे अनिश्चित तथा रहस्यमय बन गये है। इसके प्रखर प्रमाण हमें जेम्स ज्वायस तथा ज्या पाल सार्त्र जैसे लेखको की कथा-कृतियो में मिलते है। किन्तु राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओ के प्रति मनुष्यो के भाव अपेक्षाकृत अधिक

सुख-भोग की वस्तुओ की नई जरूरत
आधुनिक मनुष्य को जो मोटरकार त
उसका कारण उसके परिवेश मे उन च
सामाजिक-यान्त्रिक परिवेश हमारी वस्त्रे
मांगों अथवा जरूरतों का स्वरूप नि
समाज का सबसे ज्यादा प्रभाव निम्न र
से बाँधकर समाज हमारे अन्दर एक र
उत्पन्न कर देता है। हमारे इन कर्तव्यो
से होता है, जिनके सुपुर्द दूसरे सामाजिक
है 'जिसे हम सामाजिक व्यवस्था कहते
रूपो (Roles) तथा उनकी प्रत्याशाओ
इन सबका उद्देश्य यह होता है कि समा

विभिन्न व्यक्तियो को विभिन्न कर्मो मे
अधिकारो का निर्देश करके समाज पारस्प
सदस्यो की जरूरतें पूरी करता है। इस
तरह के सघर्ष होते रहते है। एक ही युवत
और एक ही पद या नौकरी के लिये बहुत
वाछनीय वस्तुओ की विरलता रहती है,
जो कुछ लोगो को ही मिल सकती हैं। प
समूहो के बीच तरह-तरह के सघर्ष चला
समूहो की वृद्धि तथा परिश्रमशीलता, च
अनुशासन-पूर्वक रहने आदि गुणो की खरी
जहाँ आर्थिक सघर्ष नही पाये जाते, जैसे सो
सहचरित पदो के लिए सघर्ष चलता ही र
होता है कि ोग, नैतिक सिद्धान्तो को भू
लगते हैं, और दूसरा यह कि क्रमश उनके
उनके चरित्र, बदल जाते है।

इन सघर्षो को कम करने अथवा दूर क
लोग या तो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में सु

होती है। श्री हालैड रोज ने लिखा है कि नेपोलियन की युद्ध सम्बन्धी सफलताओ का प्रमुख कारण 'वह आशु गति तथा साधन-सम्पन्नता थी जो उसके मित्रो तथा शत्रुओ दोनो को आश्चर्य मे डाल देती थी', 'उसके नयोजनो की वह साहसिकता' जो दुश्मनो को आश्चर्यपूर्ण विस्मय मे डाल देती थी ।[1] जहाँ यह ठीक है कि मानव-व्यवहार परिवेश द्वारा उपस्थापित अनेक सम्भावनाओ के क्षेत्र में अनुष्ठित होता है, वहाँ इसमे सन्देह किया जा सकता है कि उस व्यवहार का कोई भी सिद्धान्त, फिर चाहे वह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक हो अथवा आर्थिक या समाज-शास्त्रीय, हमे यह क्षमता दे सकता है कि हम उस व्यवहार के सब सम्भाव्य मोडो तथा विवर्तनो को, जिन्हे मानवीय सृजनशीलता घटित कर सकती है, पूर्वाभासित कर लें। प्रसिद्ध लेखक मैकियावेली ने ड्यूक वेलेण्टिनो की कूटनीति से सम्बद्ध एक घटना का उल्लेख किया है। ड्यूक ने एक बार अपने बहुत से प्रतिपक्षी राजाओ को मीठे निमन्त्रण द्वारा इकट्ठा कर लिया, और फिर उन्हे भयकर प्रवचन द्वारा एक साथ मरवा डाला ।[2] एकत्रित होने वाले बहुत से राजाओ मे सिर्फ एक को उसका निमत्रण खटका था, यद्यपि बाद मे वह स्वय वहाँ आकर सम्मिलित हो गया था।

साराश रूप में हम कह सकते है कि मनुष्य के कर्म मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक-सास्कृतिक स्थितियो और मानवीय सृजनशीलता के बीच होनेवाली क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ से निर्धारित होते है। मनुष्य की प्रेरणाएँ (Motives) मुख्यत उसकी मनोवैज्ञानिक प्रकृति से निर्धारित होती है, किन्तु वे प्रेरणाएँ जिन लक्ष्यो को प्रस्तावित करती है उनके स्वरूप का निर्धारण मुख्यत उन सामाजिक वास्तविकताओ तथा सास्कृतिक मनोभावों द्वारा होता है जो किसी कर्ता का परिवेश बनाते है। यह कहने की जरूरत नही कि मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक-सास्कृतिक स्थितियाँ लगातार एक-दूसरी से क्रिया-प्रतिक्रिया करती रहती है। उदाहरण के लिये व्यक्ति को जीवन मे जो सफलताएँ तथा असफलताएँ मिलती है वे उसके लक्ष्यो के स्वरूप को बदलती रहती है; इसी प्रकार अपने सास्कृतिक परिवेश से वह जिन मूल्यात्मक मनोभावों को ग्रहण करता है वे उसकी प्रेरणाओ का रूप बदलते रहते है। मनुष्य का अध्ययन करनेवाली अनेक विद्याएँ उठ खडी हुई है जिनका कारण या तो यह जानने की कोशिश है कि विभिन्न मानवीय प्रेरणाएँ किन जटिल ढगो मे व्यापृत होती है; अथवा यह जानने की अभिलाषा कि मनुष्य विभिन्न लक्ष्यो तथा मूल्यो की प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न तरह प्रयत्न करता है।

## मानवीय विद्याओं का सामान्य वर्गीकरण

मानवीय व्यवहार को दो विभिन्न दृष्टियो से देखा जा सकता है  एक या अनेक व्यक्तित्वो की अभिव्यक्ति के रूप में, अथवा ऐसे प्रयत्न या प्रयत्न-परम्परा के रूप में जिसका लक्ष्य यथार्थ को अभिलषित रूप में सगठित कर देना है। मानव-व्यवहार के अध्येताओ की रुचि या तो उन नर-नारियो मे हो सकती है जिनका उन व्यवहारो के पीछे हाथ है, अथवा मानवीय घटनाओ एव कर्मो की दिशा और उनके परिणामों में। प्रथम कोटि के अन्वेषक प्राय यह जानने की विशेष चेष्टा करते है कि विभिन्न कार्य-कलापो के पीछे कौन-सी प्रेरणाएँ काम कर रही थी, और उन प्रेरणाओ तथा उनसे सम्बद्ध आवेगात्मक एव मूल्यात्मक मनोभावो का उदय कैसे हुआ, ये अन्वेपक घटनाओ से सम्बद्ध नायको तथा नायिकाओ में विशेष रुचि लेते है। दूसरे अन्वेयक सम्वद्ध कर्ताओ की उतनी चिन्ता न करते हुए यह देखने की कोशिश करते है कि विभिन्न घटनाओ तथा कार्यकलापों ने किस प्रकार के परिणाम उत्पन्न किये, और कहाँ क्या-क्या प्रभाव डाला। मानवीय क्रिया-कलापो के प्रति ये दो मनोभाव दो प्रकार की विद्याओ या शास्त्रो को जन्म देते है। एक छोर पर व्यक्तिगत जीवनी होती है, और दूसरे छोर पर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास। मनुष्य के जीवन-नाटक के ये दो भिन्न, वर्णनात्मक अध्ययन-प्रकार है। किन्तु व्यवहार में इतिहास नाम की चीज अनेक शाखा-प्रशाखाओ में विभक्त हो जाती है, जैसे राजनैतिक इतिहास, आर्थिक इतिहास, धार्मिक इतिहास इत्यादि। जीवनियाँ भी अनेक प्रकार की होती है, और वे जीवन की किसी एक अथवा अनेक प्रेरणाओ से सम्बद्ध अभिव्यक्तियों का अध्ययन करती है। केवल हमारे युग में यह कोशिश की गई है कि जीवनी के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के समस्त सार्थक जीवन का समावेश कर लिया जाय।

वर्गीकरण का दूसरा सिद्धान्त विभिन्न मानवीय विद्याओ की व्यापकता के विभिन्न दर्जो से प्राप्त होता है। जीवनी तथा इतिहास दोनो विशेपो (Particulars) का अध्ययन करते हैं, उन्हें विशेषों का अध्ययन करना भी चाहिए। मनोविज्ञान को हम जीवनी का सामान्य रूप कह सकते है। जीवनी के अध्ययन का विषय किसी एक व्यक्ति के जीवन मे व्यापृत होनेवाली प्रेरणाओ का विकास तथा उनकी अभिव्यक्तियाँ है। इसके विपरीत मनोविज्ञान का लक्ष्य उन सामान्य नियमो का अन्वेपण है जिनके अनुरूप समस्त व्यक्तियो की जीवन-प्रेरणाएँ विकसित

होती है। विभिन्न सामाजिक विज्ञानो से मनोविज्ञान की भिन्नता इसमे है कि उसकी वर्णनात्मक तथा व्याख्यात्मक धारणाएँ व्यक्ति-केन्द्रित होती है, वे परिवेशगत स्थितियो के प्रति सकेत कर सकती है, किन्तु गौण रूप मे। घटनाओ के कारणो की खोज करते हुए मनोवैज्ञानिक चाहे कितनी दूर क्यो न चला जाय, किन्तु अन्त मे उसे व्यक्ति के समीप लौटना पड़ता है। इस दृष्टि से तथा कथित समूह-विज्ञान (Crowd Psychology) समूहगत अथवा भीड में स्थित व्यक्ति का अध्ययन करता है, और सामाजिक मनोविज्ञान समाजगत अथवा समाज में स्थित व्यक्ति का।

इसी प्रकार हम सामाजिक विज्ञानो को इतिहास का समान्यीकृत रूप कह सकते है। उदाहरण के लिये अर्थशास्त्र उन तथ्यो का सामान्यीकृत अध्ययन है जिनसे आर्थिक इतिहास का निर्माण होता है। एक सामान्यीकृत विद्या के रूप में अर्थशास्त्र उन कानूनो का पता लगाना चाहता है जो मनुष्यो अथवा समाजो के आर्थिक व्यवहार का नियमन करते है। सामान्य रूप मे यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विज्ञानो द्वारा अधीत होने वाले तथ्य कुछ दूर तक ही समाज के सदस्यो की सचेत क्रियाओ का परिणाम होते है। इसका मतलब यह है कि वे तथ्य या घटनाएँ दूसरी शक्तियो द्वारा भी निर्धारित होती है, यद्यपि उनकी महत्ता का अनुभव केवल सचेत व्यक्ति ही करते है। इस प्रकार के तथ्यों के उदाहरण अनेक है योरपीय पुनर्जागृति, योरप का सुधार-आन्दोलन ( Reformation ), पूंजीवाद का उदय, फ्रास की राज्य-क्रान्ति, मँहगाई की वृद्धि, आत्महत्या, अपराध-वृद्धि, बेकारी, इत्यादि। सामाजिक विज्ञान इन चीजो के उदय के कारणो का विश्लेषण करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, जैसा कि इतिहास करता है, वे ऐसे सामान्य नियमो की खोज करते है जो उन तथ्यो की व्याख्या कर सके।

हमने कहा कि मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञान क्रमश जीवनी तथा इतिहास के सामान्यीकृत अध्ययन प्रस्तुत करते है। कुछ विद्याएँ अथवा अध्ययन ऐसे है जिन्हे जीवनी और इतिहास तथा उपरोक्त विज्ञानो के बीच रखा जा सकता है, जैसे किसी एक राष्ट्र अथवा समाज की प्रवृत्तियो का अध्ययन करने का प्रयत्न। उदाहरण के लिये जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने हिन्दू-धर्म, कन्फ्यूशियस के सम्प्रदाय तथा प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के अध्ययन प्रस्तुत किये है, इसी प्रकार निकोलाय डेनिलेव्स्की ने रूस और योरप के सम्बन्ध का अध्ययन किया है।

विभिन्न कोटियो के अर्थो पर ध्यान रखने से मानवीय विद्याओ में किस प्रकार अमूर्तता आती है इसके निदर्शन में हम इतिहास तथा कथा-साहित्य के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

यह देखना कठिन नही है कि ऐतिहासिक अध्ययन विस्तृत प्रत्याहरण पर निर्भर करता है। इतिहास सब मनुष्यो के व्यापारो का अध्ययन नही करता, वह कुछ प्रधान व्यक्तियो के व्यापारो का ही अध्ययन करता है। किन्तु इतिहास महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो के भी समस्त व्यापारो का अध्ययन नही करता। वह उनकी उन क्रियाओ का ही अध्ययन करता है जिन्होने महत्वपूर्ण घटनाओ की दिशा को प्रभावित किया, अथवा जो उनके दिशा-निर्धारण में प्रासगिक थी। वस्तुत इतिहास के अध्ययन का विपय यह देखना है कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व रखनेवाले कतिपय प्रयोजन किस प्रकार फलीभूत अथवा असफल हुए। इतिहास के अमूर्त रूप को दर्शित करने का एक दूसरा ढग यह है कि हम उसके विषयभूत तथ्यो की प्रकृति का विचार करें। ये तथ्य अधिकाश तो प्राचीन लेखो, अभिलेखो अथवा पुस्तको से मिलते है और कुछ प्राचीन हथियारो तथा अन्य उपकरणो, भवनो, चित्रो आदि के रूप में उपलब्ध होते है। ऐतिहासिक तथ्यो के सग्रह में दो प्रकार का चयन निहित रहता है प्रथमत हम उन लेखो आदि पर निर्भर करते है जिनमें अतीत घटनाओ का चयन-मूलक उल्लेख है—यह चयन मूल लेखको द्वारा किया गया होता है, दूसरे, इतिहासकार विद्यमान लेखो आदि से **प्रामाणिकता, विश्वसनीयता** तथा **प्रासगिकता** के आधार पर चयन करता है।

ऊपर के निष्कर्प को एक दूसरी विचारणा से भी पुष्ट किया जा सकता है। कहा गया है कि इतिहास की कोई विपय-वस्तु नही होती। विपय-वस्तु पाने के लिये 'इतिहास' शब्द को अपने साथ कोई न कोई विशेपण लगाना पडता है।[१] उदाहरण के लिए हम राजनैतिक इतिहास, आर्थिक इतिहास अथवा धार्मिक इतिहास की भी चर्चा करते है। मतलव यह कि किसी जनसमूह, देश अथवा युग का जीवन वडा जटिल होता है, एक समय में इतिहास उस जीवन के किसी एक पहलू का ही अध्ययन कर पाता है। जीवन के दूसरे पहलुओ के समझने के लिये किसी जाति, देश या युग के कला-साहित्य, दर्शन, दडनीति आदि की छानवीन अपेक्षित हो सकती है।

इसलिये, यह कहना वहुत ज्यादा ठीक नही है कि जहाँ समाज-शास्त्र सामाजिक अस्तित्व के नियामक कानूनो का अध्ययन करता है, वहाँ इतिहासकार उस अस्तित्व

का मूर्त्त ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होता है।[10] हमारा अनुमान है कि कोई भी इतिहास किसी जाति अथवा युग के सम्पूर्ण अस्तित्व या जीवन को पूर्णतया वर्णित तथा मूर्त्त नही कर सकता। इतिहासकार केवल यह कर सकता है कि वह एक जाति और उसके नेताओ के जीवन मे घटित होने वाले कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तनो अथवा परिवर्तन-शृखलाओ का सम्बद्ध एव प्रभावशाली वर्णन उपस्थित कर दे। इतिहासकार विचाराधीन जीवन में से किन घटनाओ का चयन करेगा और उनके किन पहलुओ पर गौरव देगा, यह इस पर निर्भर करेगा कि उस जीवन के कौन-से प्रयोजन इस इतिहास-लेखक की दृष्टि मे महत्वपूर्ण है।

निष्कर्ष यह कि इतिहास आवश्यक रूप में अमूर्त होता है। समझा जाता है कि कथा-साहित्य मे विभिन्न पात्रो के जीवनो के पूर्ण चित्र दिये जाते है, पर ऐसी बात नही है। यह लक्षित करने की बात है कि जीवन के जिन पक्षो में उपन्यासकार का मन रमता है, उन पर प्राय इतिहास-लेखक की दृष्टि नही जाती। इससे सिद्ध होता है कि जीवन की समृद्ध विविधता पूरी तरह न इतिहास के पृष्ठो मे ही समा सकती है, न कथा-साहित्य मे। उपन्यासकार श्री ई० एम० फार्स्टर के अनुसार जीवन के मुख्य तथ्य पाँच है जन्म, भोजन, नींद, प्रेम और मृत्यु।[11] एक इतिहासकार इन तथ्यो के बारे में कितना कम कहता है! शायद इनमे से वह मृत्यु का ही अधिक उल्लेख करता है। स्वय उपन्यासकार भी उक्त तथ्यो के बारे मे बहुत ज्यादा बात नही करता, जीवन के सम्बन्ध मे लिखते हुए वह उनका उल्लेख वस्तुगत यथार्थ के अनुरूप नही करता। आप कल्पना कर सकते है कि यदि एक उपन्यासकार उस प्रत्येक भोजन के अवसर का जो उसके हरेक पात्र के जीवन में आता है, विस्तृत वर्णन करने लगे, तो वह अपने पाठको को कितना ऊबा देगा। वस्तुत, जैसा कि श्री फार्स्टर ने लिखा है,उपन्यास मे भोजनका उद्देश्य पात्रोंके शरीर का पोषण नही होता, उसका उपयोग यह होता है कि अनेक लोगो को एक जगह इकट्ठा कर दिया जाय। उपन्यास मे भोजन का सामाजिक प्रयोजन होता है।[12] कथा-साहित्य में प्रत्याहरणसे काम लिया जाता है, इसका दूसरा निदर्शन यह है कि उपन्यास के अन्दर विभिन्न पात्र एक-दूसरे के प्रति जितने सवेदनशील होते है, वैसा असली जीवन में प्राय नही होता।

जो उपन्यास के बारे मे सही है वही न्यूनाधिक जीवनी के बारे मे भी सत्य है। यदि जीवनीकार वर्णित जीवन की घटनाओ मे से चयन न करे तो वह तथ्यो के बड़े-से-बड़े प्रेमी के धैर्य को थका देगा।

ऊपर की विचारणाओ से दूसरा यह निष्कर्ष निकलता है कि **मानवीय विद्याएँ आवश्यक रूप में मूल्यानुप्राणित (Evaluative) होती हैं।** जब जीवनीकार अथवा इतिहास लेखक उल्लेख के लिये कतिपय विवरणो का चयन करता है, और कुछ की उपेक्षा कर देता है, तो वह प्रच्छन्न रूप में घटनाओ की महत्ता के किसी पैमाने का प्रयोग कर डालता है। जर्मन वैज्ञानिक श्री श्रोडिन्जर ने लिखा है कि जो तथ्य विज्ञान के सामान्य कथनो का आधार होते हैं वे चयनात्मक होते हैं। हम असख्य प्रयोगो को कर सकते हैं, किन्तु करते नही। कुछ प्रयोग बडे महँगे पडते हैं, और कुछ में हमारी अभिरुचि नही होती।[१४] किन्तु मानवीय अध्ययन-क्षेत्रो में हम सिर्फ इसलिये कुछ अनुभवो की उपेक्षा कर देते हैं कि वे अरोचक हैं। इतिहासकार, अर्थशास्त्री तथा समाजशास्त्री प्राय उन तथ्यो की ओर ध्यान देते हैं जो सनसनीपूर्ण अथवा दूसरे किसी कारण से महत्वपूर्ण जान पडते हैं। उदाहरण के लिये किसी इतिहासकार ने कभी इसका वर्णन नही किया कि अपने आदेश या हुक्मनामे लिखते समय अशोक अथवा अकबर किस प्रकार कलम पकडते और अपनी उँगलियो को सचालित करते थे, अथवा घोडे पर चढते हुए वे कैसे अपने पैर को उठाते थे।

हमने अब तक यह कहा कि मानवीय विद्याएँ आवश्यक रूप में मूल्यानुप्राणित होती हैं, अब हम कहना चाहते हैं कि उन्हे वैसा होना चाहिये, अर्थात् अपनी सामग्री के चयन में उन्हें मूल्य-दृष्टि से काम लेना चाहिये। इन विद्याओ का यह काम नही है कि किसी घटना के सम्पूर्ण कारणो अथवा परिणामो का अध्ययन करें, उन्हे विशिष्ट कारणो और विशिष्ट परिणामो का ही अध्ययन करना चाहिए। विश्व के समस्त विवेकशील विचारक तथा शिक्षक यही करते आये हैं। यदि आधुनिक मनोविज्ञान तथा सामाजिक विज्ञानो को साम्प्रतिक वन्ध्यापन की स्थिति से मुक्त होना है, तो उन्हें भी वैसा ही करना पडेगा।

मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के क्षेत्र मे प्रस्तुत कठिनाइयो का वर्णन करते हुए एक आधुनिक अमरीकी मानसशास्त्री ने लिखा है

अमरीकी मनोविज्ञान ने सिद्धान्तो की बहुत कम सृष्टि की है, इस पर आश्चर्य नही करना चाहिए यदि वह अर्थात् अमरीकी मनोवैज्ञानिक एक वैज्ञानिक के रूप में अपनी ख्याति चाहता है, तो उसे विवश होकर अपने को अपेक्षाकृत ऐसे सरल तथ्यों के विश्लेषण तक सीमित रखना पडता है जिनमें विवर्तमान तत्व (Variables)

संख्या में कम, विविक्त, तथा कठोर प्रयोगात्मक नियंत्रण के योग्य हैं, किन्तु मानव-व्यवहार के ज्यादा महत्वपूर्ण पहलू ऐसे व्यवहार की श्रेणी में आयेंगे, इसकी सम्भावना कम है, क्योंकि वे प्राय अनेक कारणों के परिणाम होते हैं और सहज पकड़ में आनेवाले नहीं होते। परिणाम यह है ..कि अमरीका में मानव व्यवहार का अध्ययन दो विरोधी रूप धारण करता है, एक ओर अनुशासनहीन कोरा चिन्तन रहता है, और दूसरी ओर कठिन अनुशासित वन्ध्यापन।'[१५]

जहाँ कोई भी समझदार व्यक्ति अनुशासनहीन कोरे चिन्तन के पक्ष में नहीं होगा, वहाँ यह स्वीकार करना चाहिए कि मानव-व्यवहार के उन ऊँचे रूपों की उपेक्षा जिन्हें समझना ज्ञान और मानवीय कल्याण दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, किसी भी तरह उचित नहीं कही जा सकती। यदि मनोविज्ञान या दूसरे मानवीय शास्त्र लगातार मानव-व्यवहार के उच्चतर रूपों की अवहेलना करें, तो अवश्य ही वे वन्ध्या अथवा प्रभावशून्य हो जायेंगे, और जीवन-विवेक के प्रसार में कुछ भी योग नहीं दे सकेंगे। निष्कर्ष यह कि मानवीय विद्याओं को अनिवार्य रूप में मूल्य-दृष्टि से अनुप्राणित होकर महत्वपूर्ण अनुभव-क्षेत्रों का अध्ययन करना चाहिये।

मानवीय विद्याओं की तीसरी विशेषता यह है कि वे ऐतिहासिक होती हैं। इसका मतलब यह है कि वे जिस विषय-वस्तु का अध्ययन करती हैं वह मानवीय इतिहास की धारा में विद्यमान होती है। उसमें उन कर्मों तथा घटनाओं का समावेश होता है जो किन्हीं व्यक्तियों अथवा समूहों के जीवन-इतिहास का अंग रह चुकी हैं। यूकेन ने कहा है 'समस्त मानव-कर्म इतिहास की चीज है। खान खोदनेवाले अथवा दूकानदार का कार्य इस वर्ष के इतिहास का भाग है और इसलिये वह इतिहास की चीज है।'[१६]

हमें कुछ देर रुककर ऊपर के वक्तव्य के अभिप्रायों को समझने की कोशिश करनी चाहिए। हम फिर यूकेन को उद्धृत करेंगे। वे कहते हैं: 'प्रकृति-जगत में केवल एक क्रम का अस्तित्व है, और रहा है, किन्तु आर्थिक अवस्थाओं की एक अपरिमित संख्या और अपरिमित बदलनेवाली विविधता है।'[१७] जो बात आर्थिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में सही है, वही राजनैतिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक व्यवस्थाओं पर लागू होती है। चूँकि मानवीय विद्यायें ऐतिहासिक होती हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् भिन्न-भिन्न कोटियों की व्यवस्थाओं अथवा मानवीय व्यवहार की पद्धतियों का अध्ययन

करना पडता है। यह बात इतिहास के बारे में बडी स्पष्ट है। काल-क्रम से हम इतिहास को प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक युगो में विभाजित करते हैं, और देशक्रम से विभिन्न राष्ट्रो के इतिहासो में। किसी भी राष्ट्र के जीवन के किसी पहलू का इतिहास विभिन्न युगो में एकरस नही रहता, और किन्ही भी दो राष्ट्रो का विकास-क्रम समान नही होता।

कहा गया है कि इतिहास मे घटनाओ को सम्बद्ध रूप मे उपस्थित कर देना ही उनकी व्याख्या करना है। विशेप रूप में ऐतिहासिक व्याख्या सदैव किसी विशेप की व्याख्या होती है। इसलिये इतिहास नामक विज्ञान का उद्देश्य यह नही है कि वह उन नियमो की खोज करे जिनके अनुसार इतिहास की प्रगति होती है। इस प्रकार के नियमो का अध्ययन करनेवाली शाखा को, सम्भवत गलती से, इतिहास-दर्शन का नाम दिया गया है।

जैसा कि हमने पहले कहा मानवीय विद्याएँ अपनी सामग्री या तो जीवनी से या इतिहास से प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त करती हैं। सामाजिक विज्ञान इस सामग्री का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं, इमके विपरीत मानवीय अवीतियाँ (Humanities) अर्थात् कला-साहित्य, नीति-शास्त्र आदि उस सामग्री का उपयोग नवीन सृष्टि अथवा आदर्श-निर्धारण के लिये करते हैं। इस सम्बन्ध में दो वाते उल्लेखनीय हैं। जहाँ हम इतिहासकार का नाम प्राय उस व्यक्ति को देते हैं जिसने एक या अधिक देशो के एक या अधिक युगो के सामान्य इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन किया है, वहाँ अर्थशास्त्री तथा वैसे दूसरे शव्दो के साथ उस प्रकार का कोई अनुपग नही जगता। हम एक अर्थशास्त्री से यह आशा नही करते कि उसने किसी युग अथवा देश के आर्थिक इतिहास का अध्ययन किया होगा। दूसरे, एक अर्थशास्त्री, इतिहासकार से भिन्न और इतिहास के दार्शनिक के समान ढग से, ऐसे कानूनो की खोज करता है जो इस या उम समाज पर नही वल्कि समस्त आर्थिक समाजो पर लागू होगे, उन ममाजो पर जो जीवित रह चुके हैं, और उन पर जो भविष्य में जीवित होगे।

प्रश्न है, उम व्याख्या की प्रकृति में जो इतिहामकार द्वारा विशेप का अध्ययन करते हुए दी जाती है और उममें जो किसी समाज-वैज्ञानिक (अर्थशास्त्री, नर-वैज्ञानिक, अथवा समाजशास्त्री) द्वारा दी जाती है, क्या अन्तर होता है ? दूसरा प्रश्न है, मानवीय विद्याओं मे प्रयुक्त की जानेवाली विभिन्न पद्धतियो और उनके

द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की परीक्षा कैसे की जाय ? आगे हम इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करेंगे।

## मानवीय विद्याओं में व्याख्या : सामान्य विवेचन

जिसे हम व्याख्या कहते हैं वह एक मानवीय व्यापार है। प्रत्येक मानवीय व्यापार का कोई न कोई लक्ष्य होता है। व्याख्या का लक्ष्य किसी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में या तो जिज्ञासा का शमन है, अथवा उस विषय-वस्तु को समझ लेना। जो जिज्ञासा मनुष्य के द्वारा व्याख्या-सूत्र की खोज कराती है वह अवास्तविक तथा घटिया भी हो सकती है, और वास्तविक तथा गम्भीर भी। इसी प्रकार बुद्धि द्वारा प्राप्त होनेवाली अवगति या समझ भी विभिन्न श्रेणियों की होती है। जिस व्यक्ति की जिज्ञासा शिक्षित और विकसित है वही उचित ढंग से प्रश्न कर सकता है, वही यह भी जान सकता है कि कहाँ पहुँच कर उसके प्रश्न को रुकना अथवा नहीं रुकना चाहिए।

जिज्ञासा के दो सामान्य रूप हैं, एक का सम्बन्ध वस्तुओं के अस्तित्व से और दूसरे का उनके मूल्य या महत्व से होता है। किसी भी घटना अथवा स्थिति के सम्बन्ध में हम दो मौलिक प्रश्न कर सकते हैं : एक यह कि वह कैसे अथवा क्यों अस्तित्व में में आयी, और दूसरे यह कि उसका हमारे जीवन-मूल्यों की अपेक्षा से क्या महत्त्व अथवा सार्थकता है ? यहाँ हम जोड़ना चाहेंगे कि अन्ततः हमारी जिज्ञासा के मूल में यही खोज रहती है कि कौन-सी वस्तुएँ कितनी अर्थपूर्ण अथवा महत्त्वशाली हैं। विभिन्न भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान उन चीजों का अध्ययन करते हैं जिनका हमारे मूल्यों से दूर का सम्बन्ध है, जब कि मानवीय अधीतियाँ उन वस्तुओं तथा अनुभवों से सम्बन्धित हैं जो हमारे मूल्यों से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। किन्तु इतिहास और समाज-विज्ञान जैसी विद्याओं की विषय-वस्तु इस अर्थ में मूल्यवान होती है कि वह हमारे जीवन को समृद्ध बनाती है। उसका अध्ययन करते हुए हम दूसरे नर-नारियों की जीवन-प्रक्रिया में साझेदार बन जाते हैं। जिसे हम वैज्ञानिक चिन्तन कहते हैं, अर्थात् भौतिक विज्ञानों का चिन्तन, उसका भी एक सौन्दर्य-मूलक पक्ष होता है, विशेषतः उस चिन्तन के उच्चतर-स्तरों में। इसलिये अस्तित्व-सम्बन्धी जिज्ञासा तथा मूल्य-सम्बन्धी जिज्ञासा को एक-दूसरे से नितान्त पृथक् नहीं किया जा सकता : दोनों में मूल्यात्मकता के स्तरों तथा भिन्न कोटियों के सौन्दर्य का अन्तर ही रहता है।

दो प्रकार की जिज्ञासाओ से सम्बद्ध व्याख्याएँ भी दो प्रकार की होती है, अर्थात् अस्तित्व-मूलक और आदर्श-सम्बन्धी अथवा वैज्ञानिक और दार्शनिक। अस्तित्व-मूलक अथवा वैज्ञानिक व्याख्या मूल रूप में कार्य-कारण सम्बन्ध का उद्घाटन करती है। इस व्याख्या में हम एक घटना को उसकी उन पूर्ववर्ती घटनाओ से सम्बन्धित करते है जो उसके घटित होने का कारण हुई। इसके विपरीत आदर्श मूलक व्याख्या किसी कर्म, स्थिति अथवा अनुभव का मूल्याकन करती है। ऐसा या तो तुलना द्वारा किया जाता है, अथवा किसी आदर्श की अपेक्षा से। जिसे प्रयोजन-मूलक व्याख्या (Teleological Explanation) कहते है वह एक प्रकार की कार्य-कारण-मूलक व्याख्या ही होती है, क्योकि तथा-कथित चरम हेतु (Final Cause) एक कल्पित लक्ष्य अथवा प्रयोजन के रूप में कर्ता के मन मे विद्यमान रहते हुए उसके कर्म का निर्धारण करता है। इसी प्रकार तर्कमूलक व्याख्या अथवा तर्कशास्त्रीय व्याख्या (Logical Explanation) का अन्तर्भाव आदर्श-मूलक व्याख्या में किया जा सकता है। उस व्याख्या में हम किसी निष्कर्ष का मडन उसके तार्किक आधार (Ground) की अपेक्षा में करते है।

अधुनातन समय मे कुछ विचारको ने कार्य-कारण की धारणा की लम्बी-चौडी समीक्षा की है और यह राय दी है कि एक व्याख्या-सिद्धान्त के रूप मे उसका परित्याग कर देना चाहिए। बतलाया गया है कि भौतिक विज्ञान में कार्य-कारण सम्बन्ध की धारणा व्यर्थ हो चली है, और उसके स्थान पर सम्बद्ध परिवर्तन अथवा परिवर्तन-मूलक सहचार (Functional Correlation) की धारणा प्रतिष्ठित हो गई है। किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे सम्बद्ध परिवर्तन का प्रत्यय कार्य-कारण-भाव की धारणा का स्थानापन्न बन सकता है। जैसा कि मैकाइवर ने दर्शित किया है, मानव-जीवन मे परिवर्तन एक ही दिशा मे होता है। परिवर्तन की दिशा बदलने की सम्भावना का अभाव कार्य-कारण-सम्बन्ध का आवश्यक तत्व है, जिसे गणित का कोई समीकरण (जो सम्बद्ध परिवर्तन को प्रकट करता है) अभिव्यक्ति नही दे सकता।[१८] मानवीय व्यापारो की व्याख्या कार्य-कारण की शरण लिये बिना नही हो सकती इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य स्वय अपने को एक कारण अथवा कर्ता के रूप मे देखता है और उसे अपने साथियो की कारणता तथा कर्तृत्व में विशेष अभिरुचि रहती है। अपने परिवेश की अपेक्षा से उसके कर्तृत्व की क्या सम्भावनाएँ है, इसमे भी उसे गहरी अभिरुचि होती है। जब

एक फौजी दस्ता अपने सेनानायक की आज्ञा मे दुश्मन पर गोले बरसाना शुरु कर देता है, तो, स्थिति को समझने मे, इस जानकारी से कोई फायदा नही होता कि वह गोलाबारी सेना-नायक द्वारा उच्चरित कतिपय ध्वनियो के उत्पादन अथवा ग्रहण से सहचरित थी। इसी प्रकार जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस की पुत्री से विवाह किया, तो उससे सहचरित हजारो घटनाएँ घटित हो रही होगी, जैसे शहनाई तथा दूसरे बाजे बजना, तथा सैकडो नर-नारियो का इधर-उधर चलना-फिरना, किन्तु वे सहचरित घटनाएँ उस विवाह की सार्थकता समझने में तनिक भी सहायक नही हो सकती थी।

इन विचारणाओ से हम उस व्याख्या के बारे मे जो किसी मानवीय विद्या मे ग्राह्य हो सकती है, एक दूसरे तत्व का परिज्ञान प्राप्त करते हैं। उस व्याख्या का लक्ष्य व्याख्येय घटना के किसी खास पहलू पर प्रकाश डालना होता है, न कि घटना की समग्रता पर। मानवीय विद्याएँ घटनाओ के जिन पहलुओ मे अभिरुचि लेती हैं वे खास अर्थों मे सार्थक या अर्थपूर्ण होते हैं। चन्द्रगुप्त के विवाह की घटना को समझने के लिये हम केवल उन्ही कारणात्मक तत्वो का विचार करते है जो उस विवाह के विशेष प्रयोजन को बुद्धिगम्य बना सके। सम्भवत उस विवाह का कोई राजनैतिक कारण तथा महत्व था। यह भी सम्भव है कि विवाह के कारण विशुद्ध रूप मे मनोवैज्ञानिक थे, यद्यपि राजा लोग केवल मनोवैज्ञानिक कारणो से विवाह कम ही करते हैं।

मैकाइवर ने अर्थपूर्ण ढग से कहा है: 'किसी भी घटना के कारण का उचित अन्वेषण उस विशिष्ट भेद पर ध्यान जमाता है जो दो स्थितियो मे पाया जाता है।'[११] मतलब यह है कि परीक्षक को यह देखना चाहिए कि पूर्व स्थिति की अपेक्षा से बाद की स्थिति मे कौन-सा खास अन्तर पैदा हो गया है जिसकी व्याख्या की अपेक्षा है। यहा हम जोडना चाहेंगे कि मानवीय स्थितियो मे उत्पन्न होनेवाला भेद या अन्तर सदैव किसी अर्थ या मूल्य का अन्तर होता है। इस सन्दर्भ मे अर्थ से मतलब किसी स्थिति या घटना के उन पहलू से है जो सम्बद्ध मनुष्यो के लिये साध्य रूप मे अथवा साधन रूप मे महत्वपूर्ण है। इसका यह मतलब नही कि एक ही स्थिति, घटना या कर्म मे विभिन्न प्रेक्षको के लिये एक साथ अनेक अर्थ निहित नही हो सकते। विभिन्न प्रेक्षक एक ही चीज को विभिन्न दृष्टियो से देखते है, और उसे विभिन्न रूपो मे अर्थवान पाते हैं। उदाहरण के लिये रूस के युद्ध में नैपोलियन की असफलता का रूस के लिये

दो प्रकार की जिज्ञासाओ से सम्बद्ध व्याख्याएँ भी दो प्रकार की होती है, अर्थात् अस्तित्व-मूलक और आदर्श-सम्बन्धी अथवा वैज्ञानिक और दार्शनिक। अस्तित्व-मूलक अथवा वैज्ञानिक व्याख्या मूल रूप में कार्य-कारण सम्वन्ध का उद्घाटन करती है। इस व्याख्या में हम एक घटना को उसकी उन पूर्ववर्ती घटनाओ से सम्वन्धित करते है जो उसके घटित होने का कारण हुई। इसके विपरीत आदर्श मूलक व्याख्या किसी कर्म, स्थिति अथवा अनुभव का मूल्याकन करती है। ऐसा या तो तुलना द्वारा किया जाता है, अथवा किसी आदर्श की अपेक्षा से। जिसे प्रयोजन-मूलक व्याख्या (Teleological Explanation) कहते है वह एक प्रकार की कार्य-कारण-मूलक व्याख्या ही होती है, क्योकि तथा-कथित चरम हेतु (Final Cause) एक कल्पित लक्ष्य अथवा प्रयोजन के रूप में कर्ता के मन मे विद्यमान रहते हुए उसके कर्म का निर्धारण करता है। इसी प्रकार तर्कमूलक व्याख्या अथवा तर्कशास्त्रीय व्याख्या (Logical Explanation) का अन्तर्भाव आदर्श-मूलक व्याख्या में किया जा सकता है। उस व्याख्या में हम किसी निष्कर्ष का मडन उसके तार्किक आधार (Ground) की अपेक्षा में करते है।

अधुनातन समय में कुछ विचारको ने कार्य-कारण की धारणा की लम्बी-चौडी समीक्षा की है और यह राय दी है कि एक व्याख्या-सिद्धान्त के रूप मे उसका परित्याग कर देना चाहिए। वतलाया गया है कि भौतिक विज्ञान मे कार्य-कारण सम्वन्ध की धारणा व्यर्थ हो चली है, और उसके स्थान पर सम्वद्ध परिवर्तन अथवा परिवर्तन-मूलक सहचार (Functional Correlation) की धारणा प्रतिष्ठित हो गई है। किन्तु इसमे सन्देह किया जा सकता है कि मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे सम्वद्ध परिवर्तन का प्रत्यय कार्य-कारण-भाव की धारणा का स्थानापन्न वन सकता है। जैसा कि मैकाइवर ने दर्शित किया है, मानव-जीवन में परिवर्तन एक ही दिशा मे होता है। परिवर्तन की दिशा वदलने की सम्भावना का अभाव कार्य-कारण-सम्वन्ध का आवश्यक तत्व है, जिसे गणित का कोई समीकरण (जो सम्वद्ध परिवर्तन को प्रकट करता है) अभिव्यक्ति नही दे सकता।[१८] मानवीय व्यापारो की व्याख्या कार्य-कारण की शरण लिये विना नहीं हो सकती इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य स्वय अपने को एक कारण अथवा कर्ता के रूप में देखता है और उसे अपने साथियो की कारणता तथा कर्तृत्व में विशेष अभिरुचि रहती है। अपने परिवेश की अपेक्षा से उसके कर्तृत्व की क्या सम्भावनाएँ है, इसमें भी उसे गहरी अभिरुचि होती है। जव

एक फौजी दस्ता अपने सेनानायक की आज्ञा से दुश्मन पर गोले बरसाना शुरू कर देता है, तो, स्थिति को समझने मे, इस जानकारी से कोई फायदा नही होता कि वह गोलाबारी सेना-नायक द्वारा उच्चरित कतिपय ध्वनियो के उत्पादन अथवा ग्रहण मे सहचरित थी। इसी प्रकार जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस की पुत्री से विवाह किया, तो उससे सहचरित हजारों घटनाएँ घटित हो रही होगी, जैसे शहनाई तथा दूसरे बाजे बजना, तथा सैंकडो नर-नारियो का इधर-उधर चलना-फिरना, किन्तु वे सहचरित घटनाएँ उस विवाह की सार्थकता समझने मे तनिक भी सहायक नही हो सकती थी।

इन विचारणाओं से हम उस व्याख्या के बारे मे जो किसी मानवीय विद्या मे ग्राह्य हो सकती है, एक दूसरे तत्व का परिज्ञान प्राप्त करते है। उस व्याख्या का लक्ष्य व्याख्येय घटना के किसी खास पहलू पर प्रकाश डालना होता है, न कि घटना की समग्रता पर। मानवीय विद्याएँ घटनाओ के जिन पहलुओं मे अभिरुचि लेती है वे खास अर्थो मे सार्थक या अर्थपूर्ण होते है। चन्द्रगुप्त के विवाह की घटना को समझने के लिये हम केवल उन्ही कारणात्मक तत्वो का विचार करते है जो उस विवाह के विशेष प्रयोजन को बुद्धिगम्य बना सकें। सम्भवत उस विवाह का कोई राजनैतिक कारण तथा महत्व था। यह भी सम्भव है कि विवाह के कारण विशुद्ध रूप मनोवैज्ञानिक थे, यद्यपि राजा लोग केवल मनोवैज्ञानिक कारणो से विवाह कम करते है।

मैकाइवर ने अर्थपूर्ण ढग से कहा है 'किसी भी घटना के कारण का उचित अन्वेषण उस विशिष्ट भेद पर ध्यान जमाता है जो दो स्थितियो में पाया जाता है। मतलब यह है कि परीक्षक को यह देखना चाहिए कि पूर्व स्थिति की अपेक्षा से बाद की स्थिति मे कौन-सा खास अन्तर पैदा हो गया है जिसकी व्याख्या की अपेक्षा है। यह हम जोडना चाहेगे कि मानवीय स्थितियो मे उत्पन्न होनेवाला भेद या अन्तर सदा किसी अर्थ या मूल्य का अन्तर होता है। इस सन्दर्भ मे अर्थ से मतलब किसी स्थिति या घटना के उन पहलू से है जो सम्बद्ध मनुष्यो के लिये साध्य रूप मे अथवा साधन रूप में महत्वपूर्ण है। इसका यह मतलब नही कि एक ही स्थिति, घटना या कर्म मे विभिन्न प्रेक्षको के लिये एक साथ अनेक अर्थ निहित नही हो सकते। विभिन्न प्रेक्षक एक ही चीज को विभिन्न दृष्टियो से देखते है, और उसे विभिन्न रूपो मे अर्थवान पाते है। उदाहरण के लिये रूस के युद्ध में नैपोलियन की असफलता का रूस के लि

दो प्रकार की जिज्ञासाओ से सम्बद्ध व्याख्याएँ भी दो प्रकार की होती हैं, अर्थात् अस्तित्व-मूलक और आदर्श-सम्बन्धी अथवा वैज्ञानिक और दार्शनिक। अस्तित्व-मूलक अथवा वैज्ञानिक व्याख्या मूल रूप मे कार्य-कारण सम्वन्ध का उद्घाटन करती है। इस व्याख्या में हम एक घटना को उसकी उन पूर्ववर्ती घटनाओ से सम्बन्वित करते हैं जो उसके घटित होने का कारण हुई। इसके विपरीत आदर्श मूलक व्याख्या किसी कर्म, स्थिति अथवा अनुभव का मूल्याकन करती है। ऐसा या तो तुलना द्वारा किया जाता है, अथवा किसी आदर्श की अपेक्षा से। जिसे प्रयोजन-मूलक व्याख्या (Teleological Explanation) कहते हैं वह एक प्रकार की कार्य-कारण-मूलक व्याख्या ही होती है, क्योकि तथा-कथित चरम हेतु (Final Cause) एक कल्पित लक्ष्य अथवा प्रयोजन के रूप में कर्ता के मन में विद्यमान रहते हुए उसके कर्म का निर्धारण करता है। इसी प्रकार तर्कमूलक व्याख्या अथवा तर्कशास्त्रीय व्याख्या (Logical Explanation) का अन्तर्भाव आदर्श-मूलक व्याख्या मे किया जा सकता है। उस व्याख्या में हम किसी निष्कर्ष का मडन उसके तार्किक आधार (Ground) की अपेक्षा में करते हैं।

अधुनातन समय मे कुछ विचारको ने कार्य-कारण की धारणा की लम्बी-चौडी समीक्षा की है और यह राय दी है कि एक व्याख्या-सिद्धान्त के रूप में उसका परित्याग कर देना चाहिए। वतलाया गया है कि भौतिक विज्ञान मे कार्य-कारण सम्वन्ध की धारणा व्यर्थ हो चली है, और उसके स्थान पर सम्बद्ध परिवर्तन अथवा परिवर्तन-मूलक सहचार (Functional Correlation) की धारणा प्रतिष्ठित हो गई है। किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे सम्बद्ध परिवर्तन का प्रत्यय कार्य-कारण-भाव की धारणा का स्थानापन्न वन सकता है। जैसा कि मैकाइवर ने दर्शित किया है, मानव-जीवन में परिवर्तन एक ही दिशा मे होता है। परिवर्तन की दिशा बदलने की सम्भावना का अभाव कार्य-कारण-सम्वन्ध का आवश्यक तत्त्व है, जिसे गणित का कोई समीकरण (जो सम्वद्ध परिवर्तन को प्रकट करता है) अभिव्यक्ति नही दे सकता।[१८] मानवीय व्यापारो की व्याख्या कार्य-कारण की शरण लिये विना नही हो सकती इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य स्वय अपने को एक कारण अथवा कर्ता के रूप में देखता है और उसे अपने साथियो की कारणता तथा कर्तृत्व में विशेष अभिरुचि रहती है। अपने परिवेश की अपेक्षा से उसके कर्तृत्व की क्या सम्भावनाएँ हैं, इसमें भी उसे गहरी अभिरुचि होती है। जब

उसकी इँगलैंड को हराने की इच्छा से प्रेरित थी, वहाँ वह नेपोलियन की उन प्रतिभा मे भी निर्धारित हुई जिसने घेरा डालने के विचार की उद्भावना की। बाद की घटनाएँ, जिनके कारण उसे सार्वभौम साम्राज्य की खोज करनी पड़ी, जहाँ एक ओर नेपोलियन के अध्यवसाय और लक्ष्य के प्रति स्थिर आसक्ति ने निर्धारित हुई वहाँ दूसरी ओर उस चीज मे जिसे हम परिस्थिति का तर्क (Logic of the Situation) अथवा परिवेश की शक्ति कह सकते हैं।

घेरा शुरू करने के बाद की नेपोलियन द्वारा अनुष्ठित क्रियाये दो-तीन सरल कोटियो के अर्थो या प्रयोजनो की भाषा मे समझी जा सकती हैं। दूसरी स्थितियो मे अधिक जटिल अर्थ निहित हो सकते हैं, जिनकी व्याख्या के लिये ज्यादा जटिल तरीको से आगे बढ़ना पड़ेगा। उदाहरण के लिये जिसे हम योरपीय पुनर्जागृति कहते हैं उसकी व्याख्या उन बहुसंख्यक कारणो के द्वारा करनी होगी जिन्होंने योरपीय जनता के समस्त मनोभावो तथा मूल्यो में एकाएक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया।

ऊपर के विश्लेषण की मदद से हम उन विभिन्न अन्वेषको के अनेक झगड़ो का निपटारा कर सकते हैं जिन्होंने, सामाजिक विद्याओ के क्षेत्र मे विभिन्न अन्वेषण-वृत्तियो तथा विभिन्न कारणो की महत्ता पर जोर दिया है। उदाहरण के लिये जहा सामाजिक विज्ञानो को महत्व देनेवाले पंडितो ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि मानव-व्यवहार के निर्धारण मे सामाजिक कारण ही प्रधान होते हैं, वहा मनोविज्ञान के हिमायतियो ने मनोवैज्ञानिक कारणो पर विशेष बल दिया है। उदाहरण के लिये प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजशास्त्री दुरखाइम ने अपनी प्रसिद्ध 'आत्महत्या" शीर्षक पुस्तक मे यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि विभिन्न देशो मे की जानेवाली आत्महत्याओ की संख्या मनोवैज्ञानिक कारणो के आलोक मे नहीं समझी जा सकती, वह सदा विभिन्न देशो तथा समूहो की सामाजिक स्थितियो की अपेक्षा मे ही समझी जा सकती है। दुरखाइम के निष्कर्षों के प्रति सन्देह प्रकट किया गया है। सिगमंड फ्रायड के अनुयायी उनके निष्कर्षों को स्वीकार नहीं करते। हमारा विचार है कि मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री उनमें कुछ विशिष्ट घटनाओ अथवा परिणामो की व्याख्या ज्यादा अच्छी तरह कर सकते हैं, और कुछ की कम अच्छी तरह। दुरखाइम के अन्वेषण का विषय मुख्यत यह समस्या थी कि क्यो विभिन्न समाजो तथा समूहो के लोग न्यूनाधिक संख्या में आत्महत्या करते हैं। इस स्थिति की व्याख्या सामाजिक कारणो द्वारा ही हो सकती थी। [illegible] विशेष मनोविज्ञान के सम्मुख [illegible] प्रश्न होता

एक अर्थ था और फ्रास के लिये दूसरा। फ्रास की दृष्टि मे नेपोलियन की असफलता के कारण एक प्रकार के थे, ओर रूस की दृष्टि मे दूसरे प्रकार के। इसी प्रकार दोनो देशो की दृष्टियो से नेपोलियन के हमले के परिणाम भी भिन्न-भिन्न थे।

मानवीय विद्याओ मे समस्त व्याख्याएँ अर्थपूर्ण तत्वो की भाषा मे प्रकट की जाती है। इन तत्वो के अन्तर्गत जहाँ एक ओर कर्ताओ की प्रेरणाओ, योजनाओ तथा इरादो का समावेश होता है, वहाँ दूसरी ओर परिवेशगत उन भौतिक-सामाजिक शक्तियो का सन्निवेश रहता है जो उन योजनाओ आदि की सफलता मे सहायक अथवा विघ्न रूप होती है। इस प्रकार ये व्याख्याएँ एक खास अर्थ मे बुद्धिगम्य बन जाती है, अर्थात् कोई भी समझदार मनुष्य जो विभिन्न स्थितियो का महत्त्व साध्य-साधन रूप मे हृदयगम कर सकता है, उन्हे समझ सकता है।

व्याख्या-सम्बन्धी उक्त दृष्टि को ऐतिहासिक व्याख्या के उदाहरण से समझा जा सकता है। ऐतिहासिक व्याख्या सबसे सरल कोटि की व्याख्या है जो मानवीय विद्याओ मे मिल सकती है। नीचे का उद्धरण श्री एच्० ए० एल्० फिशर द्वारा लिखित 'योरप का इतिहास' पुस्तक के नेपोलियन-सम्बन्धी अध्याय से लिया जा रहा है

इँगलैड को नीचा दिखाने की कोशिश मे नेपोलियन ने योरपीय महाद्वीप का घेरा डालने के नये विचार की उद्भावना की। यह मानकर चलते हुए कि इँगलैड व्यवसायियो का देश हे, उसने यह निष्कर्ष निकाला कि ऐसा देश इससे अधिक कष्टप्रद चोट नही पा सकता था कि योरपीय महाद्वीप का प्रत्येक बाजार उसके माल के लिये बन्द कर दिया जाय। तदनुसार स्पेन को आज्ञा दी गई कि वह पुर्तगाल पर आक्रमण करे, ओर फ्रेंच सेना का एक खड नेपिल्स के राजा पर चढ दौडा, ताकि वे व्यापार की ऐसी नीति अपनाये जो फ्रास के अनुकूल हो। यह शुरू से ही स्पष्ट था कि केवल भूमध्यसागर के तटो का घेरा स्वय मे विशेष महत्वपूर्ण नही था। यह नीति अधूरे रूप मे सफल नही हो सकती थी। 'सार्वभौम घेरे की मृगतृष्णा से आकृष्ट हुए नेपोलियन को विवश होकर एक सार्वभौम साम्राज्य के लक्ष्य का अनुसरण करना पडा।'[१]

यह अवतरण स्पष्टतया उन तत्वो की ओर सकेत करता है जो मानवीय व्यापारो निर्धारण करते है। नेपोलियन के योरप का घेरा डालने की नीति जहाँ एक ओर

उसकी इँगलैंड को हराने की इच्छा से प्रेरित थी, वहाँ वह नेपोलियन की उस प्रतिभा से भी निर्धारित हुई जिसने घेरा डालने के विचार की उद्भावना की। बाद की घटनाएँ, जिनके कारण उसे सार्वभौम साम्राज्य की खोज करनी पडी, जहाँ एक ओर नेपोलियन के अध्यवसाय और लक्ष्य के प्रति स्थिर आसक्ति से निर्धारित हुई वहा दूसरी ओर उस चीज से जिसे हम परिस्थिति का तर्क (Logic of the Situation) अथवा परिवेश की शक्ति कह सकते है।

घेरा शुरु करने के बाद की नेपोलियन द्वारा अनुष्ठित कियाये दो-तीन सरल कोटियो के अर्थो या प्रयोजनो की भाषा मे समझी जा सकती है। दूसरी स्थितियो मे अधिक जटिल अर्थ निहित हो सकते है, जिनकी व्याख्या के लिये ज्यादा जटिल तरीको से आगे बढना पडेगा। उदाहरण के लिये जिसे हम योरपीय पुनर्जागृति कहते है उसकी व्याख्या उन बहुसख्यक कारणो के द्वारा करनी होगी जिन्होने योरपीय जनता के समस्त मनोभावो तथा मूल्यो मे एकाएक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया।

ऊपर के विश्लेषण की मदद से हम उन विभिन्न अन्वेषको के अनेक झगडो का निपटारा कर सकते है जिन्होने, सामाजिक विद्याओ के क्षेत्र मे विभिन्न अन्वेषण-वृत्तियो तथा विभिन्न कारणो की महत्ता पर जोर दिया है। उदाहरण के लिये जहा सामाजिक विज्ञानो को महत्व देनेवाले पडितो ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि मानव-व्यवहार के निर्धारण मे सामाजिक कारण ही प्रधान होते है, वहाँ मनोविज्ञान के हिमायतियो ने मनोवैज्ञानिक कारणो पर विशेष बल दिया है। उदाहरण के लिये प्रसिद्ध फ्रासीसी समाजशास्त्री दुरखाइम ने अपनी प्रसिद्ध "आत्महत्या" शीर्षक पुस्तक मे यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि विभिन्न देशो मे की जानेवाली आत्महत्याओ की सख्या मनोवैज्ञानिक कारणो के आलोक मे नही समझी जा सकती, वह सख्या विभिन्न देशो तथा समूहो की सामाजिक स्थितियो की अपेक्षा मे ही समझी जा सकती है। दुरखाइम के निष्कर्षों के प्रति सन्देह प्रकट किया गया है। विशेषत फ्रायड के अनुयायी उनके निष्कर्षों को स्वीकार नही करते। हमारा विचार है कि मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री क्रमश कुछ विशिष्ट कार्यो अथवा परिणामो की व्याख्या ज्यादा अच्छी तरह कर सकते है, और कुछ की कम अच्छी तरह। दुरखाइम के अन्वेषण का विषय मुख्यत यह समस्या थी कि क्यो विभिन्न समाजो तथा समूहो के लोग न्यूनाधिक संख्या में आत्महत्या करते है। इस स्थिति की व्याख्या सामाजिक कारणो द्वारा ही हो सकती थी। क्योकि जिससे मनोविज्ञान से सम्बद्ध दूसरा प्रश्न होगा

एक ही सामाजिक परिस्थितियो मे कुछ व्यक्ति आत्महत्या करते है और कुछ नही, इसका क्या कारण है? एक ही सामाजिक परिवेश में कुछ थोडे लोग आत्महत्या करते है और अधिकाश लोग नही करते, इसका कारण वे मनोवैज्ञानिक तत्व ही हो सकते है जो कुछ व्यक्तियो को सामाजिक परिस्थिति के प्रति एक असामान्य रूप में प्रतिक्रिया करने को बाध्य करते है।

मानवीय व्यापारो के निर्धारण में केवल मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक शक्तियो का हाथ नही होता, वहाँ भौगोलिक शक्तियाँ भी काम करती हैं, और वे शक्तियाँ भी (जैसे शरीर की रचना तथा व्यापार आदि) जिनका अध्ययन भौतिक-शास्त्र और रसायन-शास्त्र, शरीर-रचना-शास्त्र तथा इन्द्रिय-विज्ञान में होता है। किन्तु इन सब कारणो द्वारा उत्पन्न कतिपय कार्य इतने सामान्य होते है कि वे घटनाओ तथा क्रियाओ के उन विशिष्ट पहलुओ को प्रभावित नही करते जिनका विशिष्ट सामाजिक विज्ञानो में अध्ययन होता है। उदाहरण के लिये नैपोलिअन एक सफल सेनानायक न बन पाता यदि उसका शरीर शक्तिशाली न होता और उसके हृदय, जिगर, फेफडे आदि ठीक काम न करते होते। किन्तु यह देखते हुए कि ये विशेपताएँ उसके हजारो सिपाहियो में पाई जा सकती थी, उन्हें सेनानायक नेपोलियन के व्यावर्तक गुण घोपित नही किया जा सकता। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। जलवायु, भोजन आदि का विभिन्न देशो के लोगो पर अवश्य ही प्रभाव पडता होगा, वे लोगो के रूप, रग, लम्बाई, चौडाई, शारीरिक सहनशीलता आदि का निर्धारण करते होगे, किन्तु उनकी कारणता द्वारा ऐसी विशिष्ट चीजो की व्याख्या नही की जा सकती जैसे विभिन्न देशवासियो के विभिन्न चिन्तन-प्रकार, दार्शनिक विश्वास, सामाजिक-राजनैतिक सस्थाएँ, इत्यादि। कई प्रसिद्ध विचारको ने जैसे मान्टेस्क्यू कार्ल रिटर, एफ्० रेतजेल आदि ने,[२१] इस प्रकार की व्याख्याएँ देने की कोशिश की है, जो कि हास्यजनक बन गई है। मानवीय जगत मे कार्य-कारण सम्बन्ध कैसे होता है और वहाँ आकडो से प्राप्त सहचार ( Statistical Correlation) का क्या अर्थ होता है, इसे वे ठीक से नही समझ सके।

## मात्रामूलक पद्धतिया तथा मानवीय विज्ञान

अब तक हमने यह दिखाने की कोशिश की कि मानवीय शास्त्रो में व्याख्या कार्य-कारण-मूलक होती है, और उसका सम्बन्ध घटनाओ तथा क्रियाओ मे निहित विशिष्ट

पहलुओ अथवा अर्थो से रहता है, उन अर्थो से जिनके सम्बन्धो का अन्वेषण हो रहा है। किन्तु विज्ञानो के क्षेत्र मे केवल विशेष घटनाओ की कारण-मूलक व्याख्या ही नही की जाती। इसके विपरीत विज्ञानो में इस बात की कोशिश होती है कि सामान्य नियमो पर पहुँचा जाय, जिनके द्वारा न केवल अतीत घटनाओ की व्याख्या हो सकेगी, बल्कि अनागत के सम्बन्ध मे भविष्यवाणियाँ भी की जा सकेगी। अतएव, अब हमे निम्न प्रश्न पर विचार करना पडेगा : मानवीय विद्याओं में किस प्रकार के सामान्य कथन (Generalisations) प्राप्त किये जा सकते है, और वहाँ कहाँ तक अनागत के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ की जा सकती हैं?

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि सामाजिक विज्ञान अपने विभिन्न क्षेत्रो मे आगे आने वाली घटनाओ के सम्बन्ध मे ठीक भविष्यवाणियाँ नही कर पाते। इस दृष्टि से ये विज्ञान भौतिक विज्ञानो से बहुत पीछे है। सामाजिक विज्ञान हमें मानवीय परिवेश पर वैसा नियत्रण भी नही देते जैसा भौतिक विज्ञान जडात्मक परिवेश पर देते है। इस दृष्टि से भौतिक विज्ञानो तथा सामाजिक विज्ञानो की उपलब्धियों मे बडा अन्तर है। इस अन्तर के कारण कुछ विचारको ने यह राय दी है कि मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे हमे उन्ही अन्वेषण-पद्धतियों का प्रयोग करना चाहिए जिनका प्रयोग भौतिक विज्ञानो में होता है। श्रीमती बारबेरा वूटन ने लिखा है : 'मनुष्य की अपने भौतिक परिवेश को नियन्त्रित करने की आश्चर्यजनक क्षमता में और उसकी अपने मामलो का प्रबन्ध करने की दयनीय अक्षमता मे जो विषमता है, वह सर्वविदित है, और बडी कष्टप्रद है।'[१] इस विषमता के सकेत की स्पष्ट शिक्षा यह है कि मानवीय विद्याओं को भौतिक विज्ञानो की अन्वेषण-पद्धतियो का अवलम्ब लेना चाहिये।

किन्तु भौतिक विज्ञानो की सफलता के कारण मानवीय विद्याओ को उनकी पद्धतियो का अनुसरण करना चाहिए, यह बात कुछ वैसी ही है जैसे, शेर की मजबूत शारीरिक गठन को देखते हुए, घोडे को यह सलाह देना कि वह भी शेर का भोजन किया करे। जहाँ तक इस मान्यता का प्रश्न है कि मनुष्य के अपने जीवन को ठीक से व्यवस्थित न कर सकने का कारण मानवीय विद्याओ में गलत पद्धतियो का प्रयोग है, हम पूछेंगे उक्त दोनो चीजो का यह कार्य-कारण-मूलक सम्बन्ध स्वय किस पद्धति से अन्वेषित हुआ है? मैं सकेत कर रहा हूँ कि उक्त सम्बन्ध को उस वैज्ञानिक पद्धति से कभी प्रमाणित नही किया जा सकता जिसकी वह सिफारिश करता है। वैज्ञानिक पद्धति से इस सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये इसके हिमायतियो को कई

काम करने पडेगे। प्रथमत उन्हें "मानवीय व्यापारो का योग्यतापूर्ण व्यवस्थापन" नाम की चीज का मात्रा-मूलक सकेतक, अथवा सही माप, प्राप्त करना पडेगा। दूसरे उन्हे यह दिखाना होगा कि विभिन्न देशो तथा जातियो के इतिहास में जब-जब आपेक्षिक समृद्धि या सम्पन्नता के युग आये है, तब-तब वहाँ मानवीय विद्याओ में मात्रा-मूलक पद्धतियो का प्रयोग होता रहा है। हमें मालूम नही कि उक्त मन्तव्य को मानने वालो ने कभी ऐसा दिखाने का प्रयत्न किया है। उक्त मान्यता की परीक्षा करने का एक और तरीका भी है, हम देखे कि मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे जो बडी-बडी कृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं, विशेपत वे कृतियाँ जिनका सम्बन्ध मानवीय जीवन के सचालन एव व्यवस्थापन अर्थात् जीवन-विवेक से है, उनमें अन्वेपण की किन पद्धतियो का अवलम्ब लिया गया था। जहाँ तक हमें मालूम है इस धरती के बडे-बडे अमर विचारकों ने, बुद्ध और कन्फ्यूशियस, प्लेटो और अरस्तू से लेकर लॉक, रूसो वाल्तेयर, गेटे और कान्ट, मार्क्स और गाधी तथा ह्वाइटहेड और रसेल तक—शिक्षक और विचारक जिन्होने जीवन-विवेक की दिशा मे अमर उपदेश दिये हैं—कभी उस प्रकार की मात्रा-मूलक विधियो का प्रयोग नही किया जो भौतिक विज्ञान मे प्रचलित है। इसका प्रमाण उपस्थित करने के लिये जीवन-सम्बन्धी किसी भी प्राचीन अथवा नवीन महान् ग्रन्थ की ओर सकेत किया जा सकता है, जैसे प्लेटो की 'रिपब्लिक', बुद्ध के "सवाद" और रसेल की "स्वतन्त्रता और सगठन" (Freedom and Organisation)।

हमें यह मानने में कोई एतराज नही कि भौतिक शास्त्रो ने भौतिक परिवेश पर बहुत अधिक नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है और यह कि मानवीय विद्याएँ मानवीय परिवेश पर वैसा नियन्त्रण नही पा सकी हैं। किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि मानवीय परिवेश पर अधिक नियन्त्रण आवश्यक रूप में मनुष्य को अधिक सुखी बना सकेगा। मानवीय परिवेश पर नियन्त्रण की अभिलाषा दो भिन्न प्रयोजनो से हो सकती हैं। एक दुष्ट प्रयोजन हो सकता है, लोगो को अपना वशवर्ती गुलाम बना लेना। दूसरा प्रयोजन हो सकता है, उन्हे स्वतन्त्र तथा सुखी जीवन बिताने के योग्य बनाना। पहले प्रयोजन की पूर्ति के लिये यह ढग अपनाया जा सकता है कि लोगो की कमजोरियो तथा दुष्ट प्रवृत्तियो को बढावा दिया जाय, और उनसे फायदा उठाया जाय। किन्तु दूसरे प्रयोजन की पूर्ति के लिये समाज का ऐसा सगठन बनाना होगा जो विशेष प्रकार के चारित्रिक गुणो को प्रोत्साहन दे और इस प्रकार लोगो को कतिपय मूल्यो की उपलब्धि के योग्य बनाये। वस्तुस्थिति यह है कि अधिकाश लोग जो दूसरो

पर शक्ति चाहते है प्रायः उनकी भलाई तथा कल्याण की चिन्ता नही करते। वैज्ञानिक अन्वेषण-पद्धति क्या है, इसकी चिन्ता किये बिना ही ऐसे लोग सदा से यह जानते रहे है कि शक्ति की प्राप्ति तथा प्रयोग कैसे होना चाहिये। आज के युग मे दैनिक प्रेस, रेडियो, आदि के रूप मे प्रचार के उपकरण अधिक बढिया हो गये है, जिनके कारण आज के शक्तिकाक्षी लोग जनता के मन पर अपने पूर्वजो से ज्यादा अच्छा नियन्त्रण कर सकते है। आज साइंस की शक्ति बहुत बढ गई है, और उसने शासको के हाथ में नागरिको के ऊपर नियन्त्रण करने के असीम साधन इकट्ठे कर दिये है। इसलिये हमे कोई कारण नही दीखता कि आज हम यह सोचकर खिन्न हो कि मनुष्यो मे मानवीय जीवन पर नियन्त्रण करने की पर्याप्त क्षमता नही है। वस्तुतः आज तो हमे यह कामना करनी चाहिए कि मनुष्य की यह क्षमता और भी कम हो, ताकि अधिकाश लोग ज्यादा स्वतन्त्रता से रह सके। सच यह है कि सदा की भाति आज भी मनुष्य को उतनी यह जानने की जरूरत नही कि मनुष्य कैसे व्यवहार करते है, जितनी कि यह जानने की कि उन्हें कैसे व्यवहार करना चाहिए। प्रथम कोटि का ज्ञान जहा कुछ लोगो को स्वतन्त्र कर सकता है, वहाँ दूसरो को गुलाम भी बना सकता है, केवल दूसरी कोटि का ज्ञान ही शासको और शासितो सबको समान रूप में स्वतन्त्र करने वाला है।

एक दूसरे पूर्वग्रह का निराकरण भी जरूरी है, जिसके बिना मानवीय विद्याओ की अन्वेषण-पद्धति पर निष्पक्ष विचार नही हो सकता। कहा जाता है कि जहाँ भौतिक विद्याएँ लगातार उन्नति करती रही है, वहाँ मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे वैसी प्रगति दिखाई नही देती। हमारे विचार मे यह अभियोग निराधार है; यह स्वय उस 'दर्शन' के बारे में भी सही नही है जिसे आज अक्सर युग-धर्म कहा जाता है। मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे जो अविच्छिन्न प्रगति नही दीखती उसका प्रमुख हेतु यह है कि उनका विषय, अर्थात् मानव-जीवन, लगातार परिवर्तित, परिवर्धित और नूतनात्मक ढग से विकसित होता रहता है। इसके विपरीत भौतिक विद्याओ का विषय प्रकृति है, जिसका रूप सदैव न्यूनाधिक वही रहता है। जैसे ही परिवेश की हालत बदलती है, मानव-जीवन नयी-नयी प्रतिक्रियाएँ करने लगता है, और उसके सम्बन्ध में लगाया हुआ पुराना हिसाब गलत होने लगता है। इस सम्बन्ध मे हम एक रोचक घटना का उल्लेख करेगे। ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार ने यह कानून बनाया कि समस्त जनता को निःशुल्क चिकित्सा दी जाए। इस पर किसी ने सम्बद्ध मन्त्री,

श्री एन्यूरिन बीवन, से पूछा 'क्या लोग इस सुविधा का दुरुपयोग नही करेंगे ?' इसके उत्तर में उक्त मत्री ने जो कहा वह उनके लिये उपयोगी हो सकता है जो मानवीय अन्वेषण-पद्धतियो का अध्ययन तथा निरूपण करना चाहते हैं। उन्होने कहा 'मानव-व्यवहार के अध्ययन की एक पूर्व शर्त यह है कि मनुष्यो को पहले व्यवहार करने दिया जाय।'[२२] कुछ सरल स्थितियो मे मानवीय व्यवहार का पूर्वाभास हो सकता है, उस व्यवहार की विविध तथा जटिल सम्भावनाओ का पूरा आभास प्राय उनके निष्पन्न हो जाने पर ही हो सकता है।

वस्तुत मानवीय व्यवहार के समस्त सम्बद्ध विवरण या व्याख्याएं कलात्मक सृष्टियो की भाँति होती है। आत्मसगत तथा सतोषप्रद होते हुए भी वे प्राय अपनी परिधि में किसी एक कोटि के व्यापार के भी सम्पूर्ण विवरण को समावेशित नही कर पाती। यह भी एक कारण है कि ये विवरण तथा व्याख्याएँ मानव-जीवन के जिज्ञासुओ के लिये सदैव न्यूनाधिक रोचक बनी रहती है। इस दृष्टि से भौतिक विद्याएँ मानवीय विद्याओ से भिन्न तथा खराब स्थिति में होती है। उन विद्याओ में जिन धारणाओ तथा व्याख्याओ का प्रयोग किया जाता है, उनकी उपयोगिता व्यावहारिक होती है, ज्यो ही उनके वदले ज्यादा बढिया धारणाओ तथा व्याख्या-सूत्रो की सृष्टि हो जाती है, वे व्यर्थ हो जाती हैं। यही कारण है कि आज पढने में प्लेटो की "रिपब्लिक" जितनी उत्तेजक और उत्प्रेरक जान पडती है, वैसी न्यूटन की "प्रिन्सिपिया" (Principia) नही।

मानवीय विद्याओ के सम्बन्ध में चिन्तन करने वाले परीक्षको को गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि क्यो आज भी होमर की "इलियड", वाल्मीकि की "रामायण", अथवा कौटिल्य का "अर्थशास्त्र" और अरस्तू का "राजनीति-विज्ञान" (Politics) जैसी प्राचीन कृतियाँ रसमय तथा ज्ञानवर्धक जान पडती हैं। यही बात "भगवद्गीता", "ताउ ग्रन्थ" ( Book of Tao ) बाइबिल आदि पुस्तको के सम्बन्ध में, जो आज भी हमे प्रेरणा देती है, कही जा सकती है। यदि हम प्राचीन लेखको, कवियो, विचारको तथा धर्मशिक्षको के प्राचीन महाग्रन्थो को यह कहकर तिरस्कृत कर दें कि उनकी विषय-वस्तु वैज्ञानिक ढग से परीक्षणीय नही है, तो समझ में नही आता कि विश्व-मानव की सस्कृति मे से क्या बच रहेगा।

हमने उन पूर्वाग्रही तर्कों का निराकरण किया जो मात्रा-मूलक अन्वेषण-पद्धतियो

के प्रयोग के पक्ष मे दिये जाते है, हमने मानवीय विद्याओ के महत्व के विरोधी कतिपय पक्षपातो का भी खडन किया। इसका यह मतलब नही कि हम मात्रामूलक पद्धतियो के महत्व से अनभिज्ञ हैं, और उनके प्रयोग के विरुद्ध स्वय कतिपय पूर्वग्रहो को पकड बैठे है। हमारा अनुरोध केवल इतना है कि जब हम मानवीय विद्याओ के लिये उचित अन्वेषण-पद्धतियो के प्रश्न से उलझे, तो हम दो चीजो का ध्यान रक्खे, एक उनकी विषयवस्तु की प्रकृति का, और दूसरे उनकी अब तक प्रयुक्त चिन्तन-सरणियो और लब्धियो का। फलत हम मानवीय विद्याओ की अन्वेषण-पद्धति के सम्बन्ध मे तीन शीर्षको के अन्तर्गत विचार करेगे (१) उनकी विषयवस्तु की प्रकृति, (२) उनकी व्याख्याओं तथा सामान्य-कथनो का स्वरूप, और (३) उनकी व्याख्याओ तथा सामान्य-कथनो की परीक्षा अथवा प्रामाणिकता की समस्या।

## मानवीय विद्याओ की विषय-वस्तु

हम पहले ही कह चुके है कि मानवीय विद्याओ की विषय-वस्तु का निर्माण मनुष्य के ऐतिहासिक अनुभव से होता है। स्वय जीवनी भी इस अनुभव का अग है, क्योकि व्यक्ति का इतिहास मानव-जाति के सामान्य इतिहास का ही एक विभाग या पहलू है। मानवीय विद्याओ मे व्यक्ति के जिस इतिहास का महत्व होता है वह उस व्यक्ति के शरीर के व्यापक इतिहास का वह अग होता है जिसका दूसरे सचेत मनुष्यो के जीवन पर प्रभाव पडता है। श्री डयूई ने एक स्थान पर लिखा है कि मनुष्य का सारा व्यवहार सामाजिक होता है, अर्थात् उसके समस्त व्यवहार मे समाज के सब लोग साझेदार होते है। व्यक्ति का व्यवहार आवश्यक रूप मे समुदाय के इतिहास का, और इस प्रकार मानव-जाति के इतिहास का, अग होता है।

इतिहास के प्रवाह मे से अन्वेषक लोग निम्न पद्धतियो से अपनी विषय-वस्तु प्राप्त करते है प्राचीन अभिलेखो तथा अन्य ध्वंसावशेषो की परीक्षा करके, वर्तमान का निरीक्षण करके, विभिन्न घटनाओ की पुनरावृत्ति तथा उनके आपसी सम्बन्धो का आंकडो द्वारा अध्ययन करके। ये सब पद्धतियां चयन और व्याहरण की क्रियाओ पर निर्भर है इन क्रियाओ का आवश्यक रूप मे अन्वेषक की रुचियो, प्रयोजनो तथा मूल्यो से सम्बन्ध होता है।

मानवीय विद्याओ मे एक दूसरे प्रकार की विषय-वस्तु भी प्राप्त होती है, इस

विपय-वस्तु को हम "काल्पनिक प्रयोग" ( Imaginary Experiments ) कहेंगे। सब प्रकार की तर्कना का आधार हमारी वह क्षमता होती है जिसके द्वारा हम विभिन्न कथनो अथवा वक्तव्यो के वीच आक्षेप-मूलक सम्वन्ध (Implicational Connections) देखते हैं। मानवीय व्यापारो के क्षेत्र में एक दूसरी कोटि के सम्वन्ध हमें एक घटना से दूसरी तक पहुँचने में मदद देते हैं, अर्थात् साध्य-साधन सम्वन्ध। ये सम्वन्ध तर्कशास्त्र के आक्षेप-मूलक सम्बन्धो से भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिये नेपोलियन की इगलैंड को नीचा दिखाने की इच्छा और योरप के महाद्वीप का घेरा डालने में जो सम्वन्ध है, अथवा उसकी अपना शासक-वश प्रतिष्ठित करने की महत्वाकाक्षा और आस्ट्रिया की राजकुमारी से विवाह करने में जो लगाव है, वह इस कोटि का नही जिसकी प्रासगिकता अथवा आवश्यकता तर्कशास्त्र द्वारा सिद्ध की जा सके। उसे सिद्ध करने के लिये हमें साध्य-साधन-सम्वन्धी अपने सहज ज्ञान पर और तत्कालीन परिस्थितियो की जानकारी पर निर्भर करना पडेगा। तथाकथित काल्पनिक प्रयोग प्राय ऐसे सम्वन्धो पर निर्भर करते हैं, और यह निर्णय करने के लिये कि विभिन्न योजनाओ एव कार्य-क्रमो, तथा नीतियो एव आदर्शों में, कौन अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है, हमें उपरोक्त सम्बन्धो पर निर्भर करना पडता है। इन वक्तव्यों के व्यावहारिक निदर्शन हम आगे देंगे। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि क्योंकि मानवीय जीवन की स्थितियो तथा घटनाओ पर वडे-वडे प्रयोग नही किये जा सकते इसलिये यह उचित है कि हम कल्पना के द्वारा यह देखने की कोशिश करें कि दो समान स्थितियों मे एक नये तत्व का समावेश करने, अथवा एकतत्व के हटा लेने से, क्या प्रभाव पडेगा।

यहाँ हम कुछ शब्द उन तथ्यो के बारे मे कहेंगे जो अन्त प्रेक्षण (Introspection) द्वारा प्राप्त होते हैं। दूसरे मनुष्यो की प्रेरणाओ (Motives) तथा उनके आपसी सम्वन्धो के वारे में हमारा ज्ञान प्राय आत्म-निरीक्षण से प्राप्त होता है। सम्भवत हम किसी दूसरे स्रोत से यह नही जान सकते कि प्रेम, घृणा, विस्मित अथवा क्रुद्ध होने का आन्तरिक अभिप्राय क्या होता है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि अन्त-प्रेक्षण हमें उन सब सवेदनाओ तथा आवेगो, इच्छाओ और महत्वाकाक्षाओ तथा उनके विविध सगठनो की पूर्ण जानकारी दे सकता है जिन्होने मानव-जाति को समय-समय पर कर्म की प्रेरणा दी है। यदि इस प्रकार की जानकारी सम्भव होती तो सम्भवत मानव जीवन के ज्ञान के लिये इतिहास का ज्ञान आवश्यक नही होता। अन्त प्रेक्षण

की सीमाओं का निर्देश करने के लिये हम पाठकों के सामने दो बातें रक्खेंगे। प्रथमतः, हमारा मानसिक जीवन हमारे नर-नारियों आदि से भरे बाह्य जगत के बोध का समानान्तर होता है, और उस बोध के साथ ही अग्रसर होता है। बाह्य जगत के विस्तृत सम्पर्क के बिना समृद्ध आन्तरिक जीवन सम्भव नहीं है। किन्तु किसी भी व्यक्ति के जीवन में बाह्य सम्पर्कों की सम्भावनाएँ सीमित होती हैं, इसलिये कोई भी व्यक्ति यह आशा नहीं कर सकता कि केवल अपने जीवन में समस्त मानव जाति की अनुभव-सम्भावनाएँ निःशेष कर ले। दूसरे, विभिन्न लोगों की बुद्धियाँ, प्रवृत्तियाँ तथा स्वभाव अलग-अलग होते हैं, ये भिन्नताएँ समान परिवेश के सम्बन्ध में भी देखी जाती हैं भिन्न परिवेशों का तो कहना ही क्या। दूसरी ओर यह भी सही है कि मानव व्यक्ति, कल्पना द्वारा, दूसरे मनुष्यों की बोधात्मक तथा रागात्मक प्रतिक्रियाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता है, बशर्ते कि वह उस दृष्टिकोण पर बिठा दिया जाय जहाँ वे दूसरे लोग हैं। कथा-साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन में हम इसी प्रकार का तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। मनुष्यों के बीच होने वाले आत्मिक अथवा आन्तरिक आदान-प्रदान में सर्वत्र यही प्रक्रिया रहती है। इस प्रक्रिया को हम मनोवैज्ञानिक संवेदना अथवा सहानुभूति कह सकते हैं। बीज-रूप में प्रत्येक मनुष्य में ऐसी शक्ति होती है कि वह अपने को प्रत्येक दूसरे मनुष्य की स्थिति में रख सके। इसका यह मतलब नहीं कि स्वयं अपने ऊपर छोड़ दिये जाने पर प्रत्येक मनुष्य दूसरे नर-नारियों का प्रत्येक पार्ट, भौतिक अथवा मानसिक रूप में भी, अदा कर सकता है। एक जीवनीकार अथवा इतिहासकार की सहायता से मैं किंचित् दुर्बल, काल्पनिक ढंग से एक नैपोलियन की मनःस्थिति में प्रवेश कर सकता हूँ, किन्तु स्वयं अपनी व्यक्तिगत मनोवृत्तियों की सहायता से मैं उस स्थिति की सृष्टि नहीं कर सकता।

## मानवीय विद्याओं में व्याख्या और सामान्य कथन

अब हम इस कठिन प्रश्न से उलझेंगे कि मानवीय विद्याओं में व्याख्या और सामान्य कथनों का क्या रूप होता है। किसी घटना की व्याख्या करने का अर्थ है यह दर्शित करना कि कैसे वह किसी कारण अथवा हेतु-समूह से निःसृत होती है। सामान्य कथन करने का अर्थ है दो घटनाओं अथवा घटना-समूहों में, अथवा दो घटना-रूपों में, आवश्यक सम्बन्ध की घोषणा करना। भौतिक प्रकृति के क्षेत्र में प्रायः सभी सम्बन्ध न्यूनाधिक आवश्यक अथवा अनिवार्य होते हैं, और उन्हें गणित के सम्बद्ध-परिवर्तन-

मूलक समीकरणो (Functional Equations) द्वारा प्रकट किया जाता है। किसी प्राकृतिक घटना, जैसे तापक्रम के बढने की, व्याख्या करने का अर्थ है यह दिखाना कि किस प्रकार वह परिवर्तन किसी दूसरे विवर्तमान तत्व ( Variable) से सम्वद्ध परिवर्तन का लगाव रखता है। किन्तु ऐतिहासिक घटनाओ की व्याख्या में कार्य और कारण का सम्वन्घ बुद्धिगम्य तो होता है, किन्तु आवश्यक या अनिवार्य नही होता। यह वात वडी महत्वपूर्ण है, क्योकि उसका प्रभाव मानवीय विद्याओ में किये जाने वाले सामान्य कथनो पर पडता है। उदाहरण के लिये नेपोलियन ने जो योरपीय महाद्वीप का घेरा डाला था, उस पर विचार कीजिए। इस घेरा डालने की घटना का एक निर्धारक हेतु नेपोलियन की यह इच्छा थी कि वह इगलैड को आर्थिक क्षति पहुँचाये, और इस प्रकार उसकी राजनैतिक शक्ति को कम करे, किन्तु इस प्रेरणा अथवा लक्ष्य के रहते हुए यह आवश्यक या अनिवार्य नही था कि नेपोलियन ठीक वैसा व्यवहार करे जैसा कि उसने किया। हो सकता था कि उसके मन में घेरा डालने का विचार उत्पन्न ही नही होता, और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये किसी दूसरे उपाय का सहारा लेता। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लियं एक व्यक्ति जिन उपायो का अवलम्बन लेता है, उनका निर्धारण केवल उस लक्ष्य के स्वरूप से अथवा परिस्थितियो के तर्क ( Logic of Situation ) से नहीं होता, उसका निर्धारण कर्ता की सूझ से भी होता है। हर हालत में यह सम्भव है कि लक्ष्य और परिस्थिति दोनो मिलकर एक से अधिक कार्य-सरणियो अथवा कर्म-प्रकारो को प्रेरित करें, और इस प्रकार "वही कारण, वही कार्य" अथवा "समान कारण, समान कार्य" के नियम में हस्तक्षेप करें। इसी प्रकार, व्यावहारिक दृष्टि से एक विशेष कार्य सदैव एक विशिष्ट कारण द्वारा उत्पन्न नही होता। उदाहरण के लिये नेपोलियन की एक सार्वभौम साम्राज्य स्थापित करने की कामना का कारण योरपीय महाद्वीप का सफल घेरा डालने की अभिलापा से भिन्न भी हो सकता था।

अनेक कारणवाद (अर्थात् यह सिद्धान्त कि एक ही कार्य के तरह-तरह के कई कारण हो सकते है) के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जाती है कि उसकी युक्तिसगतता इस पर आधारित है कि कार्य अथवा परिणाम को ज्यादा सामान्य रूप में ग्रहण कर लिया जाय, अर्थात् उसकी विशेपताओ का समुचित सकेत न किया जाय। उदाहरण के लिये मृत्यु का कारण विपपान भी हो सकता है और डूबना भी, किन्तु दोनो मृत्युएँ समान नही होती। इसीलिये मृत्यु के वाद परीक्षा करके डाक्टर यह वतला

पाते है कि उनका कारण क्या था। किन्तु इस आपत्ति का वल उस समय वहुत-कुछ कम हो जाता है जव हम इतिहास के व्यापक कार्यो अथवा परिणामो का विचार करते हैं।[१४] यह भी सभव नही है कि मानवीय घटनाओ की दुनियाँ में, और भौतिक जगत मे भी, कार्यों तथा कारणो का पूर्ण विशेपीकृत वर्णन दिया जा सके। समस्त कार्य-कारण-सम्वन्ध उस समूचे घटनाक्रम मे घटित होता है जिसमें प्राय सम्पूर्ण विश्व का समावेश हो जाता है। विश्व के घटना-क्रम में से किसी भी कारण अथवा कार्य को हम पूर्णतया अलग नही कर सकते। ऐसी स्थिति मे किसी कार्य का विशेपीकृत उल्लेख ( Specification ) अन्वेपक के प्रयोजन के अनुरूप ही किया जा सकता है, और कारणो का विशेपीकृत उल्लेख सम्वद्ध कार्यो की सापेक्षता में ही हो सकता है।

ऐतिहासिक व्याख्या के उक्त विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथमत उस व्याख्या में कारणो से कार्यो की ओर सक्रमण, और कार्यों से कारणो का निगमन, वुद्धिगम्य होना चाहिये। दूसरे, यद्यपि ऐतिहासिक कारणो तथा कार्यो के पारस्परिक सम्वन्ध वुद्धिगम्य होते हैं अर्थात् उन सम्वन्धो को पूरी परिस्थिति में निहित प्रासगिक अर्थो द्वारा समझा जा सकता है, फिर भी वे सम्वन्ध आवश्यक या अनिवार्य नही होते। उक्त दूसरे निष्कर्ष के स्पष्टीकरण की जरूरत है। हम इसे अस्वीकार नही करते कि कभी-कभी कार्य-कारण का लगाव अनिवार्य होता है, हमारा कहना है कि वह सम्वन्ध सदैव अनिवार्य नही होता। मानवीय व्यापारों तथा घटनाओ की शृंखलाओ मे जो कड़ियां होती है उनमें मनुष्यो की पसन्द-नापसन्द, सकोच और हिचकिचाहट, तथा उनके कूट प्रयत्न, इनका भी समावेश होता है, विभिन्न परिस्थितियो में इनके वारे में सही भविष्यवाणियाँ करना सम्भव नही होता। इसलिये किसी देश-काल में उप-स्थित स्थिति-सस्थान के और उन परिणामो के वीच जो मानवीय सर्जनो के हस्तक्षेप द्वारा उन सस्थानो से उत्पन्न किये जाते हैं, वनने वाला सम्वन्ध अनिवार्य न रहकर परिवर्तनीय वन जाता है। फलत ऐतिहासिक घटनाओ के क्रम के सम्वन्ध में कभी भी पूर्णतया सही भविष्यवाणियाँ नही की जा सकती।

भौतिक परिवेश की अपेक्षा से कार्य करते हुए, मनुष्य नई चीजों तथा वस्तुओं के नये सस्थानो को उत्पन्न करते है, ये चीजें तथा सस्थान केवल प्राकृतिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न नहीं किये जा सकते। जहाँ तक ये सृष्टियाँ मनुष्य की सृजनात्मक प्रतिभा पर निर्भर करती है, वहाँ तक ये सकल भविष्यवाणियों का विषय नही हो सकती। हमारा विचार है कि इस समय ऐसा कोई व्यक्ति जीवित नही है जो ठीक-ठीक उन आविष्कारों

का पूर्वाभास ले सके जो (उदाहरण के लिये) तीन हजार ई० तक किये जा चुकेंगे। एक हजार, बल्कि सौ वर्ष, पूर्व भी यह किसी के लिये सम्भव नही था कि वह आज के मनुष्य के भौतिक तथा बौद्धिक आविष्कारो का ठीक-ठीक आभास कर ले। मनुष्य की सृजनशीलता स्वय मनुष्य की ज्ञानशक्ति का अतिक्रमण करती है। यदि यह मान लिया जाय कि मनुष्य की वर्तमान स्थिति, कुछ हद तक भी, उसके उन सृजनात्मक व्यापारो का परिणाम है जो उसने अपने भौतिक-सामाजिक परिवेश की अपेक्षा में अनुष्ठित किये, तो यह मानना पडेगा कि मानव जीवन के क्षेत्र में कार्य-कारण का सम्बन्ध अनिवार्य नही होता। हम सहज ही यह कल्पना कर सकते है कि मनुष्य का विकास जिस ढगसे हुआ है, उससे भिन्न होता। उदाहरण के लिये यह कल्पना सम्भव है कि योरप में विज्ञान का उदय वैसे ही नही होता जैसे कि चीन और हिन्दुस्तान मे नही हुआ। यह अकेली चीज हमारी दुनिया के सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक इतिहास को बदल देती। प्रो० मैकाइवर ने लिखा है 'यदि मराथान के युद्ध-क्षेत्र मे फारस के लोग यूनानियो को हरा देते तो निश्चय ही सभ्य जगत का इतिहास एक दूसरी ही कहानी बन जाता।'[२५] जब तक कि आप हीगल के साथ यह विश्वास न करें कि यूनानियो की विजय एक दैवी योजना के अनुसार शुरू से ही निश्चित थी, और योरप मे विज्ञान का उदय होना भी वैसे ही निश्चित था, तब तक आप निश्चयपूर्वक यह मन्तव्य ग्रहण नही कर सकते कि मानव जाति की इस समय जो स्थिति है, उससे भिन्न स्थिति हो ही नही सकती थी। और इस मन्तव्य को छोडने का अर्थ है इस मान्यता को छोड देना कि अतीत कारणो और उनके वर्तमान कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध है।

यहाँ एक रोचक प्रश्न उठाया जा सकता है क्या मनुष्य की सृजनात्मक प्रतिभा स्वय उसके चारो ओर व्यापृत होने वाली शक्तियो का परिणाम नही होती।? कहा जा सकता है कि यद्यपि मनुष्य एक परिस्थिति में अनेक सभावनाओ का साक्षात्कार करता है, फिर भी वह केवल उसी सभावना को यथार्थ बना पाता है जिसे वर्तमान परिस्थितियाँ वैसी सुविधा देती है। इसके उत्तर मे हमें कहना है कि मनुष्य सदैव उसी रास्ते का अनुसरण नही करता जो सीधा अथवा बुद्धिसगत है, अर्थात् जो सर्वाधिक परिस्थितियो के अनुकूल है। मनुष्य गलतियाँ भी करता है, और ऐसा अक्सर होता है कि वह प्राप्त अवसरो का उचित उपयोग नही कर पाता। जब तक यह न माना जाय कि मनुष्यो द्वारा की गई गलतियाँ उसी प्रकार अनिवार्य होती है जैसे कि उनके भाग्यशाली

निर्णय, तब तक यह नहीं कहा जा सकेगा कि कोई ऐतिहासिक स्थिति अतीत कारणों का आवश्यक परिणाम है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मानवीय जीवन-स्थितियों में आवश्यक या अनिवार्य सम्बन्ध होते ही नहीं। जहाँ तक मनुष्य को भौतिक परिवेश, अपनी भौतिक-जैवी प्रकृति, तथा मनोवैज्ञानिक-सामाजिक प्रकृति की भी, सीमाओं में काम करना पड़ता है, वहाँ तक उसके कार्य न्यूनाधिक निर्धारित होते हैं। रूस में नेपोलियन के पराजित होने का एक कारण यह भी था कि उसके पास रसद की कमी हो गई, और मनुष्य बिना भोजन के जीवित नहीं रह सकते। वह इंगलैंड को अपने अधीन नहीं कर सका, क्योंकि उस देश का समुद्रों पर अधिकार था, जहाँ नेपोलियन की प्रतिभा शक्तिहीन पड़ जाती थी। चूंकि मनुष्य की सृजनशील प्रतिभा वस्तुओं की प्रकृति द्वारा निर्मित सीमाओं के बीच काम करती है, इसलिये मानवीय व्यापारों की प्रगति न्यूनाधिक पूर्वानुमानित की जा सकती है।

तो, मानवीय विद्याओं में किये जाने वाले सामान्य कथनों की निजी विशेषताएँ क्या होती हैं? इस सम्बन्ध में हमारी पहली मान्यता यह है कि वे **सामान्य कथन गुणात्मक होते हैं, मात्रामूलक नहीं।** एक सामान्य कथन दो या अधिक पदों के बीच सम्बन्ध बतलाता है। इस प्रकार का कथन मानवीय विद्याओं में समावेशित होने योग्य तभी बन सकता है जब उसमें उपस्थित कम-से-कम एक पद (Term) किसी ऐसी स्थिति या घटना का द्योतक हो जो मानवीय दृष्टि से अर्थवती है, अर्थात् जो मानव-चेतना द्वारा सहचरित है। इस प्रकार के अर्थों की मात्रा-मूलक अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती,[1] और उनसे सम्बन्धित सामान्य कथन भी मात्रा-मूलक नहीं हो पाते। सामाजिक विज्ञानों के किसी भी सामान्य कथन के उदाहरण से हमारे इस मन्तव्य की पुष्टि की जा सकती है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री दुर्खाइम की राय थी कि समाज-शास्त्रीय अन्वेषण का प्रधान एवं श्रेष्ठ उपकरण सहचरित परिवर्तन (Concomitant Variation) की पद्धति है। उसने अपने "आत्महत्या" ग्रंथ में उक्त पद्धति का उपयोग किया। यह ध्यान देने की बात है कि विभिन्न प्रकार की आत्महत्याओं के कारणों के सम्बन्ध में वह जिन सामान्य कथनों पर पहुँचा, वे सब गुणात्मक हैं। उदाहरण के लिये दुर्खाइम का कहना है कि अहंवादी आत्महत्या (Egoistic suicide) का कारण व्यक्ति और समाज में एकी-

जस्य का अभाव होता है। यह सामान्य कथन तीन प्रकार के विपरीत सहचारो ( Inverse Correlations ) की व्याख्या-रूप था जो उन्होने आत्महत्याओ की संख्या और (१) धार्मिक समाज, (२) पारिवारिक समाज, और (३) राजनैतिक समाज के साथ समन्वय या सामन्जस्य के दर्जो के बीच प्राप्त किये।[२७]

यह देखने की बात है कि विश्व मे घटित होनेवाली कोई भी घटना हजारो दूसरी चीजो से सहचरित रहती है, और ऐसे विभिन्न घटना-समूहो के बीच, जिनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध के अभाव का निश्चय है, सहचार (Correlation) के विभिन्न दर्जे पाये जा सकते है। कोहेन और नागेल नामक तर्कशास्त्रियो ने लिखा है 'यह दर्शित किया गया है कि ब्रिटिश जहाजी बेडे पर किये जानेवाले खर्च और केलो की बढ़ती हुई खपत मे बडा सहचार है, इसी प्रकार केन्सर की बीमारी और इगलैंड मे सेवो के आयात मे सहचार-सम्बन्ध देखा गया है।' मतलब यह कि सहचार का सकेत देने वाली सख्या हमेशा अयुतसिद्धि सम्बन्ध ( Invariable Connection ) का पर्याप्त प्रमाण नही होती। कतिपय घटनाओ अथवा परिवर्तनो की तीव्रता के दर्जो एव पौन: पुन्य के बीच सहचार कभी-कभी कार्य-कारण -सम्बन्ध की दृष्टि से निरर्थक भी होता है।[२८]

इससे यह निर्गत होता है कि दो परिवर्तनो के सहचार को तभी महत्व देना चाहिए जब उन परिवर्तनो के बीच कार्य-कारणभाव की सम्भावना हो। अन्वेषण की पहली और अन्तिम भूमिकाओ में भी सहचार-सम्बन्धो का महत्व तभी होता है जब वे बुद्धि-गम्य सम्बन्धो का सकेत करते हो। कम-से-कम मानवीय विद्याओं की यही स्थिति है। एक गणितज्ञ भौतिकशास्त्री अन्वभाव से सहचार-सम्बन्धों की शृखला का अनुसरण कर सकता है, और उन्हें सम्बद्ध-परिवर्तन-मूलक ( Functional ) समीकरणो द्वारा प्रकट कर सकता है, किन्तु यह पद्धति सामाजिक विज्ञानो के क्षेत्र में उपयोगी नही है।

अन्वेषण के प्रारम्भ में इस बात का धुंधला आभास रहता है कि किसी कार्य या परिमाण का सम्बन्ध किसी एक स्थिति या अनेक स्थितियो से है। बाद में विश्लेषण और निरसन ( Elimination ) की क्रियाओ द्वारा, अनेक स्थितियों में पाये जाने वाले परिणाम को, एक खास कारणतत्व से सम्बन्वित कर दिया जाता है। अहन्ता-मूलक आत्महत्या की व्याख्या में दुरखाइम ने जो पद्धति अपनाई, वह उक्त मन्तव्य का निदर्शन है।

यहाँ एक दूसरी बात भी लक्षित करने की है, कोई भी सहचार-सम्बन्ध विशिष्ट परिस्थितियों में ही सही होता है। यदि परिस्थितियाँ अधिक बदल जायँ तो सहचार-सम्बन्ध की प्रकृति भी बदल जाती है। उदाहरण के लिए दुरखाइम ने यह लक्षित किया कि इंगलैंड के प्रोटेस्टेन्ट लोगों में आत्महत्याएँ उतनी संख्या में नहीं होती थी, जितनी कि दूसरे देशों के प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों में। क्योंकि मानव-जीवन की स्थितियाँ विभिन्न देशों तथा युगों में बहुत-कुछ भिन्न होती हैं, इसलिये विभिन्न घटनाओं के सहचार सम्बन्ध एकरूप ही रहे, इसकी आशा नहीं की जा सकती। इसलिये इन क्षेत्रों में मात्रा-मूलक सम्बन्धों को बतानेवाले ऐसे कानूनों का पता नहीं लगाया जा सकता जो इतिहास के सब समाजों तथा युगों पर लागू हो सके। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर सोम्बार्ट तथा कुछ दूसरे विचारकों ने यह मत प्रकट किया है कि सामान्य अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त जैसी कोई वस्तु नहीं है, ऐसे सिद्धान्त जो किसी भी समय तथा स्थान के तथ्यों पर लागू हो सकें, इसके बदले आर्थिक पद्धतियों (Economic Systems) की एक अनिर्दिष्ट अनेकात्मक संख्या ही उपलब्ध है, और वे समष्टियाँ एक-दूसरे से भिन्न होती है।[१९]

इस अनिर्दिष्टता में यदि हम उस जटिलता को जोड़ दें जो एक ही कार्य के अनेक कारणों तथा एक ही कारण के अनेक कार्यों की स्थितियों से उत्पन्न होती है, तो मामला और भी दुरूह बन जायगा। उदाहरण के लिये दुरखाइम ने दर्शित किया है कि व्यक्ति की समाज से विच्छिन्नता का मूल धार्मिक, पारिवारिक अथवा राजनैतिक कैसे भी सामुदायिक जीवन में हो सकता है। यह भी स्पष्ट है कि विभिन्न कोटियों की विच्छिन्नता या असामञ्जस्य ( Disintegration ) का विभिन्न व्यक्तियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ेगा। दुरखाइम ने कुछ इस भाव में लिखा है जैसे सामुदायिक जीवन का सामञ्जस्य ही मुख्य हो और व्यक्तियों का अपना अपना चरित्र कोई महत्त्व न रखता हो। वह कहते हैं कि 'किसी समूह के सामञ्जस्य के उल्टे अनुपात में आत्महत्याओं की संख्या होती है।[२०] दुरखाइम का यह कथन उनके मनोविज्ञान-विरोधी भाव को प्रकट करता है, और वस्तुस्थिति का पूरा वर्णन नहीं देता। व्यक्ति केवल समूह का अंग ही नहीं होता, एक व्यक्ति ऐसे समुदाय में भी विच्छिन्न महसूस कर सकता है जिसमें बहुत ज्यादा सामञ्जस्य है। उदाहरण के लिये एक प्रतिभाशाली व्यक्ति ऐसे लोगों के बीच अकेलापन महसूस कर सकता है जो परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य महसूस करते हैं।

इसकी विपरीत बात भी स्पष्ट है समुदाय में सामञ्जस्यहीनता का उसी

विभिन्न सदस्यो पर भिन्न-भिन्न कोटियो का प्रभाव पडता है, क्योंकि उनमे से कुछ ही मे आत्महत्या की प्रवृत्ति जगती है।

आत्महत्याओ की सख्या को गिना जा सकता हे, किन्तु "किसी समुदाय का असामजस्य" और "किसी व्यक्ति का असामजस्य की स्थिति के प्रति सवेदनशील होना" जैसी व्यजनाओ के लिये मात्रा मूलक अभिव्यक्ति देना सम्भव नही है। इसी प्रकार "एक प्रिय बच्चे की मृत्यु माता-पिता के शोक का कारण होती है," जैसे सामान्य कथन मे मृत्यु, शोक जैसी चीजो को मात्रा-मूलक पदो मे नही बाँधा जा सकता।

निष्कर्ष यह कि मानवीय विद्याओ मे सामान्य कथन गुणात्मक होते है। हमारा दूसरा मतव्य यह है कि ये **सामान्य कथन घटनाओ तथा परिवर्तनो के बीच बुद्धिगम्य सम्बन्धों को प्रकट करते हैं।** हम ऊपर दिखा चुके है कि मानवीय घटनाओ के क्षेत्र मे ऑकडो पर कुछ सीमा तक ही निर्भर किया जा सकता है, फलत वहाँ सामान्य कथन उक्त प्रकार के होने चाहिएँ। ऑकडा-विज्ञान की सीमाएँ दर्शित करने के लिए हम यहाँ श्रीमती डोरीथी स्वेन के एक अध्ययन का हवाला देगे। श्रीमती स्वेन ने "व्यावसायिक उत्थान-पतन" तथा "कतिपय महत्वपूर्ण सामाजिक घटनाओ" जैसे विवाह, मृत्यु-सख्या, शराबखोरी, अपराध, देशान्तरगमन, आदि के बीच निर्मित होनेवाले सम्बन्धो का अध्ययन किया।[११] उन्होने जिस प्रकार के सहचार-सम्बन्धो का पता लगाया, उनमे से दो का उल्लेख हम यहाँ करेगे। उनका एक अन्वेषण यह था कि व्यवसाय की वृद्धि के साथ-साथ विवाहो की सख्या मे वृद्धि हुई थी। दूसरा अन्वेषण यह था कि समृद्धि के समय मे मौतो की सख्या मे वृद्धि हुई।

पहले सहचार-सम्बन्ध को हम अपनी उस सामान्य जानकारी के आधार पर जो हमे युवक-युवतियो के बारे मे है, समझ सकते है। व्यवसाय की उन्नति समृद्धि और सुरक्षा की स्थिति उत्पन्न करती है, जिसमे लोग विवाह द्वारा परिवार बनाकर रहने की ओर प्रेरित होते हैं। किन्तु दूसरा सहचार-सम्बन्ध हमे एकदम अविश्वसनीय जान पडता हे। भला सम्पत्ति या समृद्धि के बढने से मृत्यु-सख्या मे क्यो वृद्धि होती हे? इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया हे कि 'बढी हुई समृद्धि के कारण लोग शराब ज्यादा पीने लगते है,' अथवा 'उद्योग-धधो मे माताओ को अधिक काम मिलने लगता है,' अथवा 'समृद्धि के समय मे तरुण एव स्वस्थ लोग अक्सर देशान्तर मे चले जाते है।'

पाठको मे निवेदन हे कि उक्त तथ्य तथा अन्वेपणो के सम्बन्ध मे वे कई चीजो को

लक्षित करें। (क) भौतिक शास्त्रों के क्षेत्र में कभी भी कोई सहचार-सम्बन्ध उस प्रकार अविश्वसनीय अथवा विस्मयकारक नहीं प्रतीत होता, जैसा कि उक्त दूसरा सहचार-सम्बन्ध। (ख) उक्त सहचार-सम्बन्ध के विरोधाभासत्व को हटाने के लिये ऐसे व्याख्यात्मक तत्वों का सहारा लिया गया है जो हमारी सहज बुद्धि और सहज ज्ञान के अनुरूप हैं। (ग) उपरोक्त सहचार-सम्बन्ध बिल्कुल ही न पाया जाता यदि विचाराधीन प्रदेश के लोग शराब पीने के एकदम ही आदी न होते (धार्मिक कारणों से, अथवा शराबबंदी के कारण), अपनी स्त्रियों को काम पर न भेजते, और देशान्तर जाने की प्रवृत्ति वाले न होते। दूसरे शब्दों में यदि अन्वेषण का विषय ऐसे लोग होते जिनकी रहन-सहन के तरीके और सामाजिक प्रथाएँ भिन्न थीं तो उक्त सहचार-सम्बन्ध का रूप बदल जाता। निष्कर्ष यह कि विचाराधीन सहचार की प्रामाणिकता सार्वभौम न होकर स्थानीय है, और उसके आधार पर किसी ऐसे नियम या कानून का निरूपण नहीं किया जा सकता जिसकी प्रामाणिकता सार्वभौम हो, अर्थात् जो सर्वत्र लागू किया जा सके।

वस्तुत हम उक्त सहचार-सम्बन्ध के आधार पर किसी सामान्य नियम का निरूपण नहीं कर सकते, इतना ही नहीं, उस सम्बन्ध की व्याख्या के लिये हमें मानव-व्यवहार के कतिपय ऐसे नियमों या कानूनों की जरूरत होती है जिनकी प्रामाणिकता का उक्त सहचार-सम्बन्ध से कोई लगाव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि मानवीय विद्याओं में आंकड़ों द्वारा प्राप्त सहचार-सम्बन्ध वह काम नहीं कर पाते जो कि प्रयोगात्मक, भौतिक शास्त्रों में अन्वेषित होने वाले सहचार-सम्बन्ध करते हैं।

मानवीय विद्याओं तथा भौतिक शास्त्रों की स्थितियों में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर है, जिस पर हमें ध्यान देना चाहिये। भौतिक शास्त्रों में अनेक प्रयोगात्मक नियमों ( Empirical Laws ) की व्याख्या एक सामान्य सिद्धान्त द्वारा ( जैसे कि यह सिद्धान्त कि व्यक्त पदार्थ परमाणुओं से निर्मित हैं) कर दी जाती है। किन्तु व्यवसाय-दशाओं तथा विभिन्न सामाजिक घटनाओं के बीच अन्वेषित किये हुए विभिन्न सहचार-सम्बन्धों की, उनके आधार पर निर्मित किसी सामान्य सिद्धान्त द्वारा, व्याख्या नहीं हो सकती। इसके विपरीत उन सहचार-सम्बन्धों की अलग-अलग व्याख्या के लिये मानवीय व्यापारों की विभिन्न प्रेरणाओं का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है।

विभिन्न सदस्यो पर भिन्न-भिन्न कोटियो का प्रभाव पडता है, क्योकि उनमें मे कुछ ही में आत्महत्या की प्रवृत्ति जगती है।

आत्महत्याओ की सख्या को गिना जा सकता है, किन्तु "किमी समुदाय का असामजस्य" और "किसी व्यक्ति का असामजस्य की स्थिति के प्रति सवेदनशील होना" जैसी व्यजनाओ के लिये मात्रा मूलक अभिव्यक्ति देना सम्भव नही है। इसी प्रकार "एक प्रिय बच्चे की मृत्यु माता-पिता के शोक का कारण होती है," जैसे सामान्य कथन में मृत्यु, शोक जैसी चीजो को मात्रा-मूलक पदो में नही बाँधा जा सकता।

निष्कर्ष यह कि मानवीय विद्याओ में सामान्य कथन गुणात्मक होते हैं। हमारा दूसरा मतव्य यह है कि ये **सामान्य कथन घटनाओ तथा परिवर्तनों के बीच बुद्धिगम्य सम्बन्धों को प्रकट करते हैं।** हम ऊपर दिखा चुके हैं कि मानवीय घटनाओ के क्षेत्र मे आँकडो पर कुछ सीमा तक ही निर्भर किया जा सकता है, फलत वहाँ सामान्य कथन उक्त प्रकार के होने चाहिएँ। आँकडा-विज्ञान की सीमाएँ दर्शित करने के लिए हम यहाँ श्रीमती डोरोथी स्वेन के एक अध्ययन का हवाला देंगे। श्रीमती स्वेन ने "व्यावसायिक उत्थान-पतन" तथा "कतिपय महत्वपूर्ण सामाजिक घटनाओ" जैसे विवाह, मृत्यु-सख्या, शराबखोरी, अपराध, देशान्तरगमन, आदि के बीच निर्मित होनेवाले सम्बन्धो का अध्ययन किया।[11] उन्होने जिस प्रकार के सहचार-सम्बन्धों का पता लगाया,उनमें से दो का उल्लेख हम यहाँ करेंगे। उनका एक अन्वेपण यह था कि व्यवसाय की वृद्धि के साथ-साथ विवाहो की सख्या में वृद्धि हुई थी। दूसरा अन्वेपण यह था कि समृद्धि के समय में मौतो की सख्या में वृद्धि हुई।

पहले महचार-सम्बन्ध को हम अपनी उस सामान्य जानकारी के आधार पर जो हमें युवक-युवतियो के बारे में है, समझ सकते हैं। व्यवसाय की उन्नति समृद्धि और मुरक्षा की स्थिति उत्पन्न करती है, जिसमें लोग विवाह द्वारा परिवार बनाकर रहने की ओर प्रेरित होते हैं। किन्तु दूसरा सहचार-सम्बन्ध हमें एकदम अविश्वसनीय जान पडता है। भला सम्पत्ति या समृद्धि के बढने से मृत्यु-सख्या में क्यो वृद्धि होती है ? इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'बढी हुई समृद्धि के कारण लोग शराब ज्यादा पीने लगते हैं,' अथवा 'उद्योग-धधो में माताओ को अधिक काम मिलने लगता है,' अथवा 'समृद्धि के ममय में तरुण एव स्वस्थ लोग अक्सर देशान्तर मे चले जाते है।'

पाठको मे निवेदन है कि उक्त तथ्य तथा अन्वेपणो के सम्बन्ध में वे कई चीजो को

लक्षित करें। (क) भौतिक शास्त्रों के क्षेत्र में कभी भी कोई सहचार-सम्बन्ध उस प्रकार अविश्वसनीय अथवा विस्मयकारक नहीं प्रतीत होता, जैसा कि उक्त दूसरा सहचार-सम्बन्ध। (ख) उक्त सहचार-सम्बन्ध के विरोधाभासत्व को हटाने के लिये ऐसे व्याख्यात्मक तत्वों का सहारा लिया गया है जो हमारी सहज बुद्धि और सहज ज्ञान के अनुरूप हैं। (ग) उपरोक्त सहचार-सम्बन्ध बिल्कुल ही न पाया जाता यदि विचाराधीन प्रदेश के लोग शराब पीने के एकदम ही आदी न होते (धार्मिक कारणों से, अथवा शराबबंदी के कारण), अपनी स्त्रियों को काम पर न भेजते, और देशान्तर जाने की प्रवृत्ति वाले न होते। दूसरे शब्दों में यदि अन्वेषण का विषय ऐसे लोग होते जिनकी रहन-सहन के तरीके और सामाजिक प्रथाएँ भिन्न थीं तो उक्त सहचार-सम्बन्ध का रूप बदल जाता। निष्कर्ष यह कि विचाराधीन सहचार की प्रामाणिकता सार्वभौम न होकर स्थानीय है, और उसके आधार पर किसी ऐसे नियम या कानून का निरूपण नहीं किया जा सकता जिसकी प्रामाणिकता सार्वभौम हो, अर्थात् जो सर्वत्र लागू किया जा सके।

वस्तुतः हम उक्त सहचार-सम्बन्ध के आधार पर किसी सामान्य नियम का निरूपण नहीं कर सकते, इतना ही नहीं, उस सम्बन्ध की व्याख्या के लिये हमें मानव-व्यवहार के कतिपय ऐसे नियमों या कानूनों की जरूरत होती है जिनकी प्रामाणिकता का उक्त सहचार-सम्बन्ध से कोई लगाव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि मानवीय विद्याओं में आँकड़ों द्वारा प्राप्त सहचार-सम्बन्ध वह काम नहीं कर पाते जो कि प्रयोगात्मक, भौतिक शास्त्रों में अन्वेषित होने वाले सहचार-सम्बन्ध करते हैं।

मानवीय विद्याओं तथा भौतिक शास्त्रों की स्थितियों में एक दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर है, जिस पर हमें ध्यान देना चाहिये। भौतिक शास्त्रों में अनेक प्रयोगात्मक नियमों ( Empiricel Laws ) की व्याख्या एक सामान्य सिद्धान्त द्वारा ( जैसे कि यह सिद्धान्त कि वायव्य पदार्थ परमाणुओं से निर्मित हैं ) कर दी जाती है। किन्तु व्यवसाय-दशाओं तथा विभिन्न सामाजिक घटनाओं के बीच अन्वेषित किये हुए विभिन्न सहचार-सम्बन्धों की, उनके आधार पर निर्मित किसी सामान्य सिद्धान्त द्वारा, व्याख्या नहीं हो सकती। इसके विपरीत उन सहचार-सम्बन्धों की अलग-अलग व्याख्या के लिये मानवीय व्यापारों के विभिन्न क्षेत्रों का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है।

## मनोविज्ञान और मानवीय विद्याएँ

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खडा होता है मानवीय विद्याएँ जिन बुद्धिगम्य सम्बन्धो की स्थापना करती हैं वे, अन्तिम विश्लेषण मे, क्या मानवीय प्रेरणाओ के वीच पाये जानेवाले मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध ही होते हैं ? क्या मानवीय विद्याओ द्वारा अन्वेपित होनेवाले नियम अन्तत मनोविज्ञान के ही नियम, अथवा मनोविज्ञान के नियमो के निगमनात्मक निष्कर्ष, ही होते हैं ? श्री मॉरिस जिन्सवर्ग इन प्रश्नो का स्वीकारात्मक उत्तर देते जान पडते हैं। वे लिखते हैं 'आँकडो से प्राप्त होने वाले सहचार-सम्बन्ध वुद्धिगम्य बन जाते हैं जब उनकी व्याख्या उन प्रेरणाओ की अपेक्षा में कर दी जाती है जिनका सकेत प्रचलित मनोविज्ञान में रहता है।'[१२] किन्तु जिन्सवर्ग इस सम्भावना को स्वीकार करते हैं कि कुछ नियम विशुद्ध रूप मे समाजशास्त्रीय हो। वह यह सम्भावना भी मानते हैं कि प्राणिशास्त्र के कुछ नियम भी विभिन्न समाजो के विकास के अध्ययन मे उपयोगी हो सके।[१३] किन्तु प्रसिद्ध तर्कशास्त्री तथा विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल ने अन्वेपको के लिये यह नियम वनाया था कि 'उन्हें सामाजिक विज्ञानो के क्षेत्र में कभी किसी ऐसे इतिहासाधारित सामान्य कथन को ग्रहण नही करना चाहिए जिसके लिये स्वय मानव-प्रकृति मे, अर्थात् मनोवैज्ञानिक, आधार न मिल जाय।'[१४]

अपनी इस सीख के अनुसार मिल ने विपरीत निगमनात्मक पद्धति (Inverse Deductive Method ) का प्रतिपादन किया, जिसके द्वारा सामाजिक विज्ञानो के सामान्य कथनो की परीक्षा की जा सके। मिल के विचार में इतिहास हमे समाज के अनुभवाधारित नियम दे सकता है। समाजशास्त्र की समस्या यह है कि वह इन नियमो का निरूपण करे और उन्हें मानव-प्रकृति के चरम मनोवैज्ञानिक नियमो से सम्बद्ध कर दे। यह सम्बन्ध निगमन-मूलक होगा, अर्थात् यह दर्शित किया जाय कि मानव-प्रकृति के चरम नियमो के आलोक मे इस प्रकार के अनुभव-मूलक नियम ही प्रत्याशित नियम है।[१५] समाजविज्ञान के नियमो का जो विवरण मिल ने दिया है वह यद्यपि हमे महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश देता है, फिर भी वह कई दृष्टियो से अपूर्ण और भ्रामक भी है। उदाहरण के लिये मिल ने इस वात की ठीक परीक्षा नही की कि मानव-प्रकृति के चरम नियमो पर कैसे पहुँचा जा सकता है। आज यह जानकर हमें वडा आश्चर्य होता हे कि जान स्टुअर्ट मिल की दृष्टि मे ये चरम नियम अनुपग-नियम (Laws

of Association) थे, अर्थात् वे नियम जिनके अनुसार मनोदशाएँ एक-दूसरे के बाद उत्पन्न होती हैं। मिल जिस मनोविज्ञान से परिचित था वह मूलत अन्त -प्रेक्षण पर आधारित मनोविज्ञान था। उसकी आस्था थी कि निगमन-विधि के प्रयोग द्वारा मनोविज्ञान से उन नियमो को प्राप्त किया जा सकता है जो मनुष्य के चरित्र-निर्माण को अनुशासित करते हैं। उन नियमो के निरूपण के लिये जहाँ एक ओर यह जरूरी था कि उनका सम्बन्ध मानव-प्रकृति के चरम नियमो से जोडा जाय, वहाँ यह भी आवश्यक था कि कर्मशील मनुष्यो पर पडने वाले परिस्थितियो के प्रभाव का भी विचार किया जाय। इस सम्बन्ध मे मिल ने दो महत्वपूर्ण तथ्यो की अवगति का सबूत दिया है एक यह कि विभिन्न कर्ताओ की परिस्थितिया परस्पर बहुत भिन्न होती हैं, और दूसरा यह कि एक-सी परिस्थितियो मे भी सब मनुष्य एक तरह महसूस नहीं करते, और न एक प्रकार की प्रतिक्रिया ही करते हैं।"

किन्तु इन अन्तिम स्वीकृतियों का अर्थ इस सिद्धान्त को छोड देना है कि सामाजिक विज्ञानो के नियम अन्तत मनोवैज्ञानिक आत्मबोध मे प्राप्त किये जाते हैं। उस मन्तव्य की कमी यह है कि वह हमारी परिस्थितियों-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि के महत्व की अवहेलना करता है। मनुष्य का जटिल इतिहास केवल, और मुख्यत भी, उसकी व्यक्तिगत मूल प्रकृति का परिणाम नहीं है। वह प्राय दो चीजो से निर्धारित होता है. एक विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो के विरोधी प्रयोजनो के सघर्ष से, और दूसरे उन परिस्थितियो से जो विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो की योजनाओ एव प्रयोजनो की पूर्ति मे साधक या बाधक होती हैं। सामाजिक विज्ञानो में किये जाने वाले सामान्य कथनो की परीक्षा इन सभी चीजो से सम्बन्धित अन्तर्दृष्टि द्वारा होती है।

वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनो प्रकार के मानव-जीवन मे साध्य और साधन प्राय एक-दूसरे मे मिले रहते हैं, अक्सर वे परस्पर परिवर्तनीय होते हैं। मनोविज्ञान से यह आशा की जाती है कि वह हमारी जरूरतो तथा उन रुचियो की जिनके पीछे हम दौडते हैं ठीक जानकारी दे; किन्तु हमारी जरूरतें और रुचि दोनो परिवेश के प्रभाव से बनती हैं। यह परिवेश भौतिक तथा यान्त्रिक तो है ही, उससे भी ज्यादा सामाजिक होता है। इस परिवेश मे विभिन्न शक्तियाँ कैसे काम करती हैं, इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि हमें ऐतिहासिक अनुभव से ही प्राप्त हो सकती है। इन विचारणाओ के आलोक मे मनोविज्ञान की सफलता के [illegible] का उल्लेख वैसे ही [illegible] से [illegible] कि [illegible] [illegible]-विज्ञान से (अर्थात् [illegible] मानता के

कि समाज-विज्ञान को मनोविज्ञान की अपेक्षा नही है, वह अपने में पूर्ण है) हिमायतियो का।

यह समझना भूल होगी कि मनुष्य का ऐतिहासिक अनुभव उसकी वैयक्तिक प्रकृति के लिये वाहरी चीज होता है। वस्तुत हम ऐतिहासिक अनुभूति को ग्रहण करते समय यह महसूस करते है कि वह स्वय हमारी प्रकृति एव व्यवहार की सम्भावनाओ का विस्तार मात्र है। विस्मय का प्रथम धक्का सह चुकने के वाद हम सिजेरी वॉर्जिया के अमानुपिक व्यवहार को भी मानवीय चरित की सम्भावनाओ के वाहर की चीज नही समझते। प्रश्न है इतिहास ओर कथा-साहित्य में हम विभिन्न परिवेशो मे स्थित नर-नारियो की सवेदनाओ तथा प्रतिक्रियाओ से जो तादात्म्य स्थापित कर पाते है, उसका क्या रहस्य है ?

उसका रहस्य निम्न जान पडता है। मनुष्य एक लक्ष्यान्वेपी अथवा प्रयोजनवान प्राणी है, वह विश्व की असख्य वास्तविकताओ को साध्यो ओर साधनो, मूल्यो और मूल्याभावो के रूप में ग्रहण करता है, ताकि वह उन्हे पाने अथवा दूर रखने की कोशिश कर सके। उसे विभिन्न साध्य तथा मूल्य सुपरिचित जान पडते है, इसलिये, उसकी दृष्टि में, वे साधन भी सुपरिचित वन जाते है जो उन साध्यो से अक्सर सहचरित होते है। मानव-प्रकृति के निसर्ग-सिद्ध साध्यो अथवा मूल्यो और अप्राकृतिक समाजिक तथा औद्योगिक या उद्योग-तान्त्रिक साधनो की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा अनेक नये लक्ष्यो अथवा साध्यो का उदय हो जाता हे, और क्रमश वे साध्य भी सुपरिचित वन जाते है। सव देश-कालो के मनुष्य परिवेशगत भौतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक चीजो को भी उन्ही मूल्यो अथवा अर्थो या प्रयोजनो की भापा मे अनूदित कर लेते है। ये मूल्य तथा प्रयोजन या अर्थ उस सार्वभौम वर्णमाला का निर्माण करते है जिसकी सहायता से मानवीय विद्याओ मे किये जाने वाले सामान्य कथन लिखे जाते है।

यही कारण है कि हम इतिहास मे एक नेपोलियन की, ओर टॉल्स्टाय के "युद्ध ओर शान्ति उपन्याम" मे पीये नामक नायक की, क्रिया-प्रतिक्रियाओ से तादात्म्य स्थापित कर पाते है। परिवेश के समस्त पदार्थ, भौतिक और सामाजिक, जहाँ तक वे विभिन्न व्यक्तियो की जीवन-स्थितियो में प्रवेश करते है, उन अर्थो तथा मूल्यो के वाहक होते है जो समम्त मानव जाति के लिये वही है। इमीलिये इनिहास अथवा कथा-माहित्य को ममझने के लिये एक भौतिकशास्त्री अथवा रमायन शास्त्री का,

यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक का भी, विशेष बोध (Specialized Knowledge) निरर्थक होता है। यहाँ यह उल्लेख रोचक जान पडेगा कि 'काव्यालकारसूत्र' के प्रसिद्ध लेखक वामन ने कविता मे अपरिचित पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग एक दोष माना है, क्योकि वह रसानुभूति मे व्याघात उपस्थित करता है।[१७]

मानवीय विद्याओ के वे सामान्य कथन जो बुद्धिगम्य सम्बन्ध स्थापित करते है, केवल हमारे मनोवैज्ञानिक आत्मबोध की भाषा मे ही नही लिखे जाने चाहिएँ, उन्हे उस अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा में प्रकट किया जाना चाहिए जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण माध्य-मायन पद्धति अथवा जीवन के समस्त मूल्यो एव अर्थो से होता है। इस अन्तर्दृष्टि को हम शिक्षित सहज बुद्धि (Educated Common Sense) अथवा केवल सहज बुद्धि कह सकते है। नर-विज्ञान के प्रसिद्ध विचारक नाडेल ने इस अन्तर्दृष्टि या ज्ञान को "सामान्य व्यावहारिक ज्ञान" कहा है, अर्थात् वह ज्ञान जो 'इतना सुपरिचित है कि उसकी उपस्थिति को मानकर चला जा सकता है।'[१८]

मानवीय विद्याओ के सामान्य कथन जिन बुद्धिगम्य सम्बन्धो की स्थापना करते है वे सार्वभौम होते है, इसीलिये उन कथनो की प्रामाणिकता भी सार्वभौम हो जाती है। उसका मतलब यह है कि वे सामान्य कथन सब समाजो के सब व्यक्तियो के लिये कल्पनात्मक प्रामाणिकता (Imaginative Validity) रखते है। ये विचारणाएँ हमे उक्त सामान्य कथनो के सम्बन्धो मे एक तीसरा मतव्य प्रतिपादित करने की प्रेरणा देती है। **मानवीय विद्याओं में जिन सामान्य कथनों का निरूपण होता है, उनका विषय मानव-व्यवहार की सम्भावनाएँ होती है, न कि उसकी यथार्थताएँ।** भौतिक शास्त्र द्वारा अन्वेषित नियम भौतिक जगत की वास्तविक रचना या गठन को उद्घाटित करते है, अथवा उसकी सम्भाव्य गठन को—इसे अनिर्णीत छोड़ा जा सकता है, किन्तु यह निश्चित है कि भौतिक शास्त्र का उद्देश्य विश्व की यथार्थ रचना का वर्णन करना है। इसी प्रकार इतिहास का लक्ष्य भी यही है कि व्यक्तियो तथा समाजो के असली जीवन का वर्णन प्रस्तुत करे किन्तु इतिहास कभी ऐसा कर पाता है, इसमे सन्देह है। अन्त तक इतिहास ऐसी घटनाओं का आदेर बना रहता है जिनका घटित होना सम्भावना मात्र होता है, भले ही उन सम्भावना के ऊँचे-नीचे अनेक स्तर हो।

इसीलिये कुछ लोगो का मत है कि मानवीय विद्याओ के सिद्धान्त तथा व्याख्या-[illegible] ऐतिहासिक व्यक्तियो पर ही लागू होते है इन व्यक्तियो के बाहर उनका

कोई अर्थ नही होता। वाल्टर यूकेन ने इस मत का विरोध किया है। अर्थशास्त्र के सामान्य कथनो के बारे में उन्होने कुछ वैसा ही मत प्रकट किया है जैसा कि हमने ऊपर व्यक्त किया। अर्थशास्त्र नामक विज्ञान के वक्तव्य अर्थात् सामान्य कथन कुछ इस प्रकार के होते है 'यदि परिपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति हो तो ' अथवा 'यदि एक देश में फसल बिगड जाय तो विभिन्न देशो की पारस्परिक अदायगी का सतुलन वदल जाता है ..' इत्यादि।[१९] लायोनल राविन्स ने भी अर्थशास्त्रीय विश्लेपण द्वारा प्राप्त होने वाले कथनो के सम्वन्ध मे कुछ ऐसा ही मन्तव्य प्रकट किया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र के विश्लेषण का प्रयोजन यह है कि 'विभिन्न कल्पित परिस्थितियो में लोग जिस प्रकार से पसद-नापसद करेंगे, उनके परिणामो का स्पष्टीकरण कर दिया जाय।'[२०]

ऊपर हमने कहा था कि मानवीय विद्याओ में जिन वुद्धिगम्य सम्वन्धो की स्थापना की जाती है उनकी अभिव्यक्ति हमारे सहज वोध (Common Sense) की भापा मे होनी चाहिए। जान पडता है कि रॉबिन्स के अनुसार इस सहज वोध का कार्य कुछ दूसरा ही हैं। वह कहते हैं 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त-वाक्य कतिपय आवश्यक मान्यताओ (Postulates) से निगमन द्वारा प्राप्त होते हैं। इन मान्यताओ में प्रमुख वे हैं जो वस्तु-सामग्री की न्यूनता का यथार्थ जीवन में क्या प्रभाव पडता है, इसके वारे में कतिपय सर्वानुभूत तथ्यो का सकेत करती है। उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये हमें नियत्रित प्रयोगो की जरूरत नही होती, वे हमारे अनुभव मे इतनी ओत-प्रोत होती है कि जैसे ही हम उन्हें शव्दो में कह देते हैं, वैसे ही उनकी प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है।'[२१] इस प्रकार की मान्यताओ के कुछ उदाहरण ये हैं मूल्य अपेक्षाकृत कम और ज्यादा महत्व के होते है,उत्पादन में अनेक उपादान या कारण-तत्व निहित हैं, भविष्य के सम्वन्व में विभिन्न कोटियों तथा दर्जो के अनिश्चय रहते है, इत्यादि।'[२२]

ऊपर का मन्तव्य यह मानकर चलता प्रतीत होता है कि हमारा सहज वोव सूत्रित या निरूपित (Formulated) रूप में वर्तमान होता है, जिससे वे मान्यताएँ प्राप्त की जा सकती है जो अर्थशास्त्रीय नियमो के निगमन में पक्ष-वाक्यो (Premises) का काम दे सकें। किन्तु हमारे विचार में स्थिति ऐसी नही है। सहजवोव से नि सृत होने वाले तथ्य या सत्य न तो उन स्थापनाओ की भाँति होते है जिन्हें किसी भौतिक शास्त्री की सृजनात्मक प्रतिभा उत्सृष्ट करती है, और न कान्ट की प्रज्ञा ( Under-

standing) की अनुभव-निरपेक्ष धारणाओं की तरह। उन तथ्यों या सत्यों का अर्थ-शास्त्र अथवा किसी दूसरे सामाजिक विज्ञान के सामान्य कथनों से वहस म्बन्ध भी नहीं होता जो निष्कृष्ट नियमों (Derivative Laws) का अधिक व्यापक मान्यताओं से होता है। इसके विपरीत हमारा विचार है कि सामाजिक विज्ञानों के नियम हमारे दैनिक अनुभव-तत्वों के कल्पना-मूलक विस्तार एवं पुनः संगठन द्वारा प्राप्त होते हैं। हमारा अनुभव साध्य-साधन-सम्बन्ध का जो ढाचा हमें प्रदान करता है, उसे हम इस प्रकार खींचकर बढ़ा लेते हैं कि उसके भीतर इतिहास अथवा आंकड़ों में निहित बृहत्तर अनुभव का समावेश हो सके।

यदि रॉबिन्स का मत ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि एक इतिहासकार अथवा समाजशास्त्री के ज्ञान की अपेक्षा सहज बुद्धि का ज्ञान ज्यादा सामान्य अथवा व्यापक कोटि का होता है, और यह कि एक साधारण व्यक्ति साहित्य, इतिहास अथवा समाज-विज्ञान के अध्ययन से कोई खास नई चीज नहीं सीख सकता।

इसके विपरीत हमारा मन्तव्य इस प्रकार है इतिहास में उल्लिखित कर्मों तथा घटनाओं और कथा-साहित्य में चित्रित पात्रों को समझने तथा सामाजिक विज्ञानों में उद्घाटित सामान्य प्रवृत्तियों को ग्रहण करने में पाठक तथा पाठिकाएँ अपनी कल्पनात्मक तादात्म्य की शक्ति से काम लेते हैं। इस शक्ति द्वारा वे अपने को उक्त घटनाओं कर्मों, प्रवृत्तियों आदि में निहित जीवन-प्रक्रियाओं में क्षिप्त कर देते हैं, और इस प्रकार उनके आन्तरिक अभिप्राय को पकड़ लेते हैं। हमारे इस मन्तव्य से यह भी समझ में आ जाता है कि किस प्रकार [illegible] के सेवन तथा सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन से हमारे आत्मिक तत्त्व में विस्तार और समृद्धि निष्पन्न होती है।

आंकड़ों आदि में दी हुई सामग्री को इतिहास में एक समंजस तथा अर्थपूर्ण समष्टि या संस्थान (Pattern) का रूप दिया जाता है। इतिहास का पाठक [illegible] द्वारा अपने को विशिष्ट परिस्थिति-संगठन में रख देता है, और उसके अभिप्राय को भीतर से जान लेता है। वह ऐसा किस प्रकार करता है? उत्तर है: परिस्थिति-समूह में निहित कर्मों की खोज में अपनी प्रेरणात्मक सम्भावनाओं (Motivational Possibilities) का [illegible] विस्तार करके। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में [illegible] क्रिया होती है, वह एक ऐसी क्रिया है जिससे [illegible] व्यक्तित्व की अभिवृद्धि भी होती है। [illegible]

कोई अर्थ नही होता। वाल्टर यूकेन ने इस मत का विरोध किया है। अर्थशास्त्र के सामान्य कथनो के बारे में उन्होंने कुछ वैसा ही मत प्रकट किया है जैसा कि हमने ऊपर व्यक्त किया। अर्थशास्त्र नामक विज्ञान के वक्तव्य अर्थात् सामान्य कथन कुछ इस प्रकार के होते है 'यदि परिपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति हो तो ' अथवा 'यदि एक देश में फसल बिगड जाय तो विभिन्न देशो की पारस्परिक अदायगी का सतुलन बदल जाता है ..' इत्यादि।[११] लायोनल राबिन्स ने भी अर्थशास्त्रीय विश्लेषण द्वारा प्राप्त होने वाले कथनो के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही मन्तव्य प्रकट किया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र के विश्लेषण का प्रयोजन यह है कि 'विभिन्न कल्पित परिस्थितियो मे लोग जिस प्रकार से पसद-नापसद करेंगे, उसके परिणामो का स्पष्टीकरण कर दिया जाय।'[१०]

ऊपर हमने कहा था कि मानवीय विद्याओ में जिन बुद्धिगम्य सम्बन्धो की स्थापना की जाती है उनकी अभिव्यक्ति हमारे सहज बोध (Common Sense) की भाषा मे होनी चाहिए। जान पडता है कि रॉबिन्स के अनुसार इस सहज बोध का कार्य कुछ दूसरा ही है। वह कहते है 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त-वाक्य , कतिपय आवश्यक मान्यताओ (Postulates) से निगमन द्वारा प्राप्त होते हैं। इन मान्यताओ मे प्रमुख वे है जो वस्तु-सामग्री की न्यूनता का यथार्थ जीवन मे क्या प्रभाव पडता है, इसके बारे मे कतिपय सर्वानुभूत तथ्यो का सकेत करती है। उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये हमें नियत्रित प्रयोगो की ज़रूरत नही होती, वे हमारे अनुभव में इतनी ओत-प्रोत होती है कि जैसे ही हम उन्हें शब्दो मे कह देते है, वैसे ही उनकी प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है।'[११] इस प्रकार की मान्यताओ के कुछ उदाहरण ये है मूल्य अपेक्षाकृत कम और ज्यादा महत्व के होते है,उत्पादन में अनेक उपादान या कारण-तत्व निहित है, भविष्य के सम्बन्ध में विभिन्न कोटियो तथा दर्जो के अनिश्चय रहते है, इत्यादि।'[१२]

ऊपर का मन्तव्य यह मानकर चलता प्रतीत होता है कि हमारा सहज बोध सूत्रित या निरूपित (Formulated) रूप में वर्तमान होता है, जिससे वे मान्यताएँ प्राप्त की जा सकती है जो अर्थशास्त्रीय नियमो के निगमन में पक्ष-वाक्यो (Premises) का काम दे सकें। किन्तु हमारे विचार में स्थिति ऐसी नही है। सहजबोध से नि सृत होने वाले तथ्य या सत्य न तो उन स्थापनाओ की भाँति होते है जिन्हें किसी भौतिक शास्त्री की सृजनात्मक प्रतिभा उत्पृष्ट करती है, और न कान्ट की प्रज्ञा ( Under-

standing) की अनुभव-निरपेक्ष धारणाओं की तरह। उन तथ्यों या सत्यों का अर्थ-शास्त्र अथवा किसी दूसरे सामाजिक विज्ञान के सामान्य कथनों से वह सम्बन्ध भी नहीं होता जो निष्कृष्ट नियमों (Derivative Laws) का अधिक व्यापक मान्यताओं से होता है। इसके विपरीत हमारा विचार है कि सामाजिक विज्ञानों के नियम **हमारे दैनिक अनुभव-तत्वों के कल्पना-मूलक विस्तार एवं पुनः संगठन द्वारा प्राप्त होते हैं।** हमारा अनुभव साध्य-साधन-सम्बन्ध का जो ढाचा हमें प्रदान करता है, उसे हम **इस प्रकार खींचकर बढ़ा लेते हैं कि उसके भीतर इतिहास अथवा आँकड़ों में निहित वृहत्तर अनुभव का समावेश हो सके।**

यदि रॉबिन्स का मत ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि एक इतिहासकार अथवा समाजशास्त्री के ज्ञान की अपेक्षा सहज बुद्धि का ज्ञान ज्यादा सामान्य अथवा व्यापक कोटि का होता है, और यह कि एक साधारण व्यक्ति साहित्य, इतिहास अथवा समाज-विज्ञान के अध्ययन से कोई खास नई चीज नहीं सीख सकता।

इसके विपरीत हमारा मन्तव्य इस प्रकार है इतिहास में उल्लिखित कर्मों तथा घटनाओं और कथा-साहित्य में चित्रित पात्रों को समझने तथा सामाजिक विज्ञानों में उद्घाटित सामान्य प्रवृत्तियों को ग्रहण करने में पाठक तथा पाठिकाएँ अपनी कल्पनात्मक तादात्म्य की शक्ति से काम लेते हैं। इस शक्ति द्वारा वे अपने को उक्त घटनाओं, कर्मों, प्रवृत्तियों आदि में निहित जीवन-प्रक्रियाओं में क्षिप्त कर देते हैं, और इस प्रकार उनके आन्तरिक अभिप्राय को पकड़ लेते हैं। हमारे इस मन्तव्य से यह भी समझ में आ जाता है कि किस प्रकार कथाओं के सेवन तथा सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन से हमारे आत्मिक सत्त्व में विस्तार और समृद्धि निष्पन्न होती है।

आँकड़ों आदि में दी हुई सामग्री को इतिहास में एक समंजस तथा अर्थपूर्ण समष्टि या संस्थान (Pattern) का रूप दिया जाता है। इतिहास का पाठक कल्पना द्वारा अपने को विशिष्ट परिस्थिति-संगठन में रख देता है, और उसके अभिप्राय को भीतर से जान लेता है। वह ऐसा किस प्रकार करता है? उत्तर है: परिस्थिति-समूह में निहित कर्मों की अपेक्षा में अपनी प्रेरणात्मक सम्भावनाओं (Motivational Possibilities) का सृजन-मूलक विस्तार करके। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में जानना एक सृजनात्मक क्रिया होती है, कुछ ऐसी क्रिया [illegible] जिसके मनन से [illegible] अथवा सत्य के [illegible] व्यक्तित्व की अभिवृद्धि भी होती है। और

विपरीत गणित-शास्त्र तथा भौतिक विज्ञान मे तर्कना या चितन प्राय मनन-रूप ( Contemplative ) ही होता है, जब तक कि उसके साथ दार्शनिक जिज्ञासा का योग न हो। इतिहास से भिन्न सामाजिक विज्ञानो में ऐसे अमूर्त ढाँचो ( Abstract Models) का निर्माण किया जाता है जो अन्वेपित अर्थों के बीच रहने वाले सम्वन्धो को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति दे सके।

मानवीय विद्याओ में किये जाने वाले सामान्य कथनो के वारे मे हमारी चौथी मान्यता उनकी परीक्षा (Verification) से सम्वन्ध रखती है। हम मानते है कि **मानवीय विद्याओं में परीक्षा करने की प्रक्रिया किसी तथ्य-समूह को सम्बद्ध रूप में समझने की क्रिया की समानात्मक अथवा उससे अविच्छिन्न** (Continuous) **होती है।** यह प्रक्रिया कुछ वैसी ही होती है जैसी कि कला-सृष्टि की क्रिया, वह कल्पना-मूलक होती है। इस मान्यता का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि यदि किसी विद्या के सामान्य कथनो की कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष द्वारा परीक्षा नही की जा सकती, तो उसका समावेश मानवीय विद्याओ मे नही किया जा सकेगा।

कहा गया है कि ऐतिहासिक लेखन में व्याख्या का अर्थ होता है सफल वर्णन। किसी ऐतिहासिक घटना का सम्वद्ध विवरण प्रस्तुत करना ही इतिहास-लेखन की कला है। कथा-साहित्य में एक दूसरी क्षमता की जरूरत होती है। वहाँ एक ओर विभिन्न घटनाओ तथा कर्मो का विवरण रहता है, और दूसरी ओर विभिन्न पात्रो की आन्तरिक प्रवृत्तियो का, कथाकार को इन दोनो मे सामजस्य स्थापित करना चाहिए। यहाँ एक प्रश्न उठता है हम यह कैसे निर्णय कर पाते है कि किसी उपन्यास में एक पात्र ज्यादा यथार्थ वन सका है, और दूसरा कम? प्रसिद्ध समीक्षक पर्सी ल्यूवक ने टॉल्स्टॉय के प्रख्यात उपन्यास "एना केरीनिना" को लक्ष्य करके कहा है कि उसमें लेखक ने सभी पात्रो का सफल चित्रण किया है, केवल एक को छोडकर, यह एक पात्र एना का प्रेमी है।[४१] श्री ल्यूवक का मत उचित है, लेकिन हम यह कैसे जान पाते है कि उनकी सम्मति ठीक है? किस प्रक्रिया से हम एक वडे उपन्यासकार, वडे समीक्षक, अथवा वडे समाजशास्त्री और दार्शनिक को भी पहचान पाते है? किसी विचारक अथवा उपन्यासकार की महत्ता की पहचान और यह आभास कि उपन्यासकार अपनी कृति को कितना यथार्थ वना सका है, मानवीय जगत् की चीजें हैं, जिन पर मानवीय विद्याओ के विश्लेपक चिन्तक को विचार करना चाहिए।

किसी उपन्यासकार की यथार्थ की पकड़ कितनी है, इसका निर्णय करने के लिये हम यह देखते हैं कि उसके द्वारा चित्रित जीवन से हम कहाँ तक तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। किसी विचारक की महत्ता को आँकने के लिये हम यह देखते हैं कि हमारे सामने किसी अनुभव-क्षेत्र का जो चित्र उसने प्रस्तुत किया है, वह कितना समंजस, स्पष्ट, तथा समृद्ध है। कलाकार का जैसा जीवन से सम्बन्ध होता है, वैसा ही सम्बन्ध समीक्षक का कलाकृतियों से होता है। कलाकार हमारे जीवन को हमारे लिये स्पष्ट कर देता है, वह हमारे जीवन को समृद्ध भी कर देता है, समीक्षक हमें उस जीवन की स्पष्टतर प्रतीति कराता है जो किसी कलाकृति में निबद्ध होता है।

अब हम उन सामान्य कथनों की प्रकृति का, जो मानवीय विद्याओं में पाये जाते हैं, विचार करेंगे। ये सामान्य कथन दो प्रकार के होते हैं, कल्पना-मूलक (Imaginative) और कल्पना-प्रसूत (Speculative)। प्रथम कोटि के सामान्य कथन जीवनानुभूति के कल्पना-मूलक विस्तार अथवा पुनर्गठन से प्राप्त होते हैं। मानवीय विद्याओं में उनका वही स्थान समझना चाहिये जो भौतिक विज्ञानों में प्रयोगात्मक सामान्य कथनों (Empirical Generalisations) का होता है। मानवीय विद्याओं के ये सामान्य कथन सीधे कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष से प्रमाणित होते हैं। वे आँकड़ों (Statistics) द्वारा समर्थित होते हैं प्रमाणित नहीं। कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष में कल्पना-मूलक तादात्म्य भी निहित रहता है विशेषतः आवेगात्मक अनुभव के क्षेत्र में, भले ही वह तादात्म्य सदैव पूर्ण न हो।

अब हम कल्पना-प्रसूत स्थापनाओं की चर्चा करेंगे। ये स्थापनाएँ भौतिक-शास्त्र के व्यापक सिद्धान्तों (Physical Theories) की समकक्ष होती हैं। ऐसी स्थापनाओं के कुछ उदाहरण हैं अगस्त काम्त का तीन सोपानों का नियम अर्थात् यह नियम कि मानव-चिन्तन क्रमशः धार्मिक, दार्शनिक, तथा वैज्ञानिक तीन भूमिकाओं में विकसित होता है, हर्बर्ट स्पेन्सर का विकासवाद जो सरल से जटिल के विकास की व्याख्या करता है कार्ल मार्क्स का इतिहास-दर्शन (Theory of History) इत्यादि। इनके व्यापक सिद्धान्तों की परीक्षा कल्पना-मूलक अन्तर्दृष्टि से नहीं हो सकती। अनुभव की कसौटी से भी इनकी परीक्षा सम्भव नहीं—इसका एक कारण यह भी है कि ये अनेक तर्क-जिज्ञासाओं से भी स्थापित होते हैं, जिनका अनुभव नहीं हो सकता। ऐसे व्याख्या-सूत्रों के पक्ष में केवल एक ही बात होती है, यह कि वे हमारे अनुभवक्षेत्र के [illegible] अनेक विविध [illegible] को [illegible] का [illegible]

देते हैं। किन्तु यह विशेपता भौतिक-शास्त्र के व्याख्या-सूत्रो में भी पायी जाती है, साथ ही उन व्याख्या-सूत्रो में एक दूसरी विशेपता होती है, अर्थात् अनुभव की अपेक्षा से परीक्षणीय होने की विशेपता। यह विशेपता मानवीय विद्याओ के उपरोक्त कोटि के व्याख्या-सूत्रो में नही होती। इससे यह अनुगत होता है कि भौतिक-शास्त्रो के कल्पना-प्रसूत व्याख्या-सूत्र मानवीय विद्याओ के वैसे व्याख्या-सूत्रो से ज्यादा विश्वसनीय होते है। सच यह है कि जब मानवीय विद्याएँ उक्त कोटियो के व्यापक व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना करती है तब वे एक आपत्तिजनक अर्थ में तत्वमीमासा-मूलक (Metaphysical) वन जाती हैं।

## सार्वभौम संयोजक कथन या वक्तव्य

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काट के अनुसार कथन (Judgments) दो प्रकार के होते है, सयोजक (Synthetic) और वियोजक ( Analytic )। काण्ट के अनुसार वियोजक कथन वे है जिनमें वाक्य का विधेयाश उद्देश्यके बारे में कोई नई जानकारी नही देता, विधेय केवल उद्देश्य का विश्लेषण कर देता है। जिसे हम परिभाषा कहते हैं वह इसी प्रकार का कथन होता है। जैसे "तीन भुजाओ वाली, एक ही धरातल में स्थित आकृति को त्रिभुज कहते है"। इसके विपरीत सयोजक कथन वह है जिसमें विधेय (Predicate), उद्देश्य (Subject) के बारे में कुछ नयी वात वतलाता है, जैसे "श्याम आज कलकत्ते जायगा।" वियोजक कथन सार्वभौम तथा आवश्यक (Universal and Necessary) रूप में सत्य होते है। प्रश्न है—क्या ऐसे सयोजक कथन भी हो सकते है जो सार्वभौम तथा आवश्यकरूप में सत्य हों? तर्क-मूलक भाववादियो का विचार है कि इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। नयी जानकारी देने वाला कोई भी कथन आवश्यक तथा सार्वभौम रूप मे सत्य नही होता। इस प्रकरण में हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि मानवीय विद्याओ मे सार्वभौम तथा आवश्यक सयोजक कथन सम्भव है या नही। हमारी मान्यता है कि मानवीय विद्याओ में वैसे कथन सम्भव है।

मानवीय विद्याओ मे किये जाने वाले सामान्य कथन इस मान्यता पर आधारित होते है कि मानव-प्रकृति सर्वत्र एक है। इस मान्यता का एक निष्कर्ष यह है कि किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के व्यवहार की सम्भावनाओ का कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष और उपभोग दूसरे लोगो को हो सकता है। मानवीय विद्याओ के लिये यह मान्यता उतनी

ही जरूरी है जितनी कि भौतिक-शास्त्रो के लिये यह मान्यता कि प्रकृति-जगत् नियमित अथवा एकरूप है। भौतिकशास्त्रो मे इसे प्रकृति की एकरूपता का सिद्धान्त (Principle of Uniformity of Nature) कहते है। कतिपय अस्तित्ववादियो ने यह मत प्रकट किया है कि मानव-प्रकृति नाम की कोई स्थिर चीज नही है, कि मनुष्य की प्रकृति या सार-सत्ता (Essence) लगातार बदलती या निर्मित होती रहती है। हम भी मानते है कि किसी खास परिस्थिति-सगठन के बीच मनुष्य विभिन्न प्रतिक्रियाएँ कर सकता है। वह आवश्यक रूप से एक ही प्रतिक्रिया करने को बाध्य नही होता। यदि अस्तित्ववादी इतना ही कहे, तो हमें विरोध नही। किन्तु यदि वे यह नही मानते कि अपनी समस्त सृजनात्मक सभावनाओ के साथ मानव-प्रकृति विभिन्न व्यक्तियो मे वही होती है, तो इतिहास लिखना और समझना दोनो असम्भव क्रियाएँ बन जायेगी। उस दशा मे इतिहासकार अतीत लोगो के जीवन को न स्वय ही समझ सकेगा, न अपने ज्ञान को दूसरे तक पहुँचा ही सकेगा। यदि एक सामान्य मानव-प्रकृति नही हो, तो हम एक-दूसरे के तर्कों को भी न समझ सकें, और सामान्य सत्यो पर पहुँचना भी असम्भव हो जाय।"

अब हम अपना पूर्व प्रश्न उठाते है : क्या मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे ऐसे सत्यो को प्राप्त किया जा सकता है जो निश्चयात्मक तथा सार्वभौम हो ? दूसरे शब्दो मे प्रश्न यह है : क्या हम मानवीय व्यवहार और मूल्यो के सम्बन्ध मे ऐसे सत्यो पर पहुँच सकते है जो आवश्यक (निश्चयात्मक) और सार्वभौम (Necessary and Universal) हो ? हमने ऊपर कहा कि तर्कमूलक भाववादी ऐसे सत्यो की सम्भावना से इन्कार करते है। दूसरे परीक्षको का ख्याल है कि नीतिशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र जैसी आदर्शान्वेषी (Normative) विद्याओ मे ऐसे कथन सम्भव नही है।

भौतिकशास्त्र के क्षेत्र मे इस मान्यता के कि निश्चयात्मक सार्वभौम सिद्धान्त सम्भव नही है, उदित होने का कारण वह विचारात्मक क्रान्ति थी जिसने परम्परागत भौतिक-शास्त्र के सिद्धान्तो का निराकरण कर दिया। हम कह ही चुके है कि भौतिकशास्त्र के व्यापक सिद्धान्त कल्पना-प्रसूत होते है, और नये प्रयोगो के आलोक मे बराबर बदलते रहते है। जिन्हे हम प्रयोगात्मक नियम (Empirical Laws) कहते है उनकी अभिव्यक्ति कभी पूर्णतया सही नही होती, बदले हुए व्यापक सिद्धान्तो के अनुरूप उन्हे प्रकट करने वाले समीकरण न्यूनाधिक बदल दिये जाते है। इससे यह अनुभव होता है कि भौतिक-शास्त्र के प्रयोग-मूलक नियम भी चरम नही होते।

निष्कर्ष यह कि भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में निश्चयात्मक एव सार्वभौम सत्यो अथवा चरम सिद्धान्तो की उपलब्धि सम्भव नही।

अपनी पुस्तक "भाषा, सत्य, और तर्कशास्त्र" के दूसरे सस्करण मे ऐयर ने, अपने प्रथम सस्करण के मत में सशोधन करते हुए, यह मत प्रकट किया है कि अनुभव पर आधारित कुछ कथन ऐसे हो सकते है जो निश्चयात्मक हो, और जिनकी पूर्ण परीक्षा की जा सके। ऐसे कथनो का विषय हमारे अकेले अनुभव होते है—जैसे, शकर मीठी है। दूसरे किसी प्रकार के कथन निश्चयात्मक नही हो सकते।[५]

ऐयर के इस निराशा-व्यजक मन्तव्य को स्वीकार करना हम आवश्यक नही समझते।[६]

इस सम्बन्ध में एक बात याद रखनी चाहिए। बीसवी सदी में चिन्तन के क्षेत्र में जो क्रान्ति हुई है उसका सम्बन्ध केवल भौतिक-शास्त्र की चिन्तन-प्रणाली से है। हमारे सहज बोध के क्षेत्र में ऐसी कोई क्रान्ति नही हुई है। आज भी अग्नि हमें गर्म लगती और जलाती है, और पानी हमारी प्यास बुझाता है। हमारे मानवीय व्यवहार के ज्ञान के सम्बन्ध में भी कोई वैसी क्रान्ति नही हुई है। फ्रायड के मनोविज्ञान नें भी मनुष्य-सम्बन्धी हमारे अतीत और वर्तमान बोध के बीच कोई खाई उत्पन्न नही की। यही कारण है कि हम आज भी कालिदास, शेक्सपियर आदि प्राचीन कवियों की रचनाओ में रस ले पाते है, और प्लेटो, अरस्तू, कौटिल्य आदि की कृतियो से उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर पाते है।

फिर क्यो लोग ज्ञान की सम्भावना को लेकर इतनी निराशा तथा सन्देहवाद को प्रकट करते है ? भौतिकशास्त्र मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान नही है, और भौतिक-शास्त्र में बौद्धिक सकट उपस्थित होने का अर्थ ज्ञान के सब क्षेत्रो में सकट होना नही है। भौतिक-शास्त्रीय बौद्धिक सकट के सम्बन्ध में हमारा मत इस प्रकार है। उस शास्त्र के समस्त सैद्धान्तिक चिंतन में, यहाँ तक कि उसके प्रयोग-मूलक सिद्धान्तो में भी, एक विशुद्ध कल्पना का अश होता है। जहाँ-जहाँ यह अश मौजूद होता है, वहाँ-वहाँ कुछ-न-कुछ अनिश्चय भी बना ही रहता है। भौतिक-शास्त्र अपने सिद्धान्तो के निरूपण में गणित की भाषा का उपयोग करता है, किन्तु, अन्तिम विश्लेषण में, गणित हमारे मस्तिष्क की उपज है, कोई कारण नही कि वह भौतिक विश्व की रचना को पूर्णतया

वर्णित करने के लिये सक्षम ही हो। यह ठीक है कि भौतिक जगत् की रचना को गणित के प्रतीकों में वर्णित करना अब तक सुविधा-जनक रहा है, फिर भी यह कहना कि विश्व की रचना या संगठन गणितात्मक है, उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना कि यह कहना कि वह संस्कृत अथवा अंग्रेजी भाषा के स्वर-संगठन अथवा व्याकरणात्मक रचना के अनुरूप है। जिस प्रकार कि ज्यामिति की कई पद्धतियां बनी हैं, ऐसे ही यह भी सम्भव था कि अंकशास्त्र और "कैल्कुलस" की अनेक पद्धतियां बन जातीं।

सहज बुद्धि के न्यूनाधिक गुणात्मक धरातल पर हमारा अनुभव भौतिक-जगत् तथा मानव-जगत् दोनों के सम्बन्ध में आज भी निश्चयात्मक तथा सार्वभौम सत्य देता रहता है। उदाहरण के लिये हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि सामान्य मानव-शिशुओं के लिये दूध एक गुणकारी भोजन है, कि अग्नि गर्मी उत्पन्न करती है, कि एक प्रिय बच्चे की मृत्यु माता-पिता के शोक का कारण होती है, कि एक सुन्दर, संस्कृत और साध्वी पत्नी महत्वाकांक्षी, बुद्धिमान तथा सामाजिक पति के गर्व का कारण होती है। पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये कोई व्यक्ति ज्ञात सत्यों में सन्देह प्रकट कर सकता है, यह भी कहा जा सकता है कि ये कथन सुनिश्चित अर्थ वाले नहीं हैं, और इसलिये उनकी सही परीक्षा नहीं हो सकती। किन्तु किसी वक्तव्य की निश्चित अर्थवत्ता हमारे प्रयोजनों की सापेक्ष होती है, और गणित के हिसाब के बाहर कहीं भी शत-प्रतिशत निश्चित या सही वक्तव्य उपलब्ध नहीं हो सकते। केवल गणित के प्रतीकों में यह क्षमता है कि वे छोटे-से-छोटे अन्तर को वर्णनीय तथा प्रकाशन-योग्य बना देते हैं।

कहा गया है कि केवल वियोजक कथन ही निश्चयात्मक तथा सार्वभौम सत्य होते हैं। यह भी कहा जाता है कि तथाकथित वियोजक कथन अपनी सत्यता के लिये केवल प्रतीकों के सम्बन्ध पर निर्भर होते हैं, उनका प्रतीकों के अर्थ से, और इस प्रकार अनुभव से, विशेष सरोकार नहीं होता, अतएव वे अनुभव द्वारा प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं किये जा सकते। इस मन्तव्य के समर्थक यह भूल जाते हैं कि मानव मस्तिष्क की अपेक्षा से ही प्रतीकों के अर्थ और उन अर्थों के सम्बन्ध होते हैं। मानवीय बुद्धि की अपेक्षा से ही ये अर्थ और सम्बन्ध सार्थक तथा प्रामाणिक हो पाते हैं। अन्तिम विश्लेषण में सामान्य (Normal) मनुष्य की चेतना ही यह प्रमाणित कर सकती है कि किन्हीं दो या अधिक अर्थों का सम्बन्ध यथार्थ है, अथवा परिवर्तनीय। एक वियोजक कथन का उदाहरण लीजिये। यदि क ख को आक्षिप्त (Imply) करता है, और

ख ग को, तो क ग को आक्षिप्त करता है। कहा जाता है कि यह कथन वस्तुस्थिति के बारेमें कुछ नही कहता, केवल प्रतीकोंके बारेमें ही कुछ कहता है। किन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह कथन कि क ग को आक्षिप्त करता है, एक रूपक मात्र है, क्योंकि किसी प्रतीक अथवा अर्थ में ऐसी शक्ति नही होती कि वह किसी चीज को आक्षिप्त करे। जब हम कहते हैं कि क ग को आक्षिप्त करता है, तो उसका मतलब सिर्फ यह होता है कि यदि कोई व्यक्ति क नामक कथन को स्वीकार करता है तो उसे (अपनी तर्कात्मक प्रकृति द्वारा विवश होकर) ग को स्वीकार करना पडेगा। मतलब यह है कि उपरोक्त वियोजक कथन का वास्तविक विषय प्रतीक अथवा उनके अर्थ नही है, उसका असली विषय उन प्रतीको तथा अर्थो से सम्बन्धित मानव-व्यवहार की विशेप सम्भावना है। दूसरा उदाहरण लीजिये, यदि क ख से बडा है, और ख ग से बडा है, तो क ग से वडा है। यह कथन एक सार्वभौम सत्य है क्योकि वह एक ऐसे तथ्य को प्रकट करता है जिसका प्रमाण परिमाणो तथा मात्राओ से सम्बन्धित मनुष्य का अनुभव है, वह अनुभव जिसकी व्याख्या मानव-रुचियो तथा मानवीय प्रत्यक्ष-क्रिया की प्रकृति के अनुरूप होती है।

वास्तव में तथाकथित वियोजक कथन वियोजक नही बल्कि सयोजक होते हैं। वियोजक कथनो का विषय प्राय· प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त अमूर्त सम्बन्ध होते हैं। किन्तु सम्बन्ध उतने ही वस्तुनिष्ठ होते हैं जितनी कि वस्तुएँ, और यह सोचना भ्रामक है कि सम्बन्धो के वारे में किये हुए कथन या तो प्रतीकों के वारे मे होते हैं अथवा विशुद्ध रूपाकारो (Forms) के बारे में। कारण यह है कि किसी वस्तु की ओर स्पष्ट या प्रच्छन्न सकेत किये बिना किसी भी रूपाकार अथवा सम्बन्धका कोई अर्थ नही होता।[७]

वस्तुस्थिति यह है कि वस्तुओ के रूपाकार और सम्बन्ध, जिनका अन्वेपण हम करते है, मानवीय रुचियो तथा प्रयोजनो की अपेक्षा से ही सार्थक या अर्थपूर्ण वनते है। मनुष्य को प्रकृति में वे ही विशेपताएँ मिलती है, अथवा प्रकृति मनुष्य पर केवल उन्ही विशेपताओ को प्रकट कर पाती है, जिनका मानवीय मस्तिष्क की रचना और मानवीय प्रयोजनो की अपेक्षा से कोई अर्थ होता है। मनुष्य को अपने प्रयोजनो तथा उन प्रयोजनो से सम्बन्धित गुणो एव सम्बन्धो की प्रकृति का साक्षात् ज्ञान होता है, इसीलिये वह पहले से उन नियमो को निरूपित कर पाता है जिनके अनुसार भविष्य में उन गुणो तथा सम्बन्धो के वारे में वह तर्कना करेगा। जिन्हें हम वियोजक कथन

कहते हैं उनका विषय वस्तुतः उक्त गुणों तथा सम्बन्धों के अमूर्त ढांचे होते हैं। तथा-कथित वियोजक कथनों की शक्ति तथा प्रामाणिकता का रहस्य उस परिस्थिति में निहित है कि उन ढांचों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए मानव-मस्तिष्क निश्चित सीमाओं के भीतर व्यापृत होता है।

प्रश्न है, ऐसी दशा में निम्न दो कोटि के वाक्यों की निश्चयात्मकता में किस प्रकार का भेद माना जाय : समस्त अग्नि गर्मी उत्पन्न करती है, और यदि क ग को आक्षिप्त करता है, और ख ग को, तो क ग को आक्षिप्त करता है?

परम्परागत तर्कशास्त्र के अनुसार एक निश्चयात्मक प्रत्यय, धारणा अथवा कथन उसे कहते हैं जिसके विरोधी की, मानव-मस्तिष्क द्वारा, कल्पना असम्भव है, अथवा, लाइबनीज़ के शब्दों में, जिसके विरोधी में अन्तर्विरोध पाया जाता है। किन्तु "विरोधी की अकल्पनीयता" एक ऐसी विशेषता है जो मानवीय कल्पना-शक्ति की सम्भावनाओं की सापेक्ष है। हम कहेंगे कि एक वक्तव्य निश्चयात्मक या अनिवार्य रूप में सत्य है, यदि वह मानवीय कल्पना के लिये एक मात्र सम्भव सम्बन्ध को प्रकट करता है। जिन्हें हम निश्चयात्मक एवं अनिवार्य कथन कहते हैं वे मानवीय मस्तिष्क की कतिपय अपरिवर्तनीय तर्कना-सम्बन्धी आदतों का संकेत करते हैं। किन्तु मनुष्य की तर्कना-मूलक प्रकृति (Logical Nature) को उसकी सम्पूर्ण मानसिक प्रकृति से अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य जहां तर्कना-मूलक व्यवहार करता है, वहां नैतिक और सौन्दर्य-सम्बन्धी व्यवहार भी करता है। वस्तुतः उसके सम्पूर्ण व्यवहार में जैसे उसकी तर्कना-मूलक प्रकृति प्रतिफलित रहती है, वैसे ही उसकी नैतिक और सौन्दर्य-मूलक प्रकृति भी। अनुभव के किसी भी क्षेत्र में मनुष्य उस चीज का साक्षात्कार कर सकता है जिसे हमने सम्बन्धों की अकेली सम्भावना, अथवा एक मात्र सम्भव सम्बन्ध, कहा है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि विभिन्न अनुभव तथा व्यवहार के क्षेत्रों के अनुरूप, अनेक कोटियों के निश्चयात्मक एवं सार्वभौम कथन हो सकते हैं।

यह कथन कि 'समस्त अग्नि गर्मी उत्पन्न करती है' जहां तक ज्ञात है उसी प्रकार मनुष्य का अनुभव रहा है। किन्तु यह कल्पना की जा सकती है (जैसा कि तर्क-शास्त्री कहते हैं) कि ऐसी अग्नि भी हो जो गर्मी उत्पन्न न करे। अग्नि ठंडी भी हो सकती है। इस परिस्थिति का तर्कशास्त्र पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा।

ख ग को, तो क ग को आक्षिप्त करता है। कहा जाता है कि यह कथन वस्तुस्थिति के बारेमें कुछ नही कहता, केवल प्रतीकोंके बारेमे ही कुछ कहता है। किन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह कथन कि क ग को आक्षिप्त करता है, एक रूपक मात्र है, क्योकि किसी प्रतीक अथवा अर्थ में ऐसी शक्ति नही होती कि वह किसी चीज़ को आक्षिप्त करे। जब हम कहते हैं कि क ग को आक्षिप्त करता है, तो उसका मतलब सिर्फ यह होता है कि यदि कोई व्यक्ति क नामक कथन को स्वीकार करता है तो उसे (अपनी तर्कात्मिक प्रकृति द्वारा विवश होकर) ग को स्वीकार करना पडेगा। मतलब यह है कि उपरोक्त वियोजक कथन का वास्तविक विपय प्रतीक अथवा उनके अर्थ नही हैं, उसका असली विषय उन प्रतीको तथा अर्थो से सम्वन्धित मानव-व्यवहार की विशेप सम्भावना है। दूसरा उदाहरण लीजिये, यदि क ख से बडा है, और ख ग से बडा है, तो क ग से वडा है। यह कथन एक सार्वभौम सत्य है क्योकि वह एक ऐसे तथ्य को प्रकट करता है जिसका प्रमाण परिमाणो तथा मात्राओ से सम्बन्धित मनुष्य का अनुभव है, वह अनुभव जिसकी व्याख्या मानव-रुचियो तथा मानवीय प्रत्यक्ष-क्रिया की प्रकृति के अनुरूप होती है।

वास्तव में तथाकथित वियोजक कथन वियोजक नही बल्कि सयोजक होते हैं। वियोजक कथनो का विपय प्राय प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त अमूर्त सम्बन्ध होते हैं। किन्तु सम्बन्ध उतने ही वस्तुनिष्ठ होते हैं जितनी कि वस्तुएँ, और यह सोचना भ्रामक है कि सम्बन्धो के वारे में किये हुए कथन या तो प्रतीको के बारे में होते हैं अथवा विशुद्ध रूपाकारो (Forms) के बारे में। कारण यह है कि किसी वस्तु की ओर स्पप्ट या प्रच्छन्न सकेत किये विना किसी भी रूपाकार अथवा सम्बन्धका कोई अर्थ नही होता।"

वस्तुस्थिति यह है कि वस्तुओ के रूपाकार और सम्बन्ध, जिनका अन्वेपण हम करते हैं, मानवीय रुचियो तथा प्रयोजनो की अपेक्षा से ही सार्थक या अर्थपूर्ण वनते हैं। मनुष्य को प्रकृति में वे ही विशेपताएँ मिलती हैं, अथवा प्रकृति मनुष्य पर केवल उन्ही विशेपताओ को प्रकट कर पाती है, जिनका मानवीय मस्तिप्क की रचना और मानवीय प्रयोजनो की अपेक्षा से कोई अर्थ होता है। मनुष्य को अपने प्रयोजनो तथा उन प्रयोजनो से सम्वन्धित गुणो एव सम्बन्धो की प्रकृति का साक्षात् ज्ञान होता है, इसीलिये वह पहले से उन नियमो को निरूपित कर पाता है जिनके अनुसार भविप्य में उन गुणो तथा सम्बन्धो के वारे में वह तर्कना करेगा। जिन्हें हम वियोजक कथन

प्रकृति क्या है इसके सम्बन्ध मे जैसे-जैसे हमे नया प्रयोगात्मक ज्ञान मिलेगा, वैसे-वैसे हमारे विचार सदा ही बदलते रहेंगे; किन्तु प्रकृति के प्रति मनोभाव का एक अंश है जो भविष्य मे कभी नही बदलेगा, अर्थात् वह अंश जिसका मूल आधार हमारे मस्तिष्कों की प्रकृति है।"[5]

ये सम्मतियाँ उस मन्तव्य की, जो हमने निश्चयात्मक संयोजक कारकों के बारे मे दिया है, उल्लेखनीय ढंग से पुष्टि करती हैं। इस प्रकार के समस्त ज्ञान, जैसा कि हमने कहा, मानवीय बुद्धि के व्यवहार की उन संभावनाओं का उद्घाटन करते हैं जिन्हें मनुष्य कल्पनामूलक आत्मालोचन द्वारा जान सकता है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. बर्ट्रेण्ड रसेल कहते हैं: "अधिकांश अचेतन या अवचेतन में उन विचारों का समावेश है जो कभी बड़े आवेगात्मक और सचेत थे, और अब भीतर निमग्न हो गये हैं। इस निमग्न करने की क्रिया को सचेत भाव से किया जा सकता है...(द कान्क्वेस्ट आव् हैपीनेस, द न्यू अमेरिकन लायब्रेरी संस्करण, १९५१, पृ० ४७)।

२. दे० टुवर्ड ए जेनरल थियरी आव् ऐक्शन, संपादक टैल्काट पार्सन्स और एडवर्ड ए० शिल्ज, (हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२), पृ० ४७।

३. दे० द साइन्स आफ मैन इन द वर्ल्ड क्राइसिस, संपादक रॉल्फ लिंटन, (कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, सातवा मुद्रण, १९५२), प्रेजेन्ट वर्ल्ड कण्डिशन्स इन कल्चरल पर्सपेक्टिव, पृ० २०४।

४. अनुभव और आत्म-विश्वास का परिवर्तन मनुष्य की इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को कैसे एकदम बदल देता है इसका प्रसिद्ध उदाहरण नेपोलियन प्रथम का जीवन है। लड़कपन में उनकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह थी कि पैओली नामक स्थानीय नेता के नेतृत्व में क्षुद्र कार्सीका द्वीप की आजादी के लिए लड़ें, सम्राट बन जाने पर समस्त योरप भी उनकी महत्त्वाकांक्षाओं के लिए पर्याप्त न था। कौन विश्वास करेगा कि इस नितान्त महत्त्वाकांक्षी मनुष्य ने सन् १८९१ में एक निबन्ध लिखा था जिसमें महत्त्वाकांक्षा की मूर्खता और पाप के विरुद्ध उपदेश दिया था। (दे० हॉलैण्ड रोज, द लाइफ आव् नेपोलियन फर्स्ट, जी० बेल एण्ड सन्स, लं० १९१९, पृ० ३३)।

५. दे० पार्सन्स एण्ड शिल्स, वही, पृ० ९२।

किन्तु शेष दो कथनो की सत्यता से इनकार करने से तर्कशास्त्र पर भारी सकट आ जायगा।

हमारे मत मे उक्त उदाहरणो मे निम्न प्रकार का अन्तर है। पहले कथन का विषय अग्नि की प्रकृति है जिसे हम बाहर से जानते हैं, जब कि दूसरे वक्तव्यो का विपय मुख्यत उस मानवीय मस्तिष्क की आदते हैं जिसे हम भीतर से जानते हैं। अतत तर्कशास्त्र के सिद्धान्तो की निश्चयात्मकता का आधार यह विश्वास है कि हमारी अर्थात् मानव-मस्तिष्क की तर्क तथा कल्पना करने की आदते ज्यो-की-त्यो बनी रहेगी। इससे यह प्रकट है कि असदिग्ध तथा निश्चयात्मक सत्य या कथन पा-सकने की दृष्टि से मानवीय विद्याएँ जिनमे तर्कशास्त्र का भी समावेश है भौतिक-शास्त्रो से अधिक सुविधा की स्थिति मे है। किन्तु चूंकि अधिकाश परिस्थितियो मे, एक ही लक्ष्य अथवा स्थिति की अपेक्षा मे भी, मानव व्यवहार और प्रतिक्रिया की सभावनाएँ अनेक होती है इसलिये हम प्राय **सबंधो की एक मात्र सभावना अथवा एक मात्र सम्भव सम्बन्ध** का कथन नही कर पाते। यही कारण है कि मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे अनिवार्य सम्बन्ध-कथन अथवा निश्चयात्मक कथन विरल होते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि इस क्षेत्र मे निश्चयात्मक सयोजक कथन (Synthetic Necessary Propositions) हो ही नही सकते। जैसा कि हमने कहा तर्कशास्त्र के तथाकथित नियम या कानून मानवीय व्यवहार के सम्वन्ध मे ऐसे ही कथन होते हैं, वे यह बतलाते है कि किसी भी कल्पनीय अवसर पर मानवीय मस्तिष्क का व्यवहार एक खास तरह का होगा। यह मानने का कोई कारण नही कि इस प्रकार के सत्य मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र तथा अन्य मानवीय विद्याओ मे प्राप्त नही हो सकते। तर्कशास्त्र से बाहर भी ऐसे कथन हो सकते हैं, इसके कुछ उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं।

क्या भौतिक प्रकृति के सम्वन्ध मे हम कभी निश्चयात्मक सयोजक कथन कर सकते है? प्रसिद्ध भौतिक-शास्त्री एडिंग्टन ने इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक दिया है। वह कहते हैं 'अब इसे विज्ञान-दर्शन के सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता कि प्रकृति के नियम अनिवार्य नही ही होते।'[१३] एडिंग्टन के अनुसार प्रकृति के कुछ नियम ऐसे है जिनका मूल हमारी ज्ञान-शक्ति की प्रकृति मे होता है। ऐसे नियमो के बारे मे हम यह आशा कर सकते है कि वे अनिवार्य तथा सार्वभौम रूप मे प्रकृति द्वारा पालन किये जायेंगे।[१४] इसी प्रकार श्री ब्रिजमैन लिखते है. 'बाह्य

प्रकृति क्या है इसके सम्बन्ध में जैसे-जैसे हमें नया प्रयोगात्मक ज्ञान मिलेगा, वैसे-वैसे हमारे विचार सदा ही बदलते रहेंगे, किन्तु प्रकृति के प्रति मनोभाव का एक अंश है जो भविष्य में कभी नहीं बदलेगा, अर्थात् वह अंश जिसका ध्रुव आधार हमारे मस्तिष्कों की प्रकृति है।"[5]

ये सम्मतियाँ उन मन्तव्य की, जो हमने निश्चयात्मक प्रयोजक कथनों के बारे में दिया है, उल्लेखनीय ढंग से पुष्टि करती हैं। इस प्रकार के समस्त कथन, जैसा कि हमने कहा, मानवीय बुद्धि के व्यवहार की उन सम्भावनाओं का उद्घाटन करते हैं जिन्हें मनुष्य कल्पनामूलक आत्मालोचन द्वारा जान सकता है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. बर्ट्रण्ड रसेल कहते हैं: "अधिकांश अचेतन या अवचेतन में उन विचारों का समावेश है जो कभी बड़े आवेगात्मक और सचेत थे, और अब भीतर निमग्न हो गये हैं। इस निमग्न करने की क्रिया को सचेत भाव से किया जा सकता है...(द कान्क्वेस्ट आव् हैपीनेस, द न्यू अमेरिकन लायब्रेरी संस्करण, १९५१, पृ० ४७)।

२. दे० टुवर्ड ए जेनरल थियरी आव् ऐक्शन, संपादक टॉल्काट पार्सन्स और एडवर्ड ए० शिल्स, (हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२), पृ० ४७।

३. दे० द साइन्स आफ मैन इन द वर्ल्ड क्राइसिस, सपादक रॉल्फ लिंटन, (कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, सातवां मुद्रण, १९५२), प्रेजेन्ट वर्ल्ड कण्डिशन्स इन कल्चुरल पर्सपेक्टिव, पृ० २०४।

४. अनुभव और आत्म-विश्वास का परिवर्तन मनुष्य की इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं को कैसे एकदम बदल देता है इसका प्रसिद्ध उदाहरण नेपोलियन प्रथम का जीवन है। लड़कपन में उनकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह थी कि पेओली नामक स्थानीय नेता के नेतृत्व में क्षुद्र कारसीका द्वीप की आज़ादी के लिए लड़ें; सम्राट बन जाने पर समस्त योरप भी उनकी महत्वाकांक्षाओं के लिए पर्याप्त न था। कौन विश्वास करेगा कि इस नितान्त महत्वाकांक्षी मनुष्य ने सन् १७९१ में एक निबन्ध लिखा था जिसमें महत्वाकांक्षा की मूर्खता और पाप के विरुद्ध उपदेश दिया था। (दे० हॉलैण्ड रोज, द लाइफ आव् नेपोलियन फर्स्ट, जी० बेल एण्ड सन्स, लि० १९१०, पृ० ३३)।

५. दे० पार्संस एण्ड शिल्स, वही, पृ० १२।

६. हालैन्ड रोज, वही, पृ० १३८, २१४।

७. दे० द प्रिन्स, (एवरीमैन, १९४५), पृ० २१३ और आगे।

८ दे० कार्ल मैनहाइम, एसेज आन सोशियालॉजी ऐन्ड साइकालॉजी, (रतलेज ऐन्ड कीगन पाल, लन्दन, १९५३), पृ० २४१।

९. दे० एन आउट लाइन आव् माडर्न नालेज, (विक्टर गोलैंज, लन्दन १९३२), "द सायस आव हिस्टरी" निबन्ध श्री एफ० जे० सी० हार्न शा का, पृ० ७७७।

१०. मैथड्स इन सोशल सायन्स, सपादक श्री एस० ए० राइस, (शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो, १९३१), विश्लेषण ३० श्री हैनरी पिरेन कृत, पृ० ४३५।

११. ई० एम० फार्स्टर, आसपेक्ट्स आव् द नावेल, (एडवर्ड आर्नल्ड ऐन्ड क०, लन्दन, मुद्रण १९४४), पृ० ६७।

१२ वही, पृ० ७५।

१३. वही, पृ० ७७।

१४. इरविन श्रोडिंजर, सायस ऐन्ड ह्यूमैन टैम्परामेन्ट, (जार्ज एलेन एन्ड अनविन, लन्दन, १९३५), पृ० ६९-७०।

१५ पर्सेप्शन ऐन ऐप्रोच टु पर्सनेलिटी, सपादक आर० आर० ब्लेक और जी० वी० रैमसै, (द रोनाल्ड प्रेस कम्पनी, न्यूयार्क, १९५१), पृ० २०९।

१६ वाल्टर यूकेन, द फाउन्डेशन्स ऑव् इकोनामिक्स, (अ० अनु० विलियम हॉज एन्ड क०, लन्दन, १९५०), पृ० ३५।

१७ वही, पृ० ४२।

१८ दे० मैकाइवर, सोशल काजेशन, (गिन एन्ड क० बोस्टन, १९४२), पृ० ९। कार्यकारणवाद की आलोचना के लिये दे० बर्ट्रान्ड रसेल, मिस्टिसिज्म ऐन्ड लाजिक, अध्याय ९, मारिस कोहेन, रीजन ऐन्ड नेचर, (कीगन पाल, लन्दन, १९३१), पृ० २२४-२५। श्री एलियोटा कहते हैं: 'सम्बद्ध परिवर्तन के सूत्र (फक्शनल फार्मूला) में किसी क्रिया या क्रमात्मक विकास की दिशोन्मुखता का समावेश नहीं हो सकता।' (दे० दी आइडिएलिस्टिक रिऐक्शन अगेंस्ट साइस, मैकमिलन, १९१४, पृ० ६९) कार्यकारणवाद के समीक्षक अनुभव से नहीं, विज्ञानकी प्रतीक-पद्धतिसे सकेत लेते जान पडते है, यह चीज सदैव सहायता नहीं देती।

१९ सोशल काजेशन, पृ० १२३।

२० ए हिस्टरी आव् योरप, (एडवर्ड आर्नल्ड ऐन्ड क०, लन्दन, १९३७), पृ० ८३२-३३।

२१. संकेतित विचारकों के मन्तव्यों के सुविधाजनक वक्तव्यों के लिये देखिए श्री पी० ए० सारोकिन, कान्टेम्पोरेरी सोशियालॉजीकल थियरीज, (हार्पर एण्ड ब्रदर्स, लन्दन, १९२८), अध्याय ३।

२२. बारबेरा वूटन, टेस्टामेन्ट फार सोशल सायन्स, (जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन, लन्दन, १९५०), पृ० १। मात्रा-मूलक पद्धतियों के समाजशास्त्रीय प्रयोग के उदाहरणों के लिये देखिए, स्टुअर्ट सी० डॉड, डाइमेन्शन्स आफ सोसायटी (मैक मिलन, १९४०) और जी० ए० लुन्डबर्ग, फाउन्डेशन्स आफ सोसायटी (मैक मिलन, १९३९)।

२३. श्री ए० बोवन का लेख, हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली, जून ८, १९५२।

२४. यह ठीक है कि यदि नेपोलियन की सार्वभौम साम्राज्य की अभिलाषा का दूसरा कारण होता, तो वह विभिन्न विजित राज्यों पर दूसरी शर्तें लादता। फिर भी राजनीतिक प्रभुत्व का लक्ष्य वही रहता, और यह लक्ष्य काफी विशिष्ट (Specific) है।

२५. सोशल काजेशन, पृ० १७१।

२६. इस सम्बन्ध में श्री पी० ए० सारोकिन ने विस्तार से विचार किया है। दे० उनकी सोशियो-कल्चुरल काजेलिटी, स्पेस, टाइम (ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, डरहम, नार्थ केरोलिया, १९४३)। उनके मत में प्रत्येक सांस्कृतिक पदार्थ में एक अर्थात्मक उपादान (मीनिङ्ग कॉम्पोनेण्ट) होता है जिसमें वजन, आयतन, रंग, ध्वनि, रासायनिक रचना आदि भौतिक-रासायनिक गुण नहीं होते। अर्थ, वस्तुत, अभौतिक, अदेश-कालगत होते हैं। दे० पृ० ३२, ४।

२७ जान स्टुअर्ट मिल, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु लॉजिक ऐण्ड साइन्टिफिक मेथड, संपादक श्री अर्नेस्ट नागेल, (हाफनर पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क, १९५०), पृ० ३१७।

२८. एमील दुरखाइम, स्यूसाइड, (अ० अनु० रुतलेज एण्ड कीगन पाल लि० लन्दन, १९५२), पृ० २०८।

२९. श्री टैलकाट पार्सन्स द्वारा द स्ट्रक्चर आफ सोशल एक्शन, (द फ्री प्रेस, ग्लैंको, इलियानिस, १९४९), पृ० ४९५ पर उद्धृत।

३०. एमील दुरखाइम, वही, पृ० १५५, १००।

३१. दे० मैथड्स इन सोशल सायन्स, विश्लेषण ४१, पृ० ५६७ तथा आगे।

३२. रोजन ऐण्ड अनरीडन इन सोसायटी, लागमैन्स ग्रीन एण्ड कं० लन्दन, १९४८, पृ० ३६।

३३. वही।

३४. मिल, वही, पृ० ३४६।

३५. वही, पृ० ३४७।

३६. वही, पृ० ३१८, ३१९।

३७. दे० काव्यालङ्कार सूत्र २।१।८।

३८. दे० एस्० एफ्० नाडेल, द फाउन्डेशन्स आफ् सोशल एन्थ्रापालॉजी, (कोहेन ऐन्ड वेस्ट लि०, लन्दन, १९५३), पृ० २८४, २७८।

३९. वाल्टर यूकेन, फाउन्डेशन्स आव् इकोनामिक्स, पृ० २३४।

४०. लायोनल राबिन्स, ऐन एसे आन द नेचर एन्ड सिग्नीफिकेन्स आव् इकोनामिक सायस, (मैक मिलन, लन्दन, मुद्रण, १९४९), पृ० ८३ ।

४१. वही, पृ० ७८, ७९।

४२. वही, पृ० ८१।

४३. दे० पर्सी ल्यूबक, द क्राफ्ट आफ फिक्शन, (जोनेथन केप, लन्दन, मुद्रण १९२६) पृ० २४८-४९।

४४ तु० की० एफ्० ए० हायक: 'एक ऐसे मस्तिष्क की चर्चा करना जिसकी रचना हमारे मस्तिष्क से मूलत भिन्न है, अथवा यह दावा करना कि हम मस्तिष्क की मूल बनावट के परिवर्तन देख सकते हैं, एक असभव दावा करना ही नहीं, निरर्थक बात है।' द काउन्टर रिवोल्यूशन इन सायस, पृ० ७७।

४५. ए० जे० ऐयर, वही पृ० १०।

४६ वही, पृ० १६।

४७ मारिस आर० कोहेन ने भी तर्क-मूलक भाववाद की स्थिति का खंडन किया है। दे० ए प्रीफेस टु लाजिक, (जार्ज रतलेज ऐन्ड सन्स लि०, लन्दन, १९४६), अध्याय ३।

४८. दे० द वाकेबुलरी आफ फिलासफी, विलियम फ्लेमिंग कृत, तृतीय सस्करण एच० केल्डर वुड कृत, (चैनेल ग्रिफिन एन्ड क०, लन्दन, १८७६), पृ० ३३७।

४९. द फिलासफी आफ् फिज़ीकल सायस, पृ० २०।

५०. वही।

५१. द लॉजिक आव् मॉडर्न फिजिक्स, पृ० १।

# अध्याय ४

## संस्कृति और सभ्यता

इस अध्याय मे हम संस्कृति के स्वरूप का विवेचन करेंगे जो कि हमारी पुस्तक का मुख्य विषय है। संस्कृति पर विचार करते हुए हमें सभ्यता के स्वरूप पर भी विचार करना पड़ेगा, क्योंकि ये दोनो धारणाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। संस्कृति और सभ्यता शब्दो का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है, ये अर्थ इतने भिन्न और विविध हैं कि सुनकर बुद्धि विभ्रम में पड़ जाती है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में ये दोनो शब्द मानव-व्यक्ति अथवा मानव-समूहों की उपलब्धियों की ओर संकेत करते हैं। जब हम किसी व्यक्ति या समूह को सभ्य कहते हैं तब हमारा भाव प्रशंसा-मूलक होता है। हम यह प्रकट करते हैं कि उनकी जीवन-स्थितियां श्लाघ्य हैं। साधारण लोगों की इस धारणा के विरुद्ध विशेषज्ञ पुरुष सभ्यता और संस्कृति शब्दों द्वारा कुछ दूसरा ही अभिप्राय व्यंजित करते हैं। वे न तो इस बात पर सहमत हैं कि इन शब्दों का वाच्य पदार्थ क्या है, और न इस पर ही कि ये शब्द प्रशंसा-मूलक हैं। इन मतभेदों के कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जायेंगे। प्रसिद्ध नर-विज्ञानी टायलर के मत में सभ्यता और संस्कृति पर्यायवाची शब्द हैं।[1] इसके विपरीत ब्रानिस्ला मैलिनोव्स्की का कहना है कि सभ्यता और संस्कृति शब्दों को पर्याय मानकर प्रयुक्त नहीं करना चाहिए, उनका प्रयोग भिन्न अर्थों में होना चाहिए। ऊँची संस्कृति के एक खास पहलू को सभ्यता कहते हैं।[2] इसके विपरीत श्री हुमायूं कबीर के मत में संस्कृति सभ्यता की फ[illegible] है। उनका कहना है कि संस्कृति का जन्म तभी हुआ जब सभ्यता ने व्यक्ति की समस्याओं को हल कर दिया, अर्थात् जब सभ्यता ने मनुष्य को दैनिक जीवन की जरूरतों से मुक्ति दी।[3] इसी प्रकार मैकाइवर ने सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था में अन्तर किया है। उनके अनुसार सामाजिक व्यवस्था उपयोगिता का क्षेत्र है, और सांस्कृतिक व्यवस्था मौलिक मूल्यों का।[4] मैकाइवर का यह भी विचार है कि सभ्यता [illegible]

में संस्कृति की विरोधिनी है। टाइलर की भाँति हर्स्कोविट्स का विचार है कि सभ्यता और संस्कृति एक-दूसरे के पर्याय हैं। वह कहते है कि संस्कृति के लिये एक शब्द है 'परम्परा', और दूसरा 'सभ्यता'।[५] प्रसिद्ध इतिहासकार ट्वायनबी संस्कृति शब्द का प्रयोग करना पसन्द नही करते, उन्होने सभ्यता शब्द का ही प्रयोग किया है। किन्तु उनकी सभ्यता की धारणा मैकाइवर की धारणा से उलटी है। वह सभ्यता और यात्रिक व्यवस्था में तो अन्तर करते ही है, यह भी कहते हैं यात्रिक उन्नति न तो सांस्कृतिक उन्नति के लिये जरूरी है, और न उसकी सहकारी ही है। उनका विचार है कि कभी-कभी यात्रिक उन्नति सभ्यता के अवरोध तथा अवनति से सहचरित रहती है। यात्रिक प्रगति तथा सभ्यता की प्रगति में सहचार का अभाव है। इतिहास में ऐसा अक्सर हुआ है कि यात्रिक प्रगति हो रही है, और सभ्यता की प्रगति या तो नही हो रही है, अथवा उसमें अवनति हो रही है।[६] अन्यत्र उन्होने लिखा है कि कई जगह कृषि-शिल्प की उन्नति सभ्यता की अवनति से सहचरित देखी गई है।[७] तो क्या ट्वाइनबी की सभ्यता वही वस्तु है जो कि मैकाइवर की संस्कृति ? इसमें सन्देह दिखाई देता है, क्योकि ट्वाइनबी के अनुसार सभ्यता की प्रगति 'चुनौती और उसका प्रत्युत्तर' के द्वारा होती है, जब कि यह चुनौती भौतिक परिवेश द्वारा दी जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि ट्वाइनबी की सभ्यता में उपयोगिता का पहलू भी निहित है, जब कि मैकाइवर ने स्पष्ट रूप में उपयोगिता को संस्कृति का अग नही माना है।

ट्वाइनबी की भाँति ओस्वाल्ड स्पेंगलर संस्कृति तथा सभ्यता शब्दो की समुचित परिभाषाएँ नही दे सके है, लेकिन उनका विचार है कि सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है। हर संस्कृति की अपनी सभ्यता होती है। सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सभ्यता किसी संस्कृति की बाहरी, चरम, कृत्रिम अवस्था का नाम है। यदि संस्कृति जीवन है, तो सभ्यता मृत्यु, संस्कृति विस्तार है, तो सभ्यता कठोर स्थिरता। सभ्यताएँ नैसर्गिक धरती के स्थान पर आने वाले कृत्रिम, प्रस्तर-निर्मित नगर हैं जो 'डोरिक' तथा 'गोथिक' के आध्यात्मिक शैशव का अन्त सकेतित करते हैं। आदिम जगल के जर्जर, बडे दैत्य (महावृक्ष) की भाँति वे अपनी गलित शाखाएँ सैकडो, हजारो वर्षो तक फैलाती रहती है, जैसा कि चीन, भारतवर्ष और इसलामी देशो में दिखाई देता है।[८] मतलब यह है कि इन देशों की संस्कृतियाँ मर चुकी है, फिर भी वे अपने विकृत रूप में अस्तित्व को बनाये हुए है।

सभ्यता तथा संस्कृति शब्दों के अर्थ और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में इस प्रकार के मतभेद इनके द्योतक हैं कि हम उनके सम्बन्ध में नितान्त भ्रांति की अवस्था में हैं। यह मतभेद खाली परिभाषा अथवा भाषा-प्रयोग से सबंधित नहीं है। सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में हमारी भ्रांति की जड़ें बहुत गहरी हैं। सच यह है कि हम यह नहीं जानते कि मनुष्य की विभिन्न उपलब्धियों का क्या रूप और क्या महत्व है। इस मति-विभ्रम को दूर करने के लिये सबसे पहले यह समझ लेना जरूरी है कि सभ्यता और संस्कृति शब्द वर्णनात्मक धारणाएँ नहीं हैं। हमें यह मान कर नहीं चलना चाहिए कि इन शब्दों की वाच्य अवस्थाएँ प्रत्यक्ष जगत में अस्तित्व रखती हैं। सभ्यता और संस्कृति शब्द किन्हीं दीखने वाली वास्तविकताओं की ओर संकेत नहीं करते। साधारण बोल-चाल तथा लेखन में भी इन शब्दों का खास तरह से प्रयोग होता है और वे हमारे मन में विशिष्ट अर्थ तथा ध्वनियाँ जगाते हैं। हमें अपने मन को इन अर्थों से मुक्त करना होगा। हमें यह समझना होगा कि सभ्यता और संस्कृति शब्द जटिल प्रत्यय (Constructs) हैं जिन्हें मानव-बुद्धि ने विशिष्ट अनुभव-क्षेत्र को बुद्धिगम्य बनाने के लिये उत्सृष्ट किया है। वस्तुतः ये धारणाएँ मानव-जीवन तथा व्यवहार को समझने के लिये बनाई गई हैं, न कि किन्हीं प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ग्राह्य चीजों के वर्णन के लिये। सच यह है कि प्रायः सभी विज्ञानों में प्रयुक्त होने वाले शब्द इस प्रकार के जटिल उत्सृष्ट प्रत्यय होते हैं। विज्ञान बुद्धि द्वारा निर्मित धारणाओं का प्रयोग करता है और ये धारणाएँ तथ्य-जगत के सम्बन्धों का उद्घाटन करना चाहती हैं। ये सम्बन्ध सीधे बाहरी जगत में दिखाई नहीं देते। मानव-मस्तिष्क वस्तु-जगत में व्याप्त वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में कल्पनाएँ करता है और इन कल्पनाओं को नवीन पारिभाषिक शब्दों अथवा धारणाओं द्वारा अभिव्यक्ति देता है। इसलिये हमें आगे यह मान कर चलना होगा कि सभ्यता और संस्कृति पारिभाषिक शब्द हैं जिन्हें हम अपनी इच्छानुसार कोई भी अर्थ दे सकते हैं। विभिन्न धारणाओं को इस प्रकार नये अर्थों से मंडित करने का क्या अभिप्राय है? यह अभिप्राय एक ही हो सकता है, अर्थात् अनुभव-जगत को समझना या बुद्धिगम्य बनाना। किसी भी विज्ञान द्वारा प्रयुक्त धारणाओं तथा उन्हें दिये गए अर्थों की सार्थकता इसमें है कि वे धारणाएँ अनुभव-जगत के समझने में हमारी सहायक हों। कोई विज्ञान चाहे आदर्शनिष्ठ हो अथवा तथ्यान्वेषी, उसका चरम प्रयोजन यही है कि वह हमारे अनुभव को बुद्धिगम्य बना दे। बुद्धिगम्यता की दृष्टि से यह बात निर्विवाद मान्य की गयी है कि एक विज्ञान सत्यों का ज्ञान देता है और दूसरा मूल्यों का। वस्तुतः तथ्यान्वेषी ( Positive ) एवं

आदर्शान्वेपी ( Normative ) विज्ञानो का प्रभेद भी वही तक सार्थक है जहाँ तक वह अनुभव-जगत को समझने में सहायक होता है।

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य सस्कृति को एक मूल्य मानते हुए उसके स्वरूप की जानकारी प्राप्त करना है। इसका यह मतलब नही कि हम उन तथ्यो की उपेक्षा कर सकते हैं जिन्हें नर-विज्ञान तथा समाज-शास्त्र सभ्यता एव सस्कृति कह कर पुकारते हैं। हमारा विश्वास है कि स्वय मनुष्य के जीवन और व्यवहार में मूल्यो की धारणा तथा मूल्याकन का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। मूल्याकन मानव-व्यवहार की एक सार्वभौम विशेपता है। मनुष्य का प्रत्येक अनुभव और प्रत्येक व्यवहार मूल्य-भावना से अनुप्राणित रहता है। सच पूछिए तो मनुष्य की कोरे तथ्यो में शायद ही कभी अभिरुचि होती है। जिन तथ्यो में उसकी रुचि होती है वे प्राय· अर्थो या मूल्यो के वाहक होते हैं। मनुष्य अनुभव-जगत के तथ्यो को 'साध्यो' तथा 'साधनो' के रूप में देखता एव जानता है, वह विश्व के उन पहलुओ में अभिरुचि नही लेता जिनका उसके स्वार्थों अथवा प्रयोजनो से कोई सम्बन्ध नही है। ऊपर से देखने से जान पडता है कि विज्ञान जिन प्रश्नो से उलझता है उनका मनुष्य के प्रयोजनो से कोई लगाव नही होता। किन्तु गहरी छानबीन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान के प्रश्न, अतिम विश्लेषण में, मानव-रुचियो से असम्बद्ध नही होते, और जिस-जिस चीज में मनुष्य की रुचि होती है वह-वह चीज उसके लिए मूल्यवान होती है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि सस्कृति का मूल्यात्मक अध्ययन, उसके तथ्यात्मक अध्ययन से अलग नही किया जा सकता। तथ्य-मूलक अन्वेषण भी मूल्य-भावना से अनुप्राणित होता है और मूल्यो का अन्वेषण भी तथ्यो की अवगति पर निर्भर करता है। वस्तुत मूल्यों का अनुसन्धान वही तक महत्वपूर्ण है जहाँ तक वह हमें जीवन के तथ्यो की अवगति देता है।

इन बातो को ध्यान में रखते हुए हम उन विभिन्न दृष्टियो का मूल्याकन करेंगे जिनका उपयोग सस्कृति के अध्ययन में किया गया है।

## नर-विज्ञानकृत सस्कृति की व्याख्या

सस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण तथ्यमूलक अनुसन्धान नर-विज्ञान ( Anthropology ) नामक शास्त्र में हुआ है। नर-विज्ञान का लम्बा चौडा साहित्य है, और इधर उसके क्षेत्र मे व्यवस्थित अन्वेषण होता रहा है। सस्कृति की सबसे पुरानी और

व्यापक परिभाषा टाइलर की है जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के प्रारम्भ में दी गई थी। टाइलर के अनुसार संस्कृति अथवा सभ्यता 'वह जटिल तत्व है जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीतिरिवाजों तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है।'[9] लिंटन नामक विद्वान ने संस्कृति को 'सामाजिक विरासत'[10] कहा है, लॉवी के अनुसार संस्कृति 'समस्त सामाजिक परम्परा' है।[11] हर्सकोविट्स ने संस्कृति को मनुष्य का समस्त 'सीखा हुआ व्यवहार' कहकर वर्णित किया है, अर्थात् 'वे चीजें जो मनुष्यों के पास हैं, वे चीजें जो वे करते हैं, और वह सब जो वे सोचते हैं' संस्कृति है।[12] मैलिनोव्स्की के अनुसार संस्कृति सामाजिक विरासत है जिसमें 'परम्परा से पाया हुआ कलाकौशल, वस्तु-सामग्री, यान्त्रिक क्रियाएँ, विचार, आदतें और मूल्य समावेशित हैं।'[13] संस्कृति के ये वर्णन कल्पना को स्पर्श करते हैं, और उनका दार्शनिक महत्व भी है। वे हमारा ध्यान उन समस्त परिवर्तनों की ओर ले जाते हैं जो, पशु की भूमिका से उत्थित होने के बाद, मनुष्य ने उत्पन्न तथा अनुभव किये हैं। नर-विज्ञान की पुस्तकें हमारी दृष्टि उन असंख्य क्रियाओं की ओर ले जाती हैं जो कि मानव-जाति अनुष्ठित करती पाई जाती है, यह नर-विज्ञान का महत्व है। उक्त विज्ञान की कमी यह है कि वह उन क्रियाओं के उल्लेख में किसी चयन की आवश्यकता महसूस नहीं करता। वह हमसे यह कहता प्रतीत होता है कि मनुष्य जो कुछ कर रहा है, जितना कुछ कर और सह रहा है, वह सब देखने लायक है, सभी अध्ययन करने लायक है, सभी में हमें रुचि लेनी चाहिये। मतलब यह कि मनुष्य का अध्ययन करने में हमें उसकी अनगिनत क्रियाओं में से किसी चुनाव की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य की सारी क्रियाएँ समान रूप में महत्वपूर्ण हैं। नर-विज्ञान की यह अन्वेषण-विधि हमें हनुमान जी की याद दिलाती है जिन्होंने, लाने को सीमित संजीवनी बूटी खोजने में असमर्थ पाकर, सारे पहाड़ को उठाकर युद्धभूमि में पहुँचा दिया। मनुष्य के जीवन में क्या कितना महत्वपूर्ण है, इसकी खोज न करके नर-विज्ञान हमें यह आदेश देता है कि मानव-जीवन के प्रत्येक गति-विधि को हम अपने अध्ययन का विषय बना लें।

ग्रेबर का कहना है कि नर-विज्ञान का उद्देश्य समस्त संस्कृति का अध्ययन करना है—सब युगों की संस्कृति, समस्त सामग्री, उसका सब विकास और सब प्रसार। उसका उद्देश्य है उन सामान्य नियमों की जानकारी प्राप्त करना जो यह बताते हैं कि मानव-संस्कृति कैसे लागू होती है, विभिन्न स्थितियों में स्वतन्त्र किस तरह से

व्यवहार करता है, और सस्कृति के इतिहास मे बडे-बडे उथल-पुथल किस प्रकार होते है।[१४] नर-विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान की भाँति अग्रसर होता है, और यह प्रयत्न करता है कि मानव-व्यवहार के विभिन्न तथ्यो तथा उनसे उत्पन्न होने वाले कार्यो (Effects) का ठीक से विवरण प्रस्तुत करके उनके पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित कर दे। नर-विज्ञान को मनुष्य मे इतनी रुचि नही है जितनी कि उन परिवर्तनो में जिन्हे, अपने सचेत रूप मे, मनुष्य उत्पन्न तथा अनुभव करता है। हर्सकोविट्स ने यहाँ तक कहा है कि 'मनुष्य पर ध्यान दिये विना भी सस्कृति का अध्ययन हो सकता है।'[१५] किन्तु व्यवहार मे नर-विज्ञान आदिम समाजो मे ज्यादा अभिरुचि लेता रहा है, यद्यपि ऊँचे समाज भी उसके दायरे के बाहर नही है। दूसरे, नर-विज्ञान ने इस बात मे ज्यादा अभिरुचि ली है कि वह व्यक्तियो पर पडने वाले सस्कृतियो के प्रभाव को प्रदर्शित करे। व्यक्तियो का सस्कृतियो पर क्या प्रभाव पडता है, इस प्रश्न मे उसने अधिक अभिरुचि नही दिखलाई है। शुद्ध वैज्ञानिक "स्पिरिट" मे नर-विज्ञान विभिन्न जनसमूहों के जीवन-प्रकारो का वर्णन करने मे रुचि दिखलाता रहा है। उन जीवन-प्रकारो मे कौन से कम या ज्यादा महत्वपूर्ण है, इस प्रश्न को वह अवैज्ञानिक समझता और मानता है।

मतलब यह कि नर-विज्ञान का पडित मूल्याकन के प्रश्न से कतराता है। नर-विज्ञान को 'रीति-रिवाजो का विज्ञान' अथवा 'मनुष्यो का विज्ञान वहाँ तक जहाँ तक वे समाज की सृष्टि है,' वर्णित करते हुए रूथ बेनिडिक्ट नाम की लेखिका ने यह घोषित किया है कि विज्ञान होने के नाते नर-विज्ञान एक समाज-व्यवस्था को दूसरी की तुलना मे अच्छा या बुरा घोपित नही कर सकता।[१६]

रूथ बेनिडिक्ट ने, नर-विज्ञान की दृष्टि को समझाते हुए, एक दूसरे तत्व पर भी गौरव दिया है। उनका कथन है कि 'मुख्य बात यह है कि अनुभव और विश्वासो के क्षेत्र मे परम्परा का प्रधान हाथ रहता है। व्यक्ति का जीवन-इतिहास प्रधान रूप मे इस बात का इतिहास है कि वह किस तरह अपने को परम्परा से पाये हुए पैमानो तथा व्यवहार-रूपो के अनुकूल बनाता है।' अपनी पुष्टि मे उन्होने जान ड्यूई को उद्धृत किया है। ड्यूई ने कहा है कि व्यक्ति के व्यवहार मे रीति-रिवाजो का प्रभाव उसी तरह प्रधान होता है, और स्वय व्यक्ति द्वारा रीतिरिवाजो मे लाया हुआ परिवर्तन वैसे ही नगण्य होता है, जैसे कि बोलचाल मे मातृभापा से पाये हुए शब्द प्रधान होते है और किसी बालक द्वारा कुटुम्ब की शब्दावली में दो-चार जोड दिये जाने वाले निराले शब्द या व्यजनाएँ नगण्य होती है।[१७]

प्रश्न है, नर-विज्ञान की दृष्टि कहाँ तक उस क्षेत्र को समझने में सहायक है जिसका अन्वेषण करना उस शास्त्र का लक्ष्य है? जब हम नर-विज्ञान की योग्यता का निर्णय एक शास्त्र के रूप में करेंगे तो हम मुख्यतया यही प्रश्न उठायेंगे कि वह विज्ञान हममें कहाँ तक वैज्ञानिक बोध उत्पन्न कर पाता है। क्या नर-विज्ञान अपनी वैज्ञानिक क्षमता को कम किये बिना मूल्यांकन से बच सकता है? नर-विज्ञानी समाजों, सामाजिक व्यवहारों तथा प्रथाओं के लम्बे-चौड़े विवरण प्रस्तुत किया करते हैं। नर-विज्ञान पर लिखी हुई पोथियाँ प्रायः बड़े आकार की होती हैं। इसके बावजूद भी क्या नर-विज्ञान चयन तथा गौरव देने की क्रियाओं को बचा कर तथ्यों का संकलन कर सकता है? किन्तु चयन तथा गौरव की क्रियाओं में मूल्यांकन निहित है। विशेषतः मानव-व्यवहार का अध्ययन करते समय उस व्यवहार के असंख्य रूपों तथा अभिव्यक्तियों में से चयन करना आवश्यक हो जाता है। दूसरे, नर-विज्ञानी मनुष्य के रूढ़िमूलक तथा बार-बार आवृत होने वाले व्यवहार पर इतना जोर देते हैं कि वे उन तथ्यों का ध्यान करना भूल जाते हैं जो किसी समाज को अपनी गुणात्मक नवीनता से प्रभावित करते हैं। हमारे इस वक्तव्य की सत्यता का अनुमान करना कठिन न होगा यदि हम कुछ देर के लिये आदिम समाजों को छोड़कर उच्चतर सभ्य समाजों की गतिविधि का विचार करें। एक उदाहरण लीजिये। आइन्स्टाइन नामक वैज्ञानिक का जीवन असंख्य क्रियाओं या व्यवहारों से बना हुआ है जिनमें से अधिकांश रूढ़िमूलक हैं। उसकी वे क्रियाएँ, जिनके द्वारा उसने सापेक्षवाद के सिद्धान्त का निरूपण किया, उपर्युक्त व्यवहार का एक नगण्य अंश हैं। क्या इसीलिये हमें यह कहना होगा कि स्वयं आइन्स्टाइन के जीवन, तथा दूसरे करोड़ों नर-नारियों के जीवन में, उसकी चिन्तनात्मक क्रियाएँ कोई खास महत्त्व नहीं रखतीं? आइन्स्टाइन के चिन्तन ने जो मानवता के बौद्धिक इतिहास पर लम्बा-चौड़ा प्रभाव डाला है, क्या उसकी हम बिल्कुल ही उपेक्षा करेंगे? और क्या यह उपेक्षा ही हमारे दृष्टिकोण को वैज्ञानिक बना देगी? यह मानते हुए भी कि व्यक्ति के व्यवहार में रूढ़ि तथा रीतिरिवाजों का प्रभाव गहरा होता है, यह नहीं कहा जा सकता कि रूढ़ि-मुक्त व्यवहार उस प्रभाव के अनुपात में महत्त्वपूर्ण भी होता है, विशेषतः सभ्यता तथा संस्कृति की प्रगति एवं परिवर्तन के लिए।

हमारा अभिप्राय यह है कि सभ्यता तथा संस्कृति में जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें समझने के लिये हमें मूल्यांकन करते हुए चलना पड़ेगा। मूल्यांकन तो दरकिनार, हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि सभ्यता के इतिहास में होने वाला कौन-सा परिवर्तन कितना

व्यवहार करता है, और सस्कृति के इतिहास में बडे-बडे उथल-पुथल किस प्रकार होते है।[१४] नर-विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान की भाँति अग्रसर होता है, और यह प्रयत्न करता है कि मानव-व्यवहार के विभिन्न तथ्यो तथा उनसे उत्पन्न होने वाले कार्यों (Effects) का ठीक से विवरण प्रस्तुत करके उनके पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित कर दे। नर-विज्ञान को मनुष्य में इतनी रुचि नही है जितनी कि उन परिवर्तनो में जिन्हें, अपने सचेत रूप में, मनुष्य उत्पन्न तथा अनुभव करता है। हर्सकोविट्स ने यहाँ तक कहा है कि 'मनुष्य पर ध्यान दिये बिना भी सस्कृति का अध्ययन हो सकता है।'[१५] किन्तु व्यवहार में नर-विज्ञान आदिम समाजो में ज्यादा अभिरुचि लेता रहा है, यद्यपि ऊँचे समाज भी उसके दायरे के बाहर नही हैं। दूसरे, नर-विज्ञान ने इस बात में ज्यादा अभिरुचि ली है कि वह व्यक्तियो पर पडने वाले सस्कृतियो के प्रभाव को प्रदर्शित करे। व्यवितयो का मस्कृतियो पर क्या प्रभाव पडता है, इस प्रश्न में उसने अधिक अभिरुचि नही दिखलाई है। शुद्ध वैज्ञानिक "स्पिरिट" में नर-विज्ञान विभिन्न जनसमूहो के जीवन-प्रकारों का वर्णन करने में रुचि दिखलाता रहा है। उन जीवन-प्रकारो में कौन से कम या ज्यादा महत्वपूर्ण है, इस प्रश्न को वह अवैज्ञानिक समझता और मानता है।

मतलब यह कि नर-विज्ञान का पडित मूल्याकन के प्रश्न से कतराता है। नर-विज्ञान को 'रीति-रिवाजो का विज्ञान' अथवा 'मनुष्यो का विज्ञान वहाँ तक जहाँ तक वे समाज की सृष्टि है,' वर्णित करते हुए रूथ बेनिडिक्ट नाम की लेखिका ने यह घोपित किया है कि विज्ञान होने के नाते नर-विज्ञान एक समाज-व्यवस्था को दूसरी की तुलना मे अच्छा या बुरा घोपित नही कर सकता।[१६]

रूथ बेनिडिक्ट ने, नर-विज्ञान की दृष्टि को समझाते हुए, एक दूसरे तत्व पर भी गौरव दिया है। उनका कथन है कि 'मुख्य बात यह है कि अनुभव और विश्वासों के क्षेत्र में परम्परा का प्रधान हाथ रहता है। व्यक्ति का जीवन-इतिहास प्रधान रूप मे इस बात का इतिहास है कि वह किस तरह अपने को परम्परा से पाये हुए पैमानो तथा व्यवहार-रूपो के अनुकूल बनाता है।' अपनी पुष्टि में उन्होने जान ड्यूई को उद्धृत किया है। ड्यूई ने कहा है कि व्यक्ति के व्यवहार में रीति-रिवाजो का प्रभाव उसी तरह प्रधान होता है, और स्वय व्यक्ति द्वारा रीतिरिवाजो में लाया हुआ परिवर्तन वैसे ही नगण्य होता है, जैसे कि बोलचाल में मातृभापा से पाये हुए शब्द प्रधान होते हैं और किसी बालक द्वारा कुटुम्ब की शब्दावली में दो-चार जोड दिये जाने वाले निराले शब्द या व्यजनाएँ नगण्य होती है।[१७]

प्रश्न है, नर-विज्ञान की दृष्टि कहाँ तक उस क्षेत्र को समझने में सहायक है जिसका अन्वेषण करना उस शास्त्र का लक्ष्य है? जब हम नर-विज्ञान की योग्यता का निर्णय एक शास्त्र के रूप में करेंगे तो हम मुख्यतया यही प्रश्न उठायेंगे कि यह विज्ञान हममें कहाँ तक वैज्ञानिक बोध उत्पन्न कर पाता है। क्या नर-विज्ञान अपनी वैज्ञानिक क्षमता को कम किये बिना मूल्यांकन से बच सकता है? नर-विज्ञानी समाजों, सामाजिक व्यवहारों तथा प्रथाओं के लम्बे-चौड़े विवरण प्रस्तुत किया करते हैं। नर-विज्ञान पर लिखी हुई पोथियाँ प्रायः बड़े आकार की होती हैं। इसके बावजूद भी क्या नर-विज्ञान चयन तथा गौरव देने की क्रियाओं को बचा कर तथ्यों का संकलन कर सकता है? किन्तु चयन तथा गौरव की क्रियाओं में मूल्यांकन निहित है। विशेषतः मानव-व्यवहार का अध्ययन करते समय उस व्यवहार के असंख्य रूपों तथा अभि-व्यक्तियों में से चयन करना आवश्यक हो जाता है। दूसरे, नर-विज्ञानी मनुष्य के रूढ़िमूलक तथा बार-बार आवृत होने वाले व्यवहार पर इतना जोर देते हैं कि वे उन तथ्यों का ध्यान करना भूल जाते हैं जो किसी समाज को अपनी गुणात्मक नवीनता से प्रभावित करते हैं। हमारे इस वक्तव्य की सत्यता का अनुमान करना कठिन न होगा यदि हम कुछ देर के लिये आदिम समाजों को छोड़कर उच्चतर सभ्य समाजों की गति-विधि का विचार करें। एक उदाहरण लीजिये। आइन्स्टाइन नामक वैज्ञानिक का जीवन असंख्य क्रियाओं या व्यवहारों से बना हुआ है जिनमें से अधिकांश रूढ़िमूलक हैं। उनकी वे क्रियाएँ, जिनके द्वारा उसने सापेक्षवाद के सिद्धान्त का निरूपण किया उपर्युक्त व्यवहार का एक नगण्य अंश है। क्या इसीलिये हमें यह कहना होगा कि स्वयं आइन्स्टाइन के जीवन, तथा दूसरे करोड़ों नर-नारियों के जीवन में, उसकी चिन्त-नात्मक क्रियाएँ कोई खास महत्व नहीं रखतीं? आइन्स्टाइन के चिन्तन ने जो मानवता के बौद्धिक इतिहास पर लम्बा-चौड़ा प्रभाव डाला है क्या उसकी हम बिल्कुल ही उपेक्षा करेंगे? और क्या यह उपेक्षा ही हमारे दृष्टिकोण को वैज्ञानिक बना देगी? यह मानते हुए भी कि व्यक्ति के व्यवहार में रूढ़ि तथा रीतिरिवाजों का प्रभाव मुख्य होता है, यह नहीं कहा जा सकता कि रूढ़ि-मुक्त व्यवहार उस प्रभाव से अनुपात में महत्वपूर्ण भी होता है, विशेषतः सभ्यता तथा संस्कृति की प्रगति एवं परिवर्तन के लिये।

हमारा अभिप्राय यह है कि सभ्यता तथा संस्कृति में जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें समझने के लिये हमें मूल्यांकन करते हुए चलना होगा। मूल्यांकन की सहायता से हम यह निर्णय नहीं कर सकेंगे कि सभ्यता के इतिहास में होने वाला कौन-सा परिवर्तन कितना

महत्वपूर्ण है। और जब तक हम विभिन्न परिवर्तनो के महत्व के सम्बन्ध में सहमत न हो, तब तक हम महत्वपूर्ण परिवर्तनो के कारणो का पता भी नही लगा सकते, जो कि विज्ञान का लक्ष्य है। इस प्रकार यह प्रश्न कि 'कौन-सी शक्तियाँ ऐतिहासिक परिवर्तन को प्रधानतया प्रभावित करती हैं?' इस दूसरे प्रश्न से असम्बन्धित नही है कि 'हम महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना या परिवर्तन, जिसके कारणो का अन्वेषण अपेक्षित है, किसे कहते हैं?' यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। इतिहास का दृष्टि-कोण तथा इतिहास द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्न स्थिर नही रहे हैं, यद्यपि इसमें सन्देह किया जा सकता है कि वे अब तक किसी सचेत भाव से ग्रहण किये हुए मूल्य-विज्ञान पर आधारित रहे हैं। उत्साही विचारक अक्सर इतिहास की दार्शनिक व्याख्याओ का निरूपण करने की कोशिश करते रहे हैं, लेकिन उन्होने वैसा करने से पहले यह प्रश्न उठाने की जरूरत नही समझी कि महत्वपूर्ण इतिहास किसे कहते हैं। सच यह है कि इतिहास के व्याख्याता, इतिहासकार, और नर-विज्ञानी सब, अज्ञात भाव से, सामान्य बुद्धि द्वारा माने हुए मूल्यो को ग्रहण करके चलते रहे हैं और उन्होने यह कोशिश कभी नही की कि सामान्य बुद्धि के मूल्यो-सबधी पक्षपातो पर चिन्तनात्मक ढग से विचार करें। हमारे अपने युग में इतिहास-लेखन अथवा इतिहास-शास्त्र पर प्रजातन्त्र तथा समाजवाद जैसी विचार-पद्धतियो का निश्चित प्रभाव पडा है। किन्तु यदि यह मान लिया जाय कि इतिहास का मुख्य काम मनुष्य की सभ्यता और सस्कृति का अध्ययन है, तो यह प्रकट है कि सस्कृति और सभ्यता की धारणाओ का स्पष्टीकरण हुए बिना इतिहास अपना कार्य उचित रूप में नही कर सकता।

नर-विज्ञान की तरफ लौटते हुए हम यह लक्ष्य करते है कि जिस ढग से यह विज्ञान अब तक अग्रसर होता रहा है, उससे वह कभी ऊँचे समाजो तथा सस्कृतियो का स्वरूपाव-गाहन कर सकेगा, इसमें सन्देह है। क्योकि सभ्य समाजो की प्रगति को समझने के लिये मूल्यानुप्राणित धारणाओं का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है। चूंकि नर-विज्ञान मूल्यात्मक धारणाओ पर विश्वास नही रखता, इसलिये वह सभ्य समाजो की प्रगति पर पडने वाले व्यक्तियो के प्रभावो की ठीक से छान-बीन नही कर सकता, और चूंकि नर-विज्ञान रूढिमूलक व्यवहार पर विशेष गौरव देता है, इसलिये वह उन आविष्कारो तथा क्रान्तियो का ठीक से अध्ययन नही कर सकता जो कि समाजो तथा जातियो के इतिहास की गति बदल देती है। वस्तुत मानव-व्यवहार का अध्ययन करते हुए मूल्याकन को बचाकर चलना सम्भव नही है। कारण यह है कि मनुष्य

पग-पग पर मूल्यांकन करते हुए व्यवहार करना है। मनुष्य के व्यवहार की रूपरेखा उन मूल्यों से निर्धारित होती है जिन्हें मानकर वह चलता है। उदाहरण के लिये हम यह कभी नहीं समझ सकेंगे कि आज की दुनिया में जनतंत्र तथा समाजवाद के विचार इतने प्रचलित एवं प्रसिद्ध क्यों हो गये, यदि हम यह देखने की कोशिश न करें कि किस तरह उन विचार-पद्धतियों ने मानव-जीवन को सुधारने में योग दिया है।

## संस्कृति की वर्ग-मूलक व्याख्याएँ

अविकसित समाजों में संस्कृति और सभ्यता का भेद स्पष्ट नहीं होता, वहाँ मानव-जीवन के उपयोगी तथा निरुपयोगी पक्ष एक-दूसरे में मिले रहते हैं। आदिम समाजों में वर्ग-विभाजन भी नहीं हो पाता। किन्तु विकसित समाजों में वर्ग-भेद स्पष्ट होने लगते हैं। कार्ल मार्क्स तथा टी० एस० इलियट जैसे विचारकों का मत है कि संस्कृति का विशिष्ट वर्गों से घना सम्बन्ध होता है, अर्थात् अपने विकसित रूप में संस्कृति नामक तत्व विभिन्न वर्गों के जीवन से सम्बद्ध हो जाता है।

हमारे लिए टी० एस० इलियट द्वारा दिया गया संस्कृति का विवरण विशेष महत्व रखता है, क्योंकि टी० एस० इलियट जिस संस्कृति का निरूपण करते हैं वह मूल्यात्मक है। अपनी पुस्तक Notes Toward a Definition of culture (संस्कृति की परिभाषा पर कुछ टिप्पणियाँ) में जो कि महत्वपूर्ण विचारों तथा संकेतों से भरी है, इलियट ने संस्कृति के बारे में मुख्यतः तीन बातें कही हैं:

प्रथमतः इलियट ने इस बात पर गौरव दिया है कि व्यक्ति की संस्कृति समूह या वर्ग की संस्कृति पर, तथा वर्ग की संस्कृति उस सम्पूर्ण समाज की संस्कृति पर, जिसका वह वर्ग अंग है, निर्भर करती है।[१८] दूसरे, इलियट ने संस्कृति के स्तरों की धारणा का निरूपण किया है जिसकी मदद से वर्ग-विशेष की संस्कृति पूरे समाज की संस्कृति से जुदा की जा सकती है। यह लक्षित करने की बात है कि इलियट ने व्यक्ति तथा वर्ग की संस्कृतियों में स्तरों का भेद नहीं माना है।

तीसरे, इलियट मानते हैं कि संस्कृति को समझने का प्रधान मार्ग कुटुम्ब तथा पारिवारिक जीवन है। 'जब कुटुम्ब अपना कार्य करना बन्द कर देता है, तब हम संस्कृति-[illegible] में [illegible] हो जाता है तब संस्कृति का अपकर्ष होने लगता है।' किन्तु क्योंकि कुटुम्ब या परिवार समूह अथवा वर्ग की इकाई होती है, इसलिये इलियट

इस बात के बडा पक्षपाती हैं कि विभिन्न सामाजिक वर्गों को जीवित रक्खा जाय। यहाँ प्रश्न उठता है कि वर्ग तथा कुटुम्ब सस्कृति के विस्तार में क्या काम करते हैं ? इलियट का विचार है कि कुटुम्ब मुख्य रूप में व्यक्ति को शिष्टाचार एव रहन-सहन का तरीका सिखलाता है। यह चीजें सस्कृति का महत्वपूर्ण अग हैं और आवश्यक रूप में वर्ग-जीवन से सबद्ध हैं।[११] सस्कृति के निर्माता शिष्ट लोग ( Elite ) समाज के निम्न स्तरो से भी आ सकते हैं। किन्तु फिर भी इलियट का विचार है कि ऐसे शिष्ट लोगो का वर्ग कायम रक्खा जाय जो सास्कृतिक जीवन का केन्द्र हो और जो कला तथा चिन्तन के क्षेत्रो में की जाने वाली सृष्टियो का उपभोग करें। वे शिष्ट लोग जो दूसरे वर्गो तथा सामाजिक स्तरो से आये हैं, अन्त में इस स्थायी शिष्ट वर्ग के अग बन सकते हैं। लेकिन स्थायी शिष्ट वर्ग का अस्तित्व अनिवार्य रूप में अपेक्षित है। वर्ग का मुख्य काम यह है कि वह शिष्ट व्यवहार के रूपो तथा मानो की रक्षा करे। ऊँचे परिवारो और उनके सदस्यो का यह कर्तव्य है कि वे वर्ग की सस्कृति को सुरक्षित रखें, जब कि सस्कृति के निर्माताओ का यह कर्तव्य है कि वे उसे परिवर्तित करें। कुटुम्ब को और भी कुछ करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपने सदस्यो में अतीत के महापुरुषो के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करें और साथ ही आगे आने वाली पीढियो के प्रति ममत्व की भावना तथा उनके कल्याण की चिन्ता जागृत करे।[२०]

ऊपर हमने इलियट के सस्कृति-सम्बन्धी विचारो की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की। उन विचारो का सम्बन्ध मुख्यत उन स्थितियो से है जिनमें सस्कृति फल-फूल सकती है तथा आगे आने वाली पीढियो तक सक्रान्त की जा सकती है। जहाँ तक सस्कृति के स्वरूप का सम्बन्ध है, इलियट ने कोई सुनिश्चित परिभाषा नही दी है। एक जगह उन्होने कहा कि सस्कृति विभिन्न क्रियाओ का योग मात्र नही है, वल्कि वह जीवन-यापन का एक प्रकार है। अन्यत्र वह कहते हैं "हम कह सकते हैं कि सस्कृति वह है जो जीवन को जीने योग्य बनाती है।' इलियट ने यह भी कहा है कि सस्कृति का धर्म से गहरा सम्वन्ध होता है। इलियट ने जिन क्रियाओ या व्यापारो का सस्कृति के अन्तर्गत समावेश किया है उनकी सूची लम्बी-चौडी है। शिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन, कलाओ का सेवन, आदि के अतिरिक्त इलियट ने कहा है कि किसी जाति अथवा राष्ट्र की वे समस्त क्रियाएँ जो उसे विशिष्ट बनाती हैं, उसकी सस्कृति का अग है, जैसे कि घुडदौड अथवा नावो की प्रतियोगिता, उसके खान-पान का प्रकार, उसका सगीत, आदि।

कोई भी व्यक्ति अथवा समाज सभ्यता के समस्त मूल्यों का उपभोग नहीं कर सकता, उन मूल्यों में परस्पर विरोध भी हो सकता है। इसलिये इलियट का कहना है कि कोई भी व्यक्ति अथवा समाज पूर्णतया सभ्य नहीं हो सकता और वह व्यक्ति जो संस्कृति की प्रगति मे योग देता है, भले ही उसका योग बहुत महत्वपूर्ण हो, स्वयं पूर्णतया सस्कृत व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। यह जरूरी नहीं है कि कवि तथा विचारक जो सस्कृति को आगे बढाता है स्वयं एक सुसस्कृत व्यक्ति ही हो।

हमने कहा कि इलियट ने मुख्यत सस्कृति को एक मूल्य के रूप में निरूपित किया है। इलियट की सस्कृति के मानो मे विशेष अभिरुचि है। इस अभिरुचि के कारण ही उन्होंने यह प्रस्ताव किया है कि शिष्ट वर्ग को एक स्वतन्त्र वर्ग के रूप मे कायम रहना चाहिए। उनका विचार है कि पिछले वर्षों मे उन वर्गो का जिनके जीवन मे सस्कृति अपने उच्चतम रूप में प्रतिफलित रहती है, विघटन होता रहा है, जिसके फलस्वरूप पश्चिमी देशों का यह युग सास्कृतिक अधोगति का युग रहा है। और इस समय के सास्कृतिक पैमाने पचास वर्ष पूर्व के पैमानो से निम्नतर या हीनतर है।

इलियट ने सस्कृति के पैमानो के लिए जो चिन्ता प्रकट की है, वह निःसन्देह सराहनीय है, किन्तु उन्होंने सास्कृतिक व्यापारो की जो सूची दी है उसे पढकर मन में कुछ सन्देह उत्पन्न होता है, वह कि उन विभिन्न क्रियाओं का आपेक्षिक महत्व क्या है। उदाहरण के लिये इलियट हमें यह नहीं बतलाते कि दर्शन, कविता तथा घुडदौड में किस व्यापार को कितना महत्व दिया जाय और क्यो। उन्होंने यह भी बताने की कोशिश नहीं की है कि सस्कृति के विभिन्न रूपो को एक-दूसरे से कैसे अलग किया जाय। इस दिशा में इलियट ने जिस अकेले मानदण्ड की ओर सकेत किया है वह मानदण्ड है शिष्ट व्यवहार के नियम, अर्थात् तथा-कथित अभिजात वर्ग के जीवन-नियम। किन्तु इलियट ने कहीं उन सामान्य सिद्धान्तो का निरूपण नहीं किया जिनके आधार पर शिष्टता के नियमो, घुडदौड, दर्शन, नैतिकता, धार्मिकता आदि के आपेक्षिक महत्व को हृदयगम किया जा सके।

स्पेनी लेखक ओर्टेगा वाइ० गैसेट इलियट से इस सम्बन्ध में सहमत है कि संस्कृति विशिष्ट मानदण्डों पर आधारित है। उन्होंने लिखा है कि सस्कृति के विभिन्न रूप प्रगत मानों के न्यूनाधिक सतोषजनक से निर्धारित होते हैं। गैसेट साधारण जनता से उसे कहते हैं, जो आराम से चलना चाहता है और जिसमें कोई ऊँची ओर नहीं लगता।

किन्तु गैसेट अभिजात-वर्ग तथा उसके शिष्ट व्यवहार के प्रशसक नही है। उनका विचार है कि अभिजात-वर्ग का सदस्य आराम से रहने का अभ्यस्त होता है और उस प्रकार का प्राणवान् प्रयत्न नही करता जिससे व्यक्तित्व की उन्नति होती है। अभिजात-वर्ग का सदस्य विभिन्न खेलो तथा क्रीडाओ को जीवन का मुख्य व्यापार बना लेता है और शरीर की स्वच्छता तथा वेशभूषा पर विशेष ध्यान देता है। स्त्रियो से व्यवहार करते समय वह रोमान्स का अनुभव नही कर पाता।[२१] अभिजात-वर्ग पर टिप्पणी करते हुए जर्मन कवि गेटे ने लिखा था, 'यह सोचकर आश्चर्य होता है कि एक समृद्ध उच्चवर्गीय अग्रेज़ का कितना समय द्वन्द्व युद्ध करने तथा महिलाओ को ले-भागने में व्यय हो जाता है।'[२२]

प्रतीत होता है कि गेटे मध्य वर्ग के प्रति ज्यादा सहानुभूति रखते थे। उन्होने लिखा है कि 'योग्य व्यक्तित्व के विकास के लिये मध्यस्थिति ज्यादा अनुकूल पडती है, हम पाते हैं कि समस्त बडे कलाकार और कवि मध्य वर्ग मे हुए हैं।'[२३] गैसेट पूछते हैं कि आज वह कौन है जिसके हाथो में सामाजिक शक्ति है? कौन अपनी बुद्धि तथा मस्तिष्क के रूपो को युग के ऊपर आरोपित करता है? उनका उत्तर है कि 'नि सन्देह मध्यवर्ग का मनुष्य इजीनियर, डॉक्टर, पूंजी जुटानेवाला, शिक्षक इत्यादि।'[२४] गैसेट ने बौद्ध सद्गुण अप्रमाद या उद्योगशीलता को श्रेष्ठ पुरुषो का चिह्न माना है, और वह कहते हैं कि यह सद्गुण मध्यवर्ग के कुछ लोगो में अधिक विकसित रूप में दिखाई देता है।

किन्तु अप्रमाद या उद्योगशीलता नाम के गुण का विभिन्न दिशाओ में उपयोग किया जा सकता है। एक व्यवसायी व्यक्ति वडा परिश्रमी हो सकता है और अपने से उसी तरह कठिन माँगे कर सकता है जैसे कि एक कलाकार या कवि। इसलिये अप्रमाद अथवा उद्योगशीलता को हम सास्कृतिक उपलब्धि का मानदण्ड नही मान सकते।

## मार्क्सवादी सिद्धान्त

अब हम एक दूसरे सिद्धान्त की परीक्षा करेंगे जो सस्कृति को वर्ग की वस्तु मानता है। हमारा मतलव मार्क्सवाद से है। मार्क्स और ऐंगेल्स की कृतियो में सस्कृति शब्द का प्रयोग कम ही हुआ है। यह कहना भी कठिन है कि वे सस्कृति को एक वर्णनात्मक धारणा मानते है या मूल्यात्मक धारणा। मार्क्स को सस्कृति के पैमानो

की चिन्ता थी, ऐसी बात भी नहीं है, यद्यपि वह एक अर्थ में संस्कृति को प्रगति से सम्बन्धित करते हैं। मार्क्सवादी अनुभव-जगत को दो भागों में विभक्त करते हैं: एक भौतिक वस्तु-सम्बन्ध, और दूसरे चेतना, प्रत्यय या विचार। मार्क्सवाद वास्तविक चेतना अथवा प्रत्ययों को वस्तु-सम्बन्धों पर आधारित बतलाता है। संस्कृति का सम्बन्ध सामाजिक चेतना से है और वह संस्कृति सामाजिक सत्ता पर निर्भर रहती है। सामाजिक सत्ता से मतलब है भौतिक सामाजिक सम्बन्ध। सामाजिक रूप से सम्पत्ति का उत्पादन करते हुए मनुष्यगण निश्चित सम्बन्धों से सम्बन्धित हो जाते हैं। ये सम्बन्ध अनिवार्य होते हैं और विभिन्न व्यक्तियों के संकल्पों से निर्धारित नहीं होते। इन सम्बन्धों की समग्रता किसी समाज के आर्थिक ढांचे को निर्मित करती है। यह आर्थिक ढांचा असली आधार होता है जिस पर कानूनी तथा राजनैतिक ढांचा खड़ा होता है और जिससे सामाजिक चेतना के रूप स्थिर होते हैं। भौतिक उत्पत्ति के प्रकार सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक जीवन-व्यापारों का निर्धारण करते हैं। संक्षेप में यही मार्क्स का सिद्धान्त है। मार्क्स की दूसरी मान्यता यह है कि हर युग में लोगों पर शासन करनेवाले विचार प्रायः शासकों के विचार होते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए सिडनी हुक कहते हैं कि 'समाज का वर्गों में विभाजन विभिन्न विचार-पद्धतियों को जन्म देता है: राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक। ये विचार-पद्धतियाँ वर्ग-सम्बन्धों को प्रकट करती हैं, और ये या तो शासकों की शक्ति को पुष्ट करने वाली होती हैं या उन्हें निराधार प्रदर्शित करने वाली। इस प्रकार विचार-पद्धतियों के बीच द्वन्द्व चलता रहता है। जिनके हाथों में उत्पत्ति के साधन होते हैं, उन्हीं के हाथों में प्रचार के साधन भी होते हैं जैसे चर्च, प्रेस, और स्कूल। फलतः किसी समय में जो विचार प्रचलित होते हैं वे मौजूदा व्यवस्था को आधार देनेवाले होते हैं।'

किसी विचार-पद्धति का मूल्यांकन करने का मार्क्सवादी तरीका ऐतिहासिक है। जब तक किसी संस्कृति को उत्पन्न करने वाला वर्ग स्वयं प्रगतिशील रहता है, तब तक उसकी संस्कृति भी प्रगतिशील रहती है। जब वह प्रगतिशील नहीं रहता, तब उसकी संस्कृति भी प्रगतिशील नहीं रहती, बल्कि मूल्यहीन हो जाती है। उदाहरण के लिये जब बुर्जुआ वर्ग ने सामन्ती व्यवस्था का विनाश किया उस समय वह प्रगतिशील और क्रान्तिकारी था। कारण यह कि उस समय बुर्जुआ वर्ग सम्पत्ति का अधिक और शीघ्रता से उत्पादन कर सकता था। इतिहास के जिस युग में सामन्ती व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी उस समय बुर्जुआ वर्ग की संस्कृति प्रगतिशील तथा महत्त्वपूर्ण होती थी। लेकिन

इस समय, उत्थित होते हुए मजदूर-वर्ग की अपेक्षा में, पूंजीवादी वर्ग और वह सस्कृति जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, प्रतिक्रियावादी एव अप्रगतिशील बन गये हैं। इस समय पूंजीवादी समाज की दशा ऐसी नही कि वे अधिक से अधिक सम्पत्ति का उत्पादन कर सकें।[२७]

शासक-वर्ग जिन विचार-पद्धतियो को जन्म देता है वे उनके स्वार्थो को पुष्ट करने वाली होती हैं। ये विचार-पद्धतियाँ, अन्तिम विश्लेषण में, उन लोगो के बीच जो उत्पादन के साधनो पर अधिकार रखते हैं और उनके बीच जो उनके अधीन रहकर उत्पादन करते हैं, ऐसे सम्बन्धो की वकालत करती हैं जो शासक-वर्गो के लिये हितकर हैं। ये विचार-पद्धतियाँ मानवजाति के लिये तब तक उपयोगी होती हैं जब तक वे उन वर्ग-सम्बन्धो की बौद्धिक पुष्टि करती हैं जो अधिक उत्पादन के आधार हैं। जब वे सम्बन्ध अनुपयोगी हो जाते हैं, जब वे अधिक उत्पादन में बाधा बन जाते हैं, तब वे विचार-पद्धतियाँ भी, जो उन सम्बन्धो का मडन करती थी, पुरानी और अप्रगतिशील बन जाती हैं। जब पूंजीपतियो ने उत्पादन की ऐसी नई प्रक्रियाओ का आविष्कार किया जिन प्रक्रियाओ के साथ सम्पत्ति और वर्गो के नये सम्बन्ध जुडे थे तब सामन्ती युग की विचार-पद्धति, उनके सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक तथा कानून-सम्बन्धी विचार पुराने पडे गये, और वे प्रतिक्रियावादी भी दीखने लगे। अभिप्राय यह है कि समय-समय पर मानवजाति को पुरानी विचार-परम्परा से विच्छिन्न हो जाना चाहिए। इस प्रकार विच्छिन्न होकर ही मानवजाति उन्नति कर सकती है। इस प्रकार की विच्छिन्नता तब तक आवश्यक रहेगी जब तक समाजवादी समाज की स्थापना न हो जाय। इस प्रकार के समाज की स्थापना क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है। ऐसी क्रान्ति अतीत से "सम्पूर्ण विचारात्मक विच्छिन्नता" उत्पन्न करेगी, क्योकि वह मौजूदा साम्पत्तिक सम्बन्धो में "आमूल परिवर्तन" उपस्थित कर देगी।

इस प्रकार मार्क्सवाद अतीत के प्रति किसी प्रकार की श्रद्धा का अनुभव नही करता। मार्क्सवाद क्रान्तिवादी है। उसके विचार में परम्परा, इतिहास की यात्रा में, मूलत निषेधात्मक पार्ट खेलती है। परम्परा उस परिवर्तन की गति को मन्द करती है जिसे हम प्रगति कहते हैं। परम्परा मुख्यत नई विचार-पद्धति के उत्पन्न होने में बाधा डालती है। मरी हुई पीढियो की परम्परा का बोझ-मार्क्स ने एक जगह लिखा है—एक भयावने स्वप्न की तरह नई पीढी के मस्तिष्क पर पडा रहता है।[२८]

मार्क्सवाद के ये मन्तव्य कुछ ऐसी मान्यताओं पर निर्भर हैं जिन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रथमतः मार्क्सवाद यह मानता प्रतीत होता है कि मनुष्य केवल मात्र एक सामाजिक प्राणी है। दूसरे, मार्क्सवादी विचार-पद्धति के अनुसार, सामाजिक जीवन वर्ग-सम्बन्धों में, अथवा उन सम्बन्धों से निर्धारित व्यापारों में, निःशेष हो जाता है। पहली मान्यता के अनुरूप मार्क्सवाद यह मानने से इनकार करता है कि मानवीय जीवन की कोई निजी (प्राइवेट) भूमिका, अथवा कोई ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित भूमिका, भी होती है। दूसरी मान्यता को ग्रहण करके मार्क्सवाद यह कहता प्रतीत होता है कि विभिन्न वर्गों की रुचियाँ, विचार तथा दृष्टिकोण एकदम भिन्न होते हैं और मानव के वे वर्ग मानो विभिन्न जीव-योनियाँ बनाते हैं।

उनमें से कोई भी मान्यता समीचीन नहीं है। सामाजिक सम्बन्ध केवल वर्ग-मूलक ही नहीं होता। माता का अपने बच्चे से तथा प्रेमी का अपनी प्रेमिका से जो सम्बन्ध होता है, वह किसी भी प्रकार वर्ग का सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। यही बात मित्रों के आपसी सम्बन्ध पर लागू है। हमारी एक व्यक्ति से मैत्री हो जाती है, इसलिये नहीं कि मैं और वह एक ही वर्ग के हैं, अथवा हमारी सामान्य वर्ग-मूलक रुचियाँ हैं। मैं एक व्यक्ति को इसलिये भी पसन्द कर सकता हूँ कि वह अच्छा गा सकता है, या एक अच्छा खिलाड़ी है, अथवा कविता का प्रेमी है, अथवा पहाड़ी यात्राओं में रुचि रखता है। यह भी लक्षित करने की बात है कि प्रेमी और मित्र, फिर वे चाहे किसी भी वर्ग के हों, अपनी भावना के विषय के सम्बन्ध में प्रायः एक से आवेगों तथा मनोभावों का अनुभव करते हैं। यही कारण है कि एक आधुनिक प्रेमी उन सारे आवेगों को ग्रहण कर सकता है जो कालिदास के 'मेघदूत' में यक्ष पर आरोपित किये गये हैं अथवा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यन्त की मानसिक प्रतिक्रियाओं में दिखाये गये हैं। और यही कारण है कि इन पुस्तकों के पाठक वर्तमान में आज भी रस ले सकते हैं। आश्चर्य की बात है कि वे पाठक जिनका राजकुमारों तथा राजकुमारियों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, कालिदास के उन चौदह श्लोकों से रस लेते पाये जाते हैं जिनमें कालिदास ने चारणों द्वारा अज को जगाने के लिये उसका स्तुतिगान कराया है। निष्कर्ष यह है कि, मानव-स्वभाव की मौलिक एकता के कारण, विभिन्न वर्गों के व्यक्ति एक-दूसरे की संवेदनाओं तथा प्रतिक्रियाओं को ग्रहण कर सकते और उनका उपभोग कर सकते हैं।

इस समय, उत्थित होते हुए मजदूर-वर्ग की अपेक्षा में, पूंजीवादी वर्ग और वह सस्कृति जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, प्रतिक्रियावादी एव अप्रगतिशील बन गये है। इस समय पूंजीवादी समाज की दशा ऐसी नही कि वे अधिक से अधिक सम्पत्ति का उत्पादन कर सकें।[२७]

शासक-वर्ग जिन विचार-पद्धतियो को जन्म देता है वे उनके स्वार्थो को पुष्ट करने वाली होती है। ये विचार-पद्धतियाँ, अन्तिम विश्लेषण में, उन लोगो के बीच जो उत्पादन के साधनो पर अधिकार रखते है और उनके बीच जो उनके अधीन रहकर उत्पादन करते हैं, ऐसे सम्बन्धो की वकालत करती हैं जो शासक-वर्गो के लिये हितकर है। ये विचार-पद्धतियाँ मानवजाति के लिये तब तक उपयोगी होती है जब तक वे उन वर्ग-सम्बन्धो की बौद्धिक पुष्टि करती हैं जो अधिक उत्पादन के आधार है। जब वे सम्बन्ध अनुपयोगी हो जाते है, जब वे अधिक उत्पादन में बाधा बन जाते है, तब वे विचार-पद्धतियाँ भी, जो उन सम्बन्धो का मडन करती थी, पुरानी और अप्रगतिशील बन जाती है। जब पूंजीपतियो ने उत्पादन की ऐसी नई प्रक्रियाओ का आविष्कार किया जिन प्रक्रियाओ के साथ सम्पत्ति और वर्गो के नये सम्बन्ध जुडे थे तब सामन्ती युग की विचार-पद्धति, उनके सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक तथा कानून-सम्बन्धी विचार पुराने पडे गये, और वे प्रतिक्रियावादी भी दीखने लगे। अभिप्राय यह है कि समय-समय पर मानवजाति को पुरानी विचार-परम्परा से विच्छिन्न हो जाना चाहिए। इस प्रकार विच्छिन्न होकर ही मानवजाति उन्नति कर सकती हैं। इस प्रकार की विच्छिन्नता तब तक आवश्यक रहेगी जब तक समाजवादी समाज की स्थापना न हो जाय। इस प्रकार के समाज की स्थापना क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है। ऐसी क्रान्ति अतीत से "सम्पूर्ण विचारात्मक विच्छिन्नता" उत्पन्न करेगी, क्योकि वह मौजूदा साम्पत्तिक सम्बन्धो में "आमूल परिवर्तन" उपस्थित कर देगी।

इस प्रकार मार्क्सवाद अतीत के प्रति किसी प्रकार की श्रद्धा का अनुभव नही करता। मार्क्सवाद क्रान्तिवादी है। उसके विचार में परम्परा, इतिहास की यात्रा में, मूलत निषेधात्मक पार्ट खेलती है। परम्परा उस परिवर्तन की गति को मन्द करती है जिसे हम प्रगति कहते है। परम्परा मुख्यत नई विचार-पद्धति के उत्पन्न होने में बाधा डालती है। मरी हुई पीढियो की परम्परा का बोझ-मार्क्स ने एक जगह लिखा है—एक भयावने स्वप्न की तरह नई पीढी के मस्तिष्क पर पडा रहता है।[२८]

मार्क्सवाद के ये मन्तव्य कुछ ऐसी मान्यताओं पर निर्भर हैं जिन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रथमतः मार्क्सवाद यह मानता प्रतीत होता है कि मनुष्य केवल मात्र एक सामाजिक प्राणी है। दूसरे, मार्क्सवादी विचार-पद्धति के अनुसार, सामाजिक जीवन वर्ग-सम्बन्धों में, अथवा उन सम्बन्धों से निर्धारित व्यापारों में, निःशेष हो जाता है। पहली मान्यता के अनुरूप मार्क्सवाद यह मानने से इनकार करता है कि मानवीय जीवन की कोई निजी (प्राइवेट) भूमिका, अथवा कोई ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित भूमिका, भी होती है। दूसरी मान्यता को ग्रहण करके मार्क्सवाद यह कहता प्रतीत होता है कि विभिन्न वर्गों की रुचियाँ, विचार तथा दृष्टिकोण एकदम भिन्न होते हैं और मानव के वे वर्ग मानो विभिन्न जीव-योनियाँ बनाते हैं।

इनमें से कोई भी मान्यता समीचीन नहीं है। सामाजिक सम्बन्ध केवल वर्ग-मूलक ही नहीं होता। माता का अपने बच्चे से तथा प्रेमी का अपनी प्रेमिका से जो सम्बन्ध होता है, वह किसी भी प्रकार वर्ग का सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। यही बात मित्रों के आपसी सम्बन्ध पर लागू है। हमारी एक व्यक्ति से मैत्री हो सकती है, इसलिये नहीं कि मैं और वह एक ही वर्ग के हैं, अथवा हमारी सामान्य वर्ग-मूलक रुचियाँ हैं। मैं एक व्यक्ति को इसलिये भी पसन्द कर सकता हूँ कि वह अच्छा गाना गाता है, या एक अच्छा खिलाड़ी है, अथवा कविता का प्रेमी है, अथवा पहाड़ी यात्राओं में रुचि रखता है। यह भी लक्षित करने की बात है कि प्रेमी और मित्र, फिर वे चाहे किसी भी वर्ग के हों, अपनी भावना के विषय के सम्बन्ध में प्रायः एक से आवेगों तथा मनोभावों का अनुभव करते हैं। यही कारण है कि एक आधुनिक प्रेमी उन सारे आवेगों को ग्रहण कर सकता है जो कालिदास के 'मेघदूत' में यक्ष पर आरोपित किये गये हैं, अथवा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यन्त की मानसिक प्रतिक्रियाओं में दिखलाये गये हैं। और यही कारण है कि हम सूरदास के वात्सल्य में आज भी रस ले सकते हैं। आश्चर्य की बात है कि वे पाठक जिनका राजकुमारों तथा राजकुमारियों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, कालिदास के उन सुन्दर श्लोकों में रस ले पाते हैं जिनमें कालिदास ने चारणों द्वारा अज को जगाने के लिये उसका विरद-गान कराया है। वास्तविकता यह है कि, मानव-स्वभाव की मौलिक एकता के कारण, विभिन्न मनुष्य एक-दूसरे की संवेदनाओं तथा प्रतीतियों को ग्रहण कर सकते और उनका उपभोग कर सकते हैं।

## अनुभूति के आयाम या सिम्तें

ऊपर हमने कहा कि मार्क्सवादी सामाजिक जीवन को एक सकीर्ण रूप में लेते है और उसे वर्ग-सम्बन्धो से समीकृत करते है जो उचित नही है। यहाँ हम यह कहना चाहते है कि मानव-जीवन और अनुभूति केवल सामाजिक भूमिका में ही प्रसरित नही होते, वे उस भूमिका का अतिक्रमण करके दूसरी भूमिकाओ में भी विस्तार पाते है। मनुष्य केवल मात्र सामाजिक यथार्थ के प्रति ही प्रतिक्रिया नही करता। उसके जीवन में ऐसा अवसर भी आता है जब वह मानव के समग्र अस्तित्व पर और ब्रह्माण्ड के अस्तित्व पर भी विचार करता है, एव उन दोनो के प्रति बौद्धिक तथा आवेगात्मक प्रतिक्रिया करता है। दार्शनिको के बारे में कहा गया है कि वे देश-काल की समग्रता के दर्शक होते है। बुद्ध जी जैसे विचारक जो प्रश्न करते है, उनका सम्बन्ध किसी सकीर्ण सामाजिक जीवन से नही होता। वे प्रश्न अपनी परिधि में समग्र मानव-जीवन तथा समूचे ब्रह्माण्ड को ले लेते है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य एक दार्शनिक प्राणी है और वह पूर्णता की कामना रखने वाला धार्मिक प्राणी भी है। वह समाज से कही अधिक व्यापक वस्तु-सत्ता के प्रति प्रतिक्रियाशील होता है।

यदि हम सामाजिक जीवन का अर्थ वह जीवन समझें जिसमें देना और लेना रहता है, अर्थात् पारस्परिक सेवा के विनिमय का जीवन, तो हमें जीवन की तथा अनुभूति की एक तीसरी सिम्त भी माननी पडेगी। इस सिम्त को हम प्रगीतात्मक सिम्त या भूमिका भी कह सकते हैं। इस भूमिका मे मनुष्य विभिन्न वस्तुओ से रागात्मक तथा सौन्दर्य-मूलक सम्बन्ध स्थापित करता है। जीवन तथा अनुभूति की यह भूमिका मुख्यत गीत काव्य में अभिव्यक्ति पाती है, उस गीतात्मकता में जिसके प्रमुख प्रतिनिधि वर्ड्सवर्थ और शेली, कीट्स और रवीन्द्र, तथा विद्यापति और विहारीलाल है।

इधर यह फैशन हो चला है कि कला, दर्शन आदि की सामाजिक व्याख्या की जाय और उन्हें विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओ पर निर्भर प्रदर्शित किया जाय। कुछ लोगो का विचार है कि हमारा समस्त ज्ञान-विज्ञान विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था का सापेक्ष होता है। इस दृष्टिकोण को "ज्ञान की समाजशास्त्रीय व्याख्या" ( Soc ology of Know ledge ) नाम दिया गया है। नाम नया है, किन्तु उसमें निहित सिद्धान्त पुराना है। वह सिद्धान्त मार्क्सवाद की यह मान्यता है कि सामाजिक चेतना सामाजिक सत्ता पर निर्भर करती है,और सामाजिक सत्ता सामाजिक चेतना की पूर्ववर्त्ती होती है।

यहाँ एक रोचक प्रश्न किया जा सकता है। वे कौन-सी सामाजिक स्थितियाँ हैं जिन्होंने इस विशिष्ट सिद्धान्त को जन्म दिया है? यदि यह सिद्धान्त आज के युग की कतिपय सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है, तो क्या यह माना जाय कि उन परिस्थितियों के बदल जाने पर यह सिद्धान्त मान्य नहीं रहेगा? इसी प्रकार मार्क्सवाद की यह मान्यता कि प्रत्येक सिद्धान्त किसी वर्ग का सिद्धान्त होता है, प्रत्येक सत्य किसी वर्ग के लिये सत्य होता है, क्या स्वयं भी एक वर्ग का सत्य है? और क्या यह मान्यता कि सारी मान्यताएँ परिस्थितियों पर निर्भर रहती हैं, स्वयं किसी खास सामाजिक परिस्थिति पर निर्भर करती है? हम समझते हैं कि ऐसा मानना समुचित नहीं होगा। जब लेनिन ने कहा कि "वर्ग-संघर्ष पर आधारित समाज में निष्पक्ष समाज-विज्ञान की स्थिति सम्भव नहीं है", तब, निश्चित रूप से, वह यह नहीं कहना चाहता था कि उसकी यह मान्यता निष्पक्ष चिन्तन का फल न थी। यह भी समझ में नहीं आता कि लेनिन की यह मान्यता किस प्रकार एक या दूसरे वर्ग के लिये विशेष हितकर हो सकती है।

जिसे हम ज्ञान की सामाजिक व्याख्येयता का सिद्धान्त कहते हैं उसकी, और लेनिन की उक्त मान्यता की, सच्चाई इस स्वीकृति पर निर्भर है कि मनुष्य में अपने व्यापारों के सम्बन्ध में, कुछ हद तक, निष्पक्ष एवं तटस्थ द्रष्टा बनने की क्षमता है। यदि मनुष्य अपने को थोड़ी देर के लिये भी तटस्थ एवं निष्पक्ष नहीं बना सकता, यदि वह सामाजिक जीवन द्वारा आरोपित संघर्षों तथा सम्बन्धों से अपने को अलग नहीं कर सकता, तो वह समाज के संघर्षों की निष्पक्ष, वैज्ञानिक व्याख्या तथा अध्ययन भी नहीं कर सकता। प्रस्तुत लेखक का विचार है कि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा मनुष्य अपने को तात्कालिक परिवेश से अलग कर सकता है, और अपने को तटस्थ द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है और इस प्रकार वह सामाजिक जीवन-नाटक का निष्पक्ष अध्ययन कर सकता है। यही नहीं, प्रयत्न करने पर मनुष्य अपनी सामाजिक जीवन की परिधि से ऊपर उठकर समस्त ब्रह्माण्ड के नागरिक के रूप में चिन्तन तथा आचरण कर सकता है। इसी प्रकार वह अपनी वर्ग-भावना से ऊपर उठकर समस्त मानवता के दृष्टिकोण को भी अपना सकता है।

यदि अब भी कोई इस बात पर जोर दे कि मनुष्य का चिन्तन सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों द्वारा निर्धारित होता है तो उत्तर है कि इस प्रकार निर्धारित होने वाला चिन्तन प्रायः वही होता है जिसका विषय समाज से सम्बद्ध है। उसका तात्पर्य यह हुआ कि दूसरी दिशाओं में चलने वाला चिन्तन सामाजिक स्थितियों से निर्धारित

नही होता। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण आधुनिक भौतिक-शास्त्र ( Physical Science ) में घटित हुई क्रान्ति है। निश्चय ही यह नही कहा जा सकता कि आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद तथा दूसरे वैसे मन्तव्यो का हमारे युग की सामाजिक-राजनैतिक उथल-पुथल से कोई गहरा लगाव है। एक और बात है। विचार-पद्धतियो पर केवल सामयिक परिस्थितियो का ही प्रभाव नही पडता, उनके ऊपर मानवता के सम्पूर्ण प्राचीन सास्कृतिक इतिहास का (और यह इतिहास कला, साहित्य, विज्ञान आदि सबका हो सकता है), प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिय दान्ते तथा शेक्सपियर जैसे कलाकारो की कृतियाँ आज भी हमारे साहित्यिक मूल्याकन के मानों को प्रभावित करती है, ठीक वैसे ही जैसे कि वुद्ध, ईसा आदि की शिक्षाएँ हमारे नैतिक पैमानो को। इसी प्रकार आज के उपन्यासकार केवल समकालीन रुचियो तथा कृतियो से ही प्रभावित नही होते, उन पर फ्लाबेर, बालजक, टॉल्स्टॉय, दास्ताएव्स्की जैसे लेखको का भी प्रभाव पडता है। इसी प्रकार आधुनिक दार्शनिक विचारक प्लेटो, अरस्तू, शकर, नागार्जुन, कान्ट तथा ह्यूम जैसे विचारको से अजस्र प्रेरणा लेते रहे है।

## मानव की ऐतिहासिक प्रकृति मानवीय संस्कृति की अविच्छिन्नता

सस्कृति का विवेचन करते हुए मार्क्सवाद, हमारे विचार में, तीन हेत्वाभासों, अथवा तिहरे सरलीकरण का, अपराधी वन जाता है। प्रथमत वह यह स्वीकार करके चलता है कि वर्ग-भेद मनुष्यो की उस एकता को खडित कर सकता है जिसका मूल उनकी सामान्य जैवी तथा मनोवैज्ञानिक प्रकृति में है। यह मान्यता उसी प्रकार गलत है जैसे कि उनकी दूसरी मान्यता जिसके अनुसार मनुष्यो की विचारात्मक प्रतिक्रिया केवल, अथवा मुख्यत, सामाजिक यथार्थ के प्रति होती है। दूसरे, मार्क्सवाद इस वातसे इनकार करता प्रतीत होता है कि एक युगकी सास्कृतिक चेतना तथा दूसरे युग की सास्कृतिक चेतना में किसी प्रकार की अविच्छिन्नता होती है। इस सम्वन्ध में मार्क्सवाद एक ही लगाव की वात सोचता है, अर्थात् निषेध या विरोध की। मार्क्सवाद का विचार है कि एक युग के उत्पत्ति-साधन दूसरे युग के उत्पत्ति साधनो द्वारा, कम उन्नत युग के उत्पत्ति-साधन अधिक उन्नत युग के साधनो द्वारा, स्थानच्युत कर दिये जाते है, और उसी प्रकार अधिक उन्नत युग की विचार-पद्धतियाँ कम उन्नत युग की विचार-पद्धतियो की स्थानापन्न वन जाती है। कारण यह है कि विभिन्न युगो की विचार-

पद्धतियाँ प्रायः उन वर्गों के स्वार्थों का मण्डन करती हैं जो उत्पत्ति के साधनों के स्वामी होते हैं। मार्क्सवाद इसकी कोई सम्भावना नहीं देखता कि विरोधी वर्गों में किसी प्रकार का समझौता हो सकता है और इसलिये वह यह सम्भावना भी नहीं देख पाता कि विरोधी विचार-पद्धतियों में किसी प्रकार का समन्वय या समझौता हो जाय। यही कारण है कि मार्क्सवादी लेखक क्रान्ति पर विशेष गौरव देते हैं और अतीत से नितान्त उस विचारात्मक विच्छिन्नता की बात करते हैं। हीगल ने समन्वय की धारणा दी थी जिसमें वाद तथा प्रतिवाद दोनों का सत्यांश सुरक्षित रहता है, किन्तु यह धारणा मार्क्सवादी व्यवस्था में कोई महत्त्वपूर्ण पार्ट नहीं अदा करती।

मनुष्य की सांस्कृतिक प्रगति के तथा उस मानवीय व्यक्तित्व के बारे में जिसके द्वारा यह प्रगति घटित होती है, हमारा विचार मार्क्सवाद से नितान्त भिन्न है। हमारा विश्वास है कि मनुष्य, व्यक्ति तथा जाति दोनों की हैसियत से, एक ऐतिहासिक प्राणी है। प्राणवान वस्तु होने के नाते उसकी प्रकृति उन सब परिवर्तनों से निर्मित होती है जो उसके बीज-रस ( Germ-Plasm ) में समय-समय पर होते रहते हैं और जो सुरक्षित रह जाते हैं। एक चेतन-मनोमय सत्ता के रूप में मनुष्य अतीत की समस्त बौद्धिक क्रियाओं तथा आवेगात्मक प्रतीतियों को विरासत के रूप में ग्रहण करके सांस्कृतिक जटिलता को प्राप्त करता है। इसका मतलब यह है कि मनुष्य में अपने "सांस्कृतिक" परिवेश का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान तथा सब प्रकार का रागात्मक आलोडन-विलोडन संक्रान्त होकर आ जाता है। यह संक्रमण विभिन्न प्रकार के प्रतीकों, शब्दों तथा दूसरे चिह्नों के माध्यम से निष्पन्न होता है। ये प्रतीक विभिन्न प्रकार की प्रतीतियों तथा धारणाओं के प्रतिनिधि रूप होते हैं। इन प्रतीकों के विविध रूप विभिन्न स्थान या समुदाय विशेष के स्वप्नों तथा आदर्शों, उसके प्रश्नों एवं कल्पनाओं, उसकी धार्मिक तथा दार्शनिक पद्धतियों, एवं उसकी [illegible] का स्वरूप निर्मित करते हैं। ये [illegible] हमें [illegible] के नाटकों तथा [illegible], [illegible] एवं [illegible] आदि के रूप में उपलब्ध होती हैं। [illegible] मनुष्य का वैज्ञानिक [illegible] अपने परिवेश पर [illegible] नियन्त्रण स्थापित करने में सहायक होता है, वहाँ इतिहासकारों के [illegible] दार्शनिक तथा नैतिक विचारकों के [illegible], [illegible] कलाकारों तथा कवियों की [illegible] उसकी आध्यात्मिक [illegible] की समृद्धि [illegible] है। [illegible] ऐतिहासिक प्राणी [illegible], हमारा अभिप्राय यह है कि, [illegible] किसी भी युग में, उसकी सांस्कृतिक [illegible] की समृद्धि तथा जटिलता [illegible] उसके [illegible]-

कालीन बौद्धिक तथा आर्थिक परिवेश का परिणाम नही होती, अपितु वह उसके समस्त आध्यात्मिक अतीत का कार्य या परिणाम होती हैं। इससे यह अनुगत होता है कि उन दो व्यक्तियो में जो एक ही बौद्धिक-सामाजिक परिवेश में रह रहे है, जो न्यूनाधिक एक ही सी प्रथाओ तथा रूढ़ियो का अनुगमन करते है, वह ज्यादा सस्कृत व्यक्ति होगा जो जीवन के अन्य कार्यो को करते हुए, अतीत के बुद्ध जैसे विचारको द्वारा उठाये प्रश्नो पर मनन करता तथा कालिदास जैसे कवियो की रचनाओं में आनन्द लेता है। हमें यह स्थापना स्वयसिद्ध जैसी जान पडती है। हमारी समझ में नही आता कि किस प्रकार मार्क्सवाद के सिद्धान्त को मानते हुए हम इस सम्भावना को स्वीकार कर सकते है कि एक सामन्ती युग का कवि या दार्शनिक आज के मनुष्य की आध्यात्मिक सस्कृति को प्रभावित एव परिवर्तित कर सकता है।

सस्कृति के मार्क्सवादी विवरण में एक दूसरी कमी यह है कि उसमें विभिन्न सास्कृतिक रूपो की प्रामाणिकता अथवा सत्यता का विचार नही होता। ऐसा जान पडता है कि मार्क्स को इस बात की कोई चिन्ता नही है कि विभिन्न विचार तथा आदर्श, राजनैतिक, नैतिक तथा कानूनी मान्यताएँ, सही है या नही। वह मुख्यत यही देखता है कि विभिन्न विचारो तथा विचार-पद्धतियो का विरोधी वर्गो के स्वार्थो पर क्या प्रभाव पडता है। हाल में काडवेल जैसे मार्क्सवादी लेखको ने तथा-कथित बूर्जुआ सस्कृति के विभिन्न रूपो की अधाधुन्ध आलोचना कर डाली है, इसलिये नही कि वे वस्तु-रूप अथवा यथार्थ को ठीक अभिव्यक्ति नही देते, बल्कि इसलिये कि उनका सम्बन्ध तथाकथित बूर्जुआ वर्ग से है। अपनी पुस्तक "स्टडीज इन ए डाईइग कल्चर" मे कही पर भी काडवेल यह नही देख पाता कि पश्चिमी योरप अथवा पूंजीवादी देशो के कला, दर्शन, नैतिक मान्यताओ, कानून, आदि मे कोई भी ऐसी चीज है जिसे किसी प्रकार का महत्व दिया जा सके। उसकी दृष्टि में समसामयिक बूर्जुआ वर्ग के देशो की समस्त सास्कृतिक प्रगति सर्वथा अर्थहीन है।

## संस्कृति और सभ्यता का मूल्यात्मक विवेचन

जब हम सस्कृति को एक मूल्य मानकर चलें तो हमें नर-विज्ञान तथा वर्ग सस्कृतिवाद दोनो की अतिवादी स्थितियो को बचाकर चलना पडेगा। यदि सस्कृति एक मूल्यवान वस्तु है, तो उसे किसी एक अथवा दूसरे समाज के समस्त व्यवहारो से समीकृत नही किया जा सकता। साथ ही हम सस्कृति को किसी एक वर्ग के व्यवहार से

भी स्वीकृत नहीं कर सकते। किसी भी समाज अथवा वर्ग का सम्पूर्ण व्यवहार संस्कृति का मानदण्ड नहीं माना जा सकता। वस्तुतः संस्कृति का मूल्यात्मक विवेचन करने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले संस्कृति के स्वरूप या पैमानों की ठीक जानकारी प्राप्त कर लें, जिससे संस्कृति के विभिन्न स्तरों को अलग किया जा सके। ये पैमाने, ऐसे होने चाहिएँ कि वे हमें विभिन्न समाजों, वर्गों तथा व्यक्तियों की सांस्कृतिक उपलब्धियों के आंकने में सहायक हो सकें। इतिहास द्वारा हम अनेक समाजों, अनेक अभिजात वर्गों, तथा बहुत-से प्रतिभाशाली व्यक्तियों का परिचय पाते हैं। ऐसी दशा में यह सम्भव नहीं है कि हम किन्हीं विशिष्ट समाजों, अभिजात वर्गों तथा व्यक्तियों को सांस्कृतिक श्रेष्ठता के मानदण्ड के रूप में स्वीकार कर लें। इस प्रकार का मानदण्ड या पैमाना उन सामान्य तत्त्वों के अन्वेषण से ही प्राप्त हो सकता है जो अपने को विभिन्न विशेषों में अभिव्यक्त करते हैं।

मैकाइवर ने एक स्थान में कहा है कि मनुष्य जो कुछ करता है उसे मुख्यतः दो व्यवस्थाओं या रूपों में निक्षिप्त किया जा सकता है। एक वर्ग की क्रियाओं को वह सभ्यता कहता है और दूसरे वर्ग की क्रियाओं को संस्कृति।[१] इस सम्बन्ध में हमें कहना है कि जहाँ मनुष्य मुख्यतः मूल्यों के उत्पादन के लिए व्यापृत होता है वहाँ वह कभी-कभी ऐसे काम भी कर डालता है जो मूल्यों के उत्पादक न होकर उनके विघातक होते हैं। मनुष्य ऐसी क्रियाएँ भी करता है जो निषेधात्मक मूल्यों को उत्पन्न करती हैं। उदाहरण के लिये अनेक आक्रामक विजेताओं ने शिवालों के मंदिर आदि कला-कृतियों का ध्वंस किया है, और लुटेरे चोर-डाकू अनेक महत्त्वपूर्ण वस्तुओं तथा व्यक्तियों को नष्ट कर डालते हैं। इन स्पष्ट तथ्यों को स्वीकार किये बिना हम सभ्यता तथा संस्कृति की मूल्यात्मक व्याख्या नहीं कर सकते।

मूल्य किसे कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस दूसरे प्रश्न के उत्तर में सन्निहित है कि मनुष्य किन चीजों को मूल्यवान समझता है। [illegible] मनुष्य कामना करता है। [illegible] जिनकी कामना की जाती है। [illegible] कहा जा सकता है कि वाञ्छनीय वस्तुएँ, उन्हीं वस्तुओं के वर्ग में पाई जाती हैं जिनकी मनुष्य इच्छा करता है। [illegible] वस्तुएँ जिनकी हम कामना करते हैं वे सब मूल्यवान न हों, किन्तु वाञ्छनीय या मूल्यवान वस्तुएँ प्रायः उन्हीं चीजों में मिलेंगी जिनकी विभिन्न मनुष्य इच्छा या अभिलाषा करते

हैं। सभ्यता तथा संस्कृति वे मूल्यवान अथवा वांछनीय वस्तुएँ हैं जिन्हें मनुष्य स्वयं उनके लिये कामना का विषय बनाता है।

सभ्यता को यदि हम चरम मूल्य न मानें तो भी कोई हर्ज नहीं है। चरम मूल्य से हमारा तात्पर्य उस मूल्य से है जिसकी कामना स्वयं उसी मूल्य के लिये की जाती है, किसी दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नहीं। मनुष्य सज्ञान प्राणी होने के नाते मुख्यतः यह कामना करता है कि उसकी जरूरतें निर्विघ्न पूरी होती रहें। मनुष्य की कुछ ऐसी मौलिक क्षुधाएँ तथा जरूरतें हैं जिनके पूरा न होने से उसे अमिश्रित कष्ट होता है। दूसरे प्रकार की आकांक्षाएँ, जो मूल क्षुधाओं से सम्बन्धित नहीं है, उतनी कष्टकर नहीं होतीं। वैसी आकांक्षाएँ तथा इच्छाएँ अनिवार्य भी नहीं होतीं। उदाहरण के लिये यश की इच्छा एक अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत भोजन आदि की इच्छा एक अनिवार्य भूख या आवश्यकता के रूप में महसूस होती है और उसकी पूर्ति न होने से व्यक्ति को एकान्त कष्ट होता है वह स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने में असमर्थ हो जाता है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य की सबसे पहली जरूरत यह है कि वह अपने को मौलिक क्षुधाओं तथा अपनी जैवी प्रकृति की आवश्यकताओं से मुक्त करे। सभ्यता वह उपकरण है जिसके द्वारा मनुष्य उन जीवन-स्थितियों की सृष्टि करता है जिनमें वह अपनी मूल जरूरतों को स्वतंत्रतापूर्वक पूरा कर सके। इस दृष्टि से मनुष्य और पशु में कुछ भेद होता है। पशु प्रायः भविष्य की चिन्ता नहीं करता, वह वर्तमान में जीवित रहता है, और वर्तमान की जरूरतों को पूरा करके सन्तुष्ट हो जाता है। इसके विपरीत मनुष्य भविष्य की भी चिन्ता करता है। दूसरे, मनुष्य की कुछ जरूरतें ऐसी हैं जो पशुओं में नहीं पाई जातीं, जैसे कि उसकी वस्त्रों तथा घर की आवश्यकता। **वे सब कला-कौशल के तंत्र और तरीके जिनके द्वारा मनुष्य अपनी मूल क्षुधाओं तथा जरूरतों को सरलता पूर्वक पूरा करता है,** सभ्यता कहलाती है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि सभ्यता द्वारा मनुष्य अपने परिवेश को इस प्रकार नियंत्रित तथा परिवर्तित करता है कि वह अधिकाधिक नर-नारियों के लिए स्वतंत्रता-पूर्वक रहने की स्थितियाँ प्रस्तुत कर सके।

जिसे हम कलाकौशल की प्रगति कहते हैं, उसके द्वारा मनुष्य एक प्रकार की स्वतंत्रता को प्राप्त करता है, अर्थात् मूल जरूरतों के दबाव से स्वतंत्रता। किन्तु कालान्तर में उसे दूसरी कोटि की स्वतंत्रता की कमी भी खलने लगती है। विभिन्न मनुष्यों की निसर्ग-सिद्ध योग्यताओं तथा शक्तियों में भिन्नता होती है। इसका फल यह होता

बँट जाता है। अधिकाश कानूनी तथा दूसरी सस्थाओ का उद्देश्य यह होता है कि वे विभिन्न वर्गो के अधिकारो और कर्तव्यो को निर्दिष्ट कर दे, जिससे उनके बीच अनावश्यक सघर्प न हो। फलत सभ्य समाजो में पायी जानेवाली कानून आदि सस्थाएँ दो काम करती है एक, वे पद, श्रेणी आदि के भेदो को कानूनी रूप दे देती है, और दूसरे, वे विभिन्न कामो मे लगे हुए मनुष्यो को सुरक्षा की भावना मे अनुप्राणित करती हैं।

एक दूसरे प्रकार की स्वतत्रता भी है जो कि सभ्य व्यवहार में प्रतिफलित होती है, अर्थात् प्रवृत्ति की दासता से मुक्ति या स्वतत्रता। सभ्य व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियो पर नियत्रण रखता है। वे नियत्रण उसके तथा समाज के दोनो के लिये हितकर होते हैं। कुछ सीमा तक इस प्रकार का नियत्रण स्वय समाज द्वारा आवश्यक बना दिया जाता है। किन्तु एक व्यक्ति अपनी स्वतत्र इच्छा से भी इस प्रकार के नियत्रण का अभ्यास कर सकता है, ताकि वह अपने व्यक्तित्व को उच्चतर बना सके और ज्यादा ऊँची प्रगति कर सके।

प्रथम दो अर्थो मे स्वतत्रता एक ऐसी सामग्री है जो दूसरो को दी जा सकती है, और दूसरो द्वारा छीनी जा सकती है। वे भौतिक वस्तुएँ जिनके द्वारा हमारी जरूरतें पूरी होती हैं, एक व्यक्ति के अधिकार मे दूसरे व्यक्ति के अधिकार में जा सकती है, यही नही, उन्हे अपनी इच्छा से भी एक व्यक्ति दूसरो को दे सकता है, वे दूसरो से खरीदी भी जा सकती है। जिसे हम सभ्य व्यवहार कहते हैं उसमें उक्त चीजो का लेन-देन बराबर चलता रहता है।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य भौतिक सामग्री तथा शक्ति एव पद की आकाक्षा करते है। लक्षित करने की बात यह है कि मनुष्यो मे जो अपने को स्वतत्र रखने की अभिलाषा होती है वह कभी-कभी दूसरो के बन्धन का कारण बन जाती है। मनुष्य परिश्रम से बचना चाहता है, इसलिये कुछ मनुष्य दूसरो से परिश्रम कराके अपने अस्तित्व की समस्या को हल कर लेना चाहते हैं। दूसरे, यह स्थिति कि कुछ लोग हमारे अधीन होकर काम कर रहे है, समाज मे हमारे आदर बढने का कारण बन जाती है। इस प्रकार दासता तथा स्वामित्व एव सेवक तथा सेव्य के सम्बन्धो का उद्‌गम होता है। अतीत युगो मे मालिक लोग न केवल सेवको के परिश्रम का उपभोग करते रहे है, उनकी उन सेवको की पत्नियो के शरीरो तक भी पहुँच रही है। जब

आदिम मनुष्य अपने साथियो में उन गुणो की प्रशसा करते है जो स्वय उनकी स्वतन्त्रता-प्राप्ति मे मदद करते है, अर्थात् उन गुणो की जो उनकी जरूरतो को पूरा करते हैं और उनकी रक्षा का कारण होते है। सभ्यता की प्रगति के साथ उक्त गुणो की अभिव्यक्ति मे अन्तर पड जाता है, किन्तु वे गुण सदैव ही आदर और प्रशसा पाते रहते है।

जहाँ कबीले के बाहर की दासता का आरम्भ सम्भवत एक कबीले की दूसरे कबीले द्वारा पराजय में हुआ, वहाँ कबीले में आन्तरिक दासता का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ। कुछ लोगो ने स्वेच्छा से अपनी स्वतत्रता दूसरो के हाथ बेच दी और उसके बदले मे आवश्यक सामग्री को ले लिया। कभी-कभी मनुष्य अपना ऋण न चुका सकने के कारण अथवा अपराध के कारण भी उन्हें दास बना लिया गया। कुछ लोग अपने को तथा पत्नियो तथा बच्चो को ऋणदाता के पास एक खास कालावधि के लिये गिरवी रख देते थे और इस प्रकार अपने को उसका दास बना देते थे।[11] इन उदाहरणो से यह सिद्ध होता कि मनुष्य की स्वतत्रता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सक्रान्त हो जाने वाली चीज है।

अपनी प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण का अभाव भी स्वतत्रता खोने का कारण होता है। यह युधिष्ठिर के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। धर्मराज युधिष्ठर ने अपने भाइयो और पत्नी की स्वतत्रता को जुये मे हार कर गवा दिया। लैन्टमैन ने लिखा है कि कुछ लोगो मे जुये की प्रवृत्ति इतनी तीव्र होती है, विशेषत अफीका के कुछ प्रदेशो मे, कि लोग अपनी चल सम्पत्ति को हारने के बाद अपनी पत्नियो तथा बच्चो को भी दाँव पर रख देते है और इस प्रकार उन्हें अनेक वर्षो के लिये दास बना देते है।

हमारा निष्कर्ष इस प्रकार है। सभ्यता मानव-व्यापारो से उत्पन्न होने वाली उन चीजो का नाम है जो मनुष्य की सुरक्षा और स्वतत्रता का कारण होती है। इस स्वतत्रता का सम्बन्ध भौतिक तथा सामाजिक दोनो परिवेशो से हो सकता है। सभ्यता का निर्माण करके मनुष्य ने जीवित रहने की कठिन क्रिया को रोचक तथा रसपूर्ण बना लिया है, और उन जरूरतो को, जो उसके कष्ट का कारण थी, आनन्द तथा रस का स्रोत बना डाला है।

सभ्यता मे भिन्न सभ्य व्यवहार उसे कहना चाहिए जो सभ्य जीवन की जरूरतो के अनुरूप है। सभ्य व्यवहार का मुख्य तत्व है, दूसरो की स्वतत्रता तथा सुरक्षा का ख्याल।

यह मानना युक्ति-सगत जान पडता है कि सस्कृति का जन्म तब हुआ जब मनुष्य ने अपनी मौलिक जरूरतो से मुक्ति पाई, अर्थात् जब मनुष्य ने प्रकृति पर इतना नियत्रण कर लिया कि वह उसकी आवश्यक जरूरतो को पूरा कर सके, और जब उसने भद्र समाज की स्थापना कर ली। इसका मतलब, जैसा कि हुमायूं कबीर ने कहा है, यह होता है कि कुछ हद तक सभ्यता का निर्माण करके ही मनुष्य सास्कृतिक विकास के पथ पर अग्रसर होता है। इससे यह भी अनुगत होता है कि स्वतत्रता तथा सुरक्षा साधन हैं, और सास्कृतिक जीवन साध्य। किन्तु वास्तविकता यह है कि सभ्यता के निर्माण तथा सास्कृतिक जीवन के उदय को इस प्रकार एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य प्राय उपयोगी तथा निरुपयोगी क्रियाओ को साथ-साथ करता चलता है, उसकी उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाली तथा निरुपयोगी रुचियाँ एक-दूसरे से मिली रहती हैं। वह जिस समय खेतो में काम करता है, उसी समय गीत भी गाने लगता है, उपयोगी वस्तुओ को बनाते हुए वह यह कोशिश करता है कि वे वस्तुयें सुन्दर भी हो। आदिम मनुष्य ने जो अस्त्र तथा उपकरण बनाये हैं उन्हें देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके निर्माताओ में सौन्दर्य की भावना भी काम कर रही थी। आज भी जब मनुष्य भवनो का निर्माण करता है, तो जहाँ वह उपयोगिता का ध्यान रखता है, वहाँ वह अपनी सौन्दर्य-वृत्ति की माँगो को एकदम भूल ही नही जाता। इमारतो को उपयोगी बनाते हुए हम उन्हें सुन्दर बनाने का प्रयत्न भी करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य की उपयोगी क्रियाओ पर उसकी नैतिक तथा दार्शनिक आस्थाओ का प्रभाव पडता है। निष्कर्ष यह कि वास्तविक जीवन में मनुष्य की उपयोगी तथा सास्कृतिक क्रियाएँ एक-दूसरे में मिश्रित हो जाती हैं। अवश्य ही विचार करने की सुविधा के लिये उन्हे विविक्त या भिन्न करना पडता है, और करना चाहिए।

सस्कृति की परिभाषा करते समय हम उपरोक्त तथ्यो को ध्यान में रक्खेंगे। हमारी सस्कृति की परिभाषा इस प्रकार है **सस्कृति उन समस्त क्रियाओं को कहते हैं कि जिनके द्वारा मनुष्य अपने को विश्व की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती छवियों से, फिर वे छवियाँ चाहें प्रत्यक्ष हों अथवा कल्पित, सम्बन्धित करता है।** प्रश्न है कि वह कौन-सी क्रिया है जो मनुष्य को इस प्रकार की छवियो से सम्बन्धित करती है? उत्तर है, वह क्रिया मुख्यत जानने, चेतना अथवा बोध की क्रिया है। जानने की क्रिया सही भी हो सकती है और गलत भी, वह प्रामाणिक भी होती है और अप्रामाणिक

भी। बोध या ज्ञान की सामाजिक क्रिया वह है जिसे सारे मनुष्य ग्रहण तथा स्वीकार कर सकें। किसी वस्तु की उपयोगिता एक व्यक्तिगत चीज़ होती है। एक रोगी के लिये एक औषधि उपयोगी होती है, और दूसरे रोगी के लिये दूसरी। किन्तु जो वस्तु निरुपयोगी होते हुए अर्थवती या महत्वपूर्ण है वह सब के लिये वैसी होती है। अतएव, हम संस्कृति की परिभाषा एक दूसरे ढंग से भी दे सकते हैं: **संस्कृति उस बोध या चेतना को कहते हैं जिसका सार्वभौम उपभोग या स्वीकार हो सकता है, और जिसका विषय वस्तुसत्ता के वे पहलू हैं जो निर्वैयक्तिक रूप में अर्थवान हैं।** यहां एक दूसरी चीज़ पर भी ध्यान देना चाहिए। मनुष्य में जो चेतना उत्पन्न होती है उसकी दो विशेषताएँ हैं। प्रथमतः मनुष्य की चेतना या बोध चयनात्मक होता है। मनुष्य देखने तथा जानने योग्य वस्तु-रूप में से, अपनी रुचियों के अनुसार, चयन करता चलता है। दूसरे, मानवीय बोध या चेतना के तत्व सम्बद्ध रूप धारण करने की ओर अग्रसर रहते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि मानवीय चेतना वस्तुसत्ता को ज्यों-का-त्यों प्रतिफलित नहीं करती। सम्बद्ध रूप धारण करते हुए मानवीय चेतना सृजनशील बन जाती है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य की चेतना अथवा बोध-क्रिया आवश्यक रूप में सृजनात्मक होती है।

## संस्कृति एक साध्यात्मक अथवा चरम मूल्य के रूप में

प्रश्न है संस्कृति की धारणा का मूल्य-तत्व (Value) की सामान्य धारणा से क्या सम्बन्ध है? हमारा उत्तर इस प्रकार है। मूल्य दो प्रकार के होते हैं एक चरम तथा दूसरे साधनात्मक। साधनात्मक मूल्यों की परिभाषा चरम मूल्यों की अपेक्षा में ही दी जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि मूल्य-विज्ञान का मूल प्रश्न यही है कि हम चरम मूल्य किसे कहेंगे।

चरम मूल्य या लक्ष्य वह है जो स्वयं अपने लिये कामना का विषय होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि दुनिया की सारी वस्तुएँ आत्मा के लिये प्रिय होती हैं। अभिप्राय यह है कि जीवन का चरम मूल्य या साध्य स्वयं जीवन होता है। दुनिया की अनेक वस्तुएँ जीने या जीवन का उपभोग करने के लिये हैं, किन्तु स्वयं जीवन अथवा जीवनोपभोग अपने ही लिये हैं। फलतः जीवन का उपभोग तथा जीने की क्रिया स्वतः अपने में साध्य है। ऐसी ही कुछ बात ह्वाइटहेड ने भी कही थी; किन्तु ह्वाइटहेड तथा हमारे मत में थोड़ा-सा अन्तर है। ह्वाइटहेड कहता है कि [illegible]

क्रियाओ का चरम लक्ष्य जीवन-व्यापार को अग्रसर करना है। किन्तु हमारा मत है कि सब प्रकार का जीवन अथवा जीवन-व्यापार हमारा लक्ष्य नही होता, हमारा लक्ष्य वह जीवन होता है जो सन्तोपजनक अथवा सुखमय है। फलत हम सन्तुष्ट एव सुखी जीवन को ही अपने प्रयत्नो का लक्ष्य मान सकते है और उसी को जीवन का साध्य कह सकते हैं। इस विचारणा से यह निष्कर्प निकलता है कि चरम मूल्य जीवन-व्यापारो के वे रूप है जो अपने में कामना करने योग्य दिखाई देते है। उन जीवन-रूपो के बारे मे एक दूसरी बात भी कही जा सकती है। ये रूप आवश्यक रूप में सचेत होने चाहिएँ, क्योंकि अचेत जीवनावस्था का न तो हम अनुभव ही कर सकते है, और न उसकी कामना ही कर सकते है।

गौण रूप मे वे वस्तुएँ तथा प्रतीतियाँ जो हमारे भीतर मूल्यवती सचेत दशाओ को उत्पन्न करती हैं, स्वय मूल्यवान मानी जा सकती हैं। चरम अर्थ मे हमारी सचेत जीवन-दशाएँ ही साध्य होती है, लेकिन गौण अर्थ मे वे स्थितियाँ जो उन जीवन-दशाओ को उत्पन्न करती है, मूल्यवान कही जा सकती है। इस अर्थ में हम सूर्यास्त के दृश्य अथवा सुन्दर चेहरे को मूल्यो का वाहक कह सकते है। इस दृष्टि से देखने पर हम चरम मूल्यो की एक दूसरी परिभापा देगे। **चरम मूल्य उन वस्तुओ, स्थितियो तथा व्यापारो अथवा उनके उन विशिष्ट पहलुओं को कहते है, जो मनुष्य की सार्वभौम सवेदना को आवेगात्मक अर्थवत्ता लिये हुए दिखाई देते है।** जैसा कि हमने दूसरे अध्याय मे कहा था, प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण सापेक्ष होता है। इसलिए यह कहने से कि वस्तुओ के सौन्दर्य आदि गुण मानव-सवेदना के सापेक्ष होते है, उन गुणो की यथार्थता पर कोई असर नही पडता। जिस प्रकार कि आक्सीजन गैस हाइड्रोजन के साथ ही जल को उत्पन्न कर सकती है, और जलने योग्य पदार्थ के साथ ही अपनी जलाने की विशेपता को अभिव्यक्ति दे सकती है, उसी प्रकार वे पदार्थ जिन में सौन्दर्य आदि मूल्य अनुस्यूत है, मानव-सवेदना के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए ही उन मूल्यो को प्रकट कर सकते है। दूसरी वात जो हमने कही वह यह है कि चरम मूल्य निरुपयोगी होते है। आक्सीजन गैस मनुप्य के लिए वडी आवश्यक है, किन्तु वह एक उपयोगी वस्तु है, और इसलिये चरम मूल्यो की कोटि में नही आती। उपयोगी पदार्थ के प्रति जो प्रतिक्रिया होती है वह सार्वभौम नही, व्यक्तिगत होती है। इसके विपरीत चरम मूल्यो के प्रति समस्त मानवो की सवेदना समान रूप में प्रतिक्रिया करती है।

जिसे हम सास्कृतिक चेतना कहते हैं वह उपरोक्त दोनो अर्थो मे एक चरम मूल्य है। वह जिसकी चेतना होती है वह स्वय अपने में मूल्यवान होता है और वह चेतना अपने आप में भी चरम मूल्य की वाहक होती है। जिस यथार्थ की चेतना मनुष्य प्राप्त करना चाहता है वह दो प्रकार का है वाह्य यथार्थ जिसमें शुद्ध तथ्य तथा मूल्यो के वाहक तथ्य दोनो सम्मिलित है, और आन्तरिक यथार्थ, जिससे मतलव है हमारी आध्यात्मिक जीवन-सम्भावनाएँ। हमारा चैतन्य-सत्व असख्य रूपो मे गठित होता रहता है, उन रूपो की अवगति सास्कृतिक चेतना का महत्वपूर्ण अग है। सच यह है कि हमारे आत्मसत्व के ये रूप ही सस्कृति है, और उन रूपो के वारे मे चर्चा भी सस्कृति का अग है।

तो, सस्कृति उन क्रियाओ को कहते है जो हमे स्वय अपने मे मूल्यवान अथवा महत्वपूर्ण जान पडती है। एक क्रिया ऐसी हो सकती है जो विशुद्ध रूप मे सास्कृतिक क्रिया है, अर्थात् जिसमें उपयोगिता का पक्ष विल्कुल नही है, जो न तो उपयोगिता के लिये अनुष्ठित ही की जाती है और न जिसका परिणाम ही उपयोगी होता है। दार्शनिक चिन्तन और कविता लिखने की क्रियाएँ इस अर्थ मे सास्कृतिक है। दूसरी क्रियाए ऐसी ही हो सकती है जो उपयोगी है, और साथ ही विशुद्ध सार्थकता की वाहक भी दिखाई पडती है। उदाहरण के लिये यदि कोई नेता चुनाव के अवसर पर वढिया व्याख्यान देता है तो वह व्याख्यान, एक दृष्टि मे उपयोगी होते हुए भी, दूसरी दृष्टि से सास्कृतिक क्रिया वन जाता है, क्योकि वह लोगो को व्याख्यान-कला के कारण भी महत्वपूर्ण जान पड़ता है। सस्कृति का निर्माण करने वाली चेतना दो चीज़ो मे निर्धारित होती है। एक ओर वह यथार्थ द्वारा निर्मित या निर्धारित होती है, और दूसरी ओर मानवीय रुचियो द्वारा। सास्कृतिक चेतना की परिधि या प्रगति उस यथार्थ के अनुसन्धान द्वारा घटित होती है जिसमें मानव जाति की अभिरुचि है। मानवीय रुचियाँ, कहना चाहिए, वह आकार या ढाँचा प्रदान करती है जिसके भीतर यथार्थ को ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार सास्कृतिक चेतना व्यक्ति और ब्रह्माण्ड के वीच पुल का काम करती है, उस चेतना मे व्यक्ति की आतरिकता तथा यथार्थ की वस्तु-निष्ठता का सगम होता है। चूँकि चेतना मूलत वस्तु-चेतना होती है, इसलिये कहना चाहिए कि चेतना-सम्पन्न जीवन वह जीवन है जिसमें व्यक्ति यथार्थ से सचेत सम्वन्ध स्थापित करता है। व्यक्ति के सचेत जीवन की समृद्धि, इसीलिये, उस यथार्थ के विस्तार से घटित होती है जिससे उसने सचेत सम्वन्ध स्थापित कर लिया है, और

सचेत जीवन की प्रभविष्णुता का माप वह सगठन तथा एकता होती है जो कि व्यक्ति अपने अनुभवो के बीच स्थापित कर पाता है। सास्कृतिक चेतना की प्रामाणिकता की पहचान यह है कि उसे दूसरे मनुष्य ग्रहण या स्वीकार कर सकें।

मनुष्य की सास्कृतिक क्रिया यथार्थ तथा मानव-अभिरुचि नाम के दो ध्रुवो के बीच सचरित होती रहती है। मनुष्य का अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ ज्ञान उसकी रुचियो तथा पक्षपातो से निर्धारित होता है, उसकी व्यक्तिगत रुचियो से नही, अपितु मानवजाति की आन्तरिक रुचियो तथा आवश्यकताओ से। इस प्रकार मानवीय बोध की सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता और उस बोध की एकान्त आत्मनिष्ठता मे कोई विरोध नही है। न यही सम्भव है कि सास्कृतिक चेतना दोनो में से एक ही ध्रुव पर टिकी रहे। मनुष्य के लिये यह सम्भव नही कि वह वस्तुगत परिवेश से, जो भौतिक और सामाजिक दोनो हो सकता है, विच्छिन्न होकर रहे, और न यही सभव है कि वस्तु-चेतना उस अर्थवत्ता से रहित हो जो कि उसे जीवन के लिये महत्वपूर्ण बनाती है। कोई चर्चा कितनी भी वैज्ञानिक तथा वस्तुनिष्ठ क्यो न हो, वह आत्मगत रुचियो द्वारा निर्धारित रहती है। भेद यही है कि प्रामाणिक बोध जिन रुचियो द्वारा निर्धारित होता है वे वैयक्तिक न होकर जातिगत अर्थात् मानवीय आन्तरिक रुचियो द्वारा निरूपित होती हैं।

यहाँ हम पाठको का ध्यान एक जटिलता की ओर आकृष्ट करेंगे। मानवीय चेतना का विषय सदैव विद्यमान यथार्थ ही नही होता, वह सभावनाओ में उतनी ही रमती है जितनी कि विद्यमान वस्तुओ में। मनुष्य मूलत एक योजनाएँ बनानेवाला प्राणी है। वह लगातार सामाजिक तथा भौतिक परिवेश को अपने प्रयोजनो तथा योजनाओ के अनुकूल बनाने की चेष्टा करता रहता है। अपने परिवेश को इस प्रकार बदलने की यह क्षमता मनुष्य की उस शक्ति से सहचरित होती है जिसे प्रत्याहरण (Abstraction) कहते हैं। यह प्रत्याहरण की क्रिया प्रतीको के प्रयोग द्वारा सम्पन्न होती है। वस्तु की समग्रता मनुष्य के लिये महत्वपूर्ण नही होती, मनुष्य वरन वस्तुओ के विभिन्न पहलुओ में अभिरुचि लेता है। एक समय मे अथवा विशिष्ट अवसर पर मनुष्य किसी वस्तु के एक पहलू में रुचि रखता है, तो दूसरे अवसर पर उसी के दूसरे पहलू में। मनुष्य शब्द आदि प्रतीको का प्रयोग वस्तुओ के विभिन्न पहलुओ को संकेतित करने के लिये करता है। इसके उपरान्त वह उन प्रतीको को एक-दूसरे से सम्बन्धित करके समष्टि के रूप मे ढालने लगता है और फिर इस समष्टि से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार, अपनी सृजनात्मक बोध-क्रिया द्वारा, मनुष्य

यथार्थ के विविध प्रतीक-मूलक सस्थान (Symbolic Patterns) उत्पन्न करता रहता है। ये सस्थान मुख्यत उसकी कल्पना मे प्रकट होते हैं, और उनमे मनुष्य का सम्बन्ध भी कल्पना के धरातल पर घटित होता है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि यथार्थ का अर्थ केवल भौतिक वस्तुएँ ही नही हैं। यथार्थ के भीतर नर-नारियो, यहाँ तक कि उन देवताओ तथा दैत्यो आदि का भी जिनके जीवन मे हम अभिरुचि लेते हैं, समावेश है, और उन विभिन्न मनोभावो, आवेगों आदि का भी, जो हमारे ऊपर प्रभाव डालते हैं। कल्पना द्वारा गढे हुए कतिपय सस्थानो मे से कुछ को मनुष्य यथार्थ भी बना लेता है। किन्तु यथार्थ रूप में उतारने से पहले ही मनुष्य अपनी कल्पना-सृष्टि के विविध रूपो के अपेक्षित मूल्यो का विवेचन कर लेता है, और यह भी निर्णय कर लेता है कि वे कहाँ तक यथार्थ रूप में उतारे जा सकते हैं। इन काल्पनिक सस्थानो की सृष्टि विभिन्न क्षेत्रो में विभिन्न नियमो के अनुसार घटित होती है। कला के क्षेत्र मे वे नियम एक प्रकार के हैं, तो राजनैतिक व्यापारो तथा आर्थिक योजनाओ में अथवा भौतिक-विज्ञान के सैद्धान्तिक चिन्तन में, दूसरे प्रकार के। उन नियमो की न्यूनाधिक चेतना, कम या ज्यादा स्पष्ट रूप में, सारी मानव जाति में पाई जाती है। अपने को सम्भावनाओ की दुनियाँ मे प्रतिष्ठित करती हुई मानव-चेतना, वाह्य तथा आन्तरिक जगत दोनो में, अपने अस्तित्व को प्रसरित करती है। कल्पना-मूलक क्रिया में चेतना वाह्य जगत् का अनुशीलन तो करती ही है, वह कुछ हद तक उसकी प्रतीकात्मक सृष्टि भी करती है। भौतिक शास्त्र वाह्य जगत् का प्रतिफलन ही नही करता वह वस्तुत, अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा, उस जगत् का पुनर्निर्माण करता है। इस प्रकार मनुष्य के कल्पना-मूलक तथा प्रतीक-आधारित जीवन में बोध-क्रिया वस्तुत. सृजन-क्रिया बन जाती है।

मनुष्य की यह सृजन-क्रिया उसकी बुद्धि, उसकी यथार्थ की पकड, और उसकी सस्कृति इन सब की मापक होती है। जिसे हम बुद्धि कहते हैं, वह वह शक्ति है जिसके द्वारा हम इन्द्रियग्राह्य अथवा प्रतीक-बद्ध यथार्थ को पकडते या नियंत्रित करते हैं। किन्तु कोई कलाकार या विचारक कला अथवा ज्ञान के क्षेत्र में तब तक बडी सृष्टियाँ नही कर सकता जब तक उसका यथार्थ सामग्री पर विस्तृत अधिकार न हो। महती बौद्धिक सृष्टि के लिये दो चीजे जरूरी हैं; एक यह कि परीक्षक का यथार्थ के विविध रूपो से विस्तृत परिचय हो, और दूसरे यह कि उसका मस्तिष्क यथार्थ से आकलित किये हुए तत्वो को एकता अथवा समष्टि मे ढालने की विकसित क्षमता रखता हो।

# सस्कृति की सार्थकता

यह कहने का क्या मतलब है कि सास्कृतिक क्रियाएँ निरुपयोगी होती हैं? क्या यह कथन, शिष्ट ढग से, यही सकेतित नही करता कि सस्कृति एक व्यर्थ वस्तु है, शायद व्यक्ति तथा उसकी जीव-योनि की सुरक्षा की दृष्टि से? सचमुच ही यह सिद्ध नही किया जा सकता कि सस्कृति का मानव-जाति के प्राण-धारण अथवा जीवन के लिये कोई महत्व होता है। किन्तु कला, दर्शन आदि क्रियाओ को निरुपयोगी कहने का अर्थ यह नही है कि उनका कोई महत्व नही है। वस्तुत सस्कृति का अस्तित्व इस बात को सिद्ध करता है कि मनुष्य केवल एक जीवन-सम्पन्न प्राणी ही नही है, मनुष्य उपयोगिता के वृत्त के बाहर जाना चाहता है, और जा भी पाता है। मनुष्य अपने को ऐसे यथार्थो से सम्बन्वित करना चाहता है जिनका उसके जीवन की जरूरतो से कोई सीधा सम्बन्ध नही है। वह केवल उसी परिवेश को नही समझना चाहता जो उसे चारो ओर घेरे हुए है, उसकी जिज्ञासा समस्त ब्रह्माण्ड को आच्छादित कर लेती है। वस्तुत मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अपने को, सचेत रूप में, विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करके जीवित रहना चाहता है। एक ऐसे प्राणी के रूप में, जिसकी कुछ निश्चित जरूरतें है, मनुष्य सन्तुष्ट नही रह पाता, वह यह महसूस करना चाहता है कि वह समस्त ब्रह्माण्ड का नागरिक है। यह लक्ष्य करने की बात है कि दुनिया का कोई बडा धर्म अथवा दर्शन नही है जिसने मनुष्य की पशु-सुलभ जरूरतो को पूरा करने की अपेक्षा सत्य, सौन्दर्य आदि की खोज को अधिक महत्व नही दिया है। एक दूसरी बात भी लक्षित करने की है। दुनियाँ के अभिजात वर्गो ने हमेशा शारीरिक श्रम को नीची दृष्टि से देखा है। देखा गया है कि आदिम समाजो मे भी हाथ के कामो को नीची दृष्टि से देखा जाता है। लैन्टमैन ने लिखा है 'क्यो जुलाहे का काम खराब समझा जाता है, इसकी कोई व्याख्या समझ मे नही आती, सिवाय इसके कि हाथ मे किया जानेवाला काम विशेष आदर की दृष्टि से नही देखा जाता।' वस्तुत केवल उपयोगिता से सरोकार, केवल उन चीजो की चिन्ता रखना जिन से हमारी जरूरतें पूरी होती है, उच्चतर कोटि के मनुष्यो के लिये उचित नही समझा जाता। उच्चतर कोटि के मनुष्य प्राय सदैव ऐसे कामो मे लगे रहते है जो उपयोगी न होते हुए उनके अस्तित्व को विस्तृत एव समृद्ध बनाने वाले होते है। वे क्रियाएँ जिन्हे हम सस्कृति कहते है इसी कोटि की क्रियाएँ होती है।

सास्कृतिक क्रियाएँ वे है जो हमें ऐसी यथार्थ एव कल्पित वस्तुओं के अनुचिन्तन मे सलग्न करती है जिनका हमारी वैयक्तिक जरूरतो से कोई सम्बन्ध अथवा उनके लिये कोई उपयोग नही है। सास्कृतिक क्रिया हमारी चेतना का विस्तार करती है, इसलिये नही कि वह विस्तार उपयोगी चीज़ है, वल्कि इसलिये कि उससे हमारे अस्तित्व का प्रसार होता है। सस्कृति वस्तुत हमारे अवकाश के क्षणो की सृष्टि है। वह हमारे मन तथा बुद्धि की उस दशा में उत्पन्न होती है जिसमें हम वैयक्तिक स्वार्थो से मुक्त होकर स्वतत्र भाव से मूल्यो के जगत् मे विचरण करते है। सास्कृतिक क्रिया हमे उन वस्तुओ तथा मूल्यो मे अभिरुचि लेने को आमत्रित करती है जिनका जीवित रहने के व्यापार से सीधा सम्बन्ध नही है। मानवीय चेतना, विभिन्न इद्रियो के माध्यम से, असख्य सवेदनो को एकत्रित करती है। मानवीय वुद्धि इस सवेदन-समूह मे, विभिन्न प्रतीतियो की राशि मे, एक क्रम स्थापित करने का प्रयत्न करती है। एक ओर तो मनुष्य यथार्थ को उसकी समग्रता मे जानने को बेचैन रहता है, दूसरी ओर वह उस यथार्थ को अपनी आन्तरिक माँगो के अनुरूप सम्बद्ध तथा सगठित करने को विवश होता है। विज्ञान की सिद्धान्त-सृष्टियाँ जहाँ एक ओर वाह्य यथार्थ को प्रतिफलित करने का दावा करती है, वहाँ दूसरी ओर वे मानवीय वुद्धि की माँगो के अनुकूल भी होती है। यही वात न्यूनाधिक दर्शन के सम्बन्ध मे कही जा सकती है, यद्यपि तर्क-मूलक भाववाद ने हमे दर्शन के प्रति सशक वना दिया है। विज्ञान मे ज्ञान के प्राप्त करने की क्रिया सृजनात्मक भी होती है और वाह्य यथार्थ को प्रतिफलित करनेवाली भी। वैज्ञानिक वोध का सगठन जहाँ सृजन-क्रिया की अपेक्षा रखता है, वहाँ उसका फल या परिणाम वाह्य जगत् का प्रतिफलन होता है। किन्तु कला-साहित्य के क्षेत्र मे स्थिति कुछ भिन्न है। **कला के क्षेत्र में एक नये अनुभवसंस्थान को प्रभावपूर्ण ढंग से कल्पना में प्रत्यक्ष करने का अर्थ वैसे संस्थान को उत्पन्न करके यथार्थ बना देना होता है।** साहित्य में हम कल्पना द्वारा नवीन मनोदशाओ की सृष्टि करते है। यह सृष्टि अपने से वाहर किसी चीज़ को प्रतिफलित नही करती, जैसा कि विचार-सृष्टि करती है। एक तरह से हम कह सकते है कि वैज्ञानिक सृष्टि की भाँति कला-सृष्टि का उद्देश्य भी किसी विषय का वोध प्राप्त करना है। किन्तु कला जिस वस्तु या यथार्थ का वोध खोजती है, वह यथार्थ स्वय हमारा जीवन है, हमारा वैयक्तिक जीवन तथा सामाजिक जीवन। इसीलिए कला-सृष्टि का अपने युग तथा समाज से वना सम्बन्ध होता है। किन्तु कला तथा विज्ञान दोनो मे एक समानता यह है कि दोनो को सामने फैले हुए अनुभव-जगत् मे चयन करना पडता है, और आकलित तत्वो को नये रूपो मे व्यवस्थित

कर देना पडता है। विज्ञान के द्वारा उत्पन्न किये हुए नये सस्थान वही तक प्रामाणिक एव महत्वपूर्ण होते हैं जहाँ तक वे वाह्य जगत् के क्रम या व्यवस्था को प्रतिफलित करते हैं। इस दृष्टि से कला की स्थिति भिन्न है। कला-सृष्टि की सत्यता किसी वाह्य यथार्थ के प्रतिफलित करने में नही, उसकी सत्यता कल्पनामूलक होती है। यदि कोई कलाकृति वस्तुत उपभुक्त आवेगात्मक अनुभूति को प्रकट करती है, तो हम उस अनुभूति को प्रामाणिक तथा यथार्थ कहेंगे। कलात्मक अनुभूति की सत्यता इसमें है कि हम उसे ग्रहण करके अपने चेतना-मूलक जीवन का अग वना सकें। इस दृष्टि से कला सीधे हमारे आवेगात्मक जीवन को समृद्ध करती है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या सस्कृति केवल कल्पना की चीज है? क्या उसका यथार्थ जीवन पर कोई गहरा प्रभाव नही पडता? इस प्रश्न का उत्तर इस पर निर्भर करता है कि हम यथार्थ जीवन से क्या समझते हैं। हमने वार-वार यह वतलाने की कोशिश की है कि मनुष्य केवल उपयोगिता की परिधि में जीवित नही रहता, अपितु प्रयत्न करके अपने को विश्व की समग्रता से सम्वन्वित करना चाहता है। लेकिन एक वात है। मनुष्य ब्रह्माण्ड के वारे में केवल प्रिय आस्थाओ एव विश्वासो को ग्रहण करके नही चलना चाहता। इसके विपरीत वह यथार्थ के अप्रिय-से-अप्रिय रूपो को वस्तुगत रूप मे जान लेना चाहता है। वस्तुत मनुष्य को तव तक चैन नही पडता जव तक वह उन सारे तथ्यो को न जान ले जिनका उसके विश्वासो एव आस्थाओ के लिये कोई अर्थ है। विश्व के यथार्थ के प्रति मनुष्य का मनोभाव वडा गम्भीर एव वस्तुनिष्ठ रहता है। ब्रह्माण्ड के वारे में वह जिन कल्पना-मूलक सिद्धान्तो की रचना करता है उनकी सत्यता के लिये वह उतना ही चिन्तित रहता है जितना कि अपनी वडी-से-वडी व्यावहारिक जरूरतों के लिये। ब्रह्माण्ड का स्वरूप क्या है और उस ब्रह्माण्ड में स्वय उसके जीवन की सम्भावनाएँ क्या हैं, इसके वारे में मनुष्य वडे सतर्क भाव से अन्वेषण करता है। इस सतर्कता का कारण है। मनुष्य ब्रह्माण्ड के वारे मे जो धारणा वनाता है वह उसकी अभिरुचियो का स्वरूप निर्धारित करती है और जीवन के विभिन्न मूल्यो के प्रति उसकी दृष्टि को गठित करती है। सम्पत्ति, शक्ति, सुख, देश-कल्याण, युद्ध, सधि, अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्ध आदि के वारे मे मनुष्य जिस दृष्टिकोण को अपनाता है उसका निर्माण उस जीवन-दर्शन की छाया में होता है जो उसने विश्व की समग्रता पर चिन्तन करते हुए उपलब्ध किया है।

जिसे हम मनुष्य का व्यावहारिक जीवन कहते हैं वह निरन्तर उसके

सास्कृतिक व्यक्तित्व से प्रभावित एव गठित होता रहता है। वस्तुत सास्कृतिक जीवन मे लगातार उपयोगी एव निरुपयोगी तत्वो की क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। एक ही जरूरत कई तरह से पूरी की जा सकती है। सस्कृत व्यक्ति अपनी जरूरत को ऐसे ढग से पूर्ण करता है कि उसकी पूर्ति के साथ किसी ऊँचे मूल्य का लाभ भी हो जाय; वह उसे मोहक, उदार अथवा साहसपूर्ण ढग से पूरा करता है। एक सस्कृत व्यक्ति के जीवन मे बहुत-सी उपयोगी क्रियाएँ एक ऐसे कार्यक्रम का अग बन जाती है जिसका उद्देश्य कतिपय मूल्यो एव आदर्शो की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सस्कृति जीवन के मामूली कार्यकलापो को एक नये सौन्दर्य से मडित करती है। एक असभ्य जगली मनुष्य के लिए नारी एक ऐसी चीज है जो उसकी विशिष्ट जैवी आवश्यकता को पूरा करती है, किन्तु एक सस्कृत प्रेमी की दृष्टि मे, जिसका मस्तिष्क दर्शनो कवियो और दार्शनिको के सम्पर्क में गठित हुआ है, वह नारी उन सब तत्वो की प्रतीक बन जाती है जो कि सुन्दर तथा शोभन है; उसकी दृष्टि मे वह सम्पूर्ण माधुरी तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य की मूर्ति दिखाई देती है और सृष्टि के मधुर रहस्य-सी प्रतिभासित होती है। इसीलिये प्रेमी को लगता है कि अपनी प्रेमिका को प्राप्त करके उसका अस्तित्व परिपूर्ण सार्थकता को प्राप्त कर सकेगा। इस प्रकार सस्कृत व्यक्ति जीवन की तुच्छ से तुच्छ वस्तुओ तथा क्रियाओ को ब्रह्माण्ड के सारे तथ्यो एव मूल्यो की पृष्ठभूमि मे देखता है। दूसरो को जो चीज़ तुच्छ एव अपदार्थ जान पडती है, वह सस्कृत व्यक्ति को बहुत महत्वपूर्ण दिखाई दे सकती है, और दूसरो को जो चीज़े बड़ी कीमती जान पड़ती है, वे उसे तुच्छ प्रतीत हो सकती है। सास्कृतिक चेतना जीवन की करुणा तथा सौन्दर्य दोनो को वढे-चढे रूप मे प्रदर्शित करती है।

किसी व्यक्ति की सस्कृति वह मूल्य-चेतना है जिसका निर्माण उसके सम्पूर्ण बोध के आलोक मे होता है। सास्कृतिक चेतना जितनी मूल्य-चेतना है उतनी ही तथ्य-चेतना भी है। वह चेतना यथार्थ तथा सम्भाव्य को अर्थवत् के रूप मे ग्रहण करती है। मनुष्य लगातार जीवन की नई सम्भावनाओ का चित्र बनाता रहता है। यह सम्भाव्य चित्र ही वे मूल्य है जिनके लिये वह जीवित रहता है। जिन आदर्शो एवं मूल्यो को लेकर मनुष्य जीवित रहता है उनकी गरिमा और सौन्दर्य उस मनुष्य के सास्कृतिक महत्व का माप प्रस्तुत करते है।

सोरेन कीर्केगार्ड ने एक स्थान पर उस सौन्दर्यवाद के प्रति घृणा का प्रदर्शन किया है जो काल्पनिक विभिन्न सभावनाओ के साथ क्रीडा करता है और अपने को, व्याव-

हारिक स्तर पर , विवाह, जीविका के साधन, आदि के सम्बन्ध में बाँध देना नही चाहता। कीर्केगार्ड के विचार में आज के युग का दुर्भाग्य यह नही है कि वह एकागीहै, बल्कि यह कि वह अमूर्त रूप में अनेकागी है। एकागिता बुरी चीज हो सकती है, लेकिन अमूर्त अनेकरूपता ज्यादा बुरी चीज है। कोई भी सशक्त व्यक्तित्व किसी-न-किसी अर्थ में एकागी होता है, यह एकागिता उसमें महत्व का प्रमाण होती है। वह यह प्रदर्शित करती है कि उस व्यक्ति में कठोर सकल्प-शक्ति है और वह निश्चित रूप मे कोई एक चीज बन जाना चाहता है, न कि अनिश्चित रूप में अनेक चीजें।[११]

ऊपर के उद्‌गार हमे उन आलोचनाओ की याद दिलाते है जो कि सुकरात के इस सिद्धान्त के विरुद्ध कि नैतिक श्रेष्ठता और ज्ञान एक ही चीज है, दी गई है। सुकरात के विरुद्ध कहा गया है कि व्यक्ति यह जानते हुए भी कि अच्छाई क्या है, बुराई की ओर जा सकता है, इसलिये नैतिक अच्छाई और ज्ञान एक नही है। सुकरात के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि जो ज्ञान सतर्क अन्वेपण एव गम्भीर मनन द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह जीवन को अप्रभावित नही छोडता। यथार्थ के गम्भीर ज्ञान का हमारी आस्थाओ तथा विश्वासो पर प्रभाव पडना चाहिए और उसे हमारे जीवन पर निश्चित प्रभाव डालना चाहिए। इस प्रकार का ज्ञान हमें यह योग्यता देगा कि हम जीवन के मूल्यो को खास क्रमो में व्यवस्थित कर लें। इसीलिये यह कहा जाता है कि धर्म और दर्शन, जो कि हमारी मूल्य-भावना को प्रभावित करते है, संस्कृति का एक आवश्यक अग है। वस्तुस्थिति यह है कि आज का मनुष्य क्रमश धर्म और दर्शन से वचित हो गया है, जिसके फलस्वरूप वह कभी-कभी वैसा छिछला सौन्दर्यवादी बन जाता है जिसका कीर्केगार्ड ने उल्लेख किया है।

सार-रूप में हम कह सकते है कि संस्कृति वस्तु-जगत् के उन पहलुओ की जीवत एव शक्तिपूर्ण चेतना है जो, उपयोगी न होते हुए भी, अर्थवान् होते है, लाभदायक न रहते हुए भी महत्व रखते है। इस प्रकार की चेतना से सम्पन्न होकर मनुष्य अपने को वस्तु-जगत् की परतन्त्रता के क्रम से मुक्त कर लेता है और उसका प्रवेश मूल्यो के जगत् में हो जाता है, जहाँ मुक्ति अथवा स्वतत्रता का साम्राज्य है। इस जगत् में पहुँचकर मनुष्य उन चीजो से सपर्कित हो जाता है जिनका सम्बन्ध उनकी विशुद्ध आध्यात्मिक सत्ता से है। इस आत्मिक सत्ता की जरूरतें मनुष्य की उन जरूरतो से जिनका सम्बन्ध उसकी जीव-प्रकृति से है कम महत्वपूर्ण नही होती, बल्कि कभी कभी ज्यादा महत्वपूर्ण होती है। और आत्मिक जरूरतो की पूर्ति के लिये वस्तु-जगत् की

उतनी ही प्रामाणिक जानकारी अपेक्षित होती है जैसी कि जीव-प्रकृति की जरूरतो की पूर्ति के लिये। मतलब यह है कि आत्मिक क्षेत्र मे प्रामाणिकता की माँग किसी भी प्रकार कम नही हो जाती। जिस प्रकार गन्दा पानी अथवा मृगमरीचिका का जल किसी को भला नही लगता, उसी प्रकार मिथ्या कला अथवा मिथ्या कविता भी सवेदनशील व्यक्ति को रुचिकर नहीं जान पडती। मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया का क्षेत्र और उसके मूल्यो का क्षेत्र उसी प्रकार निश्चित नियमो के अधीन है, जिस प्रकार देशकाल में फैला हुआ भौतिक जगत्। मानवीय सास्कृतिक क्रियाओ की सृष्टि जहाँ तक प्रामाणिक होती है, वहाँ तक वैसे ही निर्वैयक्तिक होती है जैसे कि उसकी व्यावहारिक क्रियाओ की सृष्टि।

## सभ्यता और संस्कृति का सम्बन्ध

अब हम सस्कृति तथा सभ्यता के प्रभेद और उनके सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न करेंगे। हमने मैकाइवर तथा हुमायूँ कबीर के इस मन्तव्य को प्राय स्वीकार कर लिया है कि सभ्यता का सम्बन्ध उपयोगिता के क्षेत्र से है, और सस्कृति का मूल्यो के क्षेत्र से। यह भी कहा जा सकता है कि सभ्यता तथा सस्कृति उन उपलब्धियो एव क्रियाओ से सम्बन्धित है जो क्रमश मानव अस्तित्व की रक्षा तथा प्रसार करनेवाली है। मैकाइवर तथा हुमायूँ कबीर ने यह भी सकेतित किया है कि सस्कृति तथा सभ्यता में वही सम्बन्ध है जो साध्य तथा साधनो में होता है।

किन्तु सभ्यता तथा सस्कृति का सम्बन्ध इतना सीधा नही है, और उनके भेद को इस प्रकार निरूपित करना भी पर्याप्त नहीं। वस्तुत सस्कृति और सभ्यता को एक-दूसरे से नितान्त जुदा नहीं किया जा सकता, ठीक वैसे ही जैसे कि साध्य तथा साधनो को एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् नही किया जा सकता। कल्पना की क्रिया के कुछ क्षेत्र ऐसे है जहाँ सौन्दर्य तथा उपयोगिता के पहलू एक-दूसरे से अनिवार्य रूप मे मिश्रित हो जाते हैं।

सभ्यता तथा सस्कृति दोनो मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया के कार्य या परिणाम हैं। जब यह क्रिया उपयोगी लक्ष्य की ओर गतिमान होती है तब सभ्यता का जन्म होता है, और जब वह मूल्य-चेतना को प्रवुद्ध करने की ओर अग्रसर होती है, तब सस्कृति का उदय होता है। किन्तु वैज्ञानिक चिन्तन एव सामाजिक और राजनैतिक

चिन्तन दोनो क्षेत्रो में उपयोगिता एव मूल्य-चेतना के पहलू एक-दूसरे में मिल जाते हैं। जहाँ तक एक वैज्ञानिक सत्य की खोज करता है, वहाँ तक उसकी क्रिया सास्कृतिक है, किन्तु जब एक आविष्कर्ता अथवा इजीनियर के रूप में वह प्राकृतिक शक्तियो को मनुष्य की उपयोगिता के लिये नियन्त्रित करना चाहता है, तब वह सभ्यता का निर्माता बन जाता है। सलिवन ने लिखा है कि 'विज्ञान का महत्व उसकी व्यावहारिक उपयोगिता मे है और इसमे भी कि वह हमारी निरुपयोगी जिज्ञासा-वृत्ति को सन्तुष्ट करता है। उसे इसलिये भी महत्व दिया जाता है कि वह हमारी मननशील कल्पना के सम्मुख नितान्त आकर्षक, सुन्दर पदार्थ को उपस्थित करता है।'[१४] इसी प्रकार सामाजिक-राजनैतिक चिन्तन में उपयोगी तथा सुन्दर दोनो का समावेश हो सकता है। प्लेटो से लेकर आज तक विभिन्न विचारको ने जो आदर्श समाज की रूपरेखा खीचने के प्रयत्न किये है वे केवल मनुष्य की उपयोगिता का ध्यान नही करते, बल्कि यह भी विचार करते है कि मनुष्य अपनी आत्मिक आकाक्षाओ को कैसे पूर्ण करे। प्लेटो के "रिपब्लिक" नामक ग्रथ में जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई है वे दो कारणो से सस्कृति का अग समझी जानी चाहिएँ। प्रथमत इन विचारणाओ के पीछे प्लेटो का कोई वैयक्तिक स्वार्थ या उद्देश्य नही था, उनका लक्ष्य मानव-समाज को समुन्नत बनाना था। दूसरे, वहाँ जिन मानवीय हितो के प्रश्न उठाये गये है वे उपयोगी अथवा व्यावहारिक से अधिक आध्यात्मिक है। जब प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की कल्पना की तो वह मुख्य रूप से यह नही सोच रहे थे कि मनुष्य की मौलिक जरूरते कैसे पूरी की जा सकती है। वस्तुत उनके चिन्तन का मुख्य विषय यह था कि किस प्रकार मनुष्यो के बीच, उन मनुष्यो के जिनकी जीवन-विधियाँ और स्वभाव अलग-अलग होते है, उचित सम्बन्ध स्थापित हो सकते है। सामाजिक एव राजनैतिक चिन्तन का वह पहलू जो मुख्यत मानवीय सम्बन्धो के औचित्य एव सौन्दर्य के बारे में सोचता है, एक सास्कृतिक व्यापार कहा जा सकता है। इसी प्रकार एक सुधारक की यह चिन्ता कि दलितो तथा दुर्बलो का जीवन सुधर जाय, एक सास्कृतिक चिन्ता है, क्योकि उसके मूल्य मे निर्वैयक्तिक नैतिक भावना तथा करुणा का भाव है। मानव-समाज के सगठन की वे योजनाएँ, जो अधिक सौन्दर्य एव न्याय की स्थापना करना चाहती है, उन्ही विचारको द्वारा प्रस्तुत की जा सकती है जो सास्कृतिक क्रियाओ मे लगे है, और इस प्रकार के विचारक उन्ही समाजो में उत्पन्न हो सकते है जो सास्कृतिक दृष्टि से उन्नत है। इन विचारणाओ से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक ऐसा समाज अथवा जाति जो सास्कृतिक दृष्टि से उन्नत नही है, ऊँची कोटि की सभ्यता को भी जन्म नही दे सकती।

जब तक लोग सस्कृति के विशिष्ट धरातल तक नही पहुँच जायँ, तव तक वे प्रजातन्त्र तथा समाजवाद जैसे जटिल मामाजिक-राजनैतिक और आर्थिक सगठनो को उत्पन्न नही कर सकते। इसी प्रकार वे लोग जो केवल ज्ञान के लिये वैज्ञानिक अन्वेषण नही करते, उच्च कोटि के उत्पादन-तत्रो का आविष्कार करके कला-कौशल के क्षेत्र मे विशेष प्रगति नही कर सकते।

इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि **सभ्यता सांस्कृतिक क्रिया की ही आनुषंगिक उपज या परिणाम है।** मूल्यो के उस तटस्थ एव निर्वैयक्तिक अनुसधान के विना, जिसे हम सस्कृति कहते हैं, न तो सभ्यता अस्तित्व मे ही आ सकती है, और न वह अपना अस्तित्व वनाए ही रख सकती है। वे रूढियाँ तथा प्रथाएँ, वे कानून तथा सस्थाएँ, जो सभ्य व्यवहार का आधार हैं, उस व्यवहार की जो मनुष्यो के वीच सहयोग एव वन्धुत्व की भावना स्थापित करता है, मूलत उस सृजन की प्रवृत्ति मे उदित होती हैं जो मानव-सम्वन्धो के अधिक सुन्दर रूपो की परिकल्पना करती है।

हमारा यह मन्तव्य मार्क्सवाद से भिन्न है, और वह दो तरह से। प्रथमत हम मार्क्स के इस सिद्धान्त को स्वीकार नही करते कि सत्ता चेतना की पूर्ववर्तिनी होती है। यह सिद्धान्त सभ्यता तथा सस्कृति के क्षेत्रो पर लागू नही है। हो सकता है कि तत्व-मीमासा की दृष्टि से सत्ता-चेतना की पूर्ववर्ती थी। किन्तु जव हम मनुष्य द्वारा उत्पन्न परिवर्तनो की वात करते हैं तव हमें मानना पडता है कि चेतना निश्चित रूप में सत्ता की पूर्ववर्ती होती है। उदाहरण के लिये भाप का इजिन तथा वायुयान पहले अपने आविष्कर्ताओ के मन में प्रत्ययो या कल्पनाओ के रूप में अस्तित्ववान् हुए होंगे; वाद में उन्हें भौतिक अस्तित्व में लाया गया। इसी प्रकार जनतत्र तथा समाजवाद नाम के सामाजिक तथा राजनैतिक सगठन पहले विचार-रूप में कतिपय क्रान्तिकारी चिन्तकों के मन में उदित हुए, उसके वाद ही उन्हे अस्तित्व मे लाया जा सका। जहाँ यह कहना ठीक है कि यथार्थ के आधार पर ही मनुष्य की कल्पना सृजनात्मक ढग से व्यापृत हो सकती है, वहाँ इससे भी इनकार नही किया जा सकता कि वह कल्पना नूतनताओ की सृष्टि भी करती है। कोई भी व्यक्ति यह स्वीकार नही करेगा कि वायुयान तथा रेडियो पहले से प्रकृति-जगत् मे मौजूद थे और यह कि इनका आविष्कार वस्तुत. एक नई चेतना नही थी, वल्कि एक पहले से मौजूद वास्तविकता का प्रतिफलन मात्र थी।

मार्क्सवाद से हमारा मन्तव्य एक दूसरे प्रकार भी भिन्न है। अपने उपर्युक्त

मन्तव्य के विरुद्ध मार्क्सवाद ज्ञानमीमासा में व्यवहारवाद का हामी है। मार्क्सवाद का कहना है कि चिन्तन को व्यवहार से अलग नही किया जा सकता। स्वय इद्रिय-ज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया है, अर्थात् बाह्य परिवेश को बदलने का एक ढग। सिडनी हुक ने लिखा है कि 'परिवेश के अनकूल बनने मे जो क्रिया-प्रतिक्रिया होती है उ सी से ज्ञान उत्पन्न होता है। जानने का अर्थ यह नही है कि एक पूर्वसिद्ध वास्तविकता का प्रतिफलन हो जाय अथवा उसका चित्र खडा हो जाय, जानना वस्तु-सत्ता पर क्रिया करने का एक ढग है जानने मे हम वस्तु-सामग्री का केवल चिन्तन ही नही करते, बल्कि उसका व्यावहारिक उपयोग करते है।' यह मन्तव्य, जो कि अध्यात्मवादी ज्ञानमीमासा का प्रभाव दिखलाता है, सही नही है, यदि व्यवहार का अर्थ दीखने वाली क्रिया माना जाय। इसके विपरीत यदि यह मन्तव्य सही है तो मार्क्सवाद की निम्नलिखित उक्ति निरर्थक हो जाती है 'दार्शनिको ने अब तक विभिन्न ढगो से विश्व की व्याख्या ही की है, प्रश्न यह है कि उसे बदला किस तरह जाय।' मार्क्सवाद के विचाराधीन मन्तव्य के अनुसार तो व्याख्या को, जो जानने का एक रूप है, व्यवहार से अलग किया ही नही जा सकता, उस व्यवहार से जिसका मतलब परिवेश पर क्रिया करना होता है।

जिसे हम सास्कृतिक क्रिया कहते है, जिसमें विज्ञान, दर्शन आदि का समावेश है, वह न तो एक पूर्वसिद्ध परिवेश का प्रतिफलन-रूप ही है, और न उस परिवेश को बदलने-रूप। उसका वास्तविक रूप कुछ दूसरा ही है। सास्कृतिक क्रिया अथवा बोध-क्रिया में हम सामाजिक-भौतिक परिवेश की, मानवीय दृष्टि से सार्थक रूप में, कल्पना द्वारा पुन सृष्टि करते है। इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सास्कृतिक क्रिया का मानवीय मूल्य-चेतना से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि कल्पना की सृजन-क्रिया मे।

मानव-समाज की समस्त उपलब्धियाँ सभ्यता तथा सस्कृति के अन्तर्गत आ जाती है। मनुष्य की सास्कृतिक चेतना जिन मूल्यो की सृष्टि करती है उनमे कुछ सभ्यता के उच्चतर पहलुओ में प्रतिफलित एव चरितार्थ हो जाते है, उन पहलुओ अथवा रूपो मे जिन्हे सस्थाबद्ध व्यवहार कहते है। जिन्हें टी० एस० इलियट शिष्ट व्यवहार के रूप कहता है और जिन्हे वह तथा अन्य कुछ लेखक विशेष महत्व देते है, वे वस्तुत सभ्य व्यवहार का अग है, वे उन प्रथाओ तथा रूढियो का अग है जिनका पालन वाछनीय एव आदृत व्यवहार समझा जाता है। शिष्ट व्यवहार के रूपो का उदय

मनुष्य की उस सौन्दर्य-चेतना में होता है जो वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के अधिक सन्तोपप्रद रूपो की कल्पना करती है। विवाह, धार्मिक उपासना, यज्ञो आदि के अवसर पर जो तरह-तरह के जटिल रीति-रिवाज तथा विधान अनुष्ठित किये जाते है, उनके बारे में जहाँ एक ओर यह धारणा रहती है कि वे सम्बद्ध व्यक्तियो का कल्याण करनेवाले है, वहाँ यह भी महसूस किया जाता है कि वे विशिष्ट अवसर को शानदार तथा सुन्दर बना देते है। शिष्ट व्यवहार के रूपो के मूल में भी सुन्दर की मूल चेतना रहती है, यद्यपि बाद मे यह समझा जाने लगता है कि उनका अनुष्ठान सुरुचि तथा आदरणीयता का द्योतक होता है। जिसे हम अभिजात वर्ग कहते है, उसमें एक दूसरे प्रकार का व्यवहार भी पाया जाता है, वह व्यवहार जिसे वैवलेन नामक विचारक ने "प्रदर्शन के लिए फिजूलखर्ची" (Conspicuous Consumption) कहा है। वैवलेन का कहना है कि अभिजात वर्ग के अमीर लोग अनेक काम सिर्फ इसलिये करते है कि वे फिजूलखर्ची द्वारा लोगो पर अपनी महत्ता का सिक्का जमा सके।

**अपने आत्मिक तथा भौतिक दोनो पक्षो में सभ्यता को संस्कृति के उस अंश से समीकृत किया जा सकता है जो समस्त जनता की चीज़ बन गया है।** अपने भौतिक तथा आत्मिक दोनो रूपो मे सभ्यता को सांस्कृतिक चेतना का वह अंग माना जा सकता है जो अभ्यस्त व्यवहार (वैयक्तिक तथा सामाजिक आदतो एव प्रथाओ) के रूप में परिणत हो चुका है। सभ्य व्यवहार के नियम या रूप, जिनमे शिष्टता के रूपो, प्रथाओ तथा व्यावहारिक रूढियो सब का समावेश है, रूढ़िवादी शक्तियो की भाँति व्यापृत होते है और संस्कृति की प्रगति मे बाधा डालते है। दर्शन और कला के क्षेत्रो मे भी चिन्तन तथा आवेगात्मक प्रतिक्रिया के रूप प्रतीको मे बँध जाते है। इस प्रकार जब संस्कृति प्रवाहमयी तथा सृजनात्मक न रहकर लीक-बद्ध बन जाती है, तब उसे सभ्यता कहते है। इस महत्वपूर्ण अर्थ मे यह कहा जा सकता है कि सभ्यता संस्कृति का अनिवार्य गन्तव्य या गति है, और वह संस्कृति की विरोधिनी है। मैकाइवर ने लक्ष्य किया है कि संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता ज्यादा आसानी से संक्रान्त की जा सकती है 'संस्कृति उन्ही को प्रेपित की जा सकती है जो समानधर्मा है। जिसमें कलाकार की विशेष संवेदना नही है वह कला का रस नही ले सकता, और जिसकी श्रवण-शक्ति सांगीतिक क्षमता नही रखती, वह संगीत का आनन्द नही ले सकता।'[१५] संस्कृति के प्रेपण की दृष्टि से कुटुम्ब या परिवार का विशेष महत्त्व नही है, जैसा कि

इलियट का खयाल है। कुटुम्ब या परिवार अपने सदस्यो को सभ्य बना सकता है, लेकिन उनमें उच्च सास्कृतिक रुचियाँ उत्पन्न नही कर सकता।

## सस्कृति के स्तर सांस्कृतिक महत्व के प्रतिमान

एक व्यक्ति वहाँ तक सस्कृत कहा जा सकता है जहाँ तक वह सचेत, निर्वैयक्तिक एव सृजनात्मक ढग से जीवन यापन करता है। प्रत्येक मनुष्य सस्कृत होता है, उस हदतक जहाँ तक वह पशु-सुलभ जीवन के ऊपर उठता है। सस्कृति की प्रौढता अथवा उसके स्तर का निर्णय करने के लिये उन चीजो को देखना होगा जो उस व्यक्ति की चेतना, सृजनशीलता तथा निर्वैयक्तिकता के आयाम एव दर्जो को निर्धारित करती हैं। पहली चीज जो सास्कृतिक स्तर अथवा सास्कृतिक श्रेष्ठता का निर्धारण करती है, साक्षी अथवा प्रामाणिकता की भावना है। सस्कृत होने का अर्थ यथार्थ से पलायन नही है। सस्कृत व्यक्ति में यथार्थ की भावना अधिक ठोस तथा गहरी होती है। किसी क्षण में हम जिस दुनिया का अनुभव करते हैं वह विशाल यथार्थ का अग मात्र है। पूर्ण यथार्थ वडी लम्वी-चौडी चीज है, जिसकी चेतना वैज्ञानिक तथा दार्शनिक में रहती है। समझा जाता है कि कला के क्षेत्र में कल्पना ज्यादा मुक्त होती है, और वहाँ यथार्थ-दृष्टि का उतना महत्व नही होता। लेकिन ऐसी वात नही है। वडे कलाकार की सृजन-क्रिया लगातार यथार्थ की प्रकृति से निर्धारित होती है, और उसकी यथार्थ-दृष्टि उसकी सृष्टि की प्रौढता तथा प्रामाणिकता को प्रभावित करती है। यदि हम कथा-साहित्य के इतिहास पर ध्यान दें तो यह वात स्पष्ट हो जायगी। कथा कहने की कला का लगातार विकास हुआ है। यह विकास अधिकाधिक यथार्थवाद की ओर हुआ है। प्राचीन कथा-साहित्य में, जिसमें वाणभट्ट तथा दडी जैसे वडे लेखको की "कादम्वरी" और "दशकुमार-चरित" जैसी महत्वपूर्ण कृतियो का समावेश है और "अलिफलैला" जैसे कम महत्व के ग्रथो में, अलौकिक तत्व अर्थात् जादू-टोने आदि का स्वच्छन्द समावेश है। इन तत्वो द्वारा पुराने लेखक पाठको में उत्सुकता तथा आश्चर्य की भावनाएँ जागृत रखते हैं। इसके विपरीत आधुनिक काल के उपन्यासो में, जैसे टॉल्स्टॉय की "अन्ना" अथवा दास्ताएव्स्की के "क्राइम ऐण्ड पनिशमेन्ट" में इस प्रकार उत्सुकता जगाने के लिये विशुद्ध रूप में यथार्थ जीवन के तत्वो का ही उपयोग किया जाता है। चूँकि जीवन की क्रियाएँ सृजनात्मक तथा परिवर्तनीय है, चूँकि जीवन किसी एक वँधे हुए ढर्रे पर नहीं चलता,

इसलिये आश्चर्य तथा उत्सुकता उत्पन्न करने के लिये यह जरूरी नही कि उस जीवन मे कृत्रिम, बाहर से निर्धारित, वक्र मोड दिखाये जायँ। जीवन अपने मे ही आश्चर्य-जनक नवीनताओ को उत्पन्न करता रहता है। इसलिये पूर्ण रूप में यथार्थवादी उपन्यासकार स्वय जीवन के भीतर निहित अनेक तथा विविध यथार्थ-सभावनाओ का चित्रण कर सकता है। जिस प्रकार आज के उपन्यास मे यथार्थ का विशेप आग्रह है, वैसे ही आधुनिक ऐतिहासिक अन्वेपणो तथा वैज्ञानिक शोधों में भी यथार्थ का आग्रह बडा हुआ दिखाई देता है। हमारा युग केवल उसी सत्य को स्वीकार करके चलना चाहता है जिसकी परीक्षा की जा सके। वह उन सत्यो पर जिनकी परीक्षा सम्भव नही है, विचार भी नही करना चाहता। इस दृष्टि से वह दार्शनिक सम्प्रदाय जिसे तर्क-मूलक भाववाद कहते है, हमारी शताब्दी की सास्कृतिक प्रौढता का प्रमाण है। सास्कृतिक चेतना यथार्थ के बीच प्रसरित होना चाहती है, यह यथार्थ से पलायन करके कल्पना में शरण लेना नही चाहती। वस्तुत सास्कृतिक क्रिया में जिस कल्पना का उपयोग होता है उसका लक्ष्य यथार्थ की वास्तविक रचना का उद्घाटन है, न कि यथार्थ को विकृत करना। कला तथा विज्ञान दोनो क्षेत्रो मे बडे लेखक तथा विचारक यथार्थ मे पलायन नही करते, इसके विपरीत वे अधिकाधिक यथार्थ को ग्रहण करके चलते है। किन्तु यथार्थ की इस मॉग का यह अर्थ नही है कि हम जीवन के उन क्षेत्रो से बचने का प्रयत्न करे जहाँ विज्ञान की गति नही है, और जहाँ गणित का हिसाब अथवा भौतिकशास्त्र की नापतौल सम्भव नही है। जो व्यक्ति इस प्रकार विशुद्ध गुणात्मक यथार्थ से बचकर केवल उस यथार्थ को ग्रहण करना चाहते है जिसे भौतिक-शास्त्र द्वारा मात्रा-मूलक सूत्रो से समझा जा सकता है, वे अपने व्यक्तित्व के प्रसार और सास्कृतिक उन्नति के द्वार स्वय ही बन्द कर देते है। यथार्थ का आग्रह अच्छी चीज है, वैज्ञानिक 'स्पिरिट' भी श्लाघ्य है, किन्तु इसका यह मतलब नही कि हम अपनी यथार्थ-दृष्टि को सकीर्ण कर ले, और जीवन के गुणात्मक अनुभवो की ओर से अपनी बुद्धि और मन के रास्ते बन्द कर ले।

सास्कृतिक प्रौढता मे सबसे महत्वपूर्ण तत्व निर्वैयक्तिकता है। प्रथम दृष्टि मे ऐसा जान पडता है कि निर्वैयक्तिकता एक अस्पष्ट एव निरर्थक धारणा है। कैसे कोई व्यक्ति उन चीजो मे रुचि ले सकता है जो उसके व्यक्तित्व का अतिक्रमण करती है, अथवा उससे असबधित है? किन्तु निर्वैयक्तिक होने का अर्थ व्यक्तित्वशून्य होना नही है। वस्तुत यह धारणा वैयक्तिक की विरोधिनी नही है, बल्कि उसकी विरोधिनी

है जो केवल व्यक्तिगत है। निर्वैयक्तिकता का अर्थ है सार्वभौमता। इस सार्वभौमता के दर्जे हो सकते हैं। सार्वभौमता से मतलब है उन चीज़ो में रुचि होना जो अपने व्यक्तित्व से बडी अथवा व्यापक है, जैसे जाति, राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानवता। ऐसा जान पडता है कि वे रुचियाँ जो केवल व्यक्तिगत होती हैं, सम्पत्ति अथवा दूसरी वस्तु-सामग्री से सम्बन्ध रखती है। जब हम एक सुन्दर मूर्ति अथवा चित्र की प्रशसा करते हैं, तब एक सास्कृतिक क्रिया करते होते हैं, उस प्रशसा में दूसरे लोग साझी हो सकते हैं। किन्तु जब मैं उन चीज़ो के प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ तब मेरा कार्य एक निजी अथवा व्यक्तिगत कार्य बन जाता है। किसी रुचि अथवा स्वार्थ की सार्वभौमता मापने के लिए यह देखना चाहिए कि उसकी विशुद्ध व्यक्तिगत स्वार्थ से कितनी ज्यादा दूरी है, और वह सम्पूर्ण मानवजाति की रुचियो तथा हितो के कितनी निकट है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये कि सवेरे के अखबार में किसी उत्तर प्रदेश के नागरिक ने ये खबरें पढी "उत्तर प्रदेश के मन्त्रिमडल में सकट", "भारत और पाकिस्तान में कश्मीर को लेकर तनाव में वृद्धि," तथा "फारमूसा को लेकर विश्वयुद्ध की सभावना।" एक सस्कृत व्यक्ति होने के नाते उक्त नागरिक इन सभी खबरो में अभिरुचि लेगा। किन्तु, यदि वह एक ऐसा सस्कृत व्यक्ति है जिसकी रुचियाँ प्रौढ बन चुकी हैं, तो वह सबसे ज्यादा विचलित अन्तिम खबर से होगा। कारण यह है कि विश्व-युद्ध की तुलना में बाकी दो खबरें जो कि क्रमश एक प्रान्त अथवा देश से सम्बन्ध रखती हैं, अपेक्षाकृत कम महत्व की हैं। एक सस्कृत व्यक्ति का अवधान उन खबरो पर अपेक्षाकृत कम केंद्रित होना चाहिए। पूर्णतया सस्कृत व्यक्ति वह है जो पूर्ण रूप से मानवजाति की रुचियो तथा मानवीय मूल्यो से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उनके लिये सघर्ष करता हुआ उनके सरक्षक का काम करता है।

सास्कृतिक जीवन की सार्वभौमता की स्थापना मानवीय अनुभूति की सिम्तो अथवा आयामो की अपेक्षा से भी की जा सकती है। जो मनुष्य जितने अधिक विस्तृत क्षेत्र के प्रति प्रतिक्रिया करता है, वह उतना ही सस्कृत होता है। उसकी तुलना में जो विश्व की सामाजिक-राजनैतिक तथा आर्थिक वास्तविकता के प्रति जागरूक हैं, वह व्यक्ति जिसका जीवन केवल उसके अपने राग-विरागो, प्रेम-घृणा, हानि-लाभ आदि द्वारा निर्धारित रहता है, कम सस्कृत है। मार्क्सवादी आलोचको का यह विचार ठीक है कि वे लेखक, उपन्यासकार और नाटककार, जिनके पात्र, अपने व्यापारो द्वारा, सामाजिक शक्तियो के प्रभाव को व्यजित करते हैं, ज्यादा बडे

लेखक होते हैं। उनकी रचनाओ में सामाजिक वास्तविकता का समावेश रहता है। किन्तु वह मनुष्य जिसने सस्कृति के उच्चतम धरातल को प्राप्त कर लिया है, केवल मनोवैज्ञानिक एव सामाजिक भूमिका में ही जीवित नही रहता। वह समूचे ब्रह्माण्ड की अपेक्षा मे जीवित रहता है, और उस ब्रह्माण्ड के नागरिक के रूप में सोचता तथा महसूस करता है। श्रेष्ठतम लेखको की कृतियाँ, इसीलिये, मनुष्य के मनोवैज्ञानिक एव सामाजिक पहलुओ का चित्रण करके ही नही रह जाती, वे मानव अनुभूति की धार्मिक-दार्शनिक सिम्तो का भी स्पर्श करती हैं।

सस्कृत व्यक्ति के विचार तथा आदर्श एक दूसरी चीज से भी सपृक्त या सम्बन्धित रहते हैं, अर्थात् उस अनुभूति तथा व्यवहार से जो मनुष्य के इतिहास मे सचित है। सस्कृत व्यक्ति की चेतना केवल अपना देशगत या भौगोलिक विस्तार ही नही करती, वह कालिक विस्तार को भी अपनी परिधि में ले लेना चाहती है। वह उस समस्त अनुभूति को, उस समस्त बोध तथा रागात्मक क्रिया को, जो मानवजाति ने अपनी विचारात्मक तथा कलात्मक सृष्टियो में सचित रखी है, आत्मसात् कर लेना चाहती है। विश्व की अवगति से सम्बद्ध किसी भी अनुभव-सभावना को वह छोडना नही चाहती। मनुष्य की ऐतिहासिक अनुभूति का विषय मुख्यत. सामाजिक वास्तविकता है, किन्तु वह धार्मिक-दार्शनिक सिम्त को भी छूती है। इतिहास जहाँ एक ओर हमे उन शक्तियो से परिचित कराता है जो मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्धो को प्रभावित करती हैं, वहाँ वह हमारे सामने मानवता के चरम गन्तव्य की समस्या भी प्रस्तुत करता है। विभिन्न परिवेशो तथा युगो मे मनुष्य की उपलब्धियाँ क्या-क्या रही हैं, वह अपने व्यक्तित्व को कहाँ तक, किस ऊँचाई तक, उठा सका है, यह अवगति इतिहास पढने से मिलती है। इसलिये हम उस किसी भी व्यक्ति को पूर्णतया सस्कृत नही कह सकते जिसमें ऐतिहासिक सवेदना विकसित नही हुई। यह सवेदना प्रौढ जीवन-दर्शन का आवश्यक अग है।

हमने कहा कि निर्वैयक्तिकता सार्वभौमता का नाम है। निर्वैयक्तिकता का अर्थ यह भी है कि मनुष्य उन चीजो के प्रति, जो केवल व्यक्तिगत अथवा स्थानीय है, उदासीनता की भावना विकसित करे। जो व्यक्ति जितना ही अधिक सस्कृत होता है वह उन चीजो से, जिनका सम्बन्ध केवल उमसे अथवा उनके स्वार्थो से है, उतना ही कम प्रभावित होता है। इसी प्रकार वह उन चीजो से विशेष प्रभावित नहीं होता जो एक छोटे दायरे से सम्बन्ध रखती है। सुसंस्कृत व्यक्ति किसी छिछले अर्थ मे

भावुक नही होता। किन्तु उदासीनता का अर्थ मानवीयता का अभाव नही है, उसका प्रधान चिह्न है, सतुलन और स्थिरता। इस प्रकार का व्यक्ति उन्ही चीजो से अधिक प्रभावित होता है जिनका, गहरे अर्थ में, मानवीय, ऐतिहासिक अथवा विश्वजनीन महत्व है।

निर्वैयक्तिकता का सामान्यरूपता (Normality) से घना सम्बन्ध है। जो निर्वैयक्तिक है वही पूर्णतया सामान्य तथा स्वीकार्य है। जिस व्यक्ति पर एक खास वर्ग की आस्थाओ, रुचियो तथा भावनाओ का जितना ही अधिक प्रभाव होता है वह मनुष्य की सामान्य 'स्पिरिट' से उतना ही दूर रहता है। यह आवश्यक नही है कि जो सामान्य है वह मौलिक या आदिम भी हो, यद्यपि यह ठीक है कि श्रेष्ठ कला एक खास अर्थ मे हमारी मूल प्रवृत्तियो को सन्तुष्ट करती है। मनुष्य की सामान्य-रूपता में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसकी समस्त सृजनात्मक समृद्धि का समावेश रहता है। आवश्यक यही है कि इस समृद्धि का विकास सामान्य मानवीयता के नियमो के अनुरूप हो। मनुष्य जब अपनी अन्त प्रकृति के नियमो के विरुद्ध जाता है, तभी उसका चिन्तन और आवेग अप्रामाणिक बन जाता है। सामाजिक विज्ञानो तथा कलाओ की उन्नति इसमें है कि उनमे निबद्ध प्रतीतियाँ तथा आवेग क्रमश मनुष्य की सामान्य अन्त प्रकृति के निकट या अनुरूप होते जायें।

सच्ची सामान्यरूपता का अर्थ है, पूर्ण सार्वभौमता। सामान्यरूपता वह योग्यता है जो हमें किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र के दृष्टिकोण से नही, बल्कि मनुष्य मात्र के दृष्टिकोण से देखने योग्य बनाती है। इस सामान्यरूपता की गठन मे दो तत्व रहते है मनुष्यो की जैवी प्रकृति एव भौतिक गठन की एकता, तथा उनकी वह शक्ति जिसके द्वारा वे अपने को एक-दूसरे की स्थिति मे कल्पना द्वारा रख सकते हैं। अधिकाश मनुष्यो की कल्पना-शक्ति पूर्णतया विकसित नही हो पाती। कल्पना-शक्ति का पूर्ण प्रस्फुटन धीरे-धीरे हो रहा है, और वह प्रस्फुटन मनुष्य की सास्कृतिक प्रगति मे प्रतिफलित होता रहता है। बहुत थोडे परीक्षक है जो मनुष्य की सामान्य अन्त प्रकृति के दृष्टिकोण को पूर्णतया अपना पाते है, और वह भी कतिपय सीमित क्षेत्रो मे। अधिकाश लोग अपने को एक या दूसरे वर्ग, जाति अथवा देश मे समीकृत कर लेते है। सस्कृति की दृष्टि से किसी मनुष्य की सामान्यरूपता का मतलब है उसकी वह शक्ति जिसके द्वारा वह, कल्पना द्वारा, अपने को दूसरो की स्थिति में रखते हुए उनके विचारो तथा आवेगो को आत्मसात् कर लेता है। आगे हम देखेंगे कि मनुष्य का नैतिक

व्यवहार भी उसकी कल्पनात्मक तादात्म्य की क्षमता पर निर्भर करता है। यहाँ हमें यह लक्षित कर लेना चाहिए कि मनुष्य की सारी तर्कना-शक्ति तथा चिन्तन, और उसकी दूसरो को युक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता, इस पर निर्भर करती है कि विभिन्न सम्बद्ध मनुष्य अपने को सामान्य मानवीय प्रकृति के दृष्टिकोण पर पहुँचा सके।

## प्रतिभा और सांस्कृतिक प्रगति विद्रोह के अन्तर्नियम

सच्चे अर्थ मे सास्कृतिक क्रिया वह है जो किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र के लिये नही, अपितु समस्त मानव-जाति के लिये, नये क्षेत्रों की विजय करती है। निर्वैयक्तिक जीवन के प्रकार वे तरीके हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपने तथा मानव-जाति के बीच तादात्म्य स्थापित करता है। ऐसा जान पडता है कि जीवन के मुख्य प्रवाह से विच्छिन्न होकर व्यक्तित्व की छोटी-छोटी धारायें पुन उस बडे प्रवाह में लौटने का प्रयत्न कर रही हो।

जीवन की ये क्रियाएँ व्यक्ति के परम आनन्द का स्रोत होती है। मनुष्य निर्वैयक्तिक ढग से जीवित रहना चाहता है। कवि ऐसी कविता लिखना चाहता है जो सर्वग्राह्य हो, दार्शनिक ऐसी युक्तियो की उद्भावना करना चाहता है जिन्हे सब स्वीकार कर सके—इसलिये नही कि उसकी कुछ बाहरी अथवा सामाजिक जरूरतें हैं, जैसा कि फ्रायड के अनुयायियो का विचार है, बल्कि इसलिये कि यह उसकी अन्त प्रकृति की माँग है। श्रेष्ठतम सास्कृतिक सृष्टियाँ सामाजिक माँगो का परिणाम नही होती, वे अपनी उत्पत्ति के बाद सामाजिक माँग पैदा करती हैं। यह आश्चर्य की बात है कि कवि जिस समय अपनी रचना मे लगा होता है, और जिस समय उसकी सृजनात्मक उत्तेजना सब से ऊँचे बिन्दु पर पहुँची हुई होती है, उस समय वह स्वय यह निर्णय कर लेता है कि कोई उपमा या रूपक उसके मानवीय पाठको को प्रिय लगेगी या नही। सृजन में लगा हुआ कलाकार इस भाँति व्यवहार करता है मानो कि सबसे ऊँचा निर्णायक, मानवीय अन्त प्रकृति का श्रेष्ठतम प्रतिनिधि या प्रवक्ता, स्वय उसी की अन्तरात्मा मे पैठकर उसे उचित निर्देश दे रहा हो।[३५]

व्यक्ति सुखी तब होता है जब उसकी क्रियाएँ उस समाज के लिये, जिसका वह अग है, ग्राह्य हो, और उसके कष्ट का सबसे बडा कारण उसके व्यक्तित्व की वे चीजें होती हैं जिन्हें समाज स्वीकार नही करना चाहता।

यहाँ एक जटिल प्रश्न उठ खडा होता है। यदि व्यक्ति अपने और समाज के सामजस्य को इतना अधिक महत्त्व देता है तो कभी-कभी ऐसा क्यो हो जाता है कि वह समाज के विरुद्ध, समाज की मान्यताओ के प्रतिकूल, विद्रोह करने लगता है ? और उस विद्रोह का क्या मतलब है जो प्रगति का कारण बन जाता है, अर्थात् जिसे बाद की पीढियाँ प्रगतिशील विद्रोह कह कर वर्णित करती हैं ? वे कौन से स्रोत हैं जहाँ से विद्रोह की भावना प्रेरणा तथा शक्ति ग्रहण करती है ?

विद्रोह तथा क्रान्ति मे कुछ अन्तर है, विद्रोही तथा क्रान्तकारी व्यक्ति कुछ भिन्न प्रकृतियो के होते हैं। विद्रोही उस व्यक्ति को कहते है जो समाज के अनुरूप नही चल सकता और जो अपने व्यापारो मे समाज का हस्तक्षेप सहन नही कर सकता। विद्रोही अपनी स्वतन्त्रता चाहता है। इसके विपरीत क्रान्तिकारी व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करके सन्तुष्ट नही हो जाता। क्रान्तिकारी चाहता है कि वह स्वय समाज को परिवर्तित कर दे और उसे अभिलषित रूप मे ढाल दे। क्रान्तिकारी एक ज्यादा कर्मठ विद्रोही होता है। विद्रोही की भाँति वह अपने भिन्न मार्ग के लिये पश्चाताप नही करता, इतना ही नही, उसका यह मनोभाव होता है कि उसमें दूसरो की अपेक्षा ज्यादा विवेक है, और यह कि उसकी सम्प्रतीति (Vision) दूसरो से श्रेष्ठ है। वह चाहता है कि उसके विवेक और उसकी दृष्टि से समाज लाभान्वित हो। विद्रोही की तुलना में क्रान्तिकारी अधिक वस्तुगत होता है, उसका लक्ष्य होता है उन शक्तियो पर अधिकार प्राप्त कर लेना जो समाज का नियत्रण करती और समाज की गति को निर्धारित करती हैं।

विद्रोहियो में भी दो वर्ग के व्यक्ति पाये जाते है, एक वे जो प्रच्छन्न रूप मे सामाजिक हैं, और दूसरे जो मूलत असामाजिक हैं। असामाजिक विद्रोही वे है जो निषेधात्मक रूप में समाज की व्यवस्था का विरोध करते हैं, जैसे कि चोर-डाकू तथा अन्य अपराधी। प्रच्छन्न रूप मे सामाजिक विद्रोही वे हैं जो समाज के अन्यायपूर्ण एव अवाछनीय प्रतिबन्धो के विरुद्ध आवाज उठाते है। इस प्रकार का विद्रोही दूसरो मे सहानुभूति और कभी-कभी प्रशसा भी जगाता है, यद्यपि विद्रोह का झडा खडा करते समय वह प्राय अकेला होता है। जब ऐसे व्यक्ति को बहुत-से सहानुभूति देनेवाले मिल जाते है, तो उसका विद्रोह क्रमश ज्यादा सक्रिय रूप धारण कर लेता है। बौद्धिक तथा नैतिक क्षेत्रो मे ऐसा व्यक्ति विद्रोही हो सकता है जिसने विद्रोह की प्रेरणा कही बाहर से पाई है। ऐसे व्यक्ति द्वारा किया हुआ समाज का विरोध तब तक प्रभावशील नही

हो सकता जब तक शिक्षा द्वारा, अथवा मौजूदा मानवीय सम्बन्धो के परिवर्तन द्वारा स्वय अपने समाज मे विद्रोही को सहानुभूति देनेवाले न मिल जायँ।

विद्रोही का लक्ष्य होता है अस्वाभाविक अथवा अन्यायपूर्ण प्रतिबन्धो को हटाना, जब कि क्रान्ति का लक्ष्य रहता है विभिन्न मनुष्यो के लिये उपलब्ध अवसरो तथा साधनो का पुनर्वितरण। क्रान्ति की आवश्यकता तब होती है जब कि नये ज्ञान तथा नये परिवेश के सन्दर्भ मे लोगो को यह महसूस होता है कि उनकी जीवन-स्थितियो मे सुधार हो सकता है, और वे लोग जो अब तक आराम तथा सुख के साधनो पर अधिकार किये हुए थे, उस सुधार की राह मे विघ्न डालने लगते है। मौजूदा स्थिति के समर्थक लोग, जो स्वय आराम से रहते रहे है, यह मानकर चलते है कि पुरानी प्रथाओ का पालन करते रहना ही उचित व्यवहार है, और वे उन लोगो को जो अब तक इतने सौभाग्यशाली नही रहे है और नये परिवेश मे अपने भीतर नई आशाये जगाते है, अपेक्षित परिवर्तनो की माँग से रोकते है। जो स्वय पुराने मूल्यो को मानते हुए तथा लीको मे चलते हुए सुख-पूर्वक जीवन-यापन करते रहे है, वे उन लोगो की आकाक्षाओ को सहानुभूति नही दे पाते जो अपने सम्मुख नवीन जीवन की सम्भावनाओ को देखते हुए सामाजिक-राजनैतिक एव आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तन की कामना तथा माँग करते है। ऐसी दशा मे धीरे-धीरे परिवर्तनवादियो से सहानुभूति करनेवालो की सख्या बढने लगती है। बात यह है कि जब मनुष्यो के सम्मुख श्रेष्ठतर व्यवस्था का चित्र आ जाता है तो वे स्वत उसकी ओर आकृष्ट होने लगते है, और उसे यथार्थ रूप में उतारने के लिये प्रयत्न करने लगते है। जैसे ही कोई विचारक मौजूदा व्यवस्था से श्रेष्ठतर व्यवस्था की कल्पना उनके सम्मुख प्रस्तुत करता है, वैसे ही उन लोगो की पुरानी व्यवस्था पर से, फिर चाहे वह कितनी ही प्राचीन क्यो न हो, आस्था हटने लगती है, और इस प्रकार क्रमश उस मौजूदा व्यवस्था को परित्यक्त हो जाना पडता है। मनुष्य में जो निर्वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ है वे उसे बाध्य करती है कि वह कल्पना द्वारा उपस्थापित नई व्यवस्था का हामी बन जाय। और इस नई व्यवस्था के हामियो मे सिर्फ वे ही लोग नही प्रविष्ट हो जाते जो मौजूदा व्यवस्था में सुखी जीवन नहीं बिता पा रहे है, बल्कि वे भी जो उस व्यवस्था के अन्तर्गत धन-सम्पत्ति तथा शक्ति पर अधिकार पाये हुए है। अक्सर यह देखा गया है कि किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता या तो ऊँचे वर्गो मे से आते है, या फिर उन बुद्धिजीवियो के वर्ग से जो ऊँचे वर्गो से सम्बन्धित अथवा उनके निकट है।

इस प्रकार हम देखते है कि मानवजाति की अग्रगति दो विरोधी चीजो से निर्धारित होती है। प्रथमत यह जरूरी है कि व्यक्ति अपने विचारो तथा भावनाओ दोनो में समाज के अनुरूप बने, और दूसरे, यह भी जरूरी है कि व्यक्ति उस समाज के विरुद्ध, जो किसी जर्जर रूढिवादी व्यवस्था को पकडकर बैठा है, और नयी कल्पनाओ द्वारा उपस्थापित प्रगति की सम्भावनाओ का स्वागत नही करता, विद्रोह करे। जहॉ यह ठीक है कि मनुष्य मुख्यत रूढियो एव प्रथाओ का अनुगमन करके जीवित रहते है, वहॉ यह भी सत्य है कि मनुष्य की उन्नति प्राय रूढियो के परित्याग तथा सृजनात्मक कल्पना के व्यायाम द्वारा घटित होती है। जिन्हे नर-विज्ञान के पडित "सस्कृतियॉ" कहते है वे वास्तव मे विभिन्न जीवन-प्रकार है जिन्हे विभिन्न समाजो या जातियो ने अपनी भिन्न ऐतिहासिक तथा भौतिक परिस्थितियो मे विकसित किया है। अपने अतीत इतिहास के आलोक मे देखे जाने पर विभिन्न "सस्कृतियॉ" उन समाजो की उपलब्धियॉ कही जा सकती है। किन्तु जो सस्कृति इतिहास द्वारा उपस्थित की हुई नई सम्भावनाओ के अवसर का लाभ नही उठाती और सृजनात्मक ढग से आत्म-विस्तार नही करती, वह अप्रगतिशील अथवा पश्चाद्गामिनी बन जाती है। सास्कृतिक आत्म-विस्तार की नई सम्भावनाओ का सकेत करना प्रतिभाशाली व्यक्तित्वो का विशिष्ट कार्य है।

विभिन्न प्रतिभाशाली जो काम करते है वह देश-काल तथा परिस्थितियो के अनुसार विभिन्न रूप धारण कर लेता है, उसकी विभिन्नता का दूसरा कारण प्रतिभा-शालियो की भिन्न प्रकृतियॉ या स्वभाव होते है। शान्ति के समय मे वे प्रतिभाशाली व्यक्ति, जो मौजूदा व्यवस्था को स्वीकार करके चलते है, मुख्यत दो काम करते है प्रथमत वे उन सिद्धान्तो तथा प्रक्रियाओ को स्पष्ट करते है जो उस व्यवस्था का आधार है। दूसरे, विचार तथा सवेदनाओ की उपलब्ध सामग्री के आधार पर, वे समृद्ध एव सुखी जीवन की असख्य सम्भावनाओ का निरूपण या उद्घाटन करते है। साहित्य के क्षेत्र मे इस प्रकार की प्रतिभा "क्लासिक्स" को जन्म देती है जिनकी प्रमुख विशेषता सन्तुलन है। दर्शन मे वह प्राय एकत्ववादी अथवा अद्वैतवादी विचार-पद्धतियो को उत्पन्न करती है । ये विचार-पद्धतियॉ ईश्वरवादी, अध्यात्मवादी तथा भौतिक-वादी भी हो सकती है। यदि उस शान्ति के समय मे विभिन्न दिशाओ में नये अन्वेषण भी हो रहे हो, तो उन "क्लासिक्स" के रूप मे 'रोमैन्टिक' उल्लास एव उत्साह का पुट भी आ जाता है। वर्जिल तथा दान्ते, पार्मिनिडीज तथा स्पिनोजा पश्चिम मे,

और वाल्मीकि, भास तथा वादरायण पूर्व मे प्रथम कोटि की शान्तियुगीन प्रतिभाएँ हैं, जब कि कालिदास, शेक्सपियर तथा हीगल दूसरे वर्ग के प्रतिभाशाली लेखक है। सक्रमण, उथल-पुथल एव सघर्ष-युगो में उत्पन्न होनेवाली प्रतिभाएँ दूसरी ही प्रकृति की होती हैं। उनमे तीक्ष्णता, तीव्रता तथा क्षुब्ध आवेग रहता है। उनमे से कुछ सशयालु तथा आलोचनाशील होते हैं, और कुछ नवीन सिद्धान्तो तथा आदर्शो की कल्पना करनेवाले। महाभारतकार, प्लेटो, रूसो और वाल्तेयर, दास्ताएव्स्की, इब्सन तथा वर्नार्ड शा इसी कोटि की प्रतिभाएँ हैं।

प्रतिभाशाली व्यक्ति तथा साधारण नर-नारियो मे अनेक भेद होते है। अधिकाश मनुष्य जीवन तथा जगत् के तथ्यो एव मूल्यो पर सीधे दृष्टिपात नही करते, उनका देखना विभिन्न प्रतीको तथा नारो अथवा स्वीकृत सिद्धान्तो से प्रभावित रहता है। इसके विपरीत प्रतभाशाली व्यक्ति प्रतीक-रूप मे बँधी बौद्धिक धारणाओ से इतना प्रभावित नही होता। उसकी क्रान्तदर्शिनी दृष्टि स्वीकृत मान्यताओ तथा चिन्तन-प्रकारो को भेदकर सीधे यथार्थ से सम्पर्क स्थापित करती है। उसकी आवेगमयी प्रकृति वस्तु-सत्ता के सम्बन्ध में सुनी-सुनायी बातो को ग्रहण करके सन्तुष्ट नही हो जाती। प्रतिभाशाली तथा पडित में मुख्य भेद यह है कि प्रथम मे यथार्थ को सीधे सम्पर्क द्वारा जानने की कामना रहती है, जब कि पडित व्यक्ति प्राय यथार्थ को स्वीकृत मान्यताओ के माध्यम से देखता है। पडित का मुख्य काम होता है, दूसरों द्वारा निर्मित धारणाओ तथा सिद्धान्तो की छानबीन करना। वह विभिन्न सिद्धान्तो पर विचार करता है, और उनकी आन्तरिक सगति से पुलकित तथा उनके अन्तर्विरोधों मे असन्तुष्ट होता है। प्रतिभाशाली में प्रतिपादित सिद्धान्तो के तर्क-मूलक सगठन को सराहने की क्षमता नही होती, ऐसी बात नहीं। किन्तु वह किसी सिद्धान्त से तब तक सन्तुष्ट नही होता जब तक कि वह सिद्धान्त उसके अपने अनुभूत यथार्थ की परिपूर्ण व्याख्या न करे। वह उस चातुर्य से उतना प्रभावित नही होता जो किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन मे दर्शित होता है, वह यह देखना चाहता है कि विचाराधीन सिद्धान्त कितने लम्बे-चौडे यथार्थ की व्याख्या करने, उसे सबद्ध रूप मे प्रस्तुत करने मे समर्थ हुआ है। कोई भी सिद्धान्त यथार्थ अथवा वास्तविकता के किसी अग को सम्बद्ध रूप मे प्रस्तुत करता है। यदि एक प्रतिभाशाली किसी प्राचीन, स्वीकृत सिद्धान्त को मान्यता नही दे पाता तो उसका कारण यह नही होता कि वह स्वय अपनी मौलिकता को प्रमाणित करने के लिये अधीर है, बल्कि यह कि स्वीकृत सिद्धान्त उस यथार्थ

की ठीक व्याख्या नहीं करते जिसे प्रतिभाशाली ने स्वय अपनी अनुभूति मे प्रत्यक्ष किया है।

इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति उपेक्षित यथार्थ का प्रवक्ता होता है। यह यथार्थ बाह्य प्रतीतियाँ तथा सम्बन्ध हो सकते है, किन्तु अक्सर, विशेषत सामाजिक-राजनैतिक मूल्यो के क्षेत्र में, उस यथार्थ का अस्तित्व आत्मगत तथा कल्पना-मूलक होता है। एक क्रान्तिकारी विचारक तीक्ष्ण ढग से हमारा ध्यान आशाओ एव उन मनोरथो की उस विफलता की ओर आकृष्ट करता है जो बचाई जा सकती थी, और उस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का सकेत करता है जो उन कष्टो तथा विफलताओ का मूल कारण है। दूसरा प्रतिभाशाली लेखक, कल्पना द्वारा नवीन अनुभव-समष्टियो की सृष्टि करके, हमारी प्रतीति तथा सवेदना का विस्तार करता है। अक्सर प्रतिभाशाली किसी परिचित पदार्थ अथवा स्थिति में एक नये, अतर्कित तत्व का सकेत करके हमे आनन्दपूर्ण अचरज मे डाल देता है।

सामान्य रूप मे यह कहा जा सकता है कि प्रतिभाशाली अवगति तथा सवेदना का तीव्र केन्द्र होता है और वह अधिक सूक्ष्म तथा समृद्ध जीवन-रूपो को अभिव्यक्ति देने-वाला होता है। प्रतिभाशाली पर प्रतीक-बद्ध मान्यताओ का उतना अधिक प्रभाव नही होता, और वह अपनी भावनाओ का उतना दमन नही करता। यही कारण है कि उसके लिए परम्परा को छोड देना अपेक्षाकृत सरल होता है। वस्तुत प्रतिभा-शाली व्यक्ति, और विशेषत कलाकार, मनुष्य की आदिम मूल प्रवृत्तियो के ज्यादा निकट होता है। वह आदिम मनुष्य की भाँति प्रारम्भिक विस्मय की भावना से वस्तुओ को देखता और उनके सम्बन्ध में महसूस करता है। किसी समाज की जीवन-शैली मुख्यत दो तरह की होती है। प्रथमत , भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियो के अनुरूप, उस समाज मे लोग विभिन्न ढगो से अपनी मूल जरूरतो को पूरा करते है। दूसरे, प्रत्येक समाज मे कुछ धार्मिक-दार्शनिक मान्यताएँ तथा रूढियाँ प्रचलित होती है, जिनमे से कुछ शासक लोगों के लिए लाभकारी होती है। विभिन्न समाज इन दोनो जीवन-प्रकारो की दृष्टि से भिन्न होते हैं, किन्तु उनका प्रमुख भेद मान्यताओ तथा रूढियो से सम्बन्धित रहता है। अतीत के प्राय प्रत्येक समाज में अधिकाश जनो की जीवन-स्थितियाँ कठिन रही है। उन स्थितियो के फलस्वरूप अधिकाश लोग काफी परिश्रम करके अपनी जरूरते पूरी करते रहे है, जब कि थोडे से मनुष्य अपेक्षाकृत आराम मे रह सके है। स्वतत्रता, आत्मसम्मान तथा गौरव की भावनाएँ,

ात्मक एव बौद्धिक व्यापारो के लिये अवकाश, सुन्दर नारियाँ तथा दूसरे सुख के ाधन—ये चीजें प्राय परिश्रम करनेवाले अधिकाश लोगो को कभी प्राप्त नही रही। ास, सेवक तथा शूद्र इनसे प्राय वचित रहे, और उन पर कुछ थोड़े से शक्तिशाली ोगो का एकाधिकार रहा। इस विभिन्नता को कानूनी रूप देने के लिये तरह-तरह क नियम, विधि-निषेध तथा रूढियाँ बनाई गई जिनकी भूलभुलैयो मे मानव-कर्म के ाकृतिक स्रोत दीखना बन्द हो जाते हैं। यहाँ यह भी कह देना जरूरी है कि कुछ नियम तथा विधि-निषेध स्वय सामूहिक जीवन के लिये आवश्यक होते हैं, और व्यक्तियों द्वारा थोडा-बहुत आत्म-नियत्रण स्वय उनके लिए भी हितकर होता है।

कृत्रिम रूढ़ियो का मूल कुछ भी हो, प्रतिभाशालियो द्वारा अक्सर उनका उद्‌घाटन एव विरोध होता है। बात यह है कि प्रतिभाशाली स्वभावत रूढ़िवादी नही होता, और वह मानवीय क्रियाओं की तह में जाने का अभ्यस्त होता है। एक विद्वान् ने कहा है, 'कोई भी सस्कृति क्यो न हो, साहित्य के मूल विषय प्रायः वही रहते हैं... उन विषयो का मानव-प्रकृति के जैवी आधारो से सम्बन्ध रहता है, उनका मनोवैज्ञानिक मूल तत्वो तथा सामूहिक अनुभूति की जरूरतो से भी लगाव होता है। इसलिये विभिन्न सस्कृतियो के साहित्य बाहरवालो के लिये सार्थक प्रतीत होते हैं, जब कि वहाँ की सामाजिक व्यवस्थाएँ तथा अन्य मूल्य उन बाहरवालों को अर्थहीन जान पड़ते हैं।'[१०] इसका मतलब यह नही कि विभिन्न समाजो की भिन्न रूढ़ियाँ तथा प्रथाएँ वहाँ के साहित्यो को प्रभावित नहीं करती, किन्तु प्रभावित करते हुए भी वे उस साहित्य में प्रधान तत्व नही होती। वह साहित्य जो सास्कृतिक आवरणो अर्थात् प्रथाओ तथा रूढियो मे ज्यादा फँस जाता है, धीरे-धीरे अपनी शक्ति या प्राणवत्ता को को खो देता है, उसमें पुन. प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिये यह जरूरी होता है कि बाद के लेखक उसे फिर घसीटकर मूल प्रवृत्तियो के निकट ले आएँ। साहित्य के इतिहास में उन लेखकों के व्यक्तित्व जिन्होने अपने-अपने साहित्यो को पुन. मूल प्रवृत्तियो के निकट स्थापित किया है, काफी प्रमुख रहे हैं। उदाहरण के लिये हम रूसो, वर्ड्‌स्वर्थ, टॉल्स्टाय, कार्लाइल, एमर्सन, नीत्शे, लारेन्स तथा जेम्सज्वाइस के नाम ले सकते हैं जिन्होने क्रमशः प्रकृति, किसान, वीर पुरुष, यौनस्वच्छन्दता आदि पर गौरव दिया। विचारो के क्षेत्र में आलोचनात्मक विश्लेषण जो किसी धारणा को मूल यथार्थ से सम्बन्धित करता है, उसी प्रकार चिन्तन को नया जीवन प्रदान करता है।

इस दृष्टि से देखने पर जान पड़ेगा कि, विभिन्न रूढियो तथा प्रथाओ द्वारा विभक्त

किये हुए समाजो को, प्रतिभाशाली व्यक्ति एकता-सूत्र मे आबद्ध करने के उपकरण बन जाते हैं।

तो, विद्रोह के अन्तर्नियम अथवा नियम-सूत्र क्या हैं? ये सूत्र या नियम अपने को मानवीय जीवन तथा प्रकृति की दो माँगो में अभिव्यक्त करते हैं। एक ओर मनुष्य स्वतत्रता की माँग करता है, और दूसरी ओर वह अपने आत्म-विस्तार अथवा आत्म-प्रसार के लिए अवकाश चाहता है। पहली माँग मुख्यत नैतिक है, और वह अपने को सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलनो के रूप मे प्रकट करती है। यह माँग प्राय तव उत्थित होती है जव उत्पादन-तत्रो की प्रगति वदले हुए भौतिक परिवेश में नई सामाजिक व्यवस्था की कल्पना को जगाती है, अर्थात् ऐसी व्यवस्था के स्वप्न को जिसमें अधिकाश लोगो को अधिक सुख तथा स्वतत्रता मिल सकेगी। दूसरी माँग, जिसका सम्वन्ध अस्तित्व के प्रसार से है, उतनी अधिक स्पष्ट नही हो पाती और अपेक्षाकृत कम लोगो में उत्पन्न होती है। यह माँग कला, विज्ञान तथा दर्शन मे कुछ ज्यादा सूक्ष्म कोटि के विद्रोहो को जन्म देती है।

प्रत्येक दशा में मनुष्य की विद्रोहात्मक माँगो का सम्वन्व उसकी सृजनशील प्रकृति से होता है। जैसे ही मनुष्य को जीवन की श्रेष्ठतर सभावनाएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं, उसके लिए मौजूदा स्थिति से सन्तुष्ट रहना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार जव नया वोव एक अनुभव-क्षेत्र को नये ढग से व्यवस्थित करने की सम्भावनाओं का उद्घाटन करता है, तो पुरानी विचार-पद्धतियो की साख कम होने लगती है, और उन्हें मानकर चलते रहना कठिन हो जाता है। विशेषत प्रतिभाशालियो की मानसिक गठन ऐसी होती है कि वे निरन्तर जीवन तथा अनुभूति के ज्यादा सन्तोपजनक सस्थानो की परिकल्पना करते रहते हैं, और जव एक वार ऐसे सस्थान की परिकल्पना कर ली जाती है, तो यह केवल समय की वात रह जाती है कि कव उस सस्थान को दूसरे लोग ग्रहण अथवा स्वीकार करेंगे।

मार्क्सवादियो का विचार है कि विचारात्मक विद्रोह आवश्यक रूप में सामाजिक व्यवस्थाओं में होनेवाले परिवर्तनों से सम्वन्धित रहते हैं। किन्तु यह मन्तव्य निरपवाद रूप मे सत्य नही है। उदाहरण के लिये सापेक्षवाद ने चिन्तन के क्षेत्र में जिस क्रान्ति को उत्पन्न किया है उसका तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक उथल-पुथल से कोई खास सम्वन्व नही था। यही वात उन क्रान्तिकारी विचारात्मक परिवर्तनो के सम्वन्ध

में कही जा सकती है जो डार्विन तथा फ्रायड के प्रभावो से घटित हुए। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, मनुष्य केवल मात्र एक राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीव नही है, उसके जीवन में कुछ ऐसी क्रान्तियाँ भी होती है जिनका उसके वर्ग तथा समाज के लिये आवश्यक रूप में महत्व नही होता। कभी-कभी एक व्यक्ति के जीवन में अकस्मात् धार्मिक काया-पलट (Conversion) हो जाता है, और वह व्यक्ति एकाएक एक दुष्ट तथा पापी आदमी से धर्मात्मा बन जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन का उसकी सामाजिक-राजनैतिक मान्यताओं पर भी प्रभाव पडे, यह आवश्यक नही है। हमारे कहने का यह मतलब नही है कि मनुष्य के सस्थाबद्ध व्यवहार (Institutional Behaviour) तथा उसकी सास्कृतिक क्रियाओ में कोई सम्बन्ध ही नही होता, फिर भी, हमारे विचार में, ये दोनो पक्ष इतने भिन्न होते है कि एक को दूसरे का कार्य कहना समुचित नही होगा। किसी व्यक्ति की दार्शनिक अथवा कला-सम्बन्धी मान्यताएँ उसके विशेष पेशे अर्थात् जीविका अर्जित करने के ढग से सम्बन्धित नही होती, ठीक वैसे ही जैसे आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद का उसके यहूदी अथवा जर्मन होने से कोई खास सम्बन्ध नही है। हमारे विचार में मनुष्य की दार्शनिक मान्यताएँ उन परपरागत तथा समकालीन विचार-पद्धतियो से जिनसे वह परिचित है—और उन पद्धतियो का सम्बन्ध दर्शन से ही नही, भौतिक विज्ञानो तथा मानवीय विद्याओं से भी हो सकता है—प्रभावित होती है, उसकी इस स्थिति से नही कि वह मध्य अथवा अभिजात वर्ग का सदस्य है और अपनी जीविका एक खास ढग से कमाता है। मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त कि सस्कृति आर्थिक सम्बन्धो पर निर्भर करती है, उन दार्शनिक तथा सास्कृतिक मतभेदो की व्याख्या नही कर सकता जो एक ही वर्ग अथवा जाति के समकालीन विचारको में पाये जाते है। उदाहरण के लिये हमारे देश मे बहुत दिनो तक एक-सी ही सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियो में विभिन्न दर्शन-पद्धतियाँ, हिन्दुओ तथा बौद्धो के दार्शनिक सम्प्रदाय, साथ-साथ विकसित होते रहे।

वस्तुत प्रतिभाशाली में देखने तथा महसूस करने की शक्तियाँ इतनी विकसित होती है, और उसकी अतीत ज्ञानराशि एव सस्कृतियो को ग्रहण करने की क्षमता इतनी अधिक होती है, कि वह सम्भवत. अपने को एक वर्ग की चेतना की परिधि में सीमित नही रख सकता। अक्सर प्रतिभाशाली अपने ही वर्ग की जरूरतो तथा मूल्यो के प्रति विद्रोह करता है। इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि अधिकाश प्रतिभाशाली या तो मध्यवर्ग के अथवा अभिजात वर्ग के हुए हैं। इसीलिए अधिकाश क्रान्तिकारी

विचार-पद्धतियो का सृजन उन्ही वर्गों के अध्ययन के लिए होता रहा है। स्वय प्रजातत्र तथा समाजवाद के अधिकाश प्रचारक, जिनमें मार्क्स और लेनिन को भी गिना जा सकता है, मध्य अथवा अभिजात वर्ग के थे। निष्कर्ष यह है कि सस्कृति जहाँ तक प्रतिभाशालियो द्वारा निर्मित होती है, वहाँ तक वह किसी वर्ग की वस्तु नही मानी जा सकती। इसका मतलव यह हुआ कि अपने उन रूपो मे भी जिनमे वह सामाजिक-राजनैतिक सस्थाओ को प्रभावित करती है, सास्कृतिक चेतना आर्थिक वर्ग-सम्वन्धो द्वारा निर्धारित होती हैं, ऐसा नही माना जा सकता। हम पूछते है कि जव विद्रोही लेखक स्वय अपने वर्ग की जरूरतो अथवा व्यवहारो के प्रति विद्रोह करता है तो उसका उन वर्गों से कैसा सम्वन्ध होता है? मार्क्सवादी कहते है कि कभी-कभी एक व्यक्ति अपने वर्ग का परिवर्तन कर लेता है, जिसका मतलव है कि विद्रोही विचारक नेता अपनी आत्मीयता दलित वर्ग से स्थापित कर लेता है। लेकिन हम पूछते हैं कि क्यो वे विचारक और नेता अपनी वफादारी एक वर्ग से हटाकर दूसरे को दे देते हैं? इसका एकमात्र सम्भव तथा समुचित उत्तर यह है कि वे विचारक तथा नेता न्याय की भावना से इतने प्रभावित होते हैं कि वे स्वय अपने वर्ग के सदस्यो का विरोध करने लगते हैं। किन्तु इस विरोव का यह मतलव नही होता कि वे अपने को शोषितो तथा दलितो के वर्ग से एकीकृत कर लेते हैं। यदि ऐसा हो तो अव उन्हें शेष समस्त विश्व का दुश्मन वन जाना पडे। विरोध का वास्तविक कारण यह होता है कि वे मौजूदा व्यवस्था तथा सम्वन्धो को अन्यायपूर्ण समझते हैं, और उस श्रेष्ठतर व्यवस्था को सहानुभूति देते है जो नई परिस्थितियो द्वारा सभव वना दी गई हैं। ईसा, गाधी तथा स्वय मार्क्स जैसे शिक्षक तथा विचारक जो दलितो के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं, उसका कारण कोई सकीर्ण वर्ग की भावना नही होती, उसका कारण सिर्फ यही होता है कि उन शिक्षको तथा विचारको में यह इच्छा रहती है कि इस पृथ्वी पर ऐसी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्थाएँ रहें जिनमें अधिकाधिक नर-नारी सुख तथा स्वतत्रता का जीवन व्यतीत कर सकें। ऐसे शिक्षको तथा विचारको को, सपूर्ण अर्थ में, समस्त मानवता का हित-चिन्तक कहना चाहिए, न कि किसी वर्ग का हितैषी। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ तथा महत्वाकाक्षाओ से ऊपर उठकर ये शिक्षक तथा विचारक ऐसे मूल्यो को प्रचारित करना चाहते हैं जो वस्तुत सार्वभौम हैं। उदाहरण के लिये मार्क्स के "पूंजी" ग्रथ में एक अध्याय है जिसका शीर्षक है, "काम-काजी दिन"। इस अध्याय में यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार उस समय के श्रमिक बहुत ज्यादा घटो तक अपने मालिको के लिये काम करते थे, जिससे वे वेहद

थक जाते थे। यह अध्याय सभी पाठको के मन में श्रमिकों के प्रति सहानुभूति जगाता है। उन पाठको मे पूंजीपति भी हो सकते हैं। ऐसे शिक्षको तथा विचारको की भावी समाज-सम्बन्धी कल्पनाएँ ऐतिहासिक महत्व प्राप्त कर लेती हैं, यह उन श्रम तथा श्रमिको से सम्बन्ध रखनेवाले कानूनो से सिद्ध है जो, पूंजीवादी देशो मे भी, मार्क्स-वाद के प्रचार के बाद बनाये गये। तब से अब तक इगलैण्ड आदि देशो मे बने हुए कानूनो द्वारा श्रमिको की दशा क्रमश सुधरती ही गई है। इसका यह मतलब नही कि मार्क्सवाद के प्रचार के बाद पूंजीवादी मालिक स्वार्थहीन बन गये, अथवा उन्होंने अनैतिक व्यवहार बन्द कर दिया; मतलब यह है कि उन मालिको को क्रमश सर्व-साधारण की बदली हुई नैतिक भावना के अनुरूप बन जाना पड़ा है, उस भावना के जो राज्य के विधानो में क्रमश अभिव्यक्ति पा रही थी।

प्रश्न है, प्रतिभाशाली का अपने समय तथा लोगो से क्या सम्बन्ध होता है? हमारे विचार में यह सम्बन्ध पारस्परिक प्रभाव रूप होता है। प्रतिभाशाली अपने युग को वैसे ही प्रभावित करता है, जैसे कि युग स्वय उसको। यदि यह माना जाय कि प्रतिभाशाली समाज की गति का निर्धारण नही करता, तो यह कहना होगा कि प्रतिभा एक व्यर्थ वस्तु है। और यदि यह कहा जाय कि युग का प्रतिभाशाली के व्यक्तित्व पर कोई प्रभाव नही पडता, तो यह अनुगत होगा कि प्रतिभा का अपने युग से कोई खास सम्बन्ध नही होता। किन्तु यह निश्चित है कि प्रतिभा पर उसके युग का प्रभाव पडता है। जिस समय प्रतिभाशाली का प्रशिक्षण चलता है, उस समय उसके देखने तथा चिन्तन करने की शक्तियाँ, उसकी नैतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी सवेदनाएँ, युग तथा समाज की रुचियो द्वारा निर्धारित होती हैं। युग तथा जाति की समृद्ध सास्कृतिक परम्परा मे प्रविष्ट होते हुए ही प्रतिभाशाली शिक्षित बनता है। यह ठीक है कि दूसरो की अपेक्षा प्रतिभाशाली अपने लोगो तथा दूसरी जातियो की भी सास्कृतिक परम्पराओ को अधिक आत्मसात् कर पाता है, किन्तु जब वह उन परम्पराओ की व्याख्या करता है, तो उस पर अनिवार्य रूप मे अपने युग की जरूरतो तथा मूल्यो का प्रभाव पड़ता है।

स्वयं प्रतिभाशाली अपने युग को दो चीजे देता है। प्रथमत वह उन मूल्यो तथा प्रतीतियो को जो उसके समाज की चेतना में ग्रथित है, स्पष्ट अभिव्यक्ति देता है; दूसरे, अपनी सृजनात्मक शक्तियो का उपयोग करते हुए वह अपने युग की अनुभूतियो, सवेदनाओ तथा क्रियाओ के नये, अधिक सन्तोषप्रद सस्थानो का सकेत करता है। जो प्रतिभाशाली जितना ही अधिक बडा होता है वह अपने युग की अनुभूतियो का उतना ही

अधिक विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण कर पाता है, और उसके द्वारा किये हुए समन्वय, पुनर्गठन अथवा नवीन संस्थानो के निर्माण उतने ही अधिक विशाल तथा लोगो की जीवन-दिशा को परिवर्तित करनेवाले होते है।

प्रतिभाशाली एक तीसरी चीज भी समाज को देता है, उसकी यह देन नैतिक होती है। जिन्हें हम रूढियाँ तथा प्रथाएँ कहते है वे अक्सर मानवजाति की अग्रगति मे बाधक हो जाती है। रूढियाँ आदर करने योग्य परम्परा समझी जाती है, उनकी मान्यता के मूल मे अक्सर दम्भ तथा प्रवचन रहता है। अधिकाश लोग पुरानी रूढियो के दबाव से कष्ट सहते हुए भी उनका परित्याग करना कठिन पाते है। किन्तु प्रतिभाशाली मे इतनी शक्ति और साहस होता है कि वह रूढियो की जड पर आघात करे, और सामाजिक व्यवहार के पीछे छिपे हुए दम्भ को प्रकट कर दे। ऐसा करते हुए प्रतिभाशाली व्यक्ति अनिवार्य रूप में समाज के रोष तथा लोगो की शत्रुता का भाजन बन जाता है। किन्तु फिर भी अन्त मे वह यह दिखाने में समर्थ होता है कि मौजूदा व्यवस्था खोखली अथवा अनुचित है। कारण यह है कि प्रतिभाशाली की प्रतीतियाँ, भावनाएँ तथा आदर्श मानवीय आत्मा के सामान्य रूप की सृजनात्मक जरूरतो के ज्यादा निकट होते है। इसीलिये लोग उन्हे क्रमश ग्रहण कर लेते है।

सामान्य मानवात्मा की जरूरतो को सृजनात्मक कहने से हमारा क्या तात्पर्य है? इस कथन का मतलब इस बात पर गौरव देना है कि मनुष्य की जरूरते एक [illegible] निर्दिष्ट मात्रा नही है। जैसे-जैसे मनुष्य के भौतिक परिवेश तथा उत्पादन-[illegible] मे परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे उनके जीवन की सम्भावनाएँ, और साथ ही उनकी [illegible], बदल जाती है। उदाहरण के लिये एक ऐसे समाज में जिसका काफी उद्योगी-[illegible] हो चुका है, श्रमिको की माग ज्यादा ऊँची होती है बनिस्बत उस देश के जहाँ [illegible] नही, अथवा अनियमित अवस्था में है। मनुष्य की एक ही कोटि की [illegible] भी देश तथा काल के अनुसार बदलती रहती है। तो क्या यह कहना चाहिए [illegible] एक प्रकार की ऐतिहासिक आवश्यकता बन जाती है, जिन्हे [illegible] ऐतिहासिक शक्तियाँ प्रतिभाशाली का बरबस आह्वान करती [illegible] मानना चाहिये कि इतिहास की आन्तरिक जरूरतें अनिवार्य रूप मे [illegible] जाती है? इन प्रश्नो के उत्तर, हमारी समझ में, [illegible] यद्यपि मार्क्सवाद की धारणा इनसे विपरीत है। "ऐतिहासिक [illegible] वैज्ञानिक [illegible] की समुचित वाहक

नही हो सकती। हमे यह नही भूलना चाहिए कि किसी भी युग मे मनुष्यो के प्रयत्न ऐसे विविध क्षेत्रो मे अनुष्ठित होते है जहाँ अनेक सम्भावनाएँ वर्तमान रहती है। मनुष्यो की विभिन्न आवश्यकताएँ, उनकी विभिन्न जरूरतो के वर्ग एक-दूसरे से साध्य-साधन रूप मे सम्बन्धित रहते है और विभिन्न परिस्थितियो में कुछ जरूरते ज्यादा महत्वपूर्ण बन जाती है और कुछ कम, फलत विभिन्न परिस्थितियो में मनुष्य अपनी जरूरतो को विभिन्न ढगो से पूरा करता रहता है। इसलिये जब प्रतिभाशाली एक नई व्यवस्था का स्वप्न हमारे सामने रखता है तो यह नही समझना चाहिए कि वह इतिहास के आनेवाले रूप का आभास भी देता है। ऐसा मानने से उस स्वप्न या प्रतीति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता का लोप हो जायगा, अर्थात् उस विशेषता का जिसका सम्बन्ध सृजनशील प्रतिभा से है। जहाँतक प्रतिभाशाली सृजनशील होता है वहाँ तक वह इतिहास द्वारा निर्धारित नही होता, और जहाँ तक इतिहास प्रतिभाशालियो की सृजनशीलता द्वारा प्रभावित होता है वहाँ तक यह मानना चाहिए कि उसकी प्रगति निश्चित नियमो द्वारा बँधी हुई नहीं है। यदि ऐतिहासिक आवश्यकताएँ महापुरुषो को बुला सकती, तो दुनिया के किसी राष्ट्र मे कभी अवनति न होती, और सब देशो का इतिहास एक ही वेग से उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहता। किन्तु विभिन्न देशो की प्रगतियो का इतिहास यह सिद्ध करता है कि ऐतिहासिक प्रगति एक अनिवार्य चीज नही है। जहाँ कुछ देशो ने कुछ शताब्दियो तक लगातार उन्नति की है, वहाँ दूसरे देश उन शताब्दियो में, अथवा अपने सम्पूर्ण ऐतिहासिक जीवन में, बहुत कम उन्नति करते पाये जाते हैं। एक दूसरी बात भी है। महापुरुषो के उत्पन्न होने का अर्थ यह नही है कि कोई देश उन्नति करेगा ही। यह भी हो सकता है कि एक देश के निवासी महापुरुषो के बताये हुए रास्ते पर न चले, और इस प्रकार उन्नति न कर सके।

इतिहास की प्रगति मे प्रतिभाशाली व्यक्ति जो पार्ट खेलता है उसकी तुलना शतरज के खेल के एक द्रष्टा से की जा सकती है। वह द्रष्टा समय-समय पर निपुण सुझाव दे सकता है। किन्तु जिस खिलाडी को वह सुझाव देता है उसके लिये यह अनिवार्य नही है कि वह उस सुझाव को मानकर चले। खिलाडी द्रष्टा के सुझाव को तभी मानेगा जब उसे यह विश्वास होगा कि वह सुझाव उपयोगी है, और यह भी कि उस सुझाव को ग्रहण करके वह आगे साहस के साथ उसका निर्वाह करता चला जायगा। सामाजिक तथा राजनैतिक विचारक जिन आदर्श व्यवस्थाओं की कल्पना करते हैं वे कुछ ऐसे ही सुझावो के समान होती हैं। किसी देश के निवासी उन व्यवस्थाओ को यथार्थ रूप मे

अधिक विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण कर पाता है, और उसके द्वारा किये हुए समन्वय, पुनर्गठन अथवा नवीन सस्थानो के निर्माण उतने ही अधिक विशाल तथा लोगो की जीवन-दिशा को परिवर्तित करनेवाले होते है।

प्रतिभाशाली एक तीसरी चीज भी समाज को देता है, उसकी यह देन नैतिक होती है। जिन्हे हम रूढियाँ तथा प्रथाएँ कहते है वे अक्सर मानवजाति की अग्रगति मे बाधक हो जाती है। रूढियाँ आदर करने योग्य परम्परा समझी जाती है, उनकी मान्यता के मूल मे अक्सर दम्भ तथा प्रवचन रहता है। अधिकाश लोग पुरानी रूढियो के दबाव से कष्ट सहते हुए भी उनका परित्याग करना कठिन पाते है। किन्तु प्रतिभाशाली मे इतनी शक्ति और साहस होता है कि वह रूढियो की जड पर आघात करे, और सामाजिक व्यवहार के पीछे छिपे हुए दम्भ को प्रकट कर दे। ऐसा करते हुए प्रतिभाशाली व्यक्ति अनिवार्य रूप मे समाज के रोष तथा लोगो की शत्रुता का भाजन बन जाता है। किन्तु फिर भी अन्त मे वह यह दिखाने मे समर्थ होता है कि मौजूदा व्यवस्था खोखली अथवा अनुचित है। कारण यह है कि प्रतिभाशाली की प्रतीतियाँ, भावनाएँ तथा आदर्श मानवीय आत्मा के सामान्य रूप की सृजनात्मक जरूरतो के ज्यादा निकट होते है। इसीलिये लोग उन्हे क्रमश ग्रहण कर लेते है।

सामान्य मानवात्मा की जरूरतो को सृजनात्मक कहने से हमारा क्या तात्पर्य है? इस व्यजना का मतलब इस बात पर गौरव देना है कि मनुष्य की जरूरते एक स्थिर तथा निर्दिष्ट मात्रा नही है। जैसे-जैसे मनुष्य के भौतिक परिवेश तथा उत्पादन-तत्रो मे परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे उसके जीवन की सम्भावनाएँ, और साथ ही उसकी जरूरते, बदल जाती है। उदाहरण के लिये एक ऐसे समाज मे जिसका काफी उद्योगीकरण हो चुका है, श्रमिको की माँग ज्यादा ऊँची होती हे बनिस्बत उस देश के जहाँ उद्योग-धधे नही, अथवा अविकसित अवस्था में है। मनुष्य की एक ही कोटि की रुचियाँ भी देश तथा काल के अनुसार बदलती रहती है। तो क्या यह कहना चाहिए कि मनुष्य की जरूरते एक प्रकार की ऐतिहासिक आवश्यकता बन जाती है, जिन्हे पूरा करने-कराने के लिए ऐतिहासिक शक्तियाँ प्रतिभाशाली का बरबस आह्वान करती है? क्या यह मानना चाहिये कि इतिहास की आन्तरिक जरूरतें अनिवार्य रूप में कतिपय परिवर्तनो को उत्पन्न करती है? उक्त प्रश्नो के उत्तर, हमारी समझ में, नकारात्मक होने चाहिएँ, यद्यपि मार्क्सवाद की धारणा इससे विपरीत है। "ऐतिहासिक आवश्यकता" जैसी व्यजनाएँ रूपकात्मक है, वे वैज्ञानिक अर्थों की समुचित वाहक

नही हो सकती। हमे यह नही भूलना चाहिए कि किसी भी युग में मनुष्यो के प्रयत्न ऐसे विविध क्षेत्रो में अनुष्ठित होते है जहाँ अनेक सम्भावनाएँ वर्तमान रहती है। मनुष्यो की विभिन्न आवश्यकताएँ, उनकी विभिन्न जरूरतो के वर्ग एक-दूसरे से साध्य-साधन रूप मे सम्बन्धित रहते है और विभिन्न परिस्थितियो मे कुछ जरूरते ज्यादा महत्वपूर्ण बन जाती हैं और कुछ कम, फलत विभिन्न परिस्थितियो में मनुष्य अपनी जरूरतो को विभिन्न ढगो से पूरा करता रहता है। इसलिये जब प्रतिभाशाली एक नई व्यवस्था का स्वप्न हमारे सामने रखता है तो यह नही समझना चाहिए कि वह इतिहास के आनेवाले रूप का आभास भी देता है। ऐसा मानने से उस स्वप्न या प्रतीति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता का लोप हो जायगा, अर्थात् उस विशेषता का जिसका सम्बन्ध सृजनशील प्रतिभा से है। जहाँतक प्रतिभाशाली सृजनशील होता है वहाँ तक वह इतिहास द्वारा निर्धारित नही होता, और जहाँ तक इतिहास प्रतिभाशालियो की सृजनशीलता द्वारा प्रभावित होता है वहाँ तक यह मानना चाहिए कि उसकी प्रगति निश्चित नियमो द्वारा बँधी हुई नही है। यदि ऐतिहासिक आवश्यकताएँ महापुरुषो को बुला सकती, तो दुनिया के किसी राष्ट्र में कभी अवनति न होती, और सब देशो का इतिहास एक ही वेग से उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहता। किन्तु विभिन्न देशो की प्रगतियो का इतिहास यह सिद्ध करता है कि ऐतिहासिक प्रगति एक अनिवार्य चीज नही है। जहाँ कुछ देशो ने कुछ शताब्दियो तक लगातार उन्नति की है, वहाँ दूसरे देश उन शताब्दियो मे, अथवा अपने सम्पूर्ण ऐतिहासिक जीवन मे, बहुत कम उन्नति करते पाये जाते है। एक दूसरी बात भी है। महापुरुषो के उत्पन्न होने का अर्थ यह नही है कि कोई देश उन्नति करेगा ही। यह भी हो सकता है कि एक देश के निवासी महापुरुषो के बताये हुए रास्ते पर न चले, और इस प्रकार उन्नति न कर सके।

इतिहास की प्रगति में प्रतिभाशाली व्यक्ति जो पार्ट खेलता है उसकी तुलना शतरज के खेल के एक द्रष्टा से की जा सकती है। वह द्रष्टा समय-समय पर निपुण सुझाव दे सकता है। किन्तु जिस खिलाडी को वह सुझाव देता है उसके लिये यह अनिवार्य नही है कि वह उस सुझाव को मानकर चले। खिलाडी द्रष्टा के सुझाव को तभी मानेगा जब उसे यह विश्वास होगा कि वह सुझाव उपयोगी है, और यह भी कि उस सुझाव को ग्रहण करके वह आगे साहस के साथ उसका निर्वाह करता चला जायगा। सामाजिक तथा राजनैतिक विचारक जिन आदर्श व्यवस्थाओ की कल्पना करते है वे कुछ ऐसे ही सुझावो के समान होती है। किसी देश के निवासी उन व्यवस्थाओ को यथार्थ रूप मे

उतारने के लिये अग्रसर होते है या नहीं, यह उन निवासियो की प्रकृति तथा साहस-शीलता पर उतना ही निर्भर करेगा जितना कि प्रकल्पित व्यवस्थाओ की योग्यता पर।

ऊपर की विचारणाओ के अतिरिक्त कुछ अन्य तथ्य भी हैं जो इतिहास की दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक व्याख्याओ के दावेदारो के विरुद्ध पडते हैं। इतिहास के व्याख्याताओं ने यह दिखाने की कोशिश की है कि इतिहास की प्रगति अखड नियमो के अनुसार होती है, लेकिन इतिहास की सब घटनाओ में वैसे नियम प्रतिफलित होते नही दीखते। जब हूणो ने योरप को आक्रात किया और तैमूर लग ने भारतवर्ष पर हमला किया, तो उनके द्वारा जो विनाश हुए उन्हे इतिहास की व्याख्या में कहाँ स्थान दिया जा सकता है? इसी प्रकार कहा जाता है कि ईसा की दूसरी शताब्दी मे रोमन साम्राज्य में एक बीमारी ऐसे भयकर रूप में फैल गई कि उसने रोमन साम्राज्य को ध्वस्तप्राय कर दिया और हेन वश के चीनी राज्य को तो समाप्त ही कर दिया। हम पूछते हैं कि क्या ये घटनाएँ ऐतिहासिक नियमो के अनुसार घटित हुई? दुनिया मे बहुत-से समाज हैं, उन ऐतिहासिक समाजो का विकास प्राय भिन्न-भिन्न ढग से हुआ है। समाजो के विकास की भिन्न दिशाएँ इस मन्तव्य का कि इतिहास की व्याख्या हो सकती है, खण्डन करती है। ट्वायनवी की गणना के अनुसार इस धरती पर लगभग छ सौ पचास ऐसे समाज है जो अभी तक सभ्यता की प्रारभिक अवस्था में चले आते हैं, और जिन पर ऐतिहासिक विकास के किन्ही नियमो को लागू नही किया जा सकता। दूसरे कुछ समाज हैं जिन्होंने कुछ दिनो तक उन्नति की, और बाद में उन्नति करना बन्द कर दिया, अथवा नष्ट हो गये। उक्त इतिहासकार के अनुसार केवल पांच ऐसी जातियाँ या समाज हैं जो पिछले डेढ हजार वर्ष से लगातार अस्तित्ववान् रहे हैं। उन पांच के नाम हैं पश्चिमी (प्रोटेस्टेण्ट) ईसाई समाज, गतानुगतिक ईसाई समाज, इसलामी दुनिया, हिन्दू समाज तथा सुदूर पूर्व के समाज। किन्तु इन समाजो मे से किन्ही दो ने भी ऐतिहासिक विकास के एक ही क्रम का अनुगमन नही किया है। यदि हम अन्ध देशभक्ति के इस सिद्धान्त को न मान लें कि कुछ जातियाँ ईश्वर को विशेप प्रिय होती हैं, तो यह समझना मुश्किल हो जाता है कि विभिन्न देशो में विभिन्न जातियाँ इतिहास के बँधे हुए नियमो का अनुगमन करती हुई इस प्रकार एक-दूसरे से भिन्न कैसे बन गई, और उनकी उपलब्धियाँ इतनी भिन्न क्यो है।

इतिहास की व्याख्येयता की यह संक्षिप्त समीक्षा हमने इसलिये की है कि पाठक इस मान्यता को न स्वीकार कर लें कि मनुष्य आवश्यक रूप में उच्चतर भूमिकाओं की

ओर अग्रसर हो रहा है। यह भी नही कहा जा सकता कि मनुष्य का एक निश्चित लक्ष्य है, अथवा मानव-जीवन का एक चरम उन्नत रूप है, जिसकी ओर विभिन्न जातियाँ या समाज अनवरत वढते जा रहे हैं। हम मानते हैं कि इस प्रकार के किसी चरम लक्ष्य की कल्पना करना हमारे लिए सम्भव नही है।

निष्कर्ष यह कि इतिहास किसी निश्चित, पूर्व-निर्धारित ढर्रे पर नही चला जा रहा है, और उसके आगे आनेवाले रूपो का पूर्ण अनुमान अभी नही किया जा सकता। यह निष्कर्ष एशिया आदि देशो के लोगो को, जो परम्परावादिता की लम्वी और गहरी नीद से हाल ही मे जग रहे हैं, उत्साहवर्द्धक होना चाहिए, वह उस योरप के लोगो को भी, जिसके पतन की भविष्यवाणी डेनीलेप्स्की, स्पेंगलर श्यूवार्ट तथा वार्याएव जैसे विचारको ने की है, अच्छा लगना चाहिए। वस्तुत मनुष्य के लिखित इतिहास की अवधि और विस्तार इतना छोटा है कि उसके आधार पर हम जातियो तथा सस्कृतियो के भविष्य के सम्वन्ध में लम्वे-चौडे सामान्य कथन नही कर सकते। इस सन्दर्भ में यह वात लक्षित करने की है कि क्रेवर नामक विद्वान् ने विभिन्न देशो तथा जातियो के अतीत इतिहास की परीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला है कि एक ही जाति के इतिहास में सृजनात्मक अथवा सास्कृतिक प्रगति के युगो की कई आवृत्तियाँ हो सकती हैं। उदाहरण के लिये क्रेवर का विचार है कि हमारे देश के सास्कृतिक इतिहास मे कम से कम दो वार ऐसे युग आये जव सस्कृति के विभिन्न क्षेत्रो में तेजी से प्रगति हुई। कुछ देशो में प्रगति के दो से अधिक युग भी आये हैं। निष्कर्ष यह कि स्पेंगलर जैसे विद्वानों का यह कहना कि एक सस्कृति पैदा होकर वढती हुई अनिवार्य रूप में मृत हो जाती है, विश्वसनीय सत्य नही है।

एक प्रगतिशील व्यक्ति, समाज या जाति क्रमश उस स्थिति की ओर अग्रसर होती है जो प्रतिभाशाली के जीवन मे पायी जाती है। कुछ लोगो का विचार है कि जिन्हे हम प्रतिभाशाली कहते हैं वे प्राय सनकी, असतुलित तथा असामान्य होते हैं, कि वे भावुक तथा स्वप्नदर्शी होते हैं, जिनकी कल्पनाओ का यथार्थ से लगाव नहीं होता। उत्तर मे निवेदन है कि यह वर्णन सव प्रकार के प्रतिभाशालियो पर लागू नहीं है। उदाहरण के लिये नेपोलियन जैसे सेनानी तथा विस्मार्क जैसे राजनीतिज्ञ इस कोटि में नही आते। न यह वर्णन दुनिया के वडे विचारको तथा वैज्ञानिको पर, जैसे न्यूटन तथा आइनस्टाइन, अरस्तू और डेकार्ट, लाइवनिज और कान्ट, वर्गसा, वट्रॅन्ड रसेल आदि पर ही लागू होता है। सम्भवत यह वर्णन कुछ हद तक कलाकारो तथा साहित्यिक

प्रतिभाओ के लिये, जिनकी प्रकृति वडी सवेदनशील होती है, सही समझा जा सकता है। पूछा जा सकता है कि इस प्रकार की प्रकृतियो अथवा पुरुषो को सास्कृतिक प्रगति का आदर्श कैसे कथित किया जा सकता है ?

हमारा विश्वास है कि ऊपर की आपत्तियाँ गलतफहमी तथा भ्राति पर आधारित है। जव हम कहते है कि प्रतिभाशाली मानवीय उन्नति का आदर्श होते हैं, तो हमारा मतलव यह नही है कि हमे उनकी कमजोरियो का अनुकरण करना चाहिए। हम उनका अनुकरण उन्ही चीजो में करें जो उनके व्यक्तित्वो को शक्तिमान वनाती है। समस्त कलाकार तथा साहित्यिक असतुलित प्रकृति के होते है, ऐसा नही कहा जा सकता। रस्किन ने सकेतित किया है कि वडे कलाकार अपनी रचनाओ मे नितान्त वस्तुनिष्ठ एव सतुलित होते हैं, और वे वाह्य वस्तुओ पर अपनी भावनाओ का आरोप नही करते फिरते। यह ठीक है कि कुछ प्रतिभाशाली व्यक्ति, जिनमें कलाकारो की भी गणना है, असतुलित तथा अव्यावहारिक दिखाई पडते है। किन्तु इसका कारण यह है कि प्रतिभावान् व्यक्ति रूढियो तथा परम्पराओ का उतना आदर नही करते, और जनमत की परवाह किये विना, अपनी सच्ची भावनाओ को साहसपूर्ण ढग से प्रकट करते है। हमारा विश्वास है कि इस प्रकार के साहस तथा सच्चाई का आकलन सास्कृतिक प्रगति के लिये आवश्यक चीज है।

मनुष्य विना किसी खतरे के प्रतिभाशालियो के कतिपय गुणो का अनुसरण कर सकते है, जैसे उनका सत्य के प्रति आग्रह, उनकी यह प्रवृत्ति कि वे यथार्थ के अविकासिक विस्तार से सम्पर्क स्थापित कर ले, उनकी नूतनताओ का सृजन करने की प्रवृत्ति, उनकी न्याय-भावना, और दलितो के प्रति ममता तथा करुणा का भाव। प्रतिभाशाली अपने छोटे, व्यक्तिगत हानि-लाभ की विशेष चिन्ता नही करता, वह प्राय उस चीज में रुचि लेता है जिसका सार्वभौम एव स्थायी महत्व है। इसका मतलव यह नही कि हमे अपने साधारण जीवन के दैनिक कर्तव्यो की अवहेलना करनी चाहिए। मतलव यह है कि हम अपने छोटे-छोटे कामो तथा कर्तव्यो को करते हुए भी केवल व्यक्तिगत हानि-लाभ का विचार न करें, वल्कि यह वात ध्यान में रखें कि हम उन कामो का अनुष्ठान समाज की रक्षा तथा हित के लिये कर रहे है।

इलियट ने कहा है कि वह व्यक्ति जो सस्कृति को आगे वढाता है, आवश्यक रूप में सुसस्कृत व्यक्ति नही होता, दो कारणो से। प्रथमत ऐसा व्यक्ति एक सकीर्ण

क्षेत्र का विशेषज्ञ हो सकता है, और दूसरे, उस व्यक्ति में शिष्टता की कमी हो सकती है। इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि एक कलाकार भी तब तक अपने क्षेत्र में बहुत ऊँची उपलब्धियाँ नही कर सकता जब तक उसका ज्ञान के दूसरे क्षेत्रो से अच्छा परिचय न हो। दुनिया के प्राय सभी लेखक और कवि जैसे शेली और वर्ड्स्वर्थ, शेक्सपियर और दान्ते, कालिदास और तुलसीदास, बहुश्रुत एव व्यापक रुचियो वाले हुए हैं। हो सकता है कि कतिपय सगीत-विशारदो तथा चित्रकारो में व्यापक रुचि एव बौद्धिक श्रेष्ठता का अभाव रहा हो, क्योकि इन कलाओ का विषय विशुद्ध रूप में इन्द्रिय-ग्राह्य होता है, किन्तु इस प्रकार की प्रतिभाओ का मनुष्यो के जीवन पर, शायद, उतना प्रभाव नही पडता जितना कि पिछली कोटि के लेखको का, जिसका मतलब यह है कि उनकी सास्कृतिक देन कवियो तथा लेखको के समकक्ष नही होती। जहाँ तक इलियट की दूसरी विचारणा का सम्बन्ध है, जिसके कारण उन्होने प्रतिभाशाली को असस्कृत कहा है, हमारा कहना है कि किसी प्रतिभाशाली की सस्कृति तथा उसकी सास्कृतिक देन का मूल्याकन केवल उस जाति या समाज की दृष्टि से नही किया जा सकता जिसका वह सदस्य है, उसका मूल्याकन समस्त मानव-जाति की दृष्टि से होना चाहिए। प्रतिभाशाली स्वभावत अपने समाज की कृत्रिमताओ के विरुद्ध विद्रोह करता है। उसकी कामना होती है कि वह मनुष्यो को कृत्रिम व्यवहारो तथा शिष्टता के प्रकारो से मुक्त करके उन्हें अधिक स्वाभाविक ढग से जीने तथा महसूस करने की प्रेरणा दे।

साराश रूप मे हमारा मन्तव्य इस प्रकार है। किसी व्यक्ति तथा समाज की प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि वह क्रमश देखने तथा महसूस करने के उन ढगो का अतिक्रमण करे जिनका सम्बन्ध विशिष्ट व्यक्ति अथवा समाज से है, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण मानवजाति के दृष्टिकोण को अपना ले। विभिन्न जातियाँ जिस हद तक प्रगति करती है, उस हद तक वे सार्वभौम मनुष्य के दृष्टिकोण की ओर अग्रसर होती है। इस प्रकार अग्रसर होती हुई जातियो का नेतृत्व प्रतिभाशाली व्यक्ति करते है। हम यह नही कह रहे है कि प्रतिभाशालियो के विचार तथा आवेग अपनी जाति अथवा समाज मे एकदम असम्बधित होते है। किन्तु हम यह कहना चाहते है कि प्रतिभाशाली लोग प्राय. विद्रोही होते है, और अपने व्यवहार मे वे जिन-जिन चीजो मे विद्रोह करते है, उन-उन चीजो मे वे अपने समाजो को क्रमश. सार्वभौम मनुष्य के दृष्टिकोण की ओर ले जाते है। प्रतिभाशालियो की अधिकाश शक्ति उन विचारो तथा

रूढियो के विरोध में खर्च हो जाती है जो एकदेशी अथवा सकीर्ण दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं।

हीगल और मार्क्स का यह मन्तव्य कि इतिहास को आगे बढानेवाली शक्ति निषेध या विरोध है, कुछ ऐसे ही सत्य को प्रकट करता है। प्रतिभाशाली लोग जितने जोरशोर से पुरानी मान्यताओ का विरोध करते हैं, उसकी तुलना में उनकी नये सत्यो की खोज अपेक्षाकृत कम महत्व की होती है। बाद की पीढियाँ ही यह निश्चित कर सकती है कि उन्होने सत्यो का जो रूप स्थिर किया, वह कहाँ तक ग्राह्य तथा उपयोगी है।

मार्क्सवाद के विरोध में हम यह मानते हैं कि सस्कृति एक मानवीय चीज है, केवल एक वर्ग की चीज नही। इसका मतलब यह हुआ कि विभिन्न मनुष्यो के सास्कृतिक विभाग उनके वर्ग-विभाग के समरूप नही होते, यद्यपि यह ठीक है कि विभिन्न वर्गों के बालक समान अवसर न पाने के कारण विभिन्न कोटियो की सस्कृति तथा सभ्यता का विकास कर लेते हैं। शिक्षा आदि की सुविधाएँ प्राप्त होते ही वे वर्ग जो अब तक पिछडे हुए थे, अपने शासक वर्गों की सस्कृति को स्वभावत आत्मसात् कर सकते हैं। वस्तुत एक वर्ग या देश की सस्कृति दूसरे देश तथा वर्ग की सस्कृति की विरोधिनी न होते हुए उसकी पूरक होती है। यदि सस्कृति का अर्थ कल्पना-मूलक सामान्य चेतना या बोध समझा जाय, तो कहना होगा कि विभिन्न देशो की सस्कृतियाँ एक-दूसरे से सम्पर्कित होकर पारस्परिक समृद्धि का ही कारण होगी। यही कारण है कि विभिन्न देशो के उपन्यास, जिनमें विभिन्न वर्गों तथा जातियो के जीवन-विवरण रहते हैं, लेखको से भिन्न देशो तथा जातियो के सदस्यो द्वारा भी आनन्दपूर्वक पढे जाते हैं।

विभिन्न समाजो तथा जातियो की उन्नति का अर्थ यह है कि वे क्रमश उन सिद्धातो, मान्यताओ तथा व्यवहारोके बदले जो सकीर्ण परम्परासे प्राप्त हुए हैं,उन मन्तव्यो तथा आदर्शों को ग्रहण कर ले जिन्हें सारी मानवजाति स्वीकार कर सकती है। विभिन्न समाज तथा व्यक्ति अपने विचारो तथा व्यवहारो में दो प्रकार से परिवर्तन करते हैं, सृजनशील प्रतिभाओ के प्रभाव से, अथवा दूसरी जातियो तथा समाजो के सम्पर्क से। मनुष्य स्वभावत सत्य को स्वीकार करना चाहता है, वह यह भी चाहता है कि उसका दूसरे मनुष्यो से अधिकाधिक तादात्म्य हो। एक ओर वह अपने विश्वासो तथा विचारो के लिये सार्वभौम प्रामाणिकता चाहता है, और दूसरी ओर वह अनियम तथा

खामखयालीपन को बचाकर चलना चाहता है। मनुष्य इस प्रकार की चिन्ता करता है, इसका सबसे बडा सबूत यह है कि वह अपने अन्वेषण के तरीको एव अपनी आस्थाओ के आधारो की लगातार परीक्षा करता रहता है। मनुष्य की यह आलोचनात्मक प्रवृत्ति वह शक्ति है जो लगातार सब जातियो को एक-दूसरे के निकट लाती रही है, और उनमें सास्कृतिक ऐक्य उत्पन्न करती रही है। धीरे-धीरे व्यक्ति अपने पक्षपातो तथा शकाओ के ऊपर उठकर सामाजिक सत्यो को ग्रहण करता है, और धीरे-धीरे विभिन्न जातियाँ दलगत आदर्शों की सीमाओ से उठकर सम्पूर्ण मानवजाति के दृष्टिकोण को अपनाने की ओर अग्रसर होती है। जो बात विभिन्न जातियो अथवा समाजो के सम्बन्ध में सही है, वही विभिन्न वर्गो के भी। सास्कृतिक क्रिया के क्षेत्र में मानवजाति की उन्नति का अर्थ यह होगा कि वह क्रमश एकवर्गता की दशा की ओर तथा एक समाज की स्थिति की ओर, अग्रसर हो। इस वर्ग या समाज के सदस्य उन आदर्श कलाकारो तथा विचारकोके समरूप होगे जिनकी सास्कृतिक सृष्टियाँ सपूर्ण मानवजाति को आनन्द देती है।

हमारे इस मन्तव्य का कि प्रगतिशील जातियाँ तथा समाज प्रतिभाशाली की स्थिति की ओर बढते है, ट्वाइनबी ने, सभ्यताओ की उत्पत्ति तथा प्रगति का विश्लेषण करते हुए, बढिया समर्थन किया है। सभ्यताओ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनका कहना है कि .

'आदिम समाजो तथा सभ्य समाजो मे एक और अन्तर उनकी अनुकरण-पद्धति की दिशा से सम्बन्धित होता है . आदिम समाजो में प्राय पुरानी पीढियो तथा मृत पूर्वजो का अनुकरण किया जाता है . जब कि उन समाजो मे जो सभ्यता की ओर बढ रहे है, अनुकरण की क्रिया उन व्यक्तियो तथा नेताओ पर ससक्त रहती है जो सृजनशील है। ऐसे समाजो में, जैसा कि वाल्टर बेजहाट ने कहा है, रूढि की जमी हुई तह खडित हो जाती है, और समाज परिवर्तन तथा प्रगति के पथ पर गतिशील होने लगता है।'

उक्त लेखक के मत में सभ्यताओ का जन्म ही नही उनकी प्रगति भी, सृजनशील व्यक्तित्वो के निर्देशो की स्वीकृति से होती है। हैनरी बर्गसा ने प्रतिपादित किया है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति, कम-से-कम नैतिक तथा धार्मिक शिक्षक, अपने वर्ग अथवा जाति के प्रवक्ता नही होते, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के प्रवक्ता होते है। उनके सम्बन्ध

मे बर्गसा का कहना है 'कुछ ऐसी प्रतिष्ठित आत्माएँ उत्पन्न हुई है जिन्होने यह समझा कि उनका सम्बन्ध समस्त मानवात्माओ से है। अपने वर्ग की सीमित एकता के दायरे मे न रहकर —उस दायरे के जो स्वय प्रकृति ने स्थापित किया है—उन आत्माओ ने, अपने प्रेम के अतिरेक में, समस्त मानवता का आह्वान किया है।'[१८]

सशयवादियो तथा सापेक्षवादियो का यह कहना कि समस्त सत्य तथा आदर्श आपेक्षिक होते हैं, एक अत्युक्ति है। हमे दो प्रकार की सापेक्षता मे भेद करना चाहिये, एक सत्य तथा आदर्श विशेष वर्ग के अनुभव तथा हितो का सापेक्ष होता है, जब कि दूसरे सत्यो तथा आदर्शो की सापेक्षता सम्पूर्ण मानवता की अनुभूति तथा जरूरतो से सम्बन्ध रखती है। कोई भी सशयवादी इस दूसरी कोटि की सापेक्षता का अतिक्रमण नही कर सकता, और कोई भी व्यक्ति ऐसे सत्य की उपलब्धि नही कर सकता जो अतिमानवीय है। जिन्हें हम तर्कशास्त्र के नियम कहते हैं, और जो सम्पूर्ण मानव-चिन्तन का आधार होते हैं, वे अन्तिम विश्लेषण मे मानव-व्यवहार के नियम ही है। ये नियम प्रतीको मे अभिव्यक्ति पानेवाले सम्बन्धो को व्यवस्थित करने मे प्रतिफलित होते है। यह उचित ही है कि उन नियमो को हम मानव-चिन्तन के सार्वभौम तथा प्रामाणिक नियम मानते है।

ऊपर की विचारणाओ का साराश इस प्रकार है। सस्कृति की व्याख्या मूल्य-रूप में करते हुए उसे उन क्रियाओ का समुदाय मानना चाहिए जो हमारे अस्तित्व की रक्षा के लिये जरूरी न होते हुए हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध बनानेवाली है; मनुष्य के व्यक्तित्व की यह समृद्धि मुख्यत उसके चेतना-मूलक विस्तार द्वारा घटित होती है, अर्थात् उन क्रियाओ द्वारा जिनमे मनुष्य यथार्थ की सार्वभौम रूप मे अर्थवती छवियों से सम्बन्ध स्थापित करता है, और उनके प्रति उपयुक्त मनोभाव बनाता है। सस्कृति ही मानव-प्रगति का एकमात्र उपकरण है,और इस प्रगति का माप भी सस्कृति ही है। सस्कृति वह चीज है जिसे मनुष्य स्वय उसके लिये उपलब्ध करना चाहता है। वास्तव मे सस्कृति उच्च तथा समृद्ध जीवन का पर्याय है, उस जीवन का जो सृष्टि के प्राणियो मे केवल मनुष्य को ही उपलब्ध हो जाता है, और जिसका सम्बन्ध मनुष्य की विशिष्ट शक्तियो तथा विशेषताओ से है। सास्कृतिक जीवन तात्त्विक रूप मे उच्च मानवीय जीवन होता है, वह जीवन ऐसा भी है जिसका सब मनुष्य उपभोग कर सके। एक गहरे अर्थ मे सास्कृतिक जीवन मानवता का सामान्य या सामाजिक जीवन है। सास्कृतिक जीवन ऐतिहासिक होता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि उस जीवन का

उपभोग तथा प्रसार, व्यक्ति तथा जाति दोनो में, एक जीवनव्यापी क्रिया होती है। व्यक्ति की एक जिन्दगी होती है जिसे वह अकेले जीता है और जिसका उसकी मृत्यु के साथ अन्त हो जाता है। इस जीवन की प्रक्रियाएँ प्राणि-शास्त्र तथा इन्द्रिय-विज्ञान का विषय हैं। इसके विपरीत उसके बोधात्मक तथा आवेगात्मक जीवन की कुछ ऐसी प्रतीतियाँ हैं जो दूसरी चेतनाओ के सम्पर्क द्वारा प्रज्ज्वलित होती हैं, और जिन्हें वह दूसरो मे सक्रान्त कर देना चाहता है। इस प्रकार के जीवन-क्षणो को मनुष्य ने अपने साहित्य, इतिहास-ग्रथो, जीवनियो तथा वैज्ञानिक और दार्शनिक चितन-पद्धतियो में अमर कर दिया है। इस प्रकार के जीवन-क्षणो में मनुष्य वास्तविकता के किसी अर्थवान् क्षेत्र के सम्मख उपस्थित होता है। वास्तविकता की ये अर्थवती छवियाँ प्राय वे कल्पित सम्बन्ध होते हैं जिन्हें मनुष्य अपनी चेतना तथा वस्तु-जगत की किसी स्थिति के बीच, अथवा अपने तथा दूसरी चेतनाओ के बीच, स्थापित करता है। हमें याद रखना चाहिए कि जिसे मानव-व्यक्तित्व कहते हैं वह इसी प्रकार के सम्बन्धो द्वारा निर्मित चेतना-केन्द्र या चेतना-सस्थान होता है। सस्कृति उस प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा विभिन्न चेतना-केन्द्रो से सम्बन्धित सृजनात्मक जीवन के अर्थपूर्ण क्षण, जो अतीत और वर्तमान मे फैले हुए हैं, प्रत्यक्ष एव आत्मसात् किये जाते हैं। सस्कृति उस क्रिया-समूह का नाम है जिसके द्वारा विभिन्न व्यक्ति मानवजाति के सृजनात्मक जीवन में भाग लेते और उसे समृद्ध करते हैं।

कोई भी व्यक्ति, जाति या युग अपने अकेलेपन में मानवीय अस्तित्व की उन असख्य सम्भावनाओ का साक्षात्कार नही कर सकता जो कि मानव चेतना तथा वास्तविकता के बीच स्थापित होने वाले असख्य भौतिक तथा आध्यात्मिक, यथार्थ तथा कल्पित, सम्बन्धो द्वारा निरूपित होती है। प्रत्येक युग तथा जाति की कुछ अपनी समस्याएँ होती हैं, उसकी अपनी रुचियाँ होती हैं, और अपने विशिष्ट उपकरण होते हैं। इन कारणो से प्रत्येक युग और जाति वास्तविकता के विभिन्न अर्थवान रूपो का अन्वेषण तथा उद्घाटन करती हैं, और उनसे अपने ढग से सम्बन्ध स्थापित करती है। इन सम्बन्ध-सस्थानो में से कुछ ऐसे होते हैं जो सम्पूर्ण मानवजाति के लिये प्रामाणिक जान पड़ते हैं, और उसके द्वारा स्वीकृत किये जा सकते हैं। ये सम्बन्ध भाषाबद्ध रूप मे आगे आने वाली पीढियो को प्राप्त होते हैं और परम्परा अथवा विरासत कहलाते हैं। जो सम्बन्ध-सस्थान

जितना ही अधिक सार्वभौम होता है, बाद की पीढ़ियाँ उसे उतना ही अधिक महत्व देती हैं। अपनी न्यूनाधिक सार्वभौमता के अनुपात से वे सस्थान एक जाति या समाज, अथवा अनेक समाजो, अथवा सम्पूर्ण मानवजाति के लिये महत्वपूर्ण धरोहर बन जाते हैं। इन विचारणाओ से हम "क्लासिक्स" की उचित परिभाषा पा सकते हैं। "क्लासिक" वह बोधगम्य अभिलेख है जो आज भी, यदि पूर्णतया नही तो अशत, उस जीवन-स्पन्दन को हमारे भीतर जगा सकता है जो उसकी प्रेरणा के मूल में था। कोई "क्लासिक" कितना सत्य है, तथा महत्वपूर्ण है, यह जानने के लिये देखना चाहिए कि वह देश तथा काल मे कितने अधिक सस्कृत मनुष्यो को प्रभावित करता है।

क्लासिकी सस्कृति का सम्पर्क मनुष्यों को दो प्रकार से प्रभावित करता है। प्रथमत वह उनमें जीवन तथा यथार्थ के उन रूपो अथवा पक्षो की सबल अनुभूति जगाता है जिनकी ओर आज उतना ध्यान नही दिया जा रहा है। इस प्रक्रिया द्वारा प्राचीन साहित्य सीधे हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध करता है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य की शिक्षा, हमारे व्यक्तित्व का प्रसार करती हुई, प्राचीन उपलब्धियो को सुरक्षित रखती है। दूसरे, उस शिक्षा द्वारा हम इस योग्य बन जाते हैं कि कलात्मक सौन्दर्य के क्षेत्र तथा बौद्धिक तथा नैतिक क्षेत्रो में आगे चिन्तनात्मक प्रगति कर सके। मानवजाति के इतिहास में होने वाली सास्कृतिक प्रगति मुख्यत प्रतीकात्मक लेखो अथवा ग्रथो के रूप में ही सुरक्षित रहती है। मानव शरीर में होने वाले परिवर्तन मनुष्य की बीजावस्था (Germ-Plasm) को प्रभावित करके आगे आने वाली पीढियो तक स्वत पहुँच जाते है, किन्तु उसके आत्मिक परिवर्तन इस प्रकार स्वत सक्रात नही होते। बलिष्ठ व्यक्ति का बच्चा शारीरिक दृष्टि से बलवान हो सकता है, किन्तु एक कलाकार तथा विचारक की सतति स्वय ही कला-सृजन अथवा चिन्तन-शक्ति से सम्पन्न नही हो जाती। वस्तुत मनुष्य की आत्मिक उपलब्धियाँ शिक्षा द्वारा ही आगे की पीढियो को मिलती हैं, मनुष्य के आत्मिक विकास का उपकरण शिक्षा ही है। किन्तु हमारे आत्मिक विकास का लक्ष्य मुख्यत जीवन का सरक्षण नही, अपितु उसकी समृद्धि और प्रसार है। अपनी दैनिक आवश्यकताओ से ऊपर उठते ही मनुष्य उस प्रकार की समृद्धि और प्रसार के लिये आकुल होने लगता है, जिसके फलस्वरूप उसके सास्कृतिक विकास का सूत्रपात होता है। इस विकास का इतिहास ही मानव-इतिहास का महत्वपूर्ण पक्ष है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. दे० ई० टाईलर, प्रिमिटिव कल्चर, भाग १ (जान मरे, लन्दन, चतुर्थ संस्करण, १९०३), पृ० १।

२. एन्साइक्लोपीडिया आफ द सोशल सायन्सेज़, भाग ४, पृ० ६२१।

३. हुमायूं कवीर, आवर हैरिटेज, (द नेशनल इन्फार्मेशन ऐन्ड पब्लिकेशन्स लि०, वम्बई, दूसरा मुद्रण, १९४७), पृ० ६।

४. दे० मैकाइवर, सोशल काजेशन, अध्याय १०; और आर० एम० मैकाइवर और सी० आर० पेज, सोसायटी: ऐन इण्ट्रोडक्टरी एनेलिसिस, (मैकमिलन, १९४९), पृ० ४९८ तथा आगे।

५. एम्० जे० हर्सकोविट्स, मैन ऐन्ड हिज वर्क्स, (अल्फ्रेड ए० नाफ, १९४९), पृ० १७।

६. आर्नल्ड जे० ट्वाइनबी, ए स्टडी ऑव् हिस्टरी, डी० सी० सामरवेल कृत संक्षेप, (ज्याफरे कम्बरलेज, लन्दन, तीसरा मुद्रण १९४९), पृ० १९६।

७. वही, पृ० १९५।

८. श्री पी० ए० सारोकिन द्वारा "सोशल फिलासफीज आव् ऐन एज आफ क्राइसिस," (एडेम एन्ड चार्ल्स ब्लैक, लन्दन, १९५२), पृ० ७७-७८ पर उद्धृत।

९. टाइलर, वही, पृ० १।

१०. दे० ए० एल् क्रेवर, एन्थ्रापालॉजी, नया संस्करण, (जार्ज जी० हैरेप ऐन्ड कं० लि०, लन्दन, १९४८), पृ० २५२।

११. वही, पृ० २५२।

१२. हर्सकोविट्स, वही, पृ० ६२५।

१३. एन्साइक्लोपीडिया आफ द सोशल सायन्सेज़, पृ० ६२१।

१४. क्रेवर, वही, पृ० ११।

१५. वही, पृ० १५।

१६ रूथ वेनिडिक्ट, पैटर्न्स आव कल्चर, (मेण्टर वुक्स, द न्यू अमेरिकन लायब्रेरी, १९४८), पृ० १।

१७. वही, पृ० २।

१८. टी० एस० इलियट, नोट्स टुवर्ड द डेफिनिशन आफ कल्चर, (फेवर और फेवर, लन्दन, १९४८), पृ० २१।

१९. वही पृ०, २२।

२०. वही, पृ० ४४।

२१. जे० आर्टीगा वाई० गैसेट, द रिवोल्ट आव् द मासेज, (मैण्टर बुक्स, १९५१), पृ० ५२।

२२ कन्वरशेसन्स आव् गेटे विद एकरमान, (एवरीमैन, १९४६), पृ० ९०।

२३ वही, पृ० ८९।

२४. गैसेट, वही पृ० ७९।

२५. कार्ल मार्क्स, क्रिटीक आफ् पोलिटिकल इकानामी की प्रस्तावना।

२६. दे० एन्साइक्लोपीडिया आव् द सोशल सायन्सेज, सिडनी हुक का निबन्ध, मैटीरिएलिज्म, पृ० २१७ पर उद्धृत।

२७ दे० द कम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो, (सिलेक्टेड वर्क्स आफ कार्ल मार्क्स, मास्को, १९४६), पृ० ११६।

२८ सिडनी हुक द्वारा उद्धृत, वही, पृ० २१७।

२९. मैकाइवर, सोसायटी, ऐन इण्ट्रोडक्टरी एनेलिसिस, (मैकमिलन, १९४९), पृ० ४९८।

३०. गुनार लिन्टमैन, दी ओरिजिन आफ दी इनइक्वालिटी आव् द सोशल क्लासेज, (कीगन पाल, लन्दन, १९३८), पृ० ७०।

३१ वही, पृ० २३३।

३२. वही, पृ० ८६, ८८।

३३. दे० एच्० आई० ब्लैकहैम, सिक्स एग्जिस्टेंशिएलिस्ट थिंकर्स, (रतलेज एन्ड कीगन पाल लि०, लन्दन, १९५१), पृ० १२।

३४. लिमिटेशन्स आफ् सायन्स, भूमिका।

३५. मैकाइवर, सोसायटी, पृ० ५०१।

३६. इमर्सन कहते हैं 'अपने विचार में विश्वास या आस्था रखना, यह विश्वास करना कि जो तुम्हारे निजी हृदय के लिये सत्य है वह सब मनुष्यों के लिये सत्य है—यही प्रतिभा है।' दे० आत्म-निर्भरता या "सेल्फ रिलाएन्स" पर निबन्ध।

३७. दे० एन्साइक्लोपीडिया ऑव् द सोशल सायन्सेज, "लिट्रेचर" पर निबन्ध, पृ० ५२५।

३८. ट्वाइनकी द्वारा उद्धृत, दे० वही, पृ० २१२।

---

# अध्याय ५

## कला की प्रकृति

पिछले अध्याय मे हमने सस्कृति के जिन तत्वो को विविक्त किया है उन सब के निदर्शन कला मे बडी सरलता से मिल जाते है। यहाँ हम मुख्यत साहित्य नामक कला का ही विवेचन करेगे, जो कि कलात्मक वृत्ति की उच्चतम, कम-से-कम सब से समृद्ध, अभिव्यक्ति है। दूसरी कलाओ का उल्लेख विरल ही रहेगा।

जिसे हम जीवन कहते है वह बाह्य वास्तविकता तथा प्राणधारी के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का नाम है। सब प्रकार का जीवन एक परिवेश में फलता-फूलता है, और उससे ही जीवनी-शक्ति के उपादानो को ग्रहण करता है। सम्भवत स्वप्न अथवा विक्षेप की अवस्था को छोडकर मनुष्य लगातार बाह्य यथार्थ की सापेक्षता में जीता है। कोई क्रिया जितनी ही अर्थवती होती है उसका उतने ही अधिक जटिल यथार्थ से, फिर चाहे वह यथार्थ भीतरी हो अथवा बाहरी, आत्मगत हो या वस्तुगत, सम्बन्ध होता है। कला-सृष्टि तथा कला मे रस लेने की क्रिया इस सामान्य नियम का अपवाद नही है।

हम यह कहना चाहते है कि कोई भी कला यथार्थ के प्रति सकेत से मुक्त नही होती। जिस कर्म या व्यापार का यथार्थ से सम्बन्ध नही है, उसे महत्वपूर्ण नही कहा जा सकता। मनुष्य के प्रत्येक महत्वपूर्ण व्यापार का लक्ष्य या तो यथार्थ का उद्घाटन होता है, अथवा यथार्थ का पुन सगठन। जिसे हम कला कहते है उनमे इन दोनो व्यापारो का समावेश हो जाता है। कला यथार्थ का निर्माण भी करती है, और उसका उद्घाटन भी।

हमारी उपरोक्त स्थापना के सबसे बडे विरोधी तर्क-मूलक भाववादी है, और वे साहित्यिक संप्रदाय भी जो उनके सिद्धान्त से प्रेरणा लेते है। वस्तुत उक्त स्थापना

की सत्यता से इनकार आज के युग में प्राय एक फैशन बन गया है और वह अस्वीकृति एक कट्टर मान्यता का रूप ले चुकी है। कहा जाता है कि कला प्रेषण है, किन्तु यह समझा जाता है कि कला के माध्यम से प्रेषित अनुभूति का कोई विषय नही होता। आज के साहित्य-मीमासक इस विचित्र सिद्धान्त को मानते है कि कला अनुभूति का प्रेषण तो करती है, किन्तु वह किसी विषय-वस्तु या यथार्थ को उद्घाटित नही करती।

कला के सत्य तथा यथार्थोद्घाटन के सिद्धान्तो का हवाला देते हुए डॉ० रिचर्ड्स ने लिखा है कि 'उन सिद्धान्तो की सबसे बडी कठिनाई यह इगित करना रहा है कि आखिर वे क्या चीजे है जिनका उद्घाटन कला में होता है।'[१] उनके अनुसार काव्यगत वाक्य मात्र भाषा के आवेगात्मक प्रयोग होते है, उनका काम वस्तु-सत्ता का सकेत करना नही होता। 'शब्दो का प्रयोग दो तरह से किया जा सकता है, वस्तुगत सत्ताओ के सकेत के लिए, अथवा उन मनोभावो तथा आवेगो के जागृत करने के लिए जो बाद में उठते है। शब्दो के अनेक क्रम या सस्थान, बीच में कोई वस्तु-सकेत दिये बिना, मनोभाव उकसाते है। वे सागीतिक ध्वनि-समूहो की भाँति व्यापृत होते है। सामान्यत वस्तु-सत्ताओ के सकेत मनोभावो के विकास के हेतु, या उन तक पहुँचने के सोपान, बन कर आते है , फिर भी वस्तु-सत्ताओ के सकेत नही, मनोभाव ही महत्त्व रखते है।'[२]

उक्त मत से यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु-सत्तायें स्वय काव्यात्मक नही होती, जैसा कि मैथ्यू आर्नल्ड तथा वर्ड्सवर्थ, कालरिज आदि रोमान्टिक कवि, तथा उनके पहले के एडिसन जैसे लेखक, समझते तथा मानते थे।[३]

यहाँ कई प्रश्न उठ खडे होते है काव्य में भाषा का प्रयोग भाव-दशाओ और आवेगो को उत्पन्न करने के लिए होता है, वस्तु-सत्ताओ का सकेत देने के लिए नही, इस वक्तव्य की सचाई की परीक्षा कैसे की जाय ? हम निवेदन करें कि इस वक्तव्य की उस सिद्धान्त के अनुरूप परीक्षा नही की जा सकती जिसे तर्क-मूलक भाववादियो ने प्रतिपादित किया है। ज्यादा-से-ज्यादा उक्त वक्तव्य यह दावा कर सकता है कि वह कलात्मक तथा साहित्यिक सृष्टि में सन्निहित अभिप्रायो की सही व्याख्या देता है। किन्तु इस दृष्टि से उक्त वक्तव्य न तो सत्य ही जान पडता है, न समीचीन, क्योंकि वस्तु-सत्ताओ से नितान्त जुदा आवेगो और भाव-दशाओ की कल्पना नही की जा सकती। जब शेक्सपियर क्लिओपेट्रा के वर्णन में सलग्न होता है तो उसका उद्देश्य केवल यही नही होता कि वह पाठको के मन में कतिपय आवेगो अथवा मनोभावो को जगा दे, उसका असली उद्देश्य होता है उन आवेगो अथवा मनोभावो को क्लियोपेट्रा के

व्यक्तित्व पर ससिक्त कर देना। हम समझते है कि कथा-साहित्य तथा दूसरे प्रबन्धरूप साहित्य में यह बात स्पष्ट रूप में प्रतिभासित रहती है। "एनाकेरीनिना" में टॉल्स्टॉय का उद्देश्य केवल, या प्राथमिक रूप से भी, किन्ही कल्पित भाव-दशाओ को उत्पन्न करना नही है। वह वहाँ ऐसे व्यक्तित्वो या पात्रो को प्रस्तुत करना चाहते है जो अनुचिन्तन और मूल्याकन के विषय बन सकें। वास्तव मे टॉल्स्टॉय जैसे सफल यथार्थ-द्रष्टा लेखक अपने पात्रो की असख्यो मुद्राएँ चित्रित करते जाते हैं। वे भगिमाएँ किन भावनाओ या आवेगो को जागृत करेगी, इसकी सचेत अवगति शायद उन्हे कभी नहीं होती। वस्तुत भावनाओ तथा आवेगो का परिपूर्ण अकन तब तक नही हो सकता जब तक उन्हे वास्तविक सत्ताओ से सम्बद्ध करके उपस्थित न किया जाय।

उक्त मान्यता की पुष्टि टी० एस० इलियट के सुपरिचित वस्तु-रूप-सम्बन्धी (Objective Correlative) के मन्तव्य से होती है। इस मन्तव्य का मतलब यही है कि तथाकथित मनोदशाओ अथवा भावदशाओ का शुद्ध, निरालम्बन रूप में प्रेषण सभव नही। यही बात भारतीय रसवाद को भी मान्य है, जिसके अनुसार इस परिपाक के लिये विभावो आदि का विधान आवश्यक है। श्री डी० जे० जेम्स का मत है कि 'काव्य का उद्देश्य कभी भी आवेग उत्पन्न करना नही होता, इसके विपरीत उसका उद्देश्य कल्पनात्मक प्रत्यय या स्थितियाँ प्रेषित करना ही होता है।'[४] हर्बर्ट रीड भी इसी से मिलता-जुलता विचार रखते है, उनके अनुसार 'कला रमणीय वस्तु-रूपो के सृजन का प्रयत्न होती है।'[५] लगभग ऐसी ही बात अरस्तू ने भी कही है, 'कवि का उद्देश्य जो घटित हुआ है उसका चित्रण करना नही, बल्कि ऐसी सभावनाओ को अभिव्यक्ति देना होता है जो घटित हो सकती है।'[६]

वस्तुत काव्य के बारे में यह कहना कि वह शब्दो का आवेगात्मक प्रयोगमात्र है, वैसा ही है जैसा रसायनशास्त्र को शब्दो के रासायनिक प्रयोग तथा कूटनीति को शब्दो के कूट प्रयोग से समीकृत करना। यदि रिचर्ड्स का यह सिद्धान्त सही हो कि कविता में वस्तु सत्ता का किसी प्रकार का बोध, अथवा उसके प्रति कोई सकेत, नहीं होता तो कतिपय विचित्र निष्कर्ष अनुगत होगे। एक निष्कर्ष यह होगा कि कवि या कलाकार को, वैसा होने के नाते, न आँखो की जरूरत है, न कानो की, क्योकि न उसे प्राकृतिक जगत का निरीक्षण करना है, न मानव जगत का। उस दशा में अपने युग के असख्य बौद्धिक, नैतिक तथा सामाजिक राजनैतिक प्रश्नो के प्रति उदासीन होते हुए भी एक कवि या लेखक महान बन सकेगा। साथ ही वह अपने युग के विभिन्न

सघर्षो तथा आस्थाओ को भी दूसरो तक नही पहुँचा सकेगा। यदि काव्य में वस्तु-सत्ताओ के सकेत नही रहते तो कवि को हम एक या दूसरे युग का प्रतिनिधि भी नही कह सकते। वस्तुत डा० रिचड् स का काव्य-सिद्धान्त समाजशास्त्रीय आलोचना के महत्व का एकदम ही निषेध कर देता है।

रिचर्ड् स का सिद्धान्त इस परिस्थिति की कोई भी व्याख्या प्रस्तुत नही करता कि विभिन्न युगो मे विभिन्न कोटियो के काव्य क्यो लिखे जाते हैं, और पुरानी शैलियों की पुनरावृत्ति क्यो नही पसन्द की जाती। इसके उत्तर मे एक सभावित तर्क यह हो सकता है कि विभिन्न युगो के अपने आवेग तथा मनोभाव होते हैं, जिन्हे उन युगों के कलाकारो द्वारा अभिव्यक्ति मिलनी चाहिए। पर यह उत्तर सन्तोषजनक नही है। यदि साहित्यगत आवेग तथा मनोभाव केवल आत्मगत चीजे है, और उनका वस्तु-सत्ताओ से कोई सम्बन्ध नही होता, तो यह समझ मे नही आता कि विभिन्न युगो में वे इतने अधिक बदल क्यो जाते हैं। अभी तक किसी ने गम्भीरतापूर्वक यह स्थापना नही रखी है कि शेक्सपियर से टॉल्स्टॉय ओर कालिदास से रवीन्द्र तक आते-आते मानव-प्रकृति मे कोई बडा अन्तर पड गया। ऐसी दशा में यदि उक्त लेखको की कृतियाँ एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होती है तो उसका कारण यही हो सकता हे कि उनमें निबद्ध मानव-प्रकृति अपने को नितान्त भिन्न परिस्थितियो मे प्रकट कर रही है। यदि कला का उद्देश्य केवल आत्मगत आवेगो तथा मनोभावो को प्रकट करना ही होता तो विभिन्न कलाकारो की कृतियाँ, अधिकाश मे, एक-दूसरे की पुनरावृत्ति-रूप ही बन जाती।

वस्तुत कलाकार का लक्ष्य केवल आत्मगत आवेगो आदि को अभिव्यक्त करना नही होता, केवल बाहरी स्थितियो का चित्रण भी उसका उद्देश्य नही होता। वह वस्तुत जीवन या जीवनानुभूति के विशिष्ट क्षणो को अभिव्यक्ति देना चाहता है, ये क्षण उस क्रिया-प्रतिक्रिया को प्रकट करते है जो अपनी विशेषताओ से सम्पन्न द्रष्टा या विषयी और विशिष्ट बाह्य स्थिति के बीच घटित होती हैं। अपनी सृष्टि द्वारा कलाकार हमे अपनी जीवन-प्रक्रिया मे साझेदार बनने का निमन्त्रण देता है। कला का असली उद्देश्य उक्त कोटि के नये जीवन-क्षणो को प्रतीकबद्ध रूप मे प्रस्तुत करके मानवीय अस्तित्व को समृद्ध करना होता है।

हम यहाँ फिर अपनी बात को दुहराते है कलाकार केवल निरालबन मनोभावों और आवेगो को नही, वरन् ऐसे मनोभावो और आवेगो को व्यक्त करता है जो न्यूना-

धिक निर्दिष्ट वस्तु-सत्ताओं द्वारा निरूपित होते हैं। वस्तुत इन सवेदनाओ की अनुभूति या अभिव्यक्ति वस्तुगत सत्ताओ से सम्बद्ध किये बिना सभव ही नही। गेटे का कथन है 'मेरी सभी कविताएँ वास्तविक जीवन से प्रेरित हुई है, जिनके नीचे पक्की नीव है, मै उन रचनाओ को महत्व नही देता जो हवा (हवाई कल्पना) से आक्षिप्त कर ली जाती हैं।'[७] डा० सी० ई० एम० जोड ने ह्रास का लक्षण सवेदनाओ का वस्तु-सत्ताओं से असम्बद्ध होना बताया है, जो डॉ० रिचर्ड्स जैसे आधुनिक विचारको का सही मूल्याकन है।'[८] ह्रास के इस विशेष लक्षण को जोड ने ही नही, गेटे ने भी स्वीकार किया है 'पतन या ध्वस के काल मे सभी युग अन्तर्मुखी हो जाते हैं। दूसरी ओर प्रत्येक प्रगतिशील युग वस्तून्मुख होता है स्वस्थ प्रयास अन्दर से बाहर की ओर निर्देशित रहता है।'[९] विषय-वस्तु के प्रति उदासीनता का विरोध करते हुए गेटे ने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि, 'यदि विषय-वस्तु उपयुक्त न चुनी जाय, तो श्रेष्ठ प्रतिभा भी निष्फल हो जाती है।'[१०]

कला जैसी महत्वपूर्ण सास्कृतिक प्रक्रिया का वस्तु-सत्ता से असबद्ध मान लिया जाना सचमुच ही आश्चर्य का विषय है। यदि काव्य की विषय-वस्तु के रूप मे कुछ भी चुना जा सकता—यदि काव्यात्मक विषय-वस्तु जैसी कोई चीज होती ही नहीं—तो कवियो के लिये यह सम्भव होना चाहिए कि वे, **बिना किन्हीं मानवीय अनुभूतियो का आरोप किये,** स्टीम इन्जिन पर वैसा ही महान महाकाव्य लिख दें जैसा कि वाल्मीकि ने राम के जीवन पर, या अश्वघोष ने बुद्ध के जीवन पर लिखा है।

तो, वह क्या है जिसे कला अभिव्यक्ति देती है? उत्तर है : कला जीवन और विश्व के उन पक्षो को अभिव्यक्ति देती है जिनका मानव-जाति के लिये आवेगात्मक मूल्य है। इन पक्षो को मोटे तौर पर सौन्दर्य तथा नैतिकता-सम्बन्धी मूल्यो के रूप में समझा जा सकता है। कला की विषय-वस्तु का यह वर्गीकरण स्थूल रूप मे ही सही है। वस्तुत यह सम्भव नही दीखता कि उस अनुभूति के प्रेरक- वस्तु-रूपो और उनकी विशेषताओ का पूर्ण वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाय। इस प्रकार का सबसे प्रसिद्ध प्रयत्न भारतीय रसवाद में निहित है, जहाँ विविध विषय-रूपो तथा उनसे सम्बद्ध मनोभावो एव आवेगो का विशद विवेचन किया गया है। किन्तु वह विवेचन पूर्ण है, इसमे सन्देह किया जा सकता है। यहाँ हम एक ही महत्वपूर्ण काव्य-कोटि का सकेत करें जो रसवादी व्याख्या के ढाँचे मे समावेशित नहीं होती—तथा-कथित दार्शनिक या दर्शनानुप्राणित कविता, जैसी अग्रेजी कवि डन ने लिखी है।

ऊपर हम देख चुके है कि कथात्मक काव्य तथा कथा-साहित्य में वस्तु-परक सकेत रहते हैं। क्या इसका यह अर्थ समझा जाय कि गीति-काव्य में उक्त विशेपता नही होती ? हर्वर्ट रीड का मत है कि 'गीत मूलत एक प्रेक्षण या प्रतीति (Vision) होता है।'[११] अन्यत्र वह कहते है 'कविताएँ केवल सवेदना-मूलक नही होती, वे अनुभूतियाँ होती है।'[१२] उनके मत में सव प्रकार की कला का उद्भव साक्षात् बोध (Intuition) या प्रतीति (Vision) मे होता है जिसे ज्ञान से समीकृत करना चाहिए।'[१३] पाठको को यह विचार अतिवादी लग सकता है, विशेपत गीत-काव्य को लेकर, क्योकि शुद्ध गीत काव्य का किसी वस्तु-सत्ता या वाह्य स्थिति से स्पष्ट सम्वन्ध प्राय नही होता। यह ठीक है। फिर भी सचाई यह है कि गीतकार हमारे सामने कोई-न-कोई विपय उपस्थित करता ही है, यद्यपि प्राय यह विपय या तो एक मनोभाव (जिसमें वोधात्मक तथा आवेगात्मक तत्व मिले रहते है) होता है, या एक व्यक्तित्व जिसमे सरल या जटिल, एक या एक से अधिक मनोभाव वर्तमान रहते है। गीत-काव्य और कथा-मूलक काव्य में एक और अन्तर भी होता है जिसे उनके क्रमिक प्रभावो की सवद्धता में प्रकट किया जा सकता है गीत को पढते हुए हम उसमें निवद्ध मनोभाव से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं, इसके विपरीत जव हम एक उपन्यास या नाटक पढते है तो तादात्म्य-स्थापन की क्रिया गौण हो जाती है, और प्रस्तुत किये हुए चरित्रो तथा घटनाओ का अनुचिन्तन प्रधान हो जाता है। गीत लिखते समय कवि का ध्यान मुख्यत उन परिवर्तनो पर होता है जो स्वय उसके भीतर घटित हो रहे है। पाठक इन परिवर्तनो का अनुचिन्तन करता है और उनसे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। प्राय वह वाहरी परिस्थिति, जो इन परिवर्तनो का कारण होती है, जैसे प्रेमिका का आकर्पण और उसकी निर्दयता, अथवा युग का दम्भ और श्रद्धाहीनता, अनभिव्यक्त पृष्ठभूमि के रूप में वर्तमान रहती है, जिसका वर्णन अपेक्षित नही होता, केवल सकेतमात्र पर्याप्त हो जाता है। इसके विपरीत गीतकार कवि यह कोशिश करता है कि अपने आत्म में घटित होने वाले सूक्ष्म-जटिल परिवर्तनो को ठीक-ठीक प्रकट कर दे। इस प्रकार की अभिव्यक्ति देने के लिये शब्दो को उतनी ही सावधानी और निर्वैयक्तिक तटस्थता से प्रयुक्त करना होता है जितना कि वाह्य वस्तुओ के वर्णनात्मक चित्रण में।

जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आते है जव, क्लेश या नैराश्य की स्थिति में, व्यक्ति क्षणभर को अपनी मनोदशा का एक तटस्थ द्रष्टा के रूप में आलोचन करता

है; दूसरे ही क्षण में वह फिर जीवन के भोक्ता की स्थिति में लौट आता है। भोक्ता और द्रष्टा की स्थितियो का यह द्रुत परिवर्तन गीत-काव्य की सृष्टि की विशेपता है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में होनेवाला यह सक्रमण इतनी शीघ्रता से घटित होता है कि उन क्षणो में कवि का अस्तित्व और अस्तित्व-बोध एकात्मक हो जाते हैं। एक ओर तो कवि विशेष भावनाओ तथा आवेगो का भोक्ता होता है, और दूसरी ओर वह अपने को वैसे भोक्ता के रूप में देखता है। इसी अनुभव की आवृत्ति पाठको में भी होती है। कथात्मक साहित्य मे ज्ञाता और भोक्ता का यह तादात्म्य कभी उतना पूर्ण नही होता, वहाँ लेखक और पाठक दोनो प्रस्तुत किये हुए पात्रो के चरित्रो तथा क्रियाओ को थोडी-बहुत तटस्थता के साथ देखते रहते हैं।

वे विषय या वस्तु-पक्ष जो हम में सौन्दर्य-सवेदना जगाते हैं, अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे ध्वनियो के समूह सगीत में, रेखाकृतियाँ तथा अन्य आकार सरल चित्राकन में; जटिल कर्मो, मनोभावों अथवा विचारो के सगठन, इत्यादि। यहाँ यह बात भी लक्षित करने की है कि मनुष्य केवल उसी वस्तु के प्रति आवेगात्मक प्रतिक्रिया नही करता जो उसकी इन्द्रियो के सामने वर्तमान होती है, बल्कि उन वस्तु-सगठनो के प्रति भी जो उसकी कल्पना द्वारा उपस्थित किये जाते है। यह स्थिति कला-सृष्टि के सृजात्मक तत्व की ओर सकेत करती है जिस पर अब हमें विचार करना चाहिए। इससे सम्बद्ध ही यह समस्या है कि कला का जीवन के यथार्थ से क्या सम्बन्ध होता है, अर्थात् कला कहाँ तक जीवन के सत्य को प्रकट करती है।

कला की सीधीसादी परिभाषा इस प्रकार होगी · कला आवेगात्मक अनुभूति की सम्भावनाओ की चेतना और उपभोग है, अथवा उन क्रियाओ को समाज-ग्राह्य प्रतीकों मे प्रकट करने का प्रयत्न है। समस्त महत्वपूर्ण कला का मूल यथार्थ में होता है। वैज्ञानिक की भाँति कलाकार भी उपलब्ध अनुभव-राशि में से प्रत्याहरण और चयन करता है, और फिर प्रत्याहृत या चुने हुए तत्वो को सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करता है। अनुभव-तत्वों के सम्बन्धन या सग्रथन की यह क्रिया मनोवैज्ञानिक-सौन्दर्यात्मक सम्भावनाओ के नियमो का अनुसरण करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे विज्ञान में विभिन्न तथ्यो या तथ्य-बोधो का सम्बन्धन कार्य-कारण नियमो अथवा गणित के नियमो के अनुसार घटित होता है। दोनो क्षेत्रो में अन्तर यह होता है कि जहाँ प्रकृति के व्यापार एक ही दिशा मे निर्धारित होते है, वहाँ मानवीय व्यापार प्राय अनेक दिशाओ में प्रवाहित हो सकते हैं। एक दी हुई परिस्थिति में मानवीय कल्पना प्राय ऐसी अनेक सभव

प्रतिक्रियाओ की भावना कर लेती है जो विभिन्न कोटियो की सफलताओ को उत्पन्न करेंगी। किन्तु वास्तविक जीवन मे हम, वैसे अवसरो पर, अनेक प्रतिक्रियाएँ न करके एक ही दिशा में कार्य करते है। कला में जीवन की अनेक सभव प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित और उपभुक्त होती है, जिनमें कलासेवी या पाठक भी साझेदार वन जाते है। वस्तुत एक शिक्षित व्यक्ति के जीवन मे जीन की क्रिया को कल्पना मे अलग नही किया जा सकता। शिक्षित व्यक्ति, प्राय किसी स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करते हुए, उसे लम्बे चोडे अनुपस्थित यथार्थ का अग वना लेता है, और उस यथार्थ की सम्बद्धता मे ही वर्तमान स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करता हे। जव कोई व्यक्ति प्रेम-पत्र लिखने बैठता है, तो उसके आनन्द का प्रमुख कारण उसकी कल्पना होती हे। इसी प्रकार जब मानव प्रेमी और प्रेमिका प्रेम क्रीडा मे प्रवृत्त होते है, तो उनके आनन्द का कारण केवल वर्तमान सवेदन ही नही होते, उन सवेदनो के साथ असख्य स्मृतियां तथा कल्पना-सचित मूल्य भी गुथे रहते है।

वैज्ञानिक लोग इस वात से सहमत जान पडते है कि भौतिक जगत की प्रकृति को नियमो या सिद्धान्त-सूत्रो की एक सवद्ध पद्धति द्वारा प्रकट किया जा सकता है। किन्तु मानवीय अनुभूतियो की ऐसी कोई सवद्ध पद्धति नही है जो मानव-प्रकृति को पूर्ण अभिव्यक्ति दे सके। मनुष्य समूहो मे रहते है और समूह, देश या जाति के विश्वासों आदि अर्थात् "सस्कृति" से प्रभावित हो कर एक-दूसरे के समान वन जाते है, फिर भी उनमे भेद बने रहते है, और उनके जीवन तथा कर्म भिन्न-भिन्न सस्थानो में सगठित होते रहते है। कला जीवन की इस विविधता को, विविधता के उन रूपो को जिनका आवेगात्मक महत्व है, सवद्ध रूप में प्रकाशित करती है।

जहाँ यह ठीक है कि तरह-तरह की ध्वनियाँ और रूप रग, असख्य संगठनो में, हमारी सौन्दर्य-मूलक प्रतिक्रिया का विषय होते है, वहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि उक्त सवेदना का प्रमुख विषय स्वय मनुष्य है, वे मनुष्य जिनमें प्रेम और घृणा, क्रोध ओर ईर्ष्या, कुटिलता और दम्भ तथा वीरता, दया और आत्मत्याग की अनगिनत विशेषताएँ पायी जाती है। यह कहना गलत नही है कि कला मनुष्य की उन आवेगात्मक तथा सौन्दर्य-मूलक प्रतिक्रियाओ को प्रकट करती है जिन्हे वह चारो ओर के परिवेश की अपेक्षा में अनुष्ठित करता है, किन्तु ज्यादा सही यह कथन होगा कि कला मानवीय चेतना को उस विश्व की सम्बद्धता मे अभिव्यक्ति देती है जिसका प्रमुख भाग स्वय मनुष्यो द्वारा निर्मित होता है। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता

है कि कला उतनी ही मनुष्य की आत्म-चेतना की वाहक होती है जितनी कि उसकी विश्व-चेतना की, कला आत्म-बोध और जगद्बोध दोनो ही है। एक सचेत जीवन क्षण को प्रस्तुत करती हुई कला उस क्षण को स्वय हमारे जीवन-स्पदन का भाग बना देती है, और इस प्रकार हमारी सचेत अनुभूति के प्रसार या समृद्धि का कारण बन जाती है।

गीत मे एक मनोज्ञ, सूक्ष्म-सवेदना-सम्पन्न व्यक्ति के, जीवन-क्षण का आकलन रहता है। उसमे एक अपेक्षाकृत सरल परिस्थिति के प्रति सीधी-सी प्रतिक्रिया निबद्ध रहती है। सर्वत्र सरलता से मतलब होता है, जटिल सम्बन्धो का अभाव। गीत मे एक निर्दिष्ट विषय या परिस्थिति, अथवा उसके एक पहलू, के प्रति एक स्पष्ट मनोभाव का अकन किया जाता है। गीत में परिस्थिति और द्रष्टा दोनो पक्षो के विरोधी तत्त्वो का आकलन नही रहता, यदि कभी रहता भी है तो इस ढग से कि उसके द्वारा एक ही मनोभाव की पुष्टि हो। अग्रेजी कवि डन की गीतियो मे इसके अनेक उदाहरण मिल सकेंगे।

गीत मे किसी व्यक्ति के एक सार्थक जीवन-क्षण की अभिव्यक्ति रहती है। इसके विपरीत एक महाकाव्य, नाटक या उपन्यास का लक्ष्य किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के समग्र जीवन, अथवा जीवन के एक बडे भाग का प्रकाशन होता है। गीत में एक ऐसे जीवन-क्षण को पकडने का प्रयास होता है जो, अपनी तीव्रता के कारण, व्यक्ति को अनन्त महत्व से मण्डित दिखाई देता है; वहाँ बाह्य यथार्थ को एक अकेली वृत्ति या मनोभाव की अपेक्षा मे देखा जाता है। इसके विपरीत कथा-मूलक साहित्य मे तरह-तरह के पात्रो और उनके कर्मो को चित्रित किया जाता है। इन पात्रो के जीवन में बाहरी तथा भीतरी दोनो प्रकार के द्वन्द्व पाये जाते हैं। कथा-मूलक साहित्य मे हम विभिन्न पात्रो के विरोधी प्रयोजनो का सघर्ष पाते हैं। वैसे साहित्य मे दो प्रकार का मूल्याकन रहता है, विभिन्न पात्र विभिन्न लक्ष्यो और प्रयोजनो को महत्वपूर्ण मानते हुए मूल्याकन और सघर्ष करते हैं, और लेखक उन प्रयोजनो तथा लक्ष्यो मे से कुछ को अपनी सहानुभूति देता है। जिन्हें हम यथार्थवादी लेखक कहते है वे इस दूसरी कोटि के मूल्याकन को बचा कर चलना चाहते हैं। किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि वैसा बचाव पूर्णतया सभव है। बडे-से-बडे सन्देहवादी के लिये यह सम्भव नही कि वह अपनी विभिन्न विरोधी प्रवृत्तियो को समान रूप मे सन्तुष्ट करे। उसे विवश होकर अपनी प्रवृत्तियो मे से चुनाव करना पड़ता है, उनका चित्रण करने

वाले लेखक को भी यह सकेत करना ही पडेगा कि वह किन प्रवृत्तियो के सन्तोपण को कितना महत्व देता है।

विभिन्न पात्रो की सृष्टि द्वारा कथा-मूलक साहित्यकार विभिन्न उपभुक्त प्रवृत्तियो के सस्थानो (Patterns of Lived Impulses) की सृष्टि करता है, इन सस्थानो में से कुछ को वह ज्यादा महत्व देता है, और कुछ को कम, इस प्रकार वह अपने पाठको को यह प्रच्छन्न सकेत दे देता है कि वे जीवन के किन आदर्शो को सार्थक एव महत्वपूर्ण समझें। यदि लेखक विचारक भी है, तो वह उन सामान्य सिद्धान्तो का सकेत भी कर सकेगा जो उन जीवनादर्शो का आधार हैं।

हमारा यह अन्तिम वक्तव्य क्रोचे तथा उनके अनुयायियो को ग्राह्य नही होगा। क्रोचे ने, जैसा कि हम जानते हैं, अनुभवात्मक बोध तथा बौद्धिक ज्ञान में, प्रत्यक्ष प्रतीति और धारणा में, कला और दर्शन में तीक्ष्ण भेद निरूपित किया है। क्रोचे के मत में कला का उपादान अनुभवात्मक, प्रत्यक्ष मूलक प्रतीतियाँ होती है, जो विशेपो (Particulars) के निरूपण में अभिव्यक्ति पाती है, इसके विपरीत धारणात्मक ज्ञान का विषय सामान्य होता है। उदाहरण के लिये एक झील या नदी विशेपात्मक प्रतीति है, जब कि जल एक सामान्य धारणा है।[१४] क्रोचे के सिद्धान्त का आधार यह वस्तुस्थिति है कि कलाकार प्राय अपनी अनुभूति को विभिन्न चित्रो की भाषा में प्रकट करते हैं। किन्तु क्रोचे का सिद्धान्त सदोप और भ्रामक है। कला-सृष्टि में जिन चित्रो का विधान किया जाता है वे एक-दूसरे से सम्बन्धित भी होते हैं, ये सम्बन्ध विशेप रूप न होकर सामान्य रूप होते हैं। चित्रकार और कवि केवल झील का, उसे शेष विश्व से विच्छिन्न करके, चित्रण नही करते, उनके चित्रण का विषय वह झील होती है जो स्वय उनकी, अथवा किसी दूसरे की, सवेदना में खास ढग से प्रतिफलित होती है। कला में विशेष का चित्रण सदैव एक या दूसरे व्यक्ति की रुचियो का सापेक्ष होता है। फिर भी यदि कलात्मक अनुभूति सर्व-ग्राह्य होती है, तो उसका कारण यह है कि वे रुचियाँ मानव-सवेदना के सामान्य-रूपो से सबद्ध होती हैं। इसलिये वे पद या धारणाएँ जिनके माध्यम से विशेप का चित्रण किया जाता है, स्वय सामान्य-रूप (Universals) होती हैं, प्रत्येक विशेषण एक सामान्य या जाति का बोधक होता है। साथ ही यह भी सही है कि एक ही विशेपण या सज्ञा शब्द विभिन्न मस्तिष्को में विभिन्न चित्र उत्थित करता है। इन चित्रो में जो तत्व समान होता है वह है उनका अर्थ, यह अर्थ भी विशेप न होकर सामान्य रूप होता है। कला की प्रकृति को समझने

में क्रोचे ने जो भूल की है, उसका कारण यह है कि वे धारणा (Concept) नाम की वस्तु को बडे सकीर्ण अर्थ मे लेते हैं। समस्त धारणाएँ विशेपो के प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त सामान्य रूप को ही प्रकट नही करती, कुछ धारणाएँ अनुभूति-तत्वो के कल्पना-मूलक विस्तार तथा पुनर्ग्रथन द्वारा भी प्राप्त होती हैं। और मनुष्य केवल अनुभव द्वारा उपस्थापित विशेपो के प्रति ही रागात्मक प्रतिक्रिया नही करता, वह वैसी प्रतिक्रिया उन सभावनाओ तथा आदर्शों के प्रति भी करता है जो उसकी धारणात्मक या प्रत्ययात्मक कल्पना (Conceptual Imagination) द्वारा उपस्थित किये जाते है। जब इज़रा पाउण्ड कहते हैं :

**इन सब तरुण महिलाओं में से किसी ने**
**विश्व के कारण का अन्वेपण नहीं किया**

तो इसमे सन्देह किया जा सकता है कि वह हमारा चित्रो या विशेप की प्रतीति (Intuition) द्वारा मनोरजन करना चाहते हैं। उक्त पक्तियाँ उतना हमारी ऐन्द्रिय कल्पना का स्पर्श नही करती, जितना कि वुद्धि का, और उनमे निश्चित ही वौद्धिक कोटि का रस या आकर्पण है। जिस जीवनानुभूति का प्रेपण या प्रकाशन कला करती है उसका विशेप धर्म इन्द्रिय-ग्राह्य होना नही है, उसकी विशेपता है आवेगात्मक-वोध-रूप होना।

उक्त विवेचन के आलोक में कला के आस्वादन और मूल्याकन-सम्वन्धी कई प्रश्नो का समुचित उत्तर दिया जा सकता है। हम किसी कला-कृति में रस क्यो लेते हैं, इसका उत्तर यह होगा कि उसके द्वारा हमारी जीवन-सवेदनाओ को समृद्धि और प्रसार मिलता है। हम अपनी जीवन-चेतना को उन कृतियो द्वारा उपस्थापित जीवन की नई सभावनाओ में विस्तृत कर लेते हैं। प्रसादात्मक और दु खात्मक दोनो ही प्रकार की कृतियाँ इस विशेपता से सम्पन्न होती है। यदि हम कभी-कभी दु खान्त कृतियो में अधिक रुचि लेते हैं तो इसका कारण यह है कि वे हमारे कल्पनात्मक जीवन को ज्यादा जटिल ढंगो से स्पदित करती हैं।[१५]

परिपक्व अभिरुचि और परिष्कृत सवेदनशीलता से सम्पन्न व्यक्ति जिस कला-कृति की विपय-वस्तु (Contents) से जहाँ तक अपना तादात्म्य स्थापित कर सके, वह रचना वहाँ तक प्रामाणिक या यथार्थ कही जायगी। किसी नाटक या उपन्यास की प्रामाणिकता या सचाई का सम्बन्ध उसमें वर्णित देश-कालगत घटना-क्रम से नही

होता, वरन् उन अर्थो के अन्तर्सम्बन्धो से होता है जिनकी प्रतीक वे घटनाएँ हैं। वस्तुओ और घटनाओ में निहित उनके अर्थपूर्ण अन्तर्सम्बन्धो का चिन्तन और उनकी कल्पनात्मक स्वीकृति की क्रियाएँ केवल कला के क्षेत्र तक सीमित नही, वे वैज्ञानिक चिन्तन मे प्रयुक्त स्थापना-निगमन-मूलक तर्कना मे भी अनुष्ठित होती हैं।

अनुभूति का अभिव्यक्ति से क्या सम्बन्ध होता है? शैली क्या है? कलाकार की उपयुक्त शब्दो और अभिव्यजनाओ की खोज मे क्या प्रयोजन रहता है। ऐमा लगता है कि उसके इस प्रयत्न में एक तुलनात्मक प्रक्रिया निहित होती है कलाकार को एक अनुभूति होती है, और उसके प्रकाशन के लिये वह ऐमे प्रतीको की खोज करता है जो कुल मिलाकर दुबारा वही या उस-जैमी अनुभूति उत्थित कर सके। जब दूसरी अनुभूति पूर्वानुभूति के समान नही होती, तो वह पुन अन्य प्रतीको की खोज करता है। इस प्रकार उसका प्रतीको का अन्वेषण चलता रहता है, जब तक कि वह पूर्वानुभूति के तुल्यार्थक प्रतीक न पा ले।

कला-सृष्टि का यह विवरण विश्वसनीय जान पडता है । सभवत उस सृष्टि के कुछ उदाहरण इस विवरण के अनुरूप होते हैं, जैसे तब जब कलाकार किसी दृष्ट पदार्थ या स्थिति का सही चित्र देना चाहता है। वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्ध उक्ति "शान्ति के क्षणो मे सस्मृत आवेग" (इमोशन रिकलेक्टेड इन ट्रेङ्क्विलिटी) से इस बात की पुष्टि होती है। (यहाँ आवेग के स्थान पर अनुभूति या प्रतीति शब्द होना चाहिए क्योकि स्मरण ज्ञानात्मक होता है, केवल सवेदन-रूप नही।) किन्तु कला-सृष्टि-सम्बन्धी यह मन्तव्य इतना सरल है कि उस सृष्टि की जटिलताओ की समुचित व्याख्या नही कर सकता। इस मान्यता के विरुद्ध सबसे बडी आपत्ति यह है तथा-कथित मूल अनुभूति, यदि वह कुछ भी जटिल है, प्रतीको के बिना अस्तित्ववान नही हो सकती। साधारण-से-साधारण बिम्ब भी प्रतीक-बद्ध बन जाते हैं, जैसे ही उन्हें पृथक् करके नाम देने की कोशिश की जाती है।

वस्तुत कलात्मक सृष्टि पूर्वानुभूत विषयो का पुनरुल्लेख मात्र नही होती, वह जीवन-प्रक्रिया के नये क्षणो का सृजन करती है, जिसके उपादान कलाकार के पिछले अनुभव तथा वर्तमान प्रत्यय (Ideas) और सवेदन होते हैं।

यहाँ कला-सम्बन्धी मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त की परीक्षा भी उपादेय होगी। कलाकार की दबी हुई अन्तर्वृत्तियो से कला का सम्बन्ध स्पष्ट करके फ्रायड तथा उसके

अनुयायियो ने अवश्य ही कुछ महत्वपूर्ण धारणाएँ दी है। व्यक्ति के सामने अपनी आकाक्षाओ को तृप्त करने की अनेक सम्भावनाएँ रहती है, उनमे से कुछ ही जीवन मे यथार्थ हो पाती है। अत यह अनुमान सही लगता है कि कलाकार अपने सृजन द्वारा अपने को कल्पना-जगत मे सन्तुष्टि देता है। लेकिन यह अनुमान कला के सम्पूर्ण स्वरूप की समुचित व्याख्या नही कर पाता। यदि कला केवल बचपन की दबी हुई वासनाओ की अभिव्यक्ति ही हो, जैसा कि फ्रायडवादियो का विचार है, तो कलाकार द्वारा बाद के जीवन मे प्राप्त किया हुआ ज्ञान और अनुभव, कला-सृष्टि के विशिष्ट प्रयोजन के लिये, निरर्थक होने चाहिएँ। यह बात विचित्र जान पडती है। बाद के जीवन मे कलाकार शिक्षा प्राप्त करता है, दूसरे कलाकारो का अध्ययन करता है, तरह-तरह के विचार सचित करता है। ये सब उसकी सृष्टि के लिए क्या कुछ भी अर्थ नही रखते ? फ्रायडीय मत के आधार पर उन प्रयत्नो का भी कोई महत्व नहीं रहता जिनके द्वारा कलाकार अपनी रचना को शैलीगत पूर्णता देता है। उक्त मन्तव्य यह भी नही समझा सकता कि विभिन्न कला-कृतियाँ न्यूनाधिक महत्वपूर्ण क्यो होती है। वस्तुत फ्रायड का मन्तव्य हमें मूल्याकन का कोई पैमाना नही दे सकता। वह सिद्धान्त केवल कला के उद्भव की व्याख्या का प्रयत्न है।

दमित वासनाओ की अभिव्यक्ति कला है, यह सिद्धान्त कलात्मक प्रेरणा की ही व्याख्या देता है, वह कला की उन सौन्दर्यात्मक विशेषताओ को भूल जाता है जिनके कारण वह सुरुचि-सम्पन्न दर्शको या पाठको को रसात्मक लगती है। कृतियों को स्रष्टा के व्यक्तिगत इतिहास द्वारा समझने की कोशिश करते हुए उक्त सिद्धान्त यह भुला देता है कि रचना का रचयिता के परिवेश, उसके सास्कृतिक वातावरण और प्रतिभा से भी सबध होता है। मनोविश्लेपणवादियो के अनुसार दमित वासनाएँ कलाकार मे ही नही, सभी व्यक्तियो में पायी जाती है। शायद इसीलिये उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति का सार्वभौम प्रभाव होता है। किन्तु इस सिद्धान्त से हम विभिन्न कलाकारो की अलग-अलग विशेपताओ और उनकी कृतियो की अनेकरूपता को बिल्कुल ही नही समझ सकते।

फ्रायड के तत्र में यह माना जाता है कि व्यक्ति की अधिकाश क्रियाओ के मूल मे दमित काम-वासना होती है। उन क्रियाओ में कला-सृष्टि भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि फ्रायड का सिद्धान्त कला-सृष्टि की विशेप क्रिया के विशिष्ट कारण का सकेत नहीं करता।

मनोविश्लेषणवाद द्वारा दी गयी कला की व्याख्या की एक दूसरी बडी कमी यह है कि वह मनुष्य की कला-साधना तथा दूसरी सास्कृतिक क्रियाओ जैसे विज्ञान, दर्शन आदि में कोई सम्बन्ध नहीं देख पाती। अन्तत मनुष्य की विभिन्न सास्कृतिक क्रियाएँ एक-दूसरे से एकदम विच्छिन्न नही मानी जा सकती।

फ्रायडीय पद्धति की सीमा को छोडकर हम एक दूसरा प्रश्न उठाएँगे किसी कलाकृति का अपने युग की सवेदना से क्या सबन्ध होता है। क्या कलाकृति उस सवेदना को प्रकट करती है ? अथवा उसे निर्मित करती है ? क्या कलात्मक सृष्टि का मुख्य प्रयोजन यही है कि वह युग-विशेष की धुधली प्रतीतियो, सवेदनाओ तथा मनोभावो को अभिव्यक्ति दे, अथवा वह प्रतीतियो, सवेदनाओ तथा मनोभावो की नयी पद्धतियो का निर्माण करती है ? इस प्रश्न का कई दूसरे प्रश्नो से सम्बन्ध है किसी कलाकृति के बारे मे यह कहाँ तक कहा जा सकता है कि वह एक खास युग की उपज है ? उन समकालीन अन्वेषको तथा विचारको द्वारा जो दूसरे क्षेत्रो में काम कर रहे हैं, कलाकार को अपनी सृष्टि में कहाँ तक सहायता मिलती है ? सृजनशील कलाकार का परम्परा से क्या सम्बन्ध होता है ? कभी-कभी समसामयिक कला के सम्बन्ध मे गलतफहमी , और उसे समझने मे कठिनाई, क्यो होती है ? क्या कला अधिकाश लोगो के लिये बुद्धिगम्य होती है, अथवा होनी चाहिए ?

हमने सच्ची कला द्वारा उत्पादित सवेदनाओ के बारे में कवि पोप की निम्न उक्ति सुनी है जो अनेक बार मन में आया था, पर कभी इतनी अच्छी तरह प्रकट नही किया गया था। पोप के अनुसार कला हमें स्वय अपने ही मन का चित्र पुन पकडा देती है। श्री इमर्सन ने कहा है 'प्रतिभाशाली की प्रत्येक कृति में हम अपने ही उपेक्षित विचारों को पाते हैं।"[1] कला और सामान्य लोगो के जीवन के अनुभवो के सम्बन्ध के बारे में यह एक सम्मति हुई। इससे ठीक विपरीत सम्मति का प्रकाशन अंग्रेजी कवि ऑडेन ने किया है, जिसे श्री ओकोनोर ने उद्धृत किया है|। ऑडेन के अनुसार एक साधारण तथा प्रथम श्रेणी के कवि में भेद यह है कि जहाँ पहला केवल वही व्यक्त करता है जो हम सबके मन में होता है, वहाँ दूसरा हमारे मन में कुछ विषयों से सबद्ध कतिपय भावनाओ को पहली बार जागृत करता है। 'इस समय के बाद, इस कविता के कारण, अब मेरी समस्त सवेदनाएँ भिन्न हो जायेंगी।' कभी-कभी कवि हमें पहली बार उन चीजो की अवगति देता है जो किसी युग की विशेषताएँ होती हैं।"[2]

श्रेष्ठ कला के सम्बन्ध मे ये दो विरोधी सम्मतियाँ हैं, क्या उनमे समझौता सम्भव है? इस समस्या पर विचार करने से पहले हम पाठको के समक्ष दो और महत्वपूर्ण तथ्य उपस्थित करना चाहेगे, प्रथम यह कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है, और दूसरे स्पेंगलर का यह कथन कि 'गांव का इतिहास नही होता।'

जब हम कहते हैं कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है तो हम मुख्यत उसकी शारीरिक रचना का नही, अपितु उसके आवेगात्मक तथा बौद्धिक गठन का विचार करते हैं। जिस मनुष्य ने एक बुद्ध, प्लेटो अथवा कान्ट द्वारा उपस्थित किये हुए प्रश्नो और उनके समाधानो को आत्मसात् कर लिया है, वह उस व्यक्ति से नितान्त भिन्न है जिसने उन अथवा उनके समान प्रश्नो में कभी कोई अभिरुचि नही ली। आज के बुद्धिजीवी मनुष्य का जटिल व्यक्तित्व जिन असख्य प्रतीतियो, चित्रो और विचारो से निर्मित होता है वे असख्य प्राचीन और नवीन स्रोतो मे ग्रहण किये जाते हैं। मनुष्य की यह विशेषता है कि वह दूसरे नर-नारियो के अनुभवो तथा प्रतिक्रियाओ को ग्रहण करके अपने व्यक्तित्व का प्रसार करता है। ग्रामीण व्यक्ति भी इसका अपवाद नही है, यद्यपि, इस सम्बन्ध मे, एक नगरवासी की अपेक्षा उसे मिलनेवाले अवसर बहुत सीमित होते हैं।

मैं एक साहित्यिक, वैज्ञानिक अथवा विचारात्मक कृति को वहाँ तक पसन्द करता हूँ जहाँ तक वह मेरे जीवन या अस्तित्व को समृद्ध करती है। इससे अनुगत होता है कि विभिन्न पाठको को, जिनके व्यक्तित्व विभिन्न दिशाओ मे विभिन्न दर्जो तक विकसित हो चुके हैं, भिन्न-भिन्न कोटियो की रचनाएँ रोचक तथा उपयोगी जान पड़ेगी। इस स्पष्ट तथ्य की परीक्षा के लिये आप किसी भी पुस्तकालय के उस रजिस्टर की परीक्षा कर सकते है जिसमे दी हुई पुस्तको का हिसाब रहता है। आश्चर्य की बात है कि वे समीक्षक और विचारक जो यह माँग करते हैं कि किसी कला-कृति को सबके लिये समान रूप से बुद्धिगम्य होना चाहिए, इस स्पष्ट तथ्य को नही देख पाते।

प्रश्न है, वे क्या तत्व हैं जो एक पुस्तक को कुछ पाठको के लिये अपेक्षाकृत कठिन बना देते हैं? उत्तर मे निवेदन है—पुस्तक की सकेतात्मकता। एक महत्वपूर्ण कृति मे, जैसे कि ब्रेडले की "एपियरेन्स एण्ड रियालिटी", अथवा विटगैन्स्टाइन के 'ट्रैक्टाटस" में, असख्य समस्याओ, युक्तियो तथा हलो के सकेत रहते हैं। किन्तु एक कलाकृति मे पाये जानेवाले सकेत दूसरी कोटि के होते हैं। वैसी कृति मे उन अनेक अनुभव-

क्षेत्रो के प्रति सकेत रहते है जिनके विस्तार और जटिलता का विश्लेषण प्राचीन कलाकारो द्वारा हो चुका है । कोई भी वडा लेखक प्राचीन लेखको के कृतित्व पुनरावृत्ति नही करता। यदि वह पूर्व लेखको द्वारा उद्घाटित अनुभवो का स करता है तो इसलिए कि वह उन्हें नये सन्दर्भो मे, अपने युग की विशिष्ट प्रतीति तथा मनोभावो के साथ-साथ, रख सके, और इस प्रकार पुरानी अनुभूतियो को नई सार्थकता तथा नये अभिप्रायो से वेष्टित कर दे। पुरानी अनुभूतियो के प्रति स आवश्यक भी होते है, इसलिए कि वे आज के मनुष्य के ऐतिहासिक व्यक्तित्व अग हैं। आधुनिक मनुष्य की सवेदनाएँ और प्रवृत्तियाँ, उसके सघर्ष और आस्थ अपने वर्तमान रूप से भिन्न होती यदि वे बुद्ध और ईसा, मार्क्स और फ्रायड, डा और आइन्स्टाइन की शिक्षाओ तथा चिन्ताओ द्वारा प्रभावित न होती।

तो, कवि पोप और कवि ऑडेन के मतो का समन्वय कहाँ है ? हमारा विच है कि श्रेष्ठ कलाकार सर्वसाधारण की प्रतीतियो को ही ऐसे ढग से प्रकट करता है वे नूतन दिखाई देने लगें। कलाकार साधारण प्रतीतियो को नये ढगो से विस्तृत व सगठित करता है। इस प्रकार वह नवीनता की सृष्टि करते हुए भी अपने युग तथा ऐतिहासिक मनुष्य का, प्रतिनिधि वन जाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है, कलाकार को और उस व्यक्ति को जो अपने को सुसस्क वनाना चाहता है, अतीत महाग्रन्थो का परिचय क्यो अपेक्षित होता है ? गणि जैसे विषय में वाद के सिद्धान्तो को जानने के लिये यह जरूरी है कि हम उसके रूपो या मन्तव्यो से परिचित हो। पिछले अन्वेषणो से परिचित हुए विना कोई गणि के आगे के अन्वेषणो को नही समझ सकता। वस्तुत गणित के परवर्ती अन्वेष पूर्व अन्वेषणो पर निर्भर करते हैं। किन्तु साहित्य, दर्शन आदि के क्षेत्रो मे नयी-पुरा कृतियों में वैसी निर्भरता या सापेक्षता नही रहती । इसलिये कहा जा सकता है हम प्राचीन कृतियो की अवहेलना करके भी आज के साहित्य, दर्शन आदि को सम सकते हैं। किन्तु यह स्थापना सही नही है। अतीत कृतियाँ वर्तमान को प्रभावि करती हैं, इससे इनकार नही किया जा सकता। पन्द्रहवी शताव्दी में योरप मे ज्ञान के क्षेत्रो में पुनर्जागृति हुई उसका एक वडा कारण यूनानी "क्लासिक्स" का अन्वेष भी था। इस उदाहरण से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी जाति की युग की सृजनात्मक उपलब्धियाँ नष्ट हो सकती हैं,और इस प्रकार दूसरे युगो के लि अलभ्य या दुष्प्राप्य वन सकती है। इन उपलब्धियो को हमने मानवीय जीवन त

अनुभूति की सभावनाओ के नाम से अभिहित किया है। उनकी स्मृति नष्ट हो जाने मे आगे आनेवाली पीढियो के अस्तित्व पर वैसा प्रभाव नही पड़ता, जैसा कि उनके सृजनात्मक अथवा सास्कृतिक व्यवहार पर।

महनीय ग्रन्थो अथवा "क्लासिक्स" का परिचय किसी व्यक्ति को दो तरह प्रभावित करता है। प्रथमत वह उसके अस्तित्व को उन सजीव प्रतिक्रियाओ तथा अनुभूतियो मे, जिन्हे बड़े लेखक या कलाकार मूर्त्त कर गये है, प्रक्षिप्त करके उसका विस्तार कर देता है, दूसरे वह उसे विश्लेषण के विशेष धरातल का, उन प्रभावो का जो जटिल तथा समृद्ध अनुभूति पर रूपाकार के आरोप द्वारा उत्पन्न होते है, और चेतना के उस उत्थान का जो विविध तथा विस्तृत अनुभूतियो के कल्पना-मूलक, एकीकृत प्रत्यक्ष मे आता है, अभ्यस्त बना देता है।

एक सुसस्कृत लेखक 'क्लासिक्स' के दो महत्वपूर्ण उपयोग करता है। प्रथमत वह उनसे ऐसी असख्य जीवन-स्थितियो और उनके विभिन्न अगो की अवगति प्राप्त करता है जो अर्थपूर्ण है, और जिनके प्रति किसी भी परिपक्व रुचि तथा प्रौढ सवेदना-वाले व्यक्ति को प्रतिक्रियाशील होना चाहिए—यद्यपि उसकी प्रतिक्रिया प्राचीन लेखको की प्रतिक्रिया से भिन्न होगी, और अपनी भिन्नता द्वारा नये युग को अभिव्यक्ति देगी। दूसरे, वह 'क्लासिक्स' से ऐसे अनुभवो के सकेत पा सकता है जिन्होने लोगो की स्मृति पर स्थायी चिह्न छोड दिये है, और जिन्हे वह अपनी रचनाओ मे सकेतित कर सकता है। इस दूसरे व्यापार द्वारा लेखक अपनी कृति में सक्षिप्तता और तीव्रता ला सकता है, अर्थात् अपनी अभिव्यक्ति एव आवेगो को तीव्र तथा सघन बना सकता है।

प्राचीन लेखको ने जिन परिस्थितियो और अनुभवो का वर्णन किया है वे आज के वातावरण मे ज्यो-के-त्यो उपलब्ध नही हो सकते। किन्तु उन परिस्थितियो तथा अनुभवो के विधायक तत्व आज के जीवन मे भी मौजूद हो सकते है, भले ही उन्हे विविक्त कर लेना अब उतना सहल न हो। "क्लासिक्स" के अध्ययन से लेखक उन उपादानभूत तत्वो की विश्लेषणात्मक चेतना प्राप्त कर सकता है, और फिर उनका सचेत उपयोग अपनी रचना मे कर सकता है। लेखक के सम सामयिक विचारक तथा अन्वेषक भी उसे कुछ ऐसी ही मदद देते है। वे लेखक को उन विचारात्मक तत्वो तथा मनोभावो की विश्लेषणात्मक अवगति प्रदान करते है जो समकालीन मनोवृत्तियो का स्वरूप निर्मित करते है। इस प्रकार प्राचीन कलाकारो तथा नवीन चिन्तनशील

लेखको की सहायता से लेखक जटिल मानव-जीवन और चेतना के उपादानो की जानकारी प्राप्त करता है।

एक ऐसा पाठक जिसने अतीत की महत्वपूर्ण सास्कृतिक धरोहर को आत्मसात कर लिया है, और जो अपने युग की नयी विकास-दिशाओ से भी परिचित है, ऐसे कला-साहित्य की माँग करता है जो एक ओर तो चिर-नवीन परम्परा की स्मृति या अभिज्ञान जगाकर उसे पुलकित करे, और दूसरी ओर उसमे समसामयिक सवेदना की उन सभावनाओ की अवगति उत्पन्न करे जिनका लोगो को धुँधला आभास ही हो रहा है। इसके विपरीत वह पाठक जिसकी ऐतिहासिक चेतना अविकसित या कम विकसित है—जैसे कि स्पेंगलर का ग्रामीण—ऐसे काव्य-साहित्य को पसन्द करेगा जो अपेक्षाकृत कम जटिल है। वह परम्परा के अपेक्षाकृत ज्यादा लम्बे निरूपण मे सन्तुष्ट होगा, और उन जटिल नूतनताओ को ठीक से नही पकड सकेगा जो एकदम आधुनिक कला में पायी जाती है।

साराश यह कि कला वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मनुष्य एक विशेष कोटि की आत्मावगति प्राप्त करता है। कोई कलाकृति कितनी ही रहस्यमय, प्रतीकात्मक अथवा गूढ क्यो न हो, फिर भी उसका लक्ष्य यही होता है कि अनुभव के कतिपय क्षणो तथा क्षेत्रो को प्रकाशित या व्यक्त कर दे। सब प्रकार का अनुभव वाह्य वास्तविकता से सवधित होता है, फिर चाहे यह वास्तविकता हमारे मानव-साथियो की क्रियाएँ और मनोभाव ही क्यो न हो। तात्पर्य यह कि कला की विपयभूत वास्तविकता केवल वाह्य तथा गोचर जगत् नही होता, वहाँ प्राय हमारी दृष्टि स्वय मनुष्य पर टिकी रहती है। कला मे ऐसी वास्तविकताओ का भी ध्यान किया जाता है जैसे विश्व की समग्रता और उससे मनुष्य का सभाव्य सवध, विश्व-ब्रह्माण्ड में मनुष्य की गति और गन्तव्य, और उस विश्व की अपेक्षा में उसके प्रिय स्वप्नो तथा आदर्शो, और उसकी निगूढ, तीव्र सवेदनाओ की सार्थकता या महत्व। इस व्यापक दृष्टि से देखने पर हम कला को केवल व्यक्तिगत अथवा सामाजिक, मनोवैज्ञानिक अथवा नैतिक ही नही कह सकते, वह दार्शनिक और आध्यात्मिक भी होती है। इसका मतलब यह है कि मनुष्य का आवेगात्मक जीवन अनुभूति के किसी एक आयाम (Dimension) तक सीमित नही है। किन्तु जिस वास्तविकता या यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया को हम कला कहते है, उसका चित्र निरन्तर विभिन्न विज्ञानो तथा दर्शन द्वारा निर्मित और पुनर्निर्मित हो रहा है। फलत जब मनुष्य के बौद्धिक दृष्टिकोण में परिवर्तन होता है,

जब विज्ञान और दर्शन मे क्रान्तियाँ होती है, तो कला का रूप भी अपरिवर्तित नही रहता। ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रो में होनेवाले परिवर्तन आवश्यक रूप मे कलात्मक अनुभूति को प्रभावित करते है।

सभवत विश्व की समग्रता के प्रति, और उसमे मनुष्य का क्या स्थान है इसके बारे मे, मानवता के मनोभाव इने-गिने रूप ही धारण कर सकते है इन मनोभावो को हम ऐसी व्यजनाओ द्वारा प्रकट करते है जैसे सशयवाद या आस्था, भौतिकवाद या अध्यात्मवाद, आशावाद या निराशावाद, इत्यादि। सभ्य जातियो के साहित्यिक इतिहास मे सभवत ये मनोभाव बार-बार आवृत्त होते है। फिर भी उनकी अभिव्यजना में अन्तर न पडता हो, ऐसी बात नही है। प्रत्येक ऐसे व्यापक मनोभाव का आधार युग-विशेष का ज्ञान-विज्ञान होता है, और यह ज्ञान-विज्ञान एक युग से दूसरे मे बदल जाता है। फलत प्रत्येक मनोभाव के पक्ष या विपक्ष मे प्रस्तुत की जा सकनेवाली साक्षी अथवा तथ्यात्मक आधार मे परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन विस्तार और जटिलता दोनो मे ही होता है। नयी दृष्टियो तथा नये प्रमाणो की छाया मे आधार-भूत साक्षी के रूप बदलते रहते है। किसी भी युग के प्रतिनिधि कलाकारो मे युग के विशिष्ट मनोभावो के पक्ष या विपक्ष मे उपलब्ध साक्षी की तीखी चेतना रहती है, वह साक्षी ही कलात्मक सवेदना की अभिरुचि का केन्द्र होती है। नवीन समर्थक साक्षी या तथ्य-सामग्री की चेतना ही एक युग के सन्देहवाद, भौतिकवाद अथवा अध्यात्मवाद को दूसरे युगो के उसी मनोभाव से भिन्न करती है। उदाहरण के लिये आज के मनुष्य का भौतिकवाद डिमोक्राइट्स या चार्वाक के भौतिकवाद से बहुत भिन्न है, वैसे ही हीगल के बाद का अध्यात्मवाद प्लेटो और शकर के अध्यात्मवाद से भिन्न है।

श्री टी० एस० इलियट ने सार्थकता के स्तरो की धारणा दी है, जिससे हम सब परिचित है। इलियट का कथन है कि श्रेष्ठ कला मे एक साथ ही अर्थवत्ता के अनेक धरातल मौजूद रहते है, जिसके कारण वह विभिन्न योग्यताओ के पाठको को अच्छी लगती है। उदाहरण के लिये श्री तुलसीदास का "राम-चरित-मानस" जहां एक ओर रसज्ञ विद्वानो को प्रिय लगता है, वहां दूसरी ओर थोडा पढे-लिखे देहातियो को भी। यही बात टॉल्स्टाय तथा शेक्सपियर जैसे महान् लेखको की कृतियो पर भी लागू होती है। इन विभिन्न स्तरो का क्या अभिप्राय हो सकता है? जहाँ तक आस्था तथा अनास्था के मनोभावो का प्रश्न है, इन स्तरो का मतलब होगा साक्षी (Evidence) या प्रमाण-सामग्री के विभिन्न क्रम, अथवा उनकी चेतना। दूसरे मनोभावो की सबद्रता

लेखकों की सहायता से लेखक जटिल मानव-जीवन और चेतना के उपादानो की जानकारी प्राप्त करता है।

एक ऐसा पाठक जिसने अतीत की महत्वपूर्ण सास्कृतिक धरोहर को आत्मसात कर लिया है, और जो अपने युग की नयी विकास-दिशाओ से भी परिचित है, ऐसे कला-साहित्य की माँग करता है जो एक ओर तो चिर-नवीन परम्परा की स्मृति या अभिज्ञान जगाकर उसे पुलकित करे, और दूसरी ओर उसमे समसामयिक सवेदना की उन सभावनाओ की अवगति उत्पन्न करे जिनका लोगो को धुँधला आभास ही हो रहा है। इसके विपरीत वह पाठक जिसकी ऐतिहासिक चेतना अविकसित या कम विकसित है—जैसे कि स्पेंगलर का ग्रामीण—ऐसे काव्य-साहित्य को पसन्द करेगा जो अपेक्षाकृत कम जटिल है। वह परम्परा के अपेक्षाकृत ज्यादा लम्बे निरूपण से सन्तुष्ट होगा, और उन जटिल नूतनताओ को ठीक से नही पकड सकेगा जो एकदम आधुनिक कला में पायी जाती हैं।

साराश यह कि कला वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मनुष्य एक विशेष कोटि की आत्मावगति प्राप्त करता है। कोई कलाकृति कितनी ही रहस्यमय, प्रतीकात्मक अथवा गूढ क्यो न हो, फिर भी उसका लक्ष्य यही होता है कि अनुभव के कतिपय क्षणो तथा क्षेत्रो को प्रकाशित या व्यक्त कर दे। सब प्रकार का अनुभव वाह्य वास्तविकता से सबधित होता है, फिर चाहे यह वास्तविकता हमारे मानव-साथियो की क्रियाएँ और मनोभाव ही क्यो न हो। तात्पर्य यह कि कला की विषयभूत वास्तविकता केवल वाह्य तथा गोचर जगत् नही होता, वहाँ प्राय हमारी दृष्टि स्वय मनुष्य पर टिकी रहती है। कला मे ऐसी वास्तविकताओ का भी ध्यान किया जाता है जैसे विश्व की समग्रता और उससे मनुष्य का सभाव्य सबध, विश्व-ब्रह्माण्ड में मनुष्य की गति और गन्तव्य, और उस विश्व की अपेक्षा में उसके प्रिय स्वप्नो तथा आदर्शों, और उसकी निगूढ, तीव्र सवेदनाओ की सार्थकता या महत्व। इस व्यापक दृष्टि से देखने पर हम कला को केवल व्यक्तिगत अथवा सामाजिक, मनोवैज्ञानिक अथवा नैतिक ही नही कह सकते, वह दार्शनिक और आध्यात्मिक भी होती है। इसका मतलब यह है कि मनुष्य का आवेगात्मक जीवन अनुभूति के किसी एक आयाम (Dimension) तक सीमित नही है। किन्तु जिस वास्तविकता या यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया को हम कला कहते हैं, उसका चित्र निरन्तर विभिन्न विज्ञानो तथा दर्शन द्वारा निर्मित और पुनर्निर्मित हो रहा है। फलत जब मनुष्य के बौद्धिक दृष्टिकोण में परिवर्तन होता है,

आधार पर जीवनानुभूति के नये रूपो या सस्थानो की सृष्टि करता, और इस प्रकार नूतनता की उपलब्धि करता है। वस्तुत प्रतिभाशाली के व्यक्तित्व में ही नये युग का जीवन, उस समय जब जीवन के पुराने आदर्श छिन्न-भिन्न या खण्डित हो चुकते हैं, आत्म-चेतना तथा सामजस्य प्राप्त करता है। जिसे हम एक नयी विचार-पद्धति, अथवा महसूस करने या क्रियाशील होने का एक नया ढग, कहते हैं, वह अन्तिम विश्लेषण मे एक ऐसा सुविधाजनक तरीका होता है जिसके द्वारा नयी सवेदना के उपादानो या तत्वो को व्यवस्थित तथा एकीकृत किया जा सकता है। नयी व्यवस्था या सस्थान जितने ही विस्तृत क्षेत्र का स्पर्श करता है, वह उतनी ही जटिल तथा समृद्ध पद्धति का रूप धारण करता है। उदाहरण के लिये एक बडा नाटककार या उपन्यासकार, विभिन्न चरित्रो की सृष्टि द्वारा, युग-सवेदना के प्राय सभी तत्वो का उपयोग कर डालता है, इसी प्रकार एक दार्शनिक, एक महती विचार-पद्धति के निर्माण मे, अपने युग-बोध के समस्त उपादानो को नि शेष कर देता है। दूसरी कोटि का प्रतिभाशाली, जैसे एक ह्यूम अथवा दास्ताएव्स्की, यथार्थ के सीमित किन्तु सार्थक एक ही क्षेत्र मे गहरे घुस कर अपनी प्रतिभा का प्रमाण देता है।

अब हम वास्तविक कला-साहित्य की एक दूसरी विशेषता को लक्षित करेंगे, अर्थात् उसकी निर्वैयक्तिकता। कला की नयी-से-नयी सृष्टियो को, अन्तत, मनुष्य की वास्तविक प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए। समस्त कला सामान्य (Normal) मनुष्य की आवेगात्मक तथा सकल्प-मूलक जीवन-सभावनाओ का अन्वेषण या उद्घाटन है। तर्कशास्त्र की भाँति वह समस्त कला जो वास्तविक है, सबके उपभोग के लिए होती है। महान और यथार्थ कला ऐसी प्रत्येक चीज का बहिष्कार करती है जो खामखयाली कल्पना अथवा व्यक्तिगत वैचित्र्य की द्योतक है। हमारे मत मे वैचित्र्य-मूलक अथवा खामखयाली कल्पना (Fancy) तथा यथार्थ कल्पना (Imagination) का अन्तर इस प्रकार है जहाँ द्वितीय कोटि की कल्पना बाह्य अथवा आन्तरिक वास्तविकता का पुनर्गठन स्वय यथार्थ के नियमो के अनुसार करती है, वहाँ प्रथम कोटि की कल्पना यथार्थ के तत्वो को अनियन्त्रित स्वच्छदता मे एकत्रित कर डालती है। उक्त प्रभेद को हम उदाहरण द्वारा व्यक्त करें। टॉल्स्टॉय का "एना केरेनिना" उपन्यास यथार्थ कल्पना की सृष्टि है, जब कि "अलिफलैला' वैचित्र्य-मूलक कल्पना की। कथा-साहित्य का इतिहास इस तथ्य का महत्वपूर्ण निदर्शन उपस्थित करता है कि कला का विकास क्रमश अधिकाधिक यथार्थवाद की ओर हुआ है। नाटक नया

मे, जैसे कि प्रेमिका-सम्बन्धी आकर्पण-भावना मे, विभिन्न स्तरो का निर्माण उन विभिन्न गुणात्मक तत्वो की चेतना से होता है जो पृथक्-पृथक् मूल्य-पद्धतियो (Value-Systems) का अग होते हैं, और जिनकी अवगति विश्लेषण तथा सवध-स्थापन की न्यूनाधिक शक्तियो की अपेक्षा करती है।

किसी कला-कृति की महत्ता के दो माप हैं अर्थवान् यथार्थ का वह विस्तार जिसका स्पर्श हमें विचाराधीन कृति के द्वारा होता है, और नवीनता तथा व्यक्तित्व का वह दर्जा जिस तक उस यथार्थ की अभिव्यक्ति मे पहुँचा जा सका है। सब तरह की कलात्मक अनुभूति एक प्रकार की निर्मिति होती है। उसकी नूतनता का एक स्रोत तो वे नये तत्व होते हैं जिनका उसमे ग्रथन हुआ है, और दूसरा उन तत्वो के सम्मिश्रण की शैली, या उसमें प्रतिफलित शिल्प-विधान। अपेक्षाकृत स्थिर युगो में कलाकार प्राय रचना-तन्त्र द्वारा नवीनता की उपलब्धि करता है। उसकी अनुभूति के विधायक तत्व प्राय परिचित होते हैं, इसलिये उसकी कृति सुबोध होती है। किन्तु एक ऐसे कलाकार को जो एक युग के अन्त और दूसरे के प्रारम्भ में आता है दोहरा काम करना पडता है। उसे ऐसी प्रतीतियो तथा मनोभावो को वाणी-बद्ध करना होता है जो थोडे ही लोगो की चेतना में रूपायित होने की ओर अग्रसर हो रहे हैं, और, उन प्रतीतियो तथा मनोभावो को समष्टि रूप में ढालने के लिये, उसे नये शिल्प-विधानो का आश्रय लेना पडता है। उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ मे वर्ड्सवर्थ को और बीसवी के दूसरे शतक में टी० एस० इलियट को कुछ इसी प्रकार का कार्य करना पडा।

एक महत्वपूर्ण और वास्तविक अर्थ मे कलाकार अपने युग की उपज होता है। वह वस्तुत उन चीजो को प्रकट करता है जो युग के लोगो द्वारा महसूस की जा रही है—भावना तथा क्रिया की उन सभावनाओ को जिन्हें अधिक सवेदनशील समसामयिक मनुष्य महसूस कर रहे हैं। यही कारण है कि समकालीन पाठक पुराण-पन्थियो की आलोचनाओ के विरुद्ध नये कलाकार का स्वागत करते हैं। कोई प्रतिभाशाली तब तक आदृत और प्रभावशील नही हो सकता जब तक उसे थोडे-बहुत सवेदनशील तथा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियो का सहारा न हो। वस्तुत सब प्रकार की सास्कृतिक प्रगति का यही अर्थ होता है, अर्थात् धुधले रूप में प्रतीत होने वाली जीवन-सभावनाओ का स्पष्ट रूप में प्रत्यक्षीकरण या उपलब्धि। प्रतिभाशाली वह उपकरण है जिसके द्वारा यह प्रत्यक्षीकरण या उपलब्धि सभव होती है।

निष्कर्ष यह कि कलाकार अपने युग के द्वारा उपस्थापित विशिष्ट सामग्री के

आधार पर जीवनानुभूति के नये रूपो या सस्थानो की सृष्टि करता, और इस प्रकार नूतनता की उपलब्धि करता है। वस्तुत प्रतिभाशाली के व्यक्तित्व में ही नये युग का जीवन, उस समय जब जीवन के पुराने आदर्श छिन्न-भिन्न या खण्डित हो चुकते हैं, आत्म-चेतना तथा सामजस्य प्राप्त करता है। जिसे हम एक नयी विचार-पद्धति, अथवा महसूस करने या क्रियाशील होने का एक नया ढग, कहते हैं, वह अन्तिम विश्लेषण मे एक ऐसा सुविधाजनक तरीका होता है जिसके द्वारा नयी सवेदना के उपादानो या तत्वो को व्यवस्थित तथा एकीकृत किया जा सकता है। नयी व्यवस्था या सस्थान जितने ही विस्तृत क्षेत्र का स्पर्श करता है, वह उतनी ही जटिल तथा समृद्ध पद्धति का रूप धारण करता है। उदाहरण के लिये एक बडा नाटककार या उपन्यासकार, विभिन्न चरित्रो की सृष्टि द्वारा, युग-सवेदना के प्राय सभी तत्वो का उपयोग कर डालता है, इसी प्रकार एक दार्शनिक, एक महती विचार-पद्धति के निर्माण मे, अपने युग-बोध के समस्त उपादानो को नि शेष कर देता है। दूसरी कोटि का प्रतिभाशाली, जैसे एक ह्यूम अथवा दास्ताएव्स्की, यथार्थ के सीमित किन्तु सार्थक एक ही क्षेत्र मे गहरे घुस कर अपनी प्रतिभा का प्रमाण देता है।

अब हम वास्तविक कला-साहित्य की एक दूसरी विशेषता को लक्षित करेंगे, अर्थात् उसकी निर्वैयक्तिकता। कला की नयी-से-नयी सृष्टियो को, अन्तत, मनुष्य की वास्तविक प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए। समस्त कला सामान्य (Normal) मनुष्य की आवेगात्मक तथा सकल्प-मूलक जीवन-सभावनाओं का अन्वेषण या उद्घाटन है। तर्कशास्त्र की भाँति वह समस्त कला जो वास्तविक है, सबके उपभोग के लिए होती है। महान और यथार्थ कला ऐसी प्रत्येक चीज का बहिष्कार करती है जो खामखयाली कल्पना अथवा व्यक्तिगत वैचित्र्य की द्योतक है। हमारे मत मे वैचित्र्य-मूलक अथवा खामखयाली कल्पना (Fancy) तथा यथार्थ कल्पना (Imagination) का अन्तर इस प्रकार है जहाँ द्वितीय कोटि की कल्पना बाह्य अथवा आन्तरिक वास्तविकता का पुनर्गठन स्वय यथार्थ के नियमो के अनुसार करती है, वहाँ प्रथम कोटि की कल्पना यथार्थ के तत्वो को अनियन्त्रित स्वच्छदता से एकत्रित कर डालती है। उक्त प्रभेद को हम उदाहरण द्वारा व्यक्त करे। टॉल्स्टॉय का "एना केरीनिना" उपन्यास यथार्थ कल्पना की सृष्टि है, जब कि "अलिफलैला" वैचित्र्य-मूलक कल्पना की। कथा-साहित्य का इतिहास इस तथ्य का महत्वपूर्ण निदर्शन उपस्थित करता है कि कला का विकास क्रमश अधिकाधिक यथार्थवाद की ओर हुआ है। नाटक तथा

कथा-साहित्य मे प्रभाव उत्पन्न करने के लिये मदा से औत्सुक्य नामक वृत्ति का आधार लिया गया है। लेखक पाठको या दर्शको की उत्सुकता को अन्त तक बनाये रखना चाहता है। प्राचीन काल के लेखक उक्त भावना को जागृत रखने के लिये अलौकिक तत्वो का सन्निवेश करते थे, जैसे किमी ऋषि या देवता का हस्तक्षेप, अथवा वे विशुद्ध मयोग द्वारा समस्या को खडा या हल कर देते थे। आज के कथा-माहित्य में हमारी उत्सुकता तथा कुतूहल की वृत्तियो का एकमात्र आधार मानव-प्रकृति की विविध सभावनाएँ ही होती हैं।

कला-सृष्टि के क्षेत्र में निर्वैयक्तिक होने का अर्थ है वस्तुत अथवा सार्वभौम रूप मे मानवीय होना। **महान् कला जीवन की सामान्यरूपता के बीच नवीनता के विधान का कठिन कार्य करती है।** इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि महान नाटककारो तथा उपन्यास-लेखको के समस्त महत्वपूर्ण पात्र "टाइप" होते हैं, अर्थात् वे किमी युग के विभिन्न जीवन-रूपो अथवा जीवन-प्रवृत्तियो के प्रतिनिधि, और इसलिए सब युगो के प्रतिनिधि, जान पडते हैं। बात यह है कि वह वस्तु जो मानव-इतिहास के किसी एक युग की प्रतिनिधि हो सकती है, उस समूचे इतिहास की प्रतिनिधि होती है। महनीय कला-कृतियो की उम्र लम्बी होती है, इसका कारण यह है कि वे कृतियाँ विभिन्न जातियो तथा युगो की सस्कृतियो के आवरणो को भेद कर मानवीय कर्मों तथा प्रतिक्रियाओ का सम्बन्ध मानव-प्रकृति की मूल प्रवृत्तियो से स्थापित कर देती हैं। पूछा जा सकता है कि अपने "एना केरीनिना" उपन्यास मे टॉल्स्टॉय नायिका के प्रेमी व्रास्की का चित्रण सफलता से क्यो नही कर सके हैं ? उत्तर है उक्त उपन्यास में वे हमे व्रास्की की गूढ अन्तर्वृत्तियो की निकट झाँकी देने में असमर्थ रहे हैं। पात्रो के नये से नये "मूड" और मनोभाव तभी बुद्धिगम्य होते हैं जब उनका सबध उन मौलिक वृत्तियो से जोड दिया जाता है जो सम्पूर्ण मानव-जाति में पायी जाती हैं। इतिहास-ग्रन्थो मे वर्णित स्त्री-पुरुषो के कार्यो तथा चरित्रो के सम्बन्ध मे भी ऊपर का वक्तव्य लागू होता है।

## आलोचना का स्वरूप और उपयोगिता

ऊपर हमने कला की प्रकृति का विवेचन किया। अब हम एक दूसरी सास्कृतिक क्रिया की परीक्षा करेंगे, जिसका कला के उपभोग, और सृष्टि से भी, निकट सम्बन्ध है। दो प्रकार के लेखक कला-साहित्य के सम्बन्ध में लिखते हैं, एक साहित्य-मीमासक और दूसरे समीक्षक। यहाँ हम समीक्षा और समीक्षक की प्रकृतियो का उद्घाटन

करेंगे। पूछा जा सकता है, साहित्य-मीमासक से भिन्न कला-साहित्य के समीक्षक का क्या कार्य और उपयोगिता होती है ?

समीक्षा के इतिहास से हमें अनेक प्रकार की आलोचनाओ और आलोचना-सम्बन्धी दृष्टिकोणो का परिचय प्राप्त होता है, जैसे "क्लासिकल" (शास्त्रीय अथवा मानदण्डो पर आधारित) और रोमाटिक (स्वच्छन्दतावादी), ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय, जीवनी-मूलक और मनोवैज्ञानिक, प्रभाववादी, अभिव्यजनावादी, इत्यादि। यहाँ हम इन विभिन्न दृष्टिकोणो और आलोचना-प्रकारो को आँकने की कोशिश नही करेगे। इसके विपरीत, समीक्षा के स्वरूप और कार्य के सम्बन्ध मे हम स्वय अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करेगे, और यह देखने की चेष्टा करेगे कि उस मन्तव्य की अपेक्षा मे विभिन्न समीक्षा-सिद्धान्तो की क्या सार्थकता है।

हम आलोचना की परिभाषा इस प्रकार करेगे आलोचना किसी कला-कृति मे निबद्ध अनुभूति के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्याकन का प्रयत्न है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि उक्त तीन क्रियाओ को एक-दूसरी से सर्वथा अलग नही किया जा सकता। एक क्रिया हमे अनिवार्य रूप से दूसरी की ओर ले जाती है, और उन क्रियाओ का एक-दूसरी के लिये मतलब या सार्थकता होती है। किसी कला-कृति का विश्लेषण इसलिये किया जाता है कि बाद में उसकी व्याख्या की जा सके, और विश्लेषण और व्याख्या दोनो का लक्ष्य उचित मूल्याकन ही होता है। एक सास्कृतिक क्रिया के रूप मे कला का हमारे लिये विशेष महत्व यही है कि उसमें मूल्य निहित होते हैं।

विश्लेषण द्वारा हम पाठको का ध्यान कृति के उपादानभूत तत्वो की ओर आकृष्ट करते हैं। कलात्मक अनुभूति प्राय जटिल होती है, उसमे जहाँ एक ओर सागीतिक लय, चित्र आदि विद्यमान होते हैं वहाँ दूसरी ओर प्राय सार्थक स्थिति या स्थितियाँ भी मौजूद होती हैं जिनमें आत्म-परक अथवा वस्तु-परक या दोनो ही कोटियो के तत्त्व उपस्थित रहते हैं। विश्लेषण का प्रधान उद्देश्य आलोच्य कृति के उन तत्वो या अगो का पृथक्करण है जो उस कृति की प्रभावात्मकता के हेतु हैं। एक कला-कृति अनेक प्रभाव उत्पन्न करती है। यद्यपि मूलत हम कलात्मक अनुभूति को उसके समग्र, अविश्लेषित रूप मे ग्रहण करते हैं, फिर भी उसकी आलोचनात्मक अवगति के लिये उसे खडित करना आवश्यक हो जाता है। इस खडित करने या विश्लेषित करने की क्रिया द्वारा ही समीक्षा-व्यापार सचेत बनता है। एक आदर्श समीक्षक हम उसे कहेंगे

कथा-साहित्य मे प्रभाव उत्पन्न करने के लिये सदा से औत्सुक्य नामक वृत्ति का आधार लिया गया है। लेखक पाठको या दर्शको की उत्सुकता को अन्त तक बनाये रखना चाहता है। प्राचीन काल के लेखक उक्त भावना को जागृत रखने के लिये अलौकिक तत्वो का सन्निवेश करते थे, जैसे किसी ऋषि या देवता का हस्तक्षेप, अथवा वे विशुद्ध सयोग द्वारा समस्या को खडा या हल कर देते थे। आज के कथा-साहित्य मे हमारी उत्सुकता तथा कुतूहल की वृत्तियो का एकमात्र आधार मानव-प्रकृति की विविध सभावनाएँ ही होती है।

कला-सृष्टि के क्षेत्र मे निर्वैयक्तिक होने का अर्थ है वस्तुत अथवा सार्वभौम रूप में मानवीय होना। **महान् कला जीवन की सामान्यरूपता के बीच नवीनता के विधान का कठिन कार्य करती है।** इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि महान नाटककारो तथा उपन्यास-लेखको के समस्त महत्वपूर्ण पात्र "टाइप" होते है, अर्थात् वे किसी युग के विभिन्न जीवन-रूपो अथवा जीवन-प्रवृत्तियो के प्रतिनिधि, और इसलिए सब युगो के प्रतिनिधि, जान पडते है। बात यह है कि वह वस्तु जो मानव-इतिहास के किसी एक युग की प्रतिनिधि हो सकती है, उस समूचे इतिहास की प्रतिनिधि होती है। महनीय कला-कृतियो की उम्र लम्बी होती है, इसका कारण यह है कि वे कृतियाँ विभिन्न जातियो तथा युगो की सस्कृतियो के आवरणो को भेद कर मानवीय कर्मो तथा प्रतिक्रियाओ का सम्बन्ध मानव-प्रकृति की मूल प्रवृत्तियो से स्थापित कर देती है। पूछा जा सकता है कि अपने "एना केरीनिना" उपन्यास में टॉल्स्टॉय नायिका के प्रेमी व्रास्की का चित्रण सफलता से क्यो नही कर सके है ? उत्तर है उक्त उपन्यास में वे हमें व्रास्की की गूढ अन्तर्वृत्तियो की निकट झाँकी देने में असमर्थ रहे है। पात्रो के नये से नये "मूड" और मनोभाव तभी बुद्धिगम्य होते है जब उनका सबध उन मौलिक वृत्तियो से जोड दिया जाता है जो सम्पूर्ण मानव-जाति में पायी जाती है। इतिहास-ग्रन्थो मे वर्णित स्त्री-पुरुषो के कार्यो तथा चरित्रो के सम्बन्ध में भी ऊपर का वक्तव्य लागू होता है।

## आलोचना का स्वरूप और उपयोगिता

ऊपर हमने कला की प्रकृति का विवेचन किया। अब हम एक दूसरी सास्कृतिक क्रिया की परीक्षा करेगे, जिसका कला के उपभोग, और सृष्टि से भी, निकट सम्बन्ध है। दो प्रकार के लेखक कला-साहित्य के सम्बन्ध में लिखते है, एक साहित्य-मीमासक और दूसरे समीक्षक। यहाँ हम समीक्षा और समीक्षक की प्रकृतियो का उद्घाटन

बनाती है ? उक्त प्रश्न निरर्थक है, यदि उसका यह अभिप्राय हो कि कृति के मूल्यात्मक पहलू को उसके समग्र अस्तित्व से अलग किया जा सकता है। कला-कृति में जीवनानुभूति के विशिष्ट पक्षो अथवा सस्थानो को मूर्त या प्रकाशित किया जाता है, और यह समग्र अनुभूति ही मूल्यवान होती है। कलात्मक अभिव्यक्ति मे कलाकार अपने जीवन के कतिपय महत्वपूर्ण स्पन्दनो को सम्बद्ध रूप मे उपस्थित करता है, हमारे मूल्याकन का विषय यही सम्बद्ध जीवन-स्पन्दन होते हैं। किन्तु विश्लेषणात्मक अवगति के लिये हम कलात्मक अनुभव मे दो तत्वो को विविक्त कर सकते हैं, अनुभव के विभिन्न तत्व और उन्हे सगठित तथा प्रभविष्णु रूप देने के तरीके या रचना-तत्र (टेकनीक)। हम खासतौर से उन रचना-तन्त्रो (Techniques) पर ध्यान देते हैं जो प्रकाशित अनुभव को सगत एव प्रभावपूर्ण बनाते हैं। दूसरे, हम समग्र अनुभूति की विभिन्न विशेषताओ पर अलग-अलग ध्यान दे सकते हैं, जैसे उसका सगीत और चित्र विधान, उसके प्रेक्षा मूलक और आवेगात्मक तत्व, उसका बौद्धिक और नैतिक स्वर, उसकी कल्पनात्मक व्यापकता और साहसपूर्ण सगठन, उसकी शक्ति और तीव्रता, उसकी सच्चाई और आन्तरिकता, गहराई, उल्लास-भावना इत्यादि। वस्तुत, चूंकि कलात्मक अनुभूति कलाकार के आत्मिक जीवन का अग होती है, इसलिये उसमे प्राय वे सभी विशेषताएँ पायी जा सकती हैं जो मानव-चेतना के लिये सम्भव है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि आलोचक लोग कला-कृतियो में भिन्न-भिन्न विशेषताओ की खोज करें, और भिन्न-भिन्न विशेषताओ को पाये। जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तित्व विभिन्न कारणो मे भले या बुरे होते हैं, वैसा ही कला-कृतियो के बारे में भी सत्य है। जिस प्रकार विभिन्न लोग मानव व्यक्तित्व की अलग-अलग विशेषताओ पर मुग्ध होते हैं, वैसे ही विभिन्न समीक्षक कला-कृतियो मे भिन्न-भिन्न कोटियो के प्रभावो को देखते और खोजते हैं। यही कारण है कि उन कृतियो के मूल्याकन के सम्बन्ध में समीक्षको में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

किन्तु किसी भी समीक्षक को कला-कृतियो की एक विशेषता की उपेक्षा करने का अधिकार नही है, अर्थात् उनकी वह शक्ति जिनके द्वारा वे हमारे सचेत जीवन और अनुभूति को समृद्ध बनाती हैं। प्रश्न है : कला उक्त कार्य का सपादन कैसे करती है ? उत्तर है : मनुष्य के समसामयिक तथा ऐतिहासिक अनुभव से हमारा सार्थक सम्बन्ध स्थापित करके। उक्त स्थिति को दूसरे ढग से भी देखा जा सकता है। कलाकार उस यथार्थ का, जिसका आवेगात्मक महत्व है, अपनी चेतना द्वारा विश्लेषण करके पुन-

जो किसी कला-कृति के प्रत्येक उपादान तत्व को देखने की क्षमता रखता है, और सूक्ष्म, विवरणात्मक ढग से उन हेतुओ को जानता है जिनके कारण वह आलोच्य कृति के विभिन्न अगो या पहलुओ को स्वीकृति अथवा अस्वीकृति देता है। किन्तु शायद ऐसा कोई समीक्षक कभी कही अस्तित्ववान् नही रहा, और शायद अस्तित्ववान् होगा भी नही, कारण यह है कि कलात्मक अनुभूति मे, विशेषत उसके उच्चतर रूपो में, कुछ ऐसा रहस्यमय सौन्दर्य और आकर्षण रहता है, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेपण की पकड मे नही आता।

किसी कला-कृति की **व्याख्या** का अर्थ है, उसके विश्लेपित तत्वो को कलाकार के परिवेश में उपस्थित अधिक व्यापक समष्टियो (Wholes) अथवा शक्तियो से सम्बन्धित कर देना। कृति की व्याख्या द्वारा हम उसे सास्कृतिक वातावरण के उस सन्दर्भ में प्रतिष्ठित कर देते हैं जहाँ उसका उदय सम्भव हुआ। व्याख्या का एक और अर्थ भी हो सकता है उन समसामयिक तथा ऐतिहासिक प्रभावो की छानबीन जिन्होंने कलाकार द्वारा विशिष्ट सामग्री के चयन और उस सामग्री के सगठन मे निहित गौरव को, निर्धारित किया। सक्षेप में, किसी कला-कृति की व्याख्या का अर्थ है उसे, कार्य और कारण दोनो रूपो में, रचयिता के युग, वातावरण और परिवेश से सम्बद्ध कर देना। कारण यह कि कला की सृष्टियाँ जहाँ तक एक ओर अपने सास्कृतिक परिवेश की उपज होती हैं, वहाँ दूसरी ओर वे उस परिवेश के स्वरूप को प्रभावित एव परिवर्तित करने वाली भी होती हैं। विशेपत अतीत कला-सृष्टियो के सम्बन्ध में (और अतीत एक सापेक्ष शब्द है जिसका अभिप्राय निकट अतीत और दूरवर्ती अतीत दोनो ही हो सकते हैं) हम अपेक्षाकृत स्पष्टता से यह जानकारी हासिल कर सकते हैं कि उन्होने बाद के युग या युगो की रुचियो, नैतिकता, जीवन-दृष्टियो आदि पर क्या प्रभाव डाला। जैसा कि हमने शुरू में कहा था, विश्लेपण और व्याख्या का चरम प्रयोजन कृति-विशेप का मूल्याकन है। क्योकि मूल्याकन मे अर्थ या अभिप्राय का आकलन निहित है, इसलिये वैसे आकलन को भी आलोचना का प्रयोजन कहा जा सकता है। किन्तु व्यवहार में किसी कला-कृति के समझने और उसके रस-ग्रहण अथवा मूल्याकन की क्रियाओ को एक-दूसरी से अलग नही किया जा सकता। कारण यह है कि इस सन्दर्भ मे कृति-विशेप को समझने का अर्थ उसकी उन विशेपताओ को लक्षित करना है जो उसके प्रभाव अथवा प्रभावहीनता का हेतु होती है।

यहाँ प्रश्न उठता है, वे कौन-सी विशपताएँ है जो किसी कला-कृति को महत्वपूर्ण

बनाती है ? उक्त प्रश्न निरर्थक है, यदि उसका यह अभिप्राय हो कि कृति के मूल्यात्मक पहलू को उसके समग्र अस्तित्व से अलग किया जा सकता है। कला-कृति में जीवनानुभूति के विशिष्ट पक्षो अथवा सस्थानो को मूर्त या प्रकाशित किया जाता है, और यह समग्र अनुभूति ही मूल्यवान होती है। कलात्मक अभिव्यक्ति में कलाकार अपने जीवन के कतिपय महत्वपूर्ण स्पन्दनो को सम्बद्ध रूप में उपस्थित करता है, हमारे मूल्याकन का विषय यही सम्बद्ध जीवन-स्पन्दन होते हैं। किन्तु विश्लेषणात्मक अवगति के लिये हम कलात्मक अनुभव मे दो तत्वो को विविक्त कर सकते हैं, अनुभव के विभिन्न तत्व और उन्हें सगठित तथा प्रभविष्णु रूप देने के तरीके या रचना-तत्र (टेकनीक)। हम खासतौर से उन रचना-तत्रो (Techniques) पर ध्यान देते हैं जो प्रकाशित अनुभव को सगत एव प्रभावपूर्ण बनाते हैं। दूसरे, हम समग्र अनुभूति की विभिन्न विशेषताओ पर अलग-अलग ध्यान दे सकते हैं, जैसे उसका सगीत और चित्र विधान, उसके प्रेक्षा मूलक और आवेगात्मक तत्व, उसका बौद्धिक और नैतिक स्वर, उसकी कल्पनात्मक व्यापकता और साहसपूर्ण सगठन, उसकी शक्ति और तीव्रता, उसकी सच्चाई और आन्तरिकता, गहराई, उल्लास-भावना इत्यादि। वस्तुत, चूंकि कलात्मक अनुभूति कलाकार के आत्मिक जीवन का अग होती है, इसलिये उसमे प्राय वे सभी विशेषताएँ पायी जा सकती हैं जो मानव-चेतना के लिये सम्भव है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि आलोचक लोग कला-कृतियो में भिन्न-भिन्न विशेषताओ की खोज करें, और भिन्न-भिन्न विशेषताओ को पायें। जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तित्व विभिन्न कारणो से भले या बुरे होते है, वैसा ही कला-कृतियो के बारे मे भी सत्य है। जिस प्रकार विभिन्न लोग मानव व्यक्तित्व की अलग-अलग विशेषताओ पर मुग्ध होते हैं, वैसे ही विभिन्न समीक्षक कला-कृतियो मे भिन्न-भिन्न कोटियो के प्रभावो को देखते और खोजते हैं। यही कारण है कि उन कृतियो के मूल्याकन के सम्बन्ध मे समीक्षको में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

किन्तु किसी भी समीक्षक को कला-कृतियों की एक विशेषता की उपेक्षा करने का अधिकार नही है, अर्थात् उनकी वह शक्ति जिनके द्वारा वे हमारे सचेत जीवन और अनुभूति को समृद्ध बनाती हैं। प्रश्न है . कला उक्त कार्य का सपादन कैसे करती है ? उत्तर है : मनुष्य के समसामयिक तथा ऐतिहासिक अनुभव से हमारा सार्थक सम्बन्ध स्थापित करके। उक्त स्थिति को दूसरे ढग से भी देखा जा सकता है। कलाकार उस यथार्थ का, जिसका आवेगात्मक महत्व है, अपनी चेतना द्वारा विश्लेषण करके पुन-

निर्माण करता हे, यह निर्माण मानव-मवेदना के सार्वभौम नियमो के अनुरूप घटित होता हे। आलोचक को यह देखने मे आनन्द आता है कि कलाकार ने उस निर्माण की क्रिया को कितनी कुशलता से अनुष्ठित किया है। मतलब यह कि समीक्षक कलाकार के रचना-तत्र या टेकनीक पर प्रकाश डालता है। किन्तु टेकनीक के विश्लेपण का यह मतलव हर्गिज नही हे कि समीक्षक हमे यह वतलाना भूल जाय कि कृति-विशेप मे निवद्ध अनुभूति का क्या महत्व है। इस महत्व को आँकने के लिये यह सकेत देना जरूरी हे कि प्रकाशित अनुभति कहा तक स्वय हमारी चेतना का विस्तार और सगठन करने मे समर्थ हे। हम कुछ अधिक सावधानी मे समझने की कोशिश करे कि वैसा सकेत देने मे कौन-कोन-सी क्रियाएँ निहित है।

कल्पना की सृष्टि काफी दूर तक एक अचेतन या अर्धचेतन क्रिया होती है। कलाकार कही भी यह नही सीख पाता कि वह किस प्रकार अपनी विविध अनुभूतियो के तत्वो को नयी समष्टियो मे सगठित करे, कही भी वह इस रहस्य का पता नही पा सकता कि कैसे वह सगीत तथा चित्रो को मिश्रित करे कि विशिष्ट कोटि के प्रभाव उत्पन्न हो जायँ। कला जिन प्रभावो को उत्पन्न करती हे वे अक्सर विचित्र तथा रहस्यमय होते है, उनके सम्बन्ध में रचना के क्षणो मे हिसाव करके नही चला जा सकता। किन्तु एक वार जव कलात्मक अनुभूति निर्मित तथा प्रकाशित हो चुकती है, तो समीक्षक के लिये यह सम्भव हे कि वह धैर्य-पूर्वक विश्लेपण करके उसके प्रभावो के हेतुभूत तत्वो को पृथक् कर ले। इस विश्लेपण द्वारा भविष्य के कलाकारो को विशेप लाभ होता हे, ऐसी वात नही, प्रत्येक युग के नये कलाकारो को अपनी नवीन अनुभव-सामग्री के ग्रथन एव प्रकाशन के लिये नये रचना-तत्रो की जरूरत होती है। इसके विपरीत समीक्षक के विश्लेपण का एक बुरा प्रभाव भी हो सकता हे। वह वाद के पाठको तथा समीक्षको को यह प्रेरणा दे सकता हे कि वे अपने समसामयिक कलाकारो मे पुराने रचना-तत्रो को ढूँढने का प्रयास करे। फिर भी इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि उक्त कोटि का विश्लेपण पाठको मे एक नयी चेतना की प्राप्ति का उल्लास पैदा करता हे, ओर उनके उपभोग की रहस्यमय स्थिति को वुद्धिगम्य वना देता है। समीक्षा की मदद से ओसत पाठक की कला-सम्वन्धी रस-ग्रहण की क्रिया सचेत रूप धारण कर लेती है।

सव प्रकार के रचना-तत्रो का, फिर चाहे उनका प्रयोग अनजाने किया गया हो या सचेत भाव से, एक ही लक्ष्य होता हे, अर्थात् कतिपय अनुभूतियो का प्रभावपूर्ण प्रकाशन। आलोचनात्मक विश्लेपण का उद्देश्य भी पाठको को प्रकाशित अनुभूति की

प्रकृति और उसके विस्तार का परिचय कराना है। एक महत्वपूर्ण समीक्षक किसी कला-कृति में निहित रचनातंत्र या "टेकनीक" का विश्लेषण स्वय टेकनीक की अवगति देने के लिये नही करता, उसका ध्येय यह दर्शित करना रहता है कि किस प्रकार कलाकार ने विशिष्ट रचनातंत्र या रीति के अवलवन द्वारा अपने अनुभवो को उपयुक्त सगठन और गौरव दिया है।

तात्पर्य यह कि समीक्षक का ज्यादा महत्वपूर्ण कार्य पाठको को यह वतलाना है कि आलोच्य कृति मे निवद्ध अनुभूति किस कोटि की है, और कितनी महत्वपूर्ण है। हमने कहा कि समीक्षक कृति-विशेष मे अभिव्यजित अनुभूति का विश्लेपण और व्याख्या करता है, इसका यह मतलव नही कि वह अनुभूति आवश्यक रूप में अस्पष्ट या अवुद्धिगम्य होती है। फिर भी उसे व्याख्या की अपेक्षा हो सकती है, ठीक वैसे ही जैसे कि एक महत्वपूर्ण दार्शनिक, शकर, नागार्जुन, हीगल आदि की विचार-पद्धति को व्याख्या की अपेक्षा होती है, भले ही वह विचार-पद्धति अपने में पूर्ण तथा सगत हो। किसी भी शव्द का अर्थ उसके सन्दर्भ से निर्धारित होता है, शव्द का सही अर्थ केवल कोश की मदद से नही जाना जा सकता। शव्दो की भाँति अनुभूतियों का भी विशिष्ट सन्दर्भो से सम्वन्ध होता है। आलोचक का प्रधान कार्य यही है कि वह कृति में निवद्ध अनुभूति को कलाकार के देश-काल के सन्दर्भ मे रखकर स्पष्ट कर दे। उक्त सन्दर्भ का ज्ञान कृति के उचित मूल्याकन के लिये भी अपेक्षित होता है।

## आलोचना के सम्प्रदाय

साहित्य-प्रेमियो के लिये यह परिस्थिति असमजस मे डालने वाली हो सकती है कि कलात्मक समीक्षा के अनेक सम्प्रदाय हैं, जो कला का मूल्याकन भिन्न-भिन्न तरीकों से करना चाहते हैं। यह स्थिति नैतिक क्षेत्र की स्थिति के समानान्तर जान पड़ती है। नैतिकता के क्षेत्र मे भी विभिन्न विचारक भलाई-बुराई के भिन्न पैमानों का प्रयोग करते हैं। मूल्याकन के मानो के सम्वन्ध में इस प्रकार का मतभेद, फिर चाहे उसका क्षेत्र कला हो अथवा नैतिकता, विचारशीलो के मन मे सन्देहवाद को जन्म देता है। दोनो क्षेत्रो मे सन्देहवादी विचारक यह मन्तव्य प्रतिपादित करते रहे हैं कि मूल्याकन की कोई सर्वमान्य, वस्तुपरक कसौटी नही हो सकती। दूसरे अध्याय मे हमने नीतिशास्त्र से सम्वन्वित सशयवादी विचार-धाराओ की संक्षिप्त परीक्षा की थी, यहाँ हम

सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी सशयवाद के निराकरण का सक्षिप्त प्रयत्न करेगे। इस सशयवाद का प्रतिपादन लार्ड वालफर ने निम्न शब्दो मे किया है

प्रत्येक मनुष्य के लिये वह चीज प्रेम करने योग्य जिसमे वह वहुत प्रेम करता है। प्रत्येक के लिये वह वस्तु सवसे सुन्दर है जिसकी वह वहुत ज्यादा प्रशसा करता है। और यहाँ हम सिर्फ इस पुरानी वात को नही दुहरा रहे है कि रुचि (Taste) के वारे में विवाद करना व्यर्थ है। हम ज्यादा गभीर वात कह रहे है, हम कह रहे है कि, सवसे महत्वपूर्ण परिस्थितियो में भी, प्रेम या सौन्दर्य के सम्वन्ध में विवाद, न केवल व्यर्थ होगा, अपितु निरर्थक होगा।[१८]

निष्कर्ष यह कि किसी कला-कृति के महत्व के वारे में किसी भी तरह की आलोचना या विवाद व्यर्थ होता है। इसका युक्तिसगत परिणाम यह है कि हमें कला-कृतियो की समीक्षा तथा मूल्याकन से विरत हो जाना चाहिए। हम इस निष्कर्ष को भ्रामक समझते है। यदि यह मान भी लिया जाय कि कलात्मक मूल्याकन के कोई ऐसे पैमाने नही हैं जो निरपेक्ष तथा अखड रूप में सही या विश्वसनीय हो, तो भी यह अनुगत नही होता कि कला के उत्कर्ष के पैमाने होते ही नही।

किन्तु यदि हम वैसे पैमानो में विश्वास प्रकट करते है, तो हमारे सामने यह महत्व-पूर्ण प्रश्न खडा हो जाता है कि आलोचना के विभिन्न सप्रदाय विभिन्न पैमानो का प्रति-पादन क्यो करते हैं। दूसरा प्रश्न यह होगा-क्या यह सम्भव है कि हम किसी तर्क-सगत प्रणाली से यह निर्णय कर सकें कि कौन-सा पैमाना वस्तुत विश्वसनीय तथा ग्राह्य है ?

उक्त सशयवादी धारणा के निराकरण में जो मौलिक वात हमें कहनी है वह यह है कि कलात्मक उत्कर्ष के अनेक पैमाने सव एक साथ न्यूनाधिक प्रामाणिक हो सकते हैं। विश्व के इतिहास मे अनेक कोटियो के महापुरुष हुए हैं, जिनके व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न कारणो से महत्वशाली थे। भिन्न-भिन्न कोटियो की अनुभूतियाँ तथा कर्म भी अलग-अलग हेतुओ से महत्वपूर्ण हो सकते हैं। कला-कृतियो का महत्व अन्तत उन सगठित जीवनानुभूतियो का महत्व होता है जो उन कृतियो में निवद्ध की जाती हैं। अतएव हमें यह जानकर आश्चर्य नही होना चाहिए कि कलात्मक उत्कर्ष की विभिन्न कोटियाँ और उन कोटियों के माप के विभिन्न पैमाने होते है।

हम अपनी वात दूसरे ढग से कहें। एक व्यक्तित्व की भाँति कला-कृति भी हमारे ऊपर तरह-तरह के प्रभाव डालती है। जहाँ किसी कला-कृति का एक समग्र प्रभाव

होता है, वहाँ उनके विभिन्न पक्षों या पहलुओं से उत्थित होने वाले अनेक प्रभाव भी होते हैं। कृति के कुछ प्रभाव तात्कालिक होते हैं, जैसे कि उसके सगीत और चित्रात्मकता से सबद्ध प्रभाव। कुछ प्रभावों का अनुभव अपेक्षाकृत दीर्घ-काल-व्यापी होता है, जैसे कि नायक अथवा नायिका के नैतिक पक्षपातों अथवा चारित्रिक विशेषताओं का प्रभाव। जब हम एक बुद्ध या नेपोलियन से सबधित कृति को पढते हैं, तो हम केवल सगीत, अलकारों आदि के प्रभावों को ही ग्रहण नहीं करते,[१] हम जीवनोपयोगी आदर्श के रूप में नायक की विभिन्न प्रेरणाओं तथा उनसे निर्गत होने वाले क्रिया-कलापों के बड़े प्रभावों को भी ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास का नैतिक द्वन्द्वमूलक कथानक, उसमें निरूपित मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक सघर्ष, और उसके जटिल पात्र हमारे मन पर जो छाप छोडते हैं वह उन प्रभावों से भिन्न और उच्चतर होती है जो किसी शब्द या उपमा के चामत्कारिक प्रयोग अथवा चमत्कारपूर्ण वाक्य-विन्यास से गृहीत होते हैं।

इस आवश्यक भूमिका के पश्चात् हम कतिपय प्रसिद्ध समीक्षा-दृष्टियों का महत्व आँकने की कोशिश करेंगे।

मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय समीक्षा-प्रणालियों का मुख्य महत्त्व इसमें है कि वे हमें किसी कला-कृति के, अथवा उसमें निबद्ध अनुभूति के, सन्दर्भ को समझने में मदद देती हैं। प्राय हमें कलाकारों की जीवनियाँ उपलब्ध नहीं होतीं, ऐसी स्थितियों में तथा-कथित मनोवैज्ञानिक आलोचना समाजशास्त्रीय आलोचना में परिणत और मग्न होने लगती है। कारण यह कि किसी युग के सामाजिक मनोभावों में उसके मनोवैज्ञानिक मनोभावों का वैसे ही समावेश रहता है जैसे कि उसकी नैतिक, दार्शनिक तथा धार्मिक प्रवृत्तियों का। दूसरे, किसी कलाकार की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ वहीं तक महत्वपूर्ण होती हैं जहाँ तक वे अपने युग के लोगों की समान वृत्तियों को प्रतिफलित करती हैं, अथवा उन वृत्तियों को निर्मित करती हैं। समीक्षा की दृष्टि से यह जानना उतना जरूरी नहीं है कि कलाकार के मन की प्रकृति और रुचियाँ क्या थी जिन्होंने उसे सृष्टि की प्रेरणा दी, जितना कि यह जानना कि उसके समसामयिक पाठकों की दृष्टि में, और आज हमारी दृष्टि में, वे कौन से महत्वपूर्ण मनोभाव हैं जो उसकी कृतियों में व्यक्त हुए हैं।

कलाकार के मनोवैज्ञानिक-सामाजिक वातावरण का ज्ञान समीक्षक के लिये दो

प्रकार से सहायक होता है प्रथमत वह उसे आलोच्य कृति का अभिप्राय समझने मे मदद देता हे, दूसरे, वह समीक्षक को इस योग्य बनाता है कि वह उस यथार्थ के क्षेत्र और विस्तार से परिचित हो सके जहाँ से कलाकार ने अपनी सामगी प्राप्त की थी। विश्व की प्रत्येक वस्तु के समान कलाकार की अनुभूति की सार्थकता उन सबधो मे निहित होती हे जो उस अनुभूति और आसपास की दुनिया के बीच रहते है। सच यह ह कि, काफी दूर तक, वे सम्बन्ध ही उस अनुभूति का निर्माण करते है। समाजशास्त्रीय आलोचना का यह कार्य हे कि वह उन सम्बन्धो की आन्तरिक रचना का उद्घाटन करे। सक्षेप मे, समाजशास्त्रीय आलोचना को यह बतलाना चाहिए कि आलोच्य कृति कहाँ तक उन मनोभावो को प्रतिफलित और चित्रित करती अथवा पूर्ण रुप देती या गठित करती हे, जो कलाकार के युग मे लोगो का ध्यान आकृष्ट कर रहे थे।

किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के साथ कुछ खतरे भी है।

ऊपर कहा गया था कि समीक्षक का मुख्य कार्य उन तत्वो का विश्लेपण और व्याख्या है जो किसी कलाकृति के उपभोग को प्रभावित करते है, अर्थात् जो उस कृति को भला या बुरा बनाते है। समीक्षक "टेकनीक" या रचना-तत्र पर ध्यान देता ह क्योकि उसका अनुभूति के प्रभावपूर्ण प्रकाशन से सम्बन्ध रहता हे, ओर वह कलाकार के युग तथा परिवेश को लक्षित करता है क्योंकि वहाँ से सृजन-सामगी का आदान होता है। समीक्षक उस आत्म-परक तथा वस्तु-परक यथार्थ मे, जिनका प्रेषण कला-कृति का ध्येय है, रुचि लेता है, इसका मुख्य कारण यह है कि अन्तत वह यथार्थ ही कृति को रोचक और रसात्मक या उपभोग्य बनाता है। किसी कला-कृति के बारे मे समीक्षक को जो प्रश्न सबसे पहले, ओर सबसे बाद मे भी, पूछना चाहिए वह यह है वे कौन-सी यथार्थ से सबद्ध स्थितियाँ और मनोभाव है जिन्हे वह कृति वर्णित या प्रकाशित करना चाहती है, और जिनके प्रकाशन द्वारा वह अपने को ग्राह्य बनाती है ? किसी भी कला-कृति का सम्पूर्ण विश्लेपण दो चीजो मे हो जाता है, उन स्थितियो मे जिन्हे वह चित्रित करती हे' और उन मनोभावो मे जिन्हे वह जगाती या सकेतित करती है, अथवा जो उसमे निहित होते है।

समाजशास्त्रीय समीक्षा-दृष्टि के साथ दो खतरे लगे रहते है। प्रथमत', समाज-शास्त्रीय आलोचक के मन मे यह धारणा हो सकती है कि समीक्षा-कर्म के लिये यह जान लेना काफी है कि कलाकार का युग और समाज किस प्रकार के थे। दूसरे शब्दो मे,

समीक्षक कलाकार के युग आदि की जानकारी को साहित्यिक अभिरुचि तथा रसज्ञता का स्थानापन्न मान ले सकता है। दूसरा खतरा यह है कि वह आलोच्य कृति मे केवल उन्ही चीजो को देखे जिनकी व्याख्या उसकी स्थूल समाजशास्त्रीय जानकारी के आलोक मे हो सकती है। उक्त दोनो खतरे सम्बन्धित है। जैसा कि श्री स्पिनगार्न का अभि-योग है: 'ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक कोटियो की आलोचनाएँ हमारे ध्यान को स्वय कला-कृति से दूर हटाकर कलाकार के युग, परिवेश, कला-सम्प्रदाय, जीवनी आदि की ओर ले जाती है।'[११] कलाकार के युग, समाज, जीवनी आदि से सबधित जानकारी का सही उपयोग यह है कि उसके द्वारा कला-कृति की व्याख्या मे मदद ली जाय, इसके बदले समीक्षक की प्रवृत्ति यह हो जाती है कि उस कला-कृति को उस जानकारी का माध्यम मात्र मान ले। समाजशास्त्रीय आलोचक यह भूल जाता है कि, कला के समीक्षक की हैसियत से, उसकी अभिरुचि का विषय वह यथार्थ अथवा अनुभूति है जिसका आलोच्य कृति में आवेगात्मक आकलन तथा कलापूर्ण प्रकाशन हुआ है, और वह उस कृति के उन तत्वों की उपेक्षा करने लगता है जिनका विशुद्ध सामाजिक महत्व नही है। इसका फल यह होता है कि उसे उस कृति के वे पहलू नही दीख पाते जो युग-विशेष के जीवन की स्थूल अभिव्यक्तियो से सबधित नही है। वह यह मानकर चलता है कि कला का स्वरूप सामाजिक परिस्थितियो से निर्धारित होता है और उसकी सार्थकता भी सामाजिक ही होती है, और यह नही देख पाता कि कला का सम्बन्ध केवल उन सामाजिक और नैतिक प्रेरणाओ से ही नही होता जिनकी विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ एक युग को दूसरे से भिन्न करती है, बल्कि उन मनो-वैज्ञानिक-दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियो से भी होता है जो युग-युग मे प्राय वही रहती है और जिनके कारण विभिन्न युग एक-दूसरे को समझना सम्भव पाते है। समाजशास्त्रीय आलोचना की महत्वपूर्ण कमियो के मूल में उसकी जीवन-सम्बन्धी सकीर्ण दृष्टि होती है, जिसके कारण वह जीवन के उपादानो और निर्धारित तत्वों को समग्रता मे नही देख पाती। समाजशास्त्रीय आलोचना जीवनानुभूति के आन्तरिक सत्व और उसे निर्धारित करने वाले कारणो दोनो को सरल कर डालती है; उसकी इस प्रवृत्ति को मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वारा और भी पुष्टि मिली है।

व्यक्तित्वो तथा युगो के समस्त जीवनी-मूलक अथवा ऐतिहासिक विवरण अनत एव अपूर्ण होते है। इस प्रकार के समस्त विवरण चुनी हुई प्रवृत्तियो तथा शक्तियो की भाषा में प्रकट किये जाते है। कोई भी जीवन, विशेषत एक प्रतिभाशाली का

सृजनशील जीवन, इस प्रकार के सामान्य तत्वों से पूर्णतया व्याख्यात नहीं होता। सृजनशील कलाकार की कृति में ऐसी अनेक नूतनताएँ रहती हैं जो सामान्य कोटि के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय विश्लेषण की पकड में नहीं आ सकती। कलाकार के युग का कोई भी इतिहास और स्वय कलाकार की कोई भी जीवनी, उसकी कृतियों के उन सूक्ष्म प्रभावों, जैसे लय और सगीत के सूक्ष्म विधानों, सवेदना और मूड के विचित्र रूपों, और अलकारों तथा चित्रों के अद्भुत सयोजनों की व्याख्या नहीं कर सकते जिन्हे वह अपनी प्रेरणा और प्रतीति के कतिपय अपूर्व क्षणों में उत्सृष्ट करता है, और जो स्वय उसकी कृतियों मे भी दो बार उत्पन्न नही हो पाते। एक नितान्त मौलिक कलाकृति की इस कोटि की नितान्त नवीन विशेपताएँ आलोचना की उस दृष्टि या सरणि को जन्म देती हैं जिसे प्रभाववादी समीक्षा कहते हैं, और जो आलोच्य कृति के लघु-सूक्ष्म छायात्मक प्रभावों का सकेत करने की चेष्टा करती है।

किन्तु प्रभाववादी समीक्षक के साथ भी कुछ खतरे लगे रहते हैं। वह समीक्षक प्राय आलोच्य कृति की दो तरह की विशेपताओं में भेद नही कर पाता, वे विशेपताएँ जो उसकी विशिष्ट सवेदना को वहाँ दिखाई देती हैं, और जो उसमे सचमुच पायी जाती हैं। प्रभाववादी आलोचक स्वभावत व्यक्तिवादी होता है, वह कला-समीक्षा के वस्तु-परक पैमानों मे आस्था नही रखता। वह यह खोजने का प्रयत्न नही करता कि किसी कलाकृति में क्या तत्व वस्तुनिष्ठ रूप में मौजूद हैं। उसकी चिन्ता का प्रमुख विपय यह प्रकट करना होता है कि आलोच्य कृति स्वय उसकी चेतना में क्या प्रतिक्रियाएँ जगाती है। प्रभाववादी आलोचक कृति की अपेक्षा स्वय अपनी प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में बात करने में ज्यादा रस लेता है। इसलिये यह जरूरी नहीं कि किसी कृति के बारे में दो प्रभाववादी समीक्षकों की एक ही राय हो, अथवा एक ही समीक्षक की दो भिन्न अवसरों पर एक राय हो।

प्रभाववादी आलोचक को कलाकृति की विभिन्न विशेपताओं के आपेक्षिक महत्त्व की चेतना नही होती। वह उन विशेपताओं या प्रभावों को महत्त्व देता है जो उसकी तात्कालिक, विशिष्ट सम्वेदना को प्रिय लगते हैं। वह कलाकार के युग तथा परिवेश की चर्चा से विरत रहता है, और आलोच्य कृति के उन प्रभावों की छानबीन से घबराता है जो विशुद्ध सौन्दर्य-सवेदना का अतिक्रमण करते हैं। फलत प्रभाववादी आलोचक उन बड़े तत्वों की उपेक्षा कर सकता है जो कला और जीवन दोनों की रीढ का निर्माण करते हैं। छोटे-छोटे प्रभावों का अनुचिंतन करते हुए वह अनुभूति के उन

बड़े ढाँचों की उपेक्षा कर सकता है जो किसी कला-कृति के आधारभूत होते हैं, और उसे सप्राण बनाते हैं। अवश्य ही यह सम्भव है कि किसी कलाकृति में ऐसे प्रभाव सन्निहित हों जो उसके अपने युग की संवेदना का अतिक्रमण कर गये हों, और इस प्रकार बाद के युगों के अधिक संवेदनशील समीक्षकों को ही दिखाई पड़ें, किन्तु साथ ही यह भी सही है कि उन अनदेखे प्रभावों का संकेत उत्तरकालीन समीक्षक के समसामयिक पाठकों की सामूहिक अनुभूति की अपेक्षा से ही किया जा सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि किसी कृति की आलोचना करते समय यह आवश्यक है कि उसकी विशेषताओं का सम्बन्ध समीक्षक के युग की शिक्षित संवेदना से जोड़ा जाय। इस प्रकार के सम्बन्ध की स्थापना का अर्थ है कृति का युग-विशेष के प्रचलित यथार्थ रूपों से (और वे रूप आत्म-परक भी हो सकते हैं और वस्तु-परक भी) लगाव दर्शित करना। विशुद्ध प्रभाववादी आलोचना, जो इस प्रकार के सम्बन्ध-स्थापन को महत्व नहीं देती, अपेक्षाकृत छिछली जान पड़ती है।

इन कारणों से एक महत्वपूर्ण कलाकृति अथवा कलाकार के साथ समाजशास्त्रीय समीक्षक जितना न्याय कर सकता है, उतना प्रभाववादी समीक्षक नहीं। हम यह नहीं कहते कि प्रभाववादी समीक्षा द्वारा देखी हुई सूक्ष्म विशेषताएँ महत्वपूर्ण नहीं होतीं, किन्तु उन विशेषताओं की महत्ता ठीक से तभी समझी जा सकती है जब उनका सम्बन्ध जीवन और अनुभूति के विस्तार तथा गहराइयों से दिखा दिया जाय, अर्थात् जब उनकी मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत कर दी जाय। किन्तु उस व्याख्या की प्रक्रिया, अदृश्य रूप में, प्रभाववादी समीक्षा को समाजशास्त्रीय परीक्षा में परिणत कर देगी। अवश्य ही हम यहाँ समाजशास्त्रीय विशेषण का प्रयोग उसके व्यापक अर्थ में कर रहे हैं, अर्थात् उस अर्थ में जिसमें उसके अन्तर्गत दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक दृष्टियों का भी समावेश हो जाता है।

इसी प्रकार विशुद्ध अभिव्यंजनवादी समीक्षा, जिसका प्रचार क्रोचे और उसके अनुयायियों ने किया है, पर्याप्त नहीं है। महनीय कला के अनुरूप ऊँचाई पर पहुँचने का प्रयत्न करते हुए अभिव्यंजनावादी समीक्षा को समाजशास्त्रीय धरातल पर प्रवेश करना पड़ जायगा। उक्त समीक्षा-पद्धति के प्रशंसक श्री स्पिनगार्न के अनुसार समीक्षा का मूल कार्य निम्न प्रश्न या प्रश्नों का उत्तर देना है 'लेखक क्या करना चाहता था ? और वह कहाँ तक अपनी योजना को सफलतापूर्वक पूर्ण कर सका है ?'[२८] हमारी समझ में ये प्रश्न उचित नहीं हैं, क्योंकि वे यह मानकर चलते हैं कि कलाकार किसी

पूर्व-सिद्ध अनुभूति या योजना को प्रकाशित करने के इरादे से अग्रसर होता है। हम ऊपर दिखा चुके है कि स्थिति ठीक यही नही है, और यह कि एक कला-कृति का सृजन करते हुए कलाकार एक नये अनुभव-रूप का निर्माण करता है, न कि किसी पूर्वानुभूत या पूर्वसिद्ध अनुभव को प्रकट करना है। थोडी देर को यदि यह मान भी लिया जाय कि कलाकार एक पूर्व-निर्मित अनुभव का प्रकाशन करता है, तो प्रश्न उठेगा—समीक्षक यह कैसे जान सकता है कि वह पूर्व-सिद्ध अनुभव क्या था ? समीक्षक की पहुँच केवल उस अनुभव तक होती है जो कलात्मक अभिव्यक्ति में निबद्ध हो चुका है। चूंकि मूल अनुभव उसकी पहुँच के बाहर होता है, इसलिये वह कभी उसकी तुलना प्रकाशित अनुभव से नही कर सकता।

इसलिये, हमारे लिये यह प्रश्न पूछना समुचित नही है कि कलाकार क्या करना चाहता था। वस्तुत हमें अपना ध्यान उस पर रखना चाहिए जो कलाकार ने सम्पन्न किया है, अर्थात् उस कला-कृति पर जो उसने हमारे सामने प्रस्तुत की है। हो सकता है कि कलाकार एक खास परिस्थिति अथवा चरित्र की सृष्टि, अथवा एक बडी समस्या का समाधान, करना चाहता था हमें उन उद्देश्यो तथा महत्वाकाक्षाओ का विचार नही करना है जिन्होने कलाकार के सृजन-सकल्प को प्रेरणा दी। सभवत हम वही देख सकते है, और उसी का मूल्याकन कर सकते है, जो वह कर चुका है। वह मूल्याकन तभी सम्भव है जब हम कलाकार द्वारा प्रकाशित अनुभूति की विषय-वस्तु का मानव-जाति की सौन्दर्य-मूलक वृत्तियो तथा दूसरे पक्षपातो की अपेक्षा में विश्लेषण करे। दार्शनिक ब्रेडले ने एक स्थान पर कहा है कि दृष्ट पदार्थो में खुरदरे कोने (Ragged Edges) होते है जो कि अपने से परे ऐसे यथार्थ की ओर सकेत करते है जिसकी वे पदार्थ अपूर्ण अभिव्यक्तियाँ या टुकडे है। ठीक इसी प्रकार कलाकार के अनुभव का प्रत्येक तत्व या पहलू अपने से परे सकेत करता है। उस तत्व या पहलू की सार्थकता दो चीजो की सापेक्ष होती है एक ओर मानव-प्रकृति की कतिपय मूल प्रवृत्तियो या जरूरतो की, और दूसरी ओर उस वास्तविक या कल्पना-मूलक यथार्थ की जिस पर वे वृत्तियाँ ससक्त होती है। समीक्षा का कार्य यह है कि वह कलात्मक अनुभूति के विभिन्न पक्षो की सार्थकता का उद्घाटन करने के लिये उन सम्बन्धो की छानबीन करे जो उन पक्षो तथा बाहरी और भीतरी यथार्थ के बीच स्थापित हुए है। किसी कलाकृति की मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और दार्शनिक व्याख्या का अर्थ उक्त सम्बन्धो का उद्घाटन ही है।

इससे यह नही समझना चाहिए कि आलोचना का कार्य केवल, अथवा मुख्य रूप मे, व्याख्यात्मक है। समीक्षक को प्राय प्रत्येक कदम पर, जाने या अनजाने, मूल्याकन करना पडता है। जब वह आलोच्य कृति के विभिन्न गुण-दोपो पर भिन्न-भिन्न मात्राओ में गौरव देता है तो वह अनिवार्य रूप मे मूल्याकन करता है। कुछ लोगो का विचार है कि समीक्षक को विभिन्न कृतियो तथा कलाकारो पर तुलनात्मक निर्णय नही देने चाहिएँ, किन्तु यह सम्भव नही है। बात यह है कि ये दूसरी कोटि के निर्णय ही उन पैमानो को जन्म देते है जिनके द्वारा विभिन्न कला-कृतियो का मूल्याकन होता है। मूल्याकन के नये पैमानो का अन्वेषण करते हुए कला-मीमासक प्राचीन "क्लासिक्स" के महत्व का निपेध नही करते, यदि वे ऐसा करे तो सम्भवत नये पैमाने स्वीकृत न हो सके। इसके विपरीत वे "क्लासिक्स" मे ही उन विशेपताओ को ढूँढ निकालते है जिनकी व्याख्या स्वीकृत सिद्धान्तो या मानो के आधार पर नही हो सकती थी। किन्तु मूल्याकन के एक नये सिद्धान्त या पैमाने के अन्वेपण का अर्थ यह नही है कि पुराने पैमाने व्यर्थ हो गये, भले ही उसका यह असर हो कि विभिन्न सिद्धान्तो या पैमानो के आपेक्षिक महत्व में कमी-बेशी हो जाय। नये सिद्धान्तो के उत्साही प्रचारक इस तथ्य को प्राय भूल जाते है। हमारा अनुमान है कि वर्तमान काल में मिल्टन तथा रोमाटिक कवियो का महत्व कम करने के जो प्रयत्न हुए है उनके मूल मे कुछ ऐसा ही असमजस या भ्रान्ति है। सम्भव है कि मिल्टन उतना बडा कवि न हो जितना दान्ते है, क्योकि पूर्व कवि मे उत्तर कवि की कतिपय विशेपताएँ नही पायी जाती। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि मिल्टन एक महत्वपूर्ण कवि नही है और उसके काव्य मे पायी जाने वाली विशेपताएँ—स्थिर तीव्रता, व्यापक कल्पना और नैतिक आवेग-आवेग—महत्वपूर्ण गुण नही है। आज के कवि, जैसे टी०एस्० इलियट, श्रेष्ठतम लेखको जैसे शेक्सपियर और दान्ते के समकक्ष तो नही ही है, वे तिरस्कृत रूमानी कवियो से भी निश्चित रूप में श्रेष्ठ नही है। कारण यह है कि उनके काव्य मे शक्तिपूर्ण सरलता तथा विश्लेपणात्मक सूक्ष्मता का वह समन्वय नही मिलता जो श्रेष्ठतम कविता की विशेपता है। हम कह रहे है कि नये, क्रान्तिकारी लेखको द्वारा मूल्याकन के नये प्रतिमानो पर जो गौरव दिया जाता है वह प्राय अतिरजित और एकागी होता है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस गौरव से एक लाभ भी होता है। नये सिद्धान्तो के प्रचारक अपनी बात सुना ही न सके, यदि वे पुराने सिद्धान्तो के दावे का कडा विरोध न करे।

साराश यह कि समीक्षा कला को बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न है, वह रसानु-

भूति की बौद्धिक व्याख्या है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये समीक्षा कलात्मक अनुभूति का विश्लेपण करती है, उसके उपादानभूत तत्वो के बाहरी सम्बन्धो का उद्घाटन करती है, और समग्र प्रकाशित अनुभूति का, उसे बाहरी तथा भीतरी यथार्थ का नया कल्पना-मूलक सग्रथन मानते हुए, मूल्याकन करती है। इस प्रकार समीक्षा कला के ही उद्देश्य को अग्रसर करती है, वह उद्देश्य है परिवेश या यथार्थ की रागात्मक सभावनाओं की अवगति। यद्यपि कलात्मक अनुभूति के क्षेत्र से बाह्य प्रकृति और शेप विश्व बहिष्कृत नही है, फिर भी काव्य-साहित्य में जिस यथार्थ का विशेप महत्व होता है उसमें स्वय मनुष्यो की स्थितियो तथा मनोभावो का मुख्य स्थान रहता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कला मनुष्य का वह प्रयत्न है जिसके द्वारा वह आत्म का प्रकाशन और स्पष्टीकरण करता है। किन्तु कला में जिस आत्म का प्रकाशन होता है वह जन्म-काल से ही निष्पन्न रूप में वर्तमान नही होता, वह आत्म क्रमश उस यथार्थ की प्रतिक्रिया में उत्थित और निर्मित होता है जिसकी रूपरेखा स्वय मनुष्य ही, वैज्ञानिक-दार्शनिक चिन्तन द्वारा, खीचता आ रहा है। इस वक्तव्य के आलोक मे यह समझा जा सकता है कि क्यों प्रत्येक युग को नयी कला की ज़रूरत होती है, अथवा क्यो वह नयी कला की सृष्टि करता है। द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय के बीच जो जटिल सम्बन्ध स्थापित होता है उसे अनुभव कहते हैं, और कला की एक परिभापा यह भी हो सकती है कि वह ऐसे नये अनुभव-क्षणो को उत्पन्न करने का प्रयत्न है जिनमें ज्ञाता या विपयी तथा उसके चारो ओर फैले यथार्थ के कुछ पहलुओ में सम्बन्ध स्थापित होता है। विज्ञान की भाँति कला भी अमूर्त होती है, वह विषय और विपयी के सम्बन्ध के कुछ पक्षो का ही निर्माण या प्रकाशन करती है। कला इन सम्बन्धो की अनेक-रूप सभावनाओ का उद्घाटन करती हुई उनके द्वारा मानव-अस्तित्व को समृद्ध करती है।

किन्तु कला उक्त सम्बन्धो को उनके विशेप रूपो में ही अभिव्यक्ति देती है। समीक्षा का कार्य यह है कि विश्लेषण द्वारा विशिष्ट कलात्मक अनुभूतियो के विधायक तत्त्वो को अलग करे, उन तत्त्वो का वर्गीकरण करे, और उन्हे सामान्य पदो में वर्णित कर दे। समीक्षा का लक्ष्य है, कलात्मक अनुभूति की सम्बन्ध-मूलक अवगति। समीक्षा के उक्त कार्य मूलत दार्शनिक हैं, और समीक्षा प्रधान रूप में एक दार्शनिक क्रिया है। इस क्रिया का विपय मानव-मस्तिष्क की वे कतिपय प्रक्रियाएँ है जिनके द्वारा वह कला-कृतियो का अनुचिन्तन एव अनुशीलन करता है।

## संकेत और टिप्पणियाँ


१. आई० ए० रिचर्ड्स, द प्रिन्सिपिल्स आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म, (कॉगन पाल, छठा मुद्रण, १९३८), पृ० २८४।

२. वही, पृ० २६७।

३. दे० क्लीन्थ ब्रुक्स, माडर्न पोएट्री ऐन्ड द ट्रेडिशन, (पोएट्री लन्दन, १९४८), पृ० १८-२२, २८।

४. डी० जी० जेम्स, स्केप्टिसिज्म ऐन्ड पोएट्री, (जार्ज एलेन ऐन्ड अन्विन लि०, लन्दन, १९३७), पृ० ३०।

५. हर्बर्ट रीड, द मीनिंग आव् आर्ट, (पेलिकन बुक्स, १९५०), पृ० १६।

६ पोएटिक्स, पृ० ९।

७. कनवरसेशन्स, पृ० ८।

८. दे० सी० ई० एम्० जोड, डिकेडेन्स · ए फिलॉसिफिकल इन्क्वायरी, (फेवर और फेवर, १९४८), अध्याय ४।

९ कनवरसेशन्स, पृ० १२६।

१०. वही, पृ० १८।

११. हर्बर्ट रीड, कलेक्टेड एसेज़ इन लिटरेरी क्रिटिसिज्म, (फेवर और फेवर, १९३८), पृ० ७०।

१२. वही, पृ० १९०।

१३. वही, पृ० ४४।

१४. दे० बेनिडिटो क्रोचे, ईस्थेटिक, (अ० अनु० मैकमिलन, लन्दन, दूसरा स० १९२२), पृ० २२।

१५. एलेक्जेन्डर पोप, एसे आन क्रिटिसिज्म।

१६. इमर्सन, एसे आन सेल्फ-रिलाएन्स।

१७. डब्ल्यू० वी० ओ कोनोर, फार्म्स आव् मॉडर्न फिक्शन, (मिनेसोटा यूनिवर्सिटी, लन्दन, १९४८), पृ० ३ पर उद्धृत।

१८. अमेरिकन लिटरेरी क्रिटिसिज्म, सपादक चार्ल्स ग्लिक्सबर्ग, (हेन्डरिक्स हाउस, न्यूयार्क, १९५२), पृ० २६२ पर पाल एल्मर मोर द्वारा उद्धृत।

१९. दे० स्पिनगार्न, द न्यू क्रिटिसिज्म, (अमेरिकन क्रिटिकल एसेज़, आक्सफोर्ड क्लासिक्स में समावेशित), पृ० ४२८-२९।

२०. वही, पृ० ४३५।


---

# अध्याय ६

## दर्शन का स्वरूप

हमारा युग सन्देह तथा शकाओ का युग है। अन्य चीजो की भाँति दर्शन के सम्वन्ध में भी आज के मनुष्य के मन में अनेक शकाएँ है। वह न तो यह जानता है कि दर्शन का वास्तविक कार्य क्या है, और न यही कि उसका वास्तविक उपयोग क्या है। दर्शन सास्कृतिक जीवन की एक केन्द्रीय क्रिया है, उसके सम्वन्ध में अनिश्चय का अर्थ है सस्कृति के सभी रूपो के मूल्य एव उपयोगिता के वारे में अनिश्चय होना। आज का मनुष्य कविता पढता है, और कभी-कभी लिख भी लेता है, किन्तु वह यह बिल्कुल नही जानता कि क्यो कविता को एक महत्वपूर्ण चीज माना जाय। वह नैतिक व्यवहार करता है और नैतिक निर्णय भी देता है, बिना इस आस्था के कि इन व्यापारो का कोई गभीर अर्थ है। तर्क-मूलक भाववादियो का कहना है कि कविता एव नैतिक निर्णय के क्षेत्र में हम केवल श्रोताओ की सवेदनाओ ( Feelings ) को प्रकट अथवा दूसरो की सवेदनाओ को उत्तेजित करते हैं, और उन सवेदनाओ के वाहक शब्द तथा वाक्य वास्तव में वाह्य-सकेत-हीन होते है। इसी प्रकार दर्शन के सम्बन्ध में आज की प्रचलित धारणा यह है कि उसका तत्वजगत से कोई सम्बन्ध नही है, उसका एकमात्र लक्ष्य विभिन्न वक्तव्यो की तर्कात्मक समानता अथवा एकार्थकता को प्रकट करना है।

मनुष्य तथा इतर प्राणियो में एक वडा भेद यह है कि मनुष्य आत्मावगति रखता है। अपनी क्रियाओ के उद्देश्य का कथन करके वह अपने को मुक्त बना लेता है। किन्तु हम कोई काम किस प्रयोजन से करते है, किस मूल्य के लाभ या प्राप्ति के लिये करते हैं, अथवा हमें किन मूल्यो की प्राप्ति के लिये व्यापृत होना चाहिए, यह वताना स्वय दर्शन के अनेक कार्यो में से एक है। चूंकि आधुनिक मनुष्य के मन में दर्शन की कोई समुचित धारणा नही है, इसलिये वह अपनी किसी भी महत्वपूर्ण क्रिया को जीवन में उचित स्थान नही दे पाता। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य को दर्शन

के द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है। और दर्शन मनुष्य को यह प्रश्न उठाकर ही मुक्ति दे सकता है कि—दर्शन क्या है ? मानवीय जीवन एव सस्कृति के क्रम मे दर्शन का क्या स्थान है ? स्वय अपनी प्रकृति पर विचार करना उसी प्रकार दर्शन का काम है जैसे कि अन्य विशेष रूप से मानवीय व्यापारो पर विचार करना।

मानवीय व्यापारो को समझने के लिये उनके द्वारा पूर्ति पाने वाले प्रयोजनो का उल्लेख करना होता है, वैसे ही जैसे कि जीवधारियो की अन्य क्रियाओ की व्याख्या के लिये। अतएव यह प्रश्न कि दर्शन क्या है, निम्न दूसरे प्रश्नो में अनूदित किया जा सकता है दर्शन जीवन मे किस प्रयोजन की पूर्ति करता है ? अथवा, मनुष्य की किन जरूरतो मे दार्शनिक क्रिया का उदय होता है।

दर्शन का उदय उन व्यक्तियो तथा समाजो के जीवन में होता है जिन्हे जीवन की मूल जरूरतो को पूरा करने के बाद कुछ अवकाश रहता है। यह बात दर्शन पर ही नही, विज्ञान आदि दूसरी ऊँची क्रियाओ पर भी लागू है। अवश्य ही, कविता तथा दर्शन की अपेक्षा से हम विज्ञान को व्यावहारिक उपयोगिता की चीज़ कह सकते हैं, किन्तु विज्ञान की उन्नति भी मुख्यत उन लोगो द्वारा घटित होती है जो स्वय ज्ञान मे अभिरुचि रखते है, न कि उसके व्यावहारिक उपयोग मे। यदि यह भी मान लिया जाय कि विज्ञान का उदय मनुष्य की व्यावहारिक जरूरतो मे होता है जैसा कि मार्क्स-वादियो का विचार है—तो भी वह सिद्ध न ही किया जा सकता कि उसकी सतत प्रगति उन जरूरतो के आधार पर होती रह सकती है। कारण यह है कि वे इने-गिने प्रतिभा-शाली व्यक्ति जो विज्ञान की परम्परा को आगे बढाते है, प्राय अपनी सौन्दर्य-मूलक तथा बौद्धिक जिज्ञासा की वृत्तियो के सन्तोषण मे रुचि रखते हैं। न कि व्यावहारिक जरूरतो की पूर्ति मे।

मानव-चिन्तन को अग्रसर करने वाली शक्ति उसकी एक विशिष्ट मांग है मनुष्य अपनी अनुभूतियो के बीच सामजस्य तथा सगति देखना चाहता है। वह इस विश्वास को लेकर जीवित रहता तथा व्यवहार करता है कि ससार की वस्तुएँ स्थिर प्रकृति की हैं, और यह कि एक विश्वसनीय अनुभव दूसरे वैसे अनुभव का विरोधी नही हो सकता। समान तथा बारबार आने वाली स्थितियाँ मनुष्य के इस विश्वास को पुष्ट करती है, और बाद मे यह विश्वास संगति-नियम (Law of consistency) अथवा समरूपता के सिद्धान्त (Law of uniformity) के रूप मे प्रति-

# अध्याय ६

## दर्शन का स्वरूप

हमारा युग सन्देह तथा शकाओ का युग है। अन्य चीजो की भाँति दर्शन के सम्वन्ध मे भी आज के मनुष्य के मन में अनेक शकाएँ हैं। वह न तो यह जानता है कि दर्शन का वास्तविक कार्य क्या है, और न यही कि उसका वास्तविक उपयोग क्या है। दर्शन सास्कृतिक जीवन की एक केन्द्रीय क्रिया है, उसके सम्वन्ध में अनिश्चय का अर्थ है सस्कृति के सभी रूपो के मूल्य एव उपयोगिता के वारे मे अनिश्चय होना। आज का मनुष्य कविता पढता है, और कभी-कभी लिख भी लेता है, किन्तु वह यह विल्कुल नही जानता कि क्यो कविता को एक महत्वपूर्ण चीज माना जाय। वह नैतिक व्यवहार करता है और नैतिक निर्णय भी देता है, विना इस आस्था के कि इन व्यापारो का कोई गभीर अर्थ है। तर्क-मूलक भाववादियो का कहना है कि कविता एव नैतिक निर्णय के क्षेत्र मे हम केवल श्रोताओ की सवेदनाओ ( Feelings ) को प्रकट अथवा दूसरो की सवेदनाओ को उत्तेजित करते हैं, और उन सवेदनाओं के वाहक शब्द तथा वाक्य वास्तव में वाह्य-सकेत-हीन होते हैं। इसी प्रकार दर्शन के सम्वन्ध में आज की प्रचलित धारणा यह है कि उसका तत्वजगत से कोई सम्बन्ध नही है, उसका एकमात्र लक्ष्य विभिन्न वक्तव्यों की तर्कात्मक समानता अथवा एकार्थकता को प्रकट करना है।

मनुष्य तथा इतर प्राणियो में एक वडा भेद यह है कि मनुष्य आत्मावगति रखता है। अपनी क्रियाओ के उद्देश्य का कथन करके वह अपने को मुक्त बना लेता है। किन्तु हम कोई काम किस प्रयोजन से करते हैं, किस मूल्य के लाभ या प्राप्ति के लिये करते हैं, अथवा हमें किन मूल्यो की प्राप्ति के लिये व्यापृत होना चाहिए, यह वताना स्वय दर्शन के अनेक कार्यो में से एक है। चूंकि आधुनिक मनुष्य के मन में दर्शन की कोई समुचित धारणा नही है, इसलिये वह अपनी किसी भी महत्वपूर्ण क्रिया को जीवन में उचित स्थान नही दे पाता। इसका मतलव यह हुआ कि मनुष्य को दर्शन

के द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है। और दर्शन मनुष्य को यह प्रश्न उठाकर ही मुक्ति दे सकता है कि—दर्शन क्या है? मानवीय जीवन एव सस्कृति के क्रम मे दर्शन का क्या स्थान है? स्वय अपनी प्रकृति पर विचार करना उसी प्रकार दर्शन का काम है जैसे कि अन्य विशेष रूप से मानवीय व्यापारो पर विचार करना।

मानवीय व्यापारो को समझने के लिये उनके द्वारा पूर्ति पाने वाले प्रयोजनो का उल्लेख करना होता है, वैसे ही जैसे कि जीवधारियो की अन्य क्रियाओ की व्याख्या के लिये। अतएव यह प्रश्न कि दर्शन क्या है, निम्न दूसरे प्रश्नो मे अनूदित किया जा सकता है दर्शन जीवन मे किस प्रयोजन की पूर्ति करता है? अथवा, मनुष्य की किन जरूरतो मे दार्शनिक क्रिया का उदय होता है।

दर्शन का उदय उन व्यक्तियो तथा समाजो के जीवन में होता है जिन्हें जीवन की मूल ज़रूरतो को पूरा करने के बाद कुछ अवकाश रहता है। यह बात दर्शन पर ही नही, विज्ञान आदि दूसरी ऊँची क्रियाओ पर भी लागू है। अवश्य ही, कविता तथा दर्शन की अपेक्षा से हम विज्ञान को व्यावहारिक उपयोगिता की चीज़ कह सकते हैं, किन्तु विज्ञान की उन्नति भी मुख्यत उन लोगो द्वारा घटित होती है जो स्वय ज्ञान मे अभिरुचि रखते हैं, न कि उसके व्यावहारिक उपयोग में। यदि यह भी मान लिया जाय कि विज्ञान का उदय मनुष्य की व्यावहारिक ज़रूरतो में होता है जैसा कि मार्क्स-वादियो का विचार है—तो भी वह सिद्ध नही किया जा सकता कि उसकी सतत प्रगति उन जरूरतो के आधार पर होती रह सकती है। कारण यह है कि वे इने-गिने प्रतिभा-शाली व्यक्ति जो विज्ञान की परम्परा को आगे बढाते हैं, प्राय अपनी सौन्दर्य-मूलक तथा बौद्धिक जिज्ञासा की वृत्तियो के सन्तोषण में रुचि रखते हैं। न कि व्यावहारिक जरूरतो की पूर्ति मे।

मानव-चिन्तन को अग्रसर करने वाली शक्ति उसकी एक विशिष्ट माँग है मनुष्य अपनी अनुभूतियो के बीच सामजस्य तथा सगति देखना चाहता है। वह इस विश्वास को लेकर जीवित रहना तथा व्यवहार करना है कि ससार की वस्तुएँ स्थिर प्रकृति की है, और यह कि एक विश्वसनीय अनुभव दूसरे वैसे अनुभव का विरोधी नही हो सकता। समान तथा बारबार आने वाली स्थितियाँ मनुष्य के इस विश्वास को पुष्ट करती है, और बाद मे यह विश्वास सगति-नियम (Law of consistency) अथवा समरूपता के सिद्धान्त (Law of uniformity) के रूप में प्रति-

पादित हो जाता है। जब कभी मनुष्य को इस नियम का व्यतिक्रम दिखाई देता है, वह परेशान हो जाता है, और तब तक बोधात्मक सन्तुलन को प्राप्त नही कर पाता जब तक कि दीखने वाले विरोध का परिहार न हो जाय। उदाहरण के लिये पानी मे मुडी हुई दीखने वाली छडी की प्रतीति उसकी हवा में सीधी दीखने वाली प्रतीति की विरोधिनी है। इस विरोध को दूर करने के लिये मनुष्य उन प्रक्रियाओ पर सैद्धान्तिक चिन्तन करने लगता है जिनके द्वारा, विभिन्न भौतिक माध्यमो मे, पदार्थ दृष्टिगोचर होते है। हम एक आत्म-सगत अथवा निर्विरोध जगत में रहते है, यह विश्वास करके चलना मनुष्य के लिये इतना ज़रूरी है कि प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रैडले के लिये यह मन्तव्य बनाना उचित प्रतीत हुआ कि 'चरम तत्व की प्रधान विशेषता यह है कि वह अपना विरोध नही कर सकता', अर्थात् आत्म-विरोधी या विसगत नही हो सकता। किन्तु वास्तव में विरोध-हीनता वक्तव्यो अथवा सम्मतियो का गुण है, जिसका उल्लेख तर्क-शास्त्र में होना चाहिए, तत्व दर्शन में उसके बदले समरूपता (Uniformity) अथवा व्यवहार की नियमितता का सकेत किया जाना चाहिए। वस्तुत किसी ज्ञान-राशि की आन्तरिक सगति या सामजस्य को उस यथार्थ की समरूपता या नियमानुकारिता का प्रतीकात्मक प्रकाशन माना जाना चाहिए जो उस ज्ञान का विषय है। आगे हम देखेंगे कि आत्म-सगति की इस व्याख्या में किंचित् सशोधन की जरूरत है। यहाँ हम एक दूसरी चीज़ लक्षित करेंगे, वस्तुओ की समरूपता का अनुमान उनके अपरिवर्तनीय परिणामो से किया जाता है। जब तक वस्तु समान स्थितियो में एक-सा व्यवहार करती है, अर्थात् जब वह दूसरी वस्तुओं पर समान प्रभाव डालती है, तब उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसका व्यवहार नियमित अथवा नियमानुवर्ती है।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना चाहिए, विभिन्न वस्तुएँ दूसरी वस्तुओ तथा मनुष्यो पर जो प्रभाव डालती हैं वे भिन्न कोटियो के होते हैं। एक पत्थर को यदि एक कागजो के बडल पर दे मारा जाय तो वह उसे स्थानातरित कर देता है, यदि उस बडल पर कोई तेजाब डाला जाय तो वह सभवत कागजो में रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न कर देगा, किन्तु पत्थर और तेजाब दोनो मनुष्य पर एक तीसरा प्रभाव डालेंगे, अर्थात् दर्द उत्पन्न करने का प्रभाव। विभिन्न विज्ञान विभिन्न वस्तुओ के नियमित व्यवहार का अध्ययन उनके कुछ चुने हुए प्रभावो की अपेक्षा से करते हैं। प्रचलित भाषा में इस तथ्य को हम यह कह कर प्रकट करते है कि विभिन्न विज्ञान वस्तुओ के विभिन्न पहलुओ का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इसका फल यह होता है कि एक विज्ञान जिस

अर्थ-समष्टि को उत्सृष्ट करता है वह विश्व की एकता के एक खास पहलू को, अथवा एक खास पहलू की एकता को ही, दर्शित कर पाता है।

वैज्ञानिक व्याख्या का सम्बन्ध उन गति-मूलक प्रभावो से होता है जो वस्तुएँ अथवा उनके कतिपय पहलू उत्पन्न करते है, उस व्याख्या का लक्ष्य होता है उन प्रभावो को बुद्धिगम्य बनाना, उनकी भावी गतिविधि का पूर्वाभास ले सकना, और उन पर नियन्त्रण स्थापित करना। उदाहरण के लिये आवर्त्तन (Refraction) के नियम जो कि आलोक-विज्ञान का अग है, हमे प्रकाश के उन प्रभावो को समझने, उनका पूर्वाभास लेने, तथा उन्हें नियन्त्रित करने मे मदद देते है जो उसके एक भौतिक माध्यम से दूसरे माध्यम में जाने पर उत्पन्न होते हैं।

दूसरे उदाहरण हम नैतिक तथा अनैतिक कर्मो एवं कलाकृतियो द्वारा पडने वाले प्रभावो मे पा सकते हैं। इन प्रभावो का अध्ययन नीति-शास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र मे होता है। विभिन्न प्रकार की विद्याएँ, भौतिक, प्राणि-शास्त्र से सम्बन्धित, तथा मानवीय, अपने बीच उन समस्त प्रभावो की छानबीन कर डालती है जो विभिन्न वस्तुओ के विभिन्न पहलुओ द्वारा मनुष्य नाम के प्राणी पर पडते है।

ऐसी दशा मे दर्शन के लिए क्या काम शेष रह जाता है?

दर्शन के सम्बन्ध मे एक बहुत ही प्रचलित धारणा वह है जिसका प्रचार हर्बर्ट स्पेंसर ने किया और जिसके उदाहरण-स्वरूप आधुनिक योरप की अनेक दर्शन-पद्धतियाँ पेश की जा सकती हैं। स्पेंसर के अनुसार विज्ञान अशत एकीकृत ज्ञान है, और दर्शन पूर्णतया एकीकृत ज्ञान है। वह कहता है कि दर्शन 'सबसे अधिक सामान्य कोटि का ज्ञान है। यह वह ज्ञान है जिसकी उत्पत्ति विभिन्न विज्ञानो द्वारा दिये हुए ज्ञानो के एक समष्टि रूप मे मिश्रित होने से होती है।' इस मिश्रण की प्रक्रिया की व्याख्या इस प्रकार की गई है 'जिस प्रकार विज्ञान के अधिक व्यापक सामान्य कथन अपने क्षेत्र के सकीर्ण अथवा कम व्यापक सामान्य कथनो को एकता मे आबद्ध कर देते है, वैसे ही दर्शन के सामान्य कथन विज्ञान के व्यापकतम सामान्य कथनो को एकता मे ग्रथित कर देते है।'[1] मतलब यह कि विभिन्न विज्ञानो के व्यापकतम नियमो को दर्शन के और भी व्यापक नियमो के निष्कर्षो के रूप में अनुगत होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे दर्शनशास्त्र का काम एक ऐसी सर्व-समावेशी निगमनात्मक पद्धति (Deductive

System) का निर्माण करना है जिसे विभिन्न वैज्ञानिक नियम-पद्धतियो के ऊपर स्थापित किया जा सके।

स्वय स्पेंसर ने, विकास के एक सार्वभौम नियम के रूप में, एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया। हीगल और कालमार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धतियाँ भी, जो क्रमश अध्यात्मवादी तथा भौतिकवादी है, इसी कोटि में आती है। हीगल और मार्क्स दोनो ने ही ऐसे सिद्धान्तो का निर्माण करने की कोशिश की है जो भौतिक तथा जैवी जगत पर जितने लागू है उतने ही ऐतिहासिक-सामाजिक घटना-शृखला पर भी।

आधुनिक काल में इस प्रकार की निगमनात्मक पद्धतियो के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया हुई है। हम मानते है कि यह प्रतिक्रिया, काफी सीमा तक, उचित है। हम निगमनात्मक दर्शन-पद्धतियो को निम्न कारणो से अग्राह्य समझते है। प्रथमत यह समझ में नही आता कि कैसे दर्शन ऐसे नियम अथवा नियम-समूह का पता लगा सकता है जिससे नितान्त भिन्न कोटि के नियम—एक ओर भौतिक परिवर्तनो के नियम और दूसरी ओर मानव-व्यवहार के नियम—निगमन-विधि से निकाले जा सके। इस सम्बन्ध मे एक स्थिति का सकेत पर्याप्त होगा। भौतिक विज्ञान के नियम गणित के समीकरणो (Mathematical Equations) के रूप मे प्रतिपादित किये जाते है। निगमन विधि (Deduction) का प्रयोग करते हुए उन्हें वैसे समीकरणो से ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु जहाँ तक हमें मालूम है किसी भी दर्शन-पद्धति ने अब तक अपने सिद्धान्तो को गणित की भाषा में व्यक्त करने का साहस नही किया है। एक दूसरी बात भी विचारणीय है। गणित के बाहर कोई भी ऐसी निगमनात्मक पद्धति नही है जहाँ निगमन-विधि के प्रयोग में भूल-चूक होने की सभावना न हो—जो तर्कशास्त्र की दृष्टि से निर्दोष एव पूर्ण हो। एक लम्बी निगमन-शृखला में यदि कही एक भी कडी गलत हो जाय, यदि कही एक भी निगमन सदोष रह जाय, तो पूरी विचार-पद्धति दूषित हो जाती है। सच यह है कि गणित के बाहर निगमन-विधि का निर्दोष प्रयोग सभव नही है। दर्शन-पद्धतियो में उक्त विधि के गलत प्रयोग के उदारण दुर्लभ नही है। हीगल के तर्कशास्त्र मे वे उतने ही सुलभ है जितने कि ब्रेडले के "तत्व पदार्थ और उसके विवर्त" (Appearance and Reality) ग्रथ मे।

आज हमें इस बात का सकेत मिल रहा है कि कुछ लोग फिर निगमनात्मक दार्शनिक चिन्तन को उज्जीवित करना चाहते है। आश्चर्य की बात है कि स्वय तर्क-मूलक

भाववादी, जो कि अपने को निगमनात्मक दर्शन का विरोधी कहते है, वैसा प्रयत्न कर रहे हैं। आज कुछ विचारक "विज्ञानो की एकता" के नारे को बुलन्द कर रहे हैं। उन्होंने हमारे सामने भूतशास्त्रवाद या भौतिकतावाद (Physicalism) का सिद्धान्त रक्खा है, जो कि वास्तव मे एक तत्व-दर्शन का सिद्धान्त है। भूतशास्त्रवाद का कार्यक्रम दो प्रकार का है। प्रथमत वह चाहता है कि समस्त सामाजिक तथा जैवी विज्ञानो की पदावली को भौतिकशास्त्र की पदावली मे परिवर्तित कर दिया जाय। दूसरे, उनका विश्वास है कि प्राणि-शास्त्र, व्यवहार-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि के नियमो या कानूनो के वक्तव्यो को भौतिकशास्त्र के वक्तव्यो अथवा कानूनो मे बदल दिया जाय।[२]

इस कार्यक्रम के विरुद्ध जॉन ड्यूई ने चेतावनी दी है जिसे हम उद्धृत करेंगे 'सब विज्ञानो के पारिभाषिक पदो को किसी एक विज्ञान की पदावली में परिवर्तित करके समस्त विद्याओ की एकता स्थापित करने का प्रयत्न शुरू से ही विफल होने को बाध्य है।'[३]

कार्नैप कहते है 'विज्ञान की एकता के प्रश्न का सम्बन्ध वस्तुत विज्ञान के तर्कनाशास्त्र से है, न कि तत्वमीमासा से। इस प्रश्न का विषय है, विभिन्न विज्ञानो के पदो तथा नियमो का तर्कात्मक सम्बन्ध।'[४] किन्तु कार्नैप ने इसका विचार नही किया कि तर्कशास्त्र के नियम एक ही वक्तव्य-क्षेत्र (Universe of Discourse) मे लागू होते हैं। विभिन्न वक्तव्य-क्षेत्रो से सम्बन्धित कथनो मे किसी प्रकार का तर्कमूलक विरोध अथवा निर्भरता प्रदर्शित नही की जा सकती। श्री वैज़मान ने लिखा है 'तर्कशास्त्र का प्रयोग एक महत्वपूर्ण अर्थ मे सीमित होता है . तर्कशास्त्र के लगाव या सम्बन्ध उन्ही वक्तव्यो के बीच हो सकते हैं जो एक समान क्षेत्र से सम्बद्ध हैं। निगमनात्मक सम्बन्ध कभी ऐसे क्षेत्र के बाहर नही जाता।'[५] इस प्रकार हम देखते हैं कि भूतशास्त्रवादियो का कार्यक्रम तर्कशास्त्र की सीमा के बाहर चला जाता है; वह वस्तुत तत्व-दर्शन के सम्बन्ध रखता है। ऐसा जान पड़ता है कि तर्क-मूलक भाववादी को तत्व-दर्शन (Metaphysics) से कोई आपत्ति नही है, यदि उसका उपयोग एक खास किस्म के भौतिकवाद की पुष्टि मे किया जाय।

## परिणमन द्वारा एकीकरण

वस्तुत भूतशास्त्रवादियो का प्रयत्न उस लम्बी-चौडी चिन्तन-परम्परा का उदाहरण है जिसका लक्ष्य विश्व की विविधताओ, अथवा वस्तुओ के विविध पहलुओ को

एकात्मक दर्शित करना रहा है। इस दृष्टि मे जडवादी दार्शनिको ने वडे निपुण तर्कों का उपयोग किया है। उदाहरण के लिये यन्त्रवादी भौतिकवाद यह कोशिश करता है कि वस्तुओ के विभिन्न प्रभावो को केवल एक प्रभाव मे परिणत कर दे, अर्थात् यह दर्शित कर दे कि वे सब प्रभाव अन्तत शक्ति के वितरण अयवा उन वस्तुओ के गति-रूप हैं जिनका अध्ययन भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र में होता है। मतलव यह कि यन्त्रवाद किसी चीज़ के विभिन्न पहलुओ को उसके एक पहलू या रूप मे परिणत करना चाहता है, और बाकी पहलुओ को आभास अथवा मिथ्या दर्शित करने का प्रयत्न करता है। इसी दृष्टि का एक दूसरा रूप है, जिसे हम पद्धति-मूलक भौतिकवाद (Methodological Materialism) कह सकते हैं। यह भौतिकवाद वस्तुओ के गुणात्मक प्रभावो को उनके मात्रागत परिवर्तनो से सम्बन्धित कर देना चाहता है। इस मत के अनुसार वस्तुओ की गुणात्मक विविधता की व्याख्या करने के लिये यह दर्शित कर देना काफी है कि वे विविधताएँ मात्रामूलक परिवर्तनो से सहचरित होती हैं। उदाहरण के लिये यह समझा जाता है कि हम किसी गीत के सम्पूर्ण प्रभाव की व्याख्या यह दिखाकर कर सकते हैं कि उसकी विभिन्न लयो तथा गतो का सम्वन्ध विभिन्न ध्वनि-स्पन्दनों की निश्चित लम्वाइयो तथा आवृत्ति-सख्याओ (Frequencies) से है। इसी प्रकार यदि यह दिखा दिया जाय कि मनुष्य के विचार त[illegible]वेग स्नायु-मडल तथा अन्य शारीरिक परिवर्तनो से आवश्यक रूप में सम्वन्धित [illegible]
तथा आवेगो की व्याख्या हो जाती है।

समझा जाता है कि इस प्रकार की व्याख्याएँ विशुद्ध
किन्तु हमारा विश्वास है कि उन व्याख्याओ में वैज्ञानिक
नही होता। यह बात स्पष्ट हो जायगी यदि हम मान
स्नायविक व्याख्या का विचार करें। उदाहरण के f
शरीर-विज्ञान (Physiology) तथा स्नायु-
ऐसी योग्यता दे सकते हैं कि हम (१) चिन्तन-
व्याख्या कर सकें जिनके कारण वे यथार्थानुकारी
(२) हम उन चिन्तन-क्रियाओ को पूर्वाभासित
खास मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली है, और (
के उदय होने पर नियन्त्रण कर सकें। यह देख
चन्तन-प्रक्रिया की व्याख्या इन तीनो में मे

हो सकता है कि हम किसी मनुष्य अथवा जनसमूह की जरूरतो और आवेगो पर प्रचार (Propaganda) अथवा वैसे दूसरे तरीको से कुछ नियन्त्रण कर सके। किन्तु उन तरीको का पता खास तौर से स्नायु-विज्ञान तथा शरीर-विज्ञान द्वारा नही लगाया गया है। सच यह है कि जन-मत को प्रभावित करने और सोचने की घटनाएँ उस तथ्य-क्रम के अन्तर्गत नही आती जिनका अध्ययन उपरोक्त विज्ञान करते है। कहा जाता है कि हमारी आवेगात्मक अनुभूतियाँ सदैव शारीरिक क्रियाओ द्वारा सहचरित रहती है, किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि उन अनुभूतियो और उन क्रियाओ मे तादात्म्य का सम्बन्ध है। उदाहरण के लिये जब एक व्यक्ति तार द्वारा अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर तीव्र आवेगात्मक प्रतिक्रिया करता है, तो यही कहना उचित जान पडता है कि उसकी प्रतिक्रिया का कारण उसे मिली हुई खबर है। उसके शरीर मे जो भौतिक परिवर्तन उस प्रतिक्रिया के साथ होते है, उन्हे उस अनुभूति का कारण नही कहा जा सकता। दूसरे, उसकी प्रतिक्रिया मुख्यत मनोवैज्ञानिक होती है। उसके मन मे यह विचार आता है कि उसकी बनाई हुई सैकडो योजनाएँ व्यर्थ हो गई और अपने पुत्र के जीवन से उसने जिन सुखो के पाने की कल्पना की थी उनकी सम्भावना नष्ट हो गई।

भूतशास्त्रवादी यह कोशिश करते है कि प्रेम आदि आवेगो के व्यजक शब्दो तथा वाक्यो को उन वाक्यो में परिवर्तित कर दें जो शारीरिक परिवर्तनो का वर्णन करते हैं। किन्तु इस प्रकार की परिवर्तित व्यजनाओ द्वारा बातचीत करना तथा लिखना नितान्त कठिन हो जायगा, क्योकि एक-एक शब्द के स्थान पर लम्बी व्यजनाओ को रखना पडेगा। दूसरे, ये लम्बी-चौडी व्यजनाएँ भी जो कि शारीरिक परिवर्तनो का वर्णन करेंगी, उस आन्तरिक सवेदना को प्रस्तुत नही कर सकेंगी जिसके कारण प्रेम जैसे आवेग की अनुभूति इतनी महत्वपूर्ण तथा जीवन्त प्रतीत होती है।

हम दर्शन को एक सर्वातिशायी विज्ञान नही मानते, न उस अर्थ मे जो हर्बर्ट स्पेन्सर को अभिप्रेत है, और न उस अर्थ मे जिसमे उसे कार्नेप ने लिया है। हमारी राय में दर्शन का काम ऐसे नितान्त सामान्य नियमो की खोज नही है जो, निरपवाद रूप से, समस्त जगत पर लागू हो सके। दर्शन का यह भी काम नही है कि वह विश्व की विभिन्न छवियो को एक रूप मे परिणमित करके उन पर जबर्दस्ती एकता लाद दे, और विश्व के विभिन्न पहलुओ के वर्णनो को एक प्रकार के दर्शन मे बदल दे। इसके विपरीत हमारा विचार है कि दर्शन का काम विश्व की विविधता को उडा देना नही

अपितु उसकी तीव्रतर अवगति उत्पन्न करना है। दर्शन विश्व के एक, सामान्यतम पहलू का प्रत्याहरण (Abstiaction) की प्रक्रिया द्वारा अध्ययन नही करेगा, उसे विश्व को उसकी समस्त मूर्तिमत्ता में पकड सकना चाहिए। प्रत्येक विज्ञान अमूर्त होता है, वह प्रत्याहरण द्वारा वस्तुओ के किसी एक पहलू का अध्ययन करता है, यदि दर्शन विज्ञान के पीछे चलेगा तो वह कभी भी विश्व की मूर्त समग्रता को अपनी पकड में नही ला सकेगा।

बीसवी सदी के अधिकाश दार्शनिको के पक्षपातो तथा मान्यताओ के विरुद्ध हमारा यह प्रस्ताव है कि दर्शन को विज्ञान से भिन्न होना चाहिए। उसकी चिन्तन-प्रणाली वैज्ञानिक प्रणाली से भिन्न है। विज्ञान के विविध रूपो का लक्ष्य होता है, वस्तुओ की अस्तित्व-मूलक व्याख्या करना। विज्ञान यह बतलाता है कि कैसे कुछ वस्तुएँ अथवा घटनाएँ अस्तित्व में आती है, अथवा कैसे कुछ चीजें दूसरी चीजो से नि सृत होती है। अपने आदर्श रूप मे विज्ञान इन व्याख्याओ को ऐसी स्थापनाओ तथा नियमो के रूप में, जिनकी निरीक्षण तथा प्रयोग द्वारा परीक्षा हो सके, निरूपित करता है। भौतिकशास्त्र में इस आदर्श की प्राय पूर्ण उपलब्धि हो जाती है। किन्तु अधीत विषय-वस्तु की जटिलता के कारण सामाजिक विज्ञानो द्वारा प्राप्त होने वाली सफलता दूसरी कोटि की होती है। इन शास्त्रो के सामान्य कथन कार्य-कारणो की पूर्वसिद्ध शृखलाओ का नही, अपितु सम्भाव्य शृखलाओ का उद्घाटन करते है, और उनकी स्थापनाएँ "कल्पना-मूलक दृष्टि अथवा प्रयोग" द्वारा ही परीक्षित होती है। किन्तु भौतिक और सामाजिक विज्ञान दोनो का उद्देश्य अस्तित्व-मूलक व्याख्याएँ प्रस्तुत करना है। इस दृष्टि से दर्शनशास्त्र दोनो प्रकार के विज्ञानो से भिन्न है।

दर्शन का साक्षात् विषय अस्तित्ववान् पदार्थ नही है। यह ठीक है कि अपने इतिहास में दर्शन अक्सर मनुष्य तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, कारण आदि प्रश्नो से उलझता रहा है, और यह विमर्प भी करता रहा है कि हमारी आत्मा का गन्तव्य क्या है, सृष्टि का क्या भविष्य है, इत्यादि। पुराने जमाने में दर्शन के इतने प्रश्नो के उलझने का एक कारण यह भी था कि उस समय मनुष्य की ज्ञान-क्रिया विभिन्न शाखाओ में विभक्त नही हुई थी। उस समय मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान उसके धर्म और दर्शन मे निहित था। जिस समय वेदो और उपनिषदो का निर्माण हुआ, और उसके कुछ बाद भी, थेलीज और हेराक्लाइट्स, डिमोक्राइट्स तथा कणाद, ऐम्पीडाक्लीज तथा कपिल ने अपनी कल्पना-मूलक भौतिक पद्धतियो का निर्माण किया। यूनान में इस

स्थिति में उस समय तक कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नही हुआ था जब प्लेटो ने अपनी भव्य दर्शन-पद्धति की रचना की। उसके बाद अरस्तू ने ज्ञान को विभिन्न शाखाओ में विभक्त कर दिया। किन्तु अरस्तू भी यह मानते रहे कि तत्व-दर्शन एक सामान्य विज्ञान है जो वस्तुओ के 'मूल कारणो तथा नियमो'[१] का अन्वेषण करता है। दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया पर अरस्तू का विशेष प्रभाव नही पडा; प्राचीन यूनान मे ही नही, मध्ययुगीन तथा पुनर्जागृति के बाद के योरप मे भी, दर्शन को सर्वसमावेशी विज्ञान समझा जाता रहा। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के समय मे भौतिकशास्त्र को प्रकृति-दर्शन कहा जाता था और उसे दर्शन की एक शाखा समझा जाता था। उन्नीसवी सदी मे, जैसा कि हम देख चुके है, हीगल, मार्क्स और स्पेन्सर ने अपनी पद्धतियो का निर्माण इसी पुराने ढग पर किया।

आज शायद ही कोई विचारक होगा जो यह स्वीकार करेगा कि दर्शन को भौतिक जगत तथा जीव-जगत के सम्बन्ध मे वक्तव्य देने का अधिकार है, अथवा उसे समाज तथा इतिहास के विकास पर अपनी राय देनी चाहिए। आज हम इस बात को अधिकाधिक समझ रहे है कि भौतिक तथा सामाजिक जगतो को किसी प्रागनुभविक (Apriori) बौद्धिक ढांचें में "फिट" नही किया जा सकता। विभिन्न अन्वेषक अपने विभिन्न क्षेत्रो का तथ्यात्मक अध्ययन अपने-अपने ढग से करते है। हम किसी ऐसी पद्धति को नही जानते जिसके द्वारा समस्त विज्ञानों की तथ्य-सामग्री को एक जगह इकट्ठा करके उस पर शासन करने वाले व्यापक नियमो का पता लगा लिया जाय।

सच यह है कि दर्शन विज्ञानो का प्रतिद्वन्द्वी नही है, उसे वस्तुओ के अस्तित्व-सम्बन्धी प्रश्नों से विशेष सरोकार नही है। दर्शन का काम कारण-मूलक व्याख्याएँ देना नही है। जब एक दार्शनिक कार्य-कारण के सम्बन्ध, अनुमान, प्रमाण, सत्य साधुता (Virtue) आदि के सम्बन्ध मे विचार करता है तो निश्चय ही वह उन चीजो के कारणो की खोज नही करता। प्रश्न उठता है, तो दार्शनिक क्या करना चाहता है? कालिंगवुड ने कहा है 'दर्शन को हम दूसरे दर्जे का चिन्तन कह सकते है, अर्थात् चिन्तन के सम्बन्ध मे चिन्तन।'[२] किन्तु यह बात दर्शन-विषयक सत्य का एक पहलू है। इसमें सन्देह नही है कि दार्शनिक चिन्तन-क्रिया मननात्मक तथा आलोचनात्मक होती है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि इस मनन तथा चिन्तन का विषय मुख्यत मनुष्य का वैज्ञानिक बोध होता है। दर्शन मनुष्य की सौन्दर्य, नैतिकता तथा धार्मिक-

आध्यात्मिक अनुभूतियों पर भी उसी प्रकार विचार करता है जिम प्रकार कि विज्ञानो से प्राप्त होने वाले ज्ञान पर।

हम दर्शन की परिभाषा इस प्रकार करेगे **दर्शन सास्कृतिक अनुभूति का विश्लेषण, व्याख्या एवं मूल्यांकन करने का प्रयत्न है**। चूंकि इस अनुभूति में स्वय दर्शन का भी समावेश है, इसलिये दर्शन स्वय अपने स्वरूप, क्रिया तथा उपलब्धियो का विश्लेषण, व्याख्या एव मूल्याकन भी करता है। इस दृष्टि मे देखने पर यह जान पडेगा कि दर्शन मुख्यत एक आलोचनात्मक क्रिया है। उसका ममस्त सस्कृति मे वही सम्बन्ध है जो समीक्षा का कला-साहित्य से होता है। जिसे हम मास्कृतिक अनुभूति कहते है उसकी दो मुख्य विशषताएँ है, प्रथमत वह निरुपयोगी होती है अर्थात् स्वय अपना साध्य होती है, दूसरे सास्कृतिक अनुभूति प्राय प्रतीक-बद्ध रूप मे वर्तमान रहती है। दर्शन का सम्बन्ध उस अनुभूति से नही है जो विभिन्न पदार्थो के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। यह अनुभूति सस्कृति नही होती। सास्कृतिक अनुभूति अथवा क्रिया का सम्बन्ध उन प्रतीक-विधानो से होता है जिनके द्वारा मनुष्य यथार्थ के विभिन्न, अर्थवान पहलुओ को चेतना में सचित एव व्यवस्थित करके उनका मनन करता है—अर्थात् उन क्रियाओ से जो उसके अस्तित्व का साधन न होते हुए उसके आत्मिक जीवन को विस्तार देती हैं। फलत दर्शन का विपय वे क्रियाऐं नही है जो दृश्यमान जगत का निर्माण करती है, वल्कि वे क्रियाएँ जो मनुष्य के आन्तरिक जीवन को निर्मित करती हैं। इस दृष्टि से, कला की भाँति, दर्शन को भी आत्मज्ञान कहा जा सकता है। दर्शन का वाह्य जगत से सम्बन्ध होता है, किन्तु वह सम्बन्ध सीधा नही, अपितु व्यवहित होता है। उदाहरण के लिये विज्ञानगत वोध का विश्लेपण तथा व्याख्या करते हुए दर्शन का बाह्य जगत से दूर का सम्वन्ध स्थापित हो जाता है। चूंकि दार्शनिक वक्तव्यो का सम्बन्ध मुख्यत मनुष्य के आन्तरिक, सास्कृतिक जगत से होता है इसलिये उन वक्तव्यो को बाह्य निरीक्षण द्वारा प्रमाणित अथवा अप्रमाणित नही किया जा सकता।[८] इस दृष्टि से हम दर्शन को मानवीय आत्मा का वर्णनात्मक अध्ययन, अथवा मानवीय सस्कृति का समीक्षात्मक वर्णन कह सकते है। दर्शन वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मानव-सस्कृति आत्म-चेतना प्राप्त करती है। वौद्धिक चिन्तन के सामान्य नियम के अनुसार दर्शन का उदय तव होता है जव मानव-वुद्धि के सम्मुख कतिपय असगतियाँ अथवा विरोध उठ खडे होते है। जव असगति या विरोध तथ्य-जगत में मिलता है, तो विज्ञान का जन्म होता है, किन्तु जब असगति या विरोध उन धारणाओ या प्रत्ययो के ससार में होता है जिनके

द्वारा हम तथ्य-जगत तथा मूल्य-जगत की व्याख्या करना चाहते हैं, तो दर्शन का उदय होता है। दर्शन का काम उन विरोधो तथा असगतियो को दूर करना है जो कि विभिन्न विज्ञानो, कलाओ, तथा नैतिकता, अध्यात्म आदि क्षेत्रो की दृष्टियो, पद्धतियो, मान्यताओ आदि के बीच उठ खडी होती है। एक ही क्षेत्र मे उत्थित होने वाले विरोध तथा असगतियाँ भी दर्शन का विषय हो सकती है, और दर्शन उन मान्यताओ, प्रत्ययो तथा पद्धतियो पर भी विचार कर सकता है जिन्हे अनेक विज्ञान स्वीकार करते है।

हमने अभी तक दर्शन के स्वरूप का सामान्य परिचय दिया, अब हम उसकी विभिन्न क्रियाओ की परीक्षा करेगे। दर्शन का पहला कार्य है विश्लेषण, जो स्वभावत व्याख्या तथा मूल्याकन से पहले आता है। दर्शन किस चीज़ का विश्लेषण करता है ? दार्शनिक विश्लेषण का विषय मनुष्य की वे क्रियाएँ है जिनके द्वारा वह यथार्थ के विभिन्न पहलुओ की अवगति अथवा कल्पनात्मक बोध प्राप्त करता है। यहाँ एक रोचक प्रश्न उठ खडा होता है। क्रिया नाम की वस्तु प्रवाहशील होती है, वह लगातार होती रहती है, विश्लेषण के लिये दर्शन उसे किस प्रकार पकड सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि चिन्तनात्मक क्रियाएँ काल के बाहर होती है, वे उन क्रियाओ की भाँति जिनका अध्ययन मनोविज्ञान करता है, कालिक या कालगत नही होती। एक प्रक्रिया के रूप मे जानना या बोध काल-गत चीज है, किन्तु यथार्थ का प्रकाशक होने के नाते वह कालिक नही है। अपने कालहीन रूप मे बोध-क्रिया को प्रतीको के द्वारा प्रकट किया जा सकता है, और उसे प्रत्ययो तथा वाक्यो में बाँधा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि दर्शन का काम प्रत्ययो तथा वाक्यो का विश्लेषण करना है वहाँ तक जहाँ तक वे प्रत्यय और वाक्य यथार्थ के स्वरूप को उद्घाटित करते है।

किन्तु उक्त समस्या का यह हल समीचीन नही है। हम अपनी कठिनाई को एक दूसरे ढग से रक्खें : सब प्रकार के यथार्थ, फिर चाहे वे भौतिक हो अथवा मानसिक, लगातार बदल रहे है। उन्हें स्थिर अर्थ वाले प्रत्ययो (Concepts) तथा वाक्यो द्वारा कैसे उद्घाटित किया जा सकता है ? प्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसाँ ने इस युक्ति का उपयोग समस्त भौतिक ज्ञान के विरोध मे किया है। इस कठिनाई को हल करने के लिये हमे दो-तीन बाते मानकर चलना पडेगा। प्रथमत हमें यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य का समस्त शब्द-व्यवहार प्रयोजनमूलक होता है और यह कि मनुष्य के प्रयोजन न्यूनाधिक स्थिर रहते है। दूसरे, हमे मानना पडेगा कि भौतिक तथा मानसिक दोनो प्रकार के यथार्थ, वहाँ तक जहाँ तक वे मानवीय प्रयोजनो के लिये अर्थवान है, बार-

वार आवृत्त होने वाली गतियो अथवा क्रियाओ द्वारा निर्मित होते हैं। उदाहरण के लिये यह सम्भव है कि वे चीजें जिन्हें हम पानी या हवा कहते हैं, पिछले पाँच-छ हजार वर्षो में, अर्थात् सभ्य मनुष्य के इतिहास की अवधि में, थोडी-वहुत वदल गयी हो। किन्तु मनुष्य को भौतिक, जैवी तथा सौन्दर्यमूलक जरूरतो की अपेक्षा में भी वे प्राय वही रही है, और आधुनिक रसायन-शास्त्री के लिये भी उनका रूप प्राय स्थिर है। यही वात दूसरी ऐसी चीजो के वारे में कही जा सकती है जैसे कि अणुवीक्षण यत्र, थर्मामीटर, तौलने का यत्र, तेजाव, क्षार आदि जिनके प्रयोग के विना वैज्ञानिक अन्वेपण सम्भव ही नही होगे। इसी प्रकार प्रतीक-वद्ध मानसिक क्रियाएँ भी स्थिर-रूप वनी रहती हैं। मनुष्य परस्पर वातचीत तथा सामाजिक व्यवहार कर पाते हैं, इसका प्रमुख कारण यह है कि उनकी जरूरते तथा रुचियाँ समान होती हैं। और वे प्रकृति की एकरूपता (Uniformity) में विश्वास किये जाते हैं, इसका कारण यह है कि वह प्रकृति उनकी सामान्य जरूरतो को लगातार पूरा करती रहती हैं।

## अर्थ तथा प्रेषण

ऊपर की मान्यताएँ आवश्यक हें, इसे सिद्ध करने के लिये हम शब्दो के अर्थ तथा उन अर्थो के प्रेषण की समस्या पर विचार करेंगे। पशुओ से मनुष्य का एक बडा भेद यह है कि वह यथार्थ जगत को प्रतीको के रूप में प्रकट या अनूदित कर लेता है। इस प्रक्रिया द्वारा मनुष्य की अपने अनुभवो को याद रखने और सगठित करने की शक्ति वहुत ज्यादा बढ जाती है, उसके द्वारा उसकी सामाजिक सम्पर्क की क्षमता में भी विशेप वृद्धि होती है। मनुष्य द्वारा प्रयुक्त होने वाले सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक शव्द हैं। प्रतीको का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग गणित में पाया जाता है। प्रतीको का रूप कुछ भी हो, उनका प्रयोग वस्तुओ, गतियो तथा क्रियाओ, गुणो तथा सम्बन्धो को प्रकट करने के लिये किया जाता है। एक दूसरी बात भी लक्षित करने की है। हम प्रतीको का प्रयोग केवल उन्ही चीजो का सकेत करने के लिये नही करते जो हमारे सामने मौजूद हैं, प्रतीको द्वारा हम अतीत वस्तुओ का भी सकेत करते हैं और उन सम्भाव्य स्थितियो का भी जिनकी हम कल्पना करते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में हमारी समस्त स्थापनाएँ (Hypotheses) तथा 'यदि' से शुरू होनेवाले वक्तव्य प्राय सम्भाव्य का निर्देश करने वाले ही होते हैं। किसी भी प्रकार के प्रतीको के प्रयोग के सम्बन्ध में एक याद रखने की वात यह है कि वे यथार्थ वस्तु या स्थिति के उन्ही पहलुओ को—फिर चाहे

वे तथ्य या पहलू वास्तविक हो अथवा कल्पित—सकेत कर सकते है जिनसे प्रतीको का प्रयोग अथवा व्याख्या करने वाला परिचित है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रतीक वस्तुओ अथवा उनके गुणो को उनकी समग्रता मे व्यजित नही करते। उदाहरण के लिये जब हम 'अश्व' शब्द का प्रयोग करते है तो उसका अर्थ अश्व नाम की वस्तु की वे ही विशेषताएँ हो सकती है जिनका उस शब्द का प्रयोग करने वाले अथवा उसे सुनने या पढने वाले को ज्ञान है। अश्व शब्द का सम्पूर्ण अर्थ कभी उस ज्ञान से अधिक नही हो सकता जो कि उस शब्द के प्रयोक्ता अथवा व्याख्याता को अश्व नाम के यथार्थ के सम्बन्ध मे है। स्पष्ट ही अश्व का यह ज्ञान एक व्यक्ति से दूसरे मे, और एक युग मे दूसरे युग में, बदलता रहता है। इसलिये यह नही कहा जा सकता कि विभिन्न अवसरो पर, विभिन्न सन्दर्भो में, विभिन्न मनुष्यो द्वारा प्रयुक्त अश्व शब्द एक ही अर्थ का वाहक होता है। वस्तुत अश्व शब्द का वाच्य अश्व की वह धारणा होती है जो कि प्रयोक्ता अथवा व्याख्याता के मन मे रहती है। ऑगडेन और रिचर्ड्स ने कहा है कि शब्दो का सीधा सम्बन्ध धारणाओ तथा प्रत्ययो से होता है, और दूर का सम्बन्ध वस्तुओ से।[1] यह स्थिति एक कठिन बौद्धिक समस्या को उत्थित करती है। विभिन्न लोगो के अनुभव तथा ज्ञान भिन्न-भिन्न होते है, फिर वे, प्रतीको का प्रयोग करते हुए, कैसे एक-दूसरे तक अपना अभिप्राय पहुँचा देते है? अथवा यह माना जाय कि विभिन्न मनुष्य अभिप्रेत अर्थो का पूरा प्रेषण कभी नही करते, और यह कि लोगो के पारस्परिक विचार-विनिमय की प्रतीति वास्तविक न होकर भ्रमात्मक है? किन्तु यह मन्तव्य कि मनुष्य एक-दूसरे तक अपने अभिप्राय नही पहुँचा पाते, उचित नही जान पडता, क्योकि आज के जटिल यत्र युग में तब तक काम नही चल सकता जब तक कि लोग एक-दूसरे की बात को ठीक-ठीक न समझे। उदाहरण के लिये आज के उद्योगधन्धो में जो रासायनिक तथा यान्त्रिक क्रियाएँ होती है, उनके ठीक अनुष्ठान के लिये यह जरूरी है कि विभिन्न कर्मचारी एक-दूसरे के निर्देशो (Directions) तथा आदेशो को ठीक-ठीक समझे।

ऊपर की समस्या का हल इस तथ्य में है कि मानव-प्रकृति मे एक मौलिक एकता है, जो कि विभिन्न मनुष्यो की समान रुचियो तथा प्रयोजनो मे प्रतिफलित होती है। इस एकता का मनुष्य के बौद्धिक व्यापारो पर निम्न प्रभाव पडता है। मनुष्यो द्वारा किये हुए तथ्यो के समस्त वर्णन तथा उल्लेख प्रयोजन-मूलक होते है, अर्थात् उनका उद्देश्य कतिपय लक्ष्यो की प्राप्ति अथवा कतिपय प्रयोजनो की पूर्ति होना है। जब एक

वार आवृत्त होने वाली गतियो अथवा क्रियाओ द्वारा निर्मित होते हैं।
लिये यह सम्भव है कि वे चीजें जिन्हें हम पानी या हवा कहते हैं, पिछले प।
वर्षों में, अर्थात् सभ्य मनुष्य के इतिहास की अवधि में, थोडी-बहुत वद
किन्तु मनुष्य को भौतिक, जैवी तथा सौन्दर्यमूलक जरूरतो की अपेक्षा में
वही रही हैं, और आधुनिक रसायन-शास्त्री के लिये भी उनका रूप प्राय
यही बात दूसरी ऐसी चीजो के बारे मे कही जा सकती है जैसे कि अणुवी
थर्मामीटर, तौलने का यत्र, तेजाव, क्षार आदि जिनके प्रयोग के विना वैज्ञानिक
सम्भव ही नही होंगे। इसी प्रकार प्रतीक-बद्ध मानसिक क्रियाएँ भी स्थिर-
रहती हैं। मनुष्य परस्पर बातचीत तथा सामाजिक व्यवहार कर पाते हैं,
प्रमुख कारण यह है कि उनकी जरूरतें तथा रुचियाँ समान होती है। और वे
की एकरूपता (Uniformity) मे विश्वास किये जाते हैं, इसका कारण यह
वह प्रकृति उनकी सामान्य जरूरतो को लगातार पूरा करती रहती है।

## अर्थ तथा प्रेषण

ऊपर की मान्यताएँ आवश्यक हैं, इसे सिद्ध करने के लिये हम शब्दो के अर्थ त
उन अर्थो के प्रेषण की समस्या पर विचार करेंगे। पशुओ से मनुष्य का एक व
भेद यह है कि वह यथार्थ जगत को प्रतीको के रूप में प्रकट या अनूदित कर लेता है
इस प्रक्रिया द्वारा मनुष्य की अपने अनुभवो को याद रखने और सगठित करने की शक्ति
बहुत ज्यादा बढ जाती है, उसके द्वारा उसकी सामाजिक सम्पर्क की क्षमता मे भी विशेप
वृद्धि होती है। मनुष्य द्वारा प्रयुक्त होने वाले सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक शब्द हैं। प्रतीको
का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग गणित में पाया जाता है। प्रतीको का रूप कुछ भी हो,
उनका प्रयोग वस्तुओ, गतियो तथा क्रियाओ, गुणो तथा सम्बन्धो को प्रकट करने के
लिये किया जाता है। एक दूसरी बात भी लक्षित करने की है। हम प्रतीको का
प्रयोग केवल उन्ही चीजो का सकेत करने के लिये नही करते जो हमारे सामने मौजूद
हैं, प्रतीको द्वारा हम अतीत वस्तुओ का भी सकेत करते हैं और उन सम्भाव्य स्थितियो
का भी जिनकी हम कल्पना करते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में हमारी समस्त स्थापनाएँ
(Hypotheses) तथा 'यदि' से शुरू होनेवाले वक्तव्य प्राय सम्भाव्य का निर्देश
करने वाले ही होते हैं। किसी भी प्रकार के प्रतीको के प्रयोग के सम्बन्ध में एक याद
रखने की बात यह है कि वे यथार्थ वस्तु या स्थिति के उन्ही पहलुओ को—फिर चाहे

दार्शनिक विश्लेषण एक मानसिक क्रिया है। इसका मतलब यह हुआ कि हम जिस चीज़ का विश्लेषण करते हैं वह तथ्य नही होती, वह एक या अनेक तथ्यो की, अथवा उनके एक या अनेक पहलुओ की, धारणा या प्रत्यय होता है। डॉ० स्टेबिंग ने एक जगह लिखा है : 'हमारी सम्मति में विश्लेष्य वस्तु तथ्य होती है।'[१०] किन्तु यह स्पष्ट है कि दार्शनिक भौतिक तथ्यो का विश्लेषण नही करता। मानसिक तथ्यों के सम्बन्ध में भी यही सही है, हम उनकी सामान्यीकृत धारणा का विश्लेषण करते है, न कि विशेष मन मे प्रतिफलित होने वाले अनुभवो का। सच यह है कि हमारी अनुभूतियाँ लगातार परिवर्तित होती रहती हैं, वे प्रवाह-रूप होती हैं, इसलिए उनका विश्लेषण नही किया जा सकता। हम वस्तुत. उन अर्थो (Meanings) का विश्लेषण करते है जो कि विशेष अनुभवो मे निहित समझे जाते हैं।

कुमारी एम्ब्रोज़ ने उस विश्लेषण के खिलाफ जिसका लक्ष्य स्पष्टीकरण है कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं। वह कहती हैं कि 'जब किसी शब्द का अर्थ सचमुच अस्पष्ट या धुंधला होता है, तब निकट परीक्षण करने मे हम उसके धुंधलेपन का ही पता पा सकेंगे।'[११] आगे वह कहती हैं 'यह अजीब है कि हम लगातार विश्लेषण करने का प्रस्ताव करते हैं, जब कि अस्पष्टता को दूर करने का सबसे सीधा तरीका यह है कि हम एक निश्चय कर ले।'[१२] कहने का तात्पर्य यह कि विश्लेषण करने के बदले विभिन्न क्षेत्रो के विचारकों तथा दार्शनिको को यह चाहिए कि वे किसी पद का अर्थ कृत्रिम रूप में निश्चित कर दे, जैसा कि गणित तथा भौतिक विज्ञानो मे किया जाता है। किन्तु मामला इतना सरल नही है। विज्ञानो मे वे क्रियाएँ तथा प्रक्रियाएँ जिनके द्वारा किसी प्रत्यय की परिभाषा की जाती है पहले से जानी हुई रहती हैं, वैज्ञानिको का काम सिर्फ इतना होता है कि वे उन क्रिया-प्रक्रियाओ को नया नाम दे दें। उसके बाद उस नाम या पद को उन क्रिया-प्रक्रियाओ द्वारा परिभाषित कर दिया जाता है। किन्तु दर्शन में इनसे विपरीत पद्धति का अवलम्ब लिया जाता है। यहाँ धारणाएँ या प्रत्यय प्राय: पहले से दिये रहते हैं, जैसे कि कार्य-कारण-सम्बन्ध, विरोध, कर्तव्य, सौन्दर्य, सद्गुण या साधुता आदि, और समस्या यह होती है कि उनके अर्थों को निश्चित कर दिया जाय। मनुष्यो को कुछ अनुभव होते हैं जिनके वर्णन के लिए वे कतिपय प्रत्ययो तथा कथनो का उपयोग करते हैं; दर्शन की समस्या यह होती है कि उन कथनों तथा वर्णनो को तर्कशास्त्र की दृष्टि से सुनिश्चित तथा सही बना दिया जाय। वस्तुत दर्शन जिन प्रत्ययो का विश्लेषण करता है, वे प्रत्यय आध्यात्मिक होते हैं। वे उत्कृष्ट

मनुष्य दूसरे से बात करना चाहता है, अथवा दूसरा पहले को समझना चाहता है, तो उन दोनों को उस प्रयोजन को पकडने की कोशिश करनी चाहिए जो बातचीत के मूल में है, दोनो को एक-दूसरे के शब्दो की व्याख्या उस प्रयोजन के सन्दर्भ में करनी चाहिए। प्रयोजन-मूलक सन्दर्भ को ही "वक्तव्य का क्षेत्र" (Universe of Discourse) भी कहते हैं। विभिन्न शब्दों का अर्थ नितान्त धुधला,अनिश्चित तथा अपरिच्छिन्न होता है, वक्ता तथा श्रोता का सामान्य प्रयोजन उस अर्थ को निश्चित और सीमित बना देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे वर्णनो अथवा प्रतीक-मूलक व्यजनाओ का अभिप्राय दो चीजो से निश्चित होता है प्रथमत हमारे वर्णित वस्तुओं के ज्ञान से, और दूसरे उन प्रयोजनो से जिनके लिये हम विभिन्न अवसरो पर उस ज्ञान का उपयोग करते हैं।

## दार्शनिक विश्लेषण

अब हम दार्शनिक विश्लेषण की समस्या की ओर लौटेंगे। दर्शन बोध-क्रिया के उन सामान्य रूपो का विश्लेषण करता है जो कि धारणाओ तथा कथनो के रूप में व्यक्त किये जाते हैं। एक धारणा अथवा प्रत्यय सरल भी हो सकता है और जटिल भी। सरल प्रत्यय का विश्लेषण नही हो सकता, यद्यपि उसकी व्याख्या हो सकती है, जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। 'या', 'और,' 'नही', आदि सरल प्रत्यय हैं। किसी जटिल प्रत्यय का विश्लेषण करने का अर्थ है उसे सरल प्रत्ययों में खडित करना, और उन सम्बन्धो के सकेत करना जो उन सरल प्रत्ययो के बीच पाये जाते हैं। यह प्रक्रिया जब तक चलती रहती है जब तक हम सरल प्रत्ययो तक न पहुँच जायें। सरल प्रत्यय उसे कहते हैं जिसका विषयभूत तत्व साक्षात् अनुभव की अपेक्षा से समझा जा सकता है। उदाहरण के लिये 'हरा' नामक प्रत्यय का अर्थ समझने का एक ही तरीका है, अर्थात अनुभव में आने वाले हरे पदार्थ की ओर सकेत कर देना। दूसरे शब्दो में हम कह सकते हैं कि 'हरा' शब्द की प्रत्यक्ष-मूलक व्याख्या या परिभाषा ही हो सकती है। इससे यह अनुगत होता है कि एक जन्मान्ध मनुष्य कभी भी 'हरा' शब्द का अर्थ नही समझ सकता। इसी प्रकार एक ऐसा व्यक्ति जिसने कभी दाँत के दर्द का अनुभव नही किया है, नही समझ सकता कि दाँत की पीडा का क्या अर्थ हो सकता है। ऐसे ही 'उसकी अपेक्षा बडा', 'बाई ओर', 'अमुक का विरोधी' आदि सम्बन्ध भी किसी-न-किसी प्रकार के साक्षात् अनुभव द्वारा ही समझे जा सकते हैं।

दार्शनिक विश्लेषण एक मानसिक क्रिया है। इसका मतलब यह हुआ कि हम जिस चीज़ का विश्लेषण करते हैं वह तथ्य नहीं होती, वह एक या अनेक तथ्यों की, अथवा उनके एक या अनेक पहलुओं की, धारणा या प्रत्यय होता है। डॉ० स्टेबिंग ने एक जगह लिखा है 'हमारी सम्मति में विश्लेष्य वस्तु तथ्य होती है।'[10] किन्तु यह स्पष्ट है कि दार्शनिक भौतिक तथ्यों का विश्लेषण नहीं करता। मानसिक तथ्यों के सम्बन्ध में भी यही सही है, हम उनकी सामान्यीकृत धारणा का विश्लेषण करते हैं, न कि विशेष मन में प्रतिफलित होने वाले अनुभवों का। सच यह है कि हमारी अनुभूतियाँ लगातार परिवर्तित होती रहती हैं, वे प्रवाह-रूप होती हैं, इसलिए उनका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। हम वस्तुत उन अर्थों (Meanings) का विश्लेषण करते हैं जो कि विशेष अनुभवों में निहित समझे जाते हैं।

कुमारी एम्ब्रोज़ ने उस विश्लेषण के ख़िलाफ़ जिसका लक्ष्य स्पष्टीकरण है कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं। वह कहती हैं कि 'जब किसी शब्द का अर्थ सचमुच अस्पष्ट या धुंधला होता है, तब निकट परीक्षण करने से हम उसके धुंधलेपन का ही पता पा सकेंगे।'[11] आगे वह कहती हैं 'यह अजीब है कि हम लगातार विश्लेषण करने का प्रस्ताव करते हैं, जब कि अस्पष्टता को दूर करने का सबसे सीधा तरीका यह है कि हम एक निश्चय कर लें।'[12] कहने का तात्पर्य यह कि विश्लेषण करने के बदले विभिन्न क्षेत्रों के विचारकों तथा दार्शनिकों को यह चाहिए कि वे किसी पद का अर्थ कृत्रिम रूप में निश्चित कर दें, जैसा कि गणित तथा भौतिक विज्ञानों में किया जाता है। किन्तु मामला इतना सरल नहीं है। विज्ञानों में वे क्रियाएँ तथा प्रक्रियाएँ जिनके द्वारा किसी प्रत्यय की परिभाषा की जाती है पहले से जानी हुई रहती हैं, वैज्ञानिकों का काम सिर्फ इतना होता है कि वे उन क्रिया-प्रक्रियाओं को नया नाम दे दें। उसके बाद उस नाम या पद को उन क्रिया-प्रक्रियाओं द्वारा परिभाषित कर दिया जाता है। किन्तु दर्शन में इससे विपरीत पद्धति का अवलम्ब लिया जाता है। यहाँ धारणाएँ या प्रत्यय प्रायः पहले से दिये रहते हैं, जैसे कि कार्य-कारण-सम्बन्ध, विशेष, कर्तव्य, सौन्दर्य, सद्गुण या साधुता आदि, और समस्या यह होती है कि उनके अर्थों को निश्चित कर दिया जाय। मनुष्यों को कुछ अनुभव होते हैं जिनके वर्णन के लिए वे कतिपय प्रत्ययों तथा कथनों का उपयोग करते हैं; दर्शन की समस्या यह होती है कि उन कथनों तथा वर्णनों को तर्कशास्त्र की दृष्टि से सुनिश्चित तथा सही बना दिया जाय। वस्तुत दर्शन जिन प्रत्ययों का विश्लेषण करता है, वे प्रत्यय व्याख्यात्मक होते हैं। वे उत्कृष्ट

मनुष्य दूसरे से बात करना चाहता है, अथवा दूसरा पहले को समझना चाहता है, तो उन दोनो को उस प्रयोजन को पकडने की कोशिश करनी चाहिए जो बातचीत के मूल में है, दोनो को एक-दूसरे के शब्दों की व्याख्या उस प्रयोजन के सन्दर्भ में करनी चाहिए। प्रयोजन-मूलक सन्दर्भ को ही "वक्तव्य का क्षेत्र" (Universe of Discourse) भी कहते हैं। विभिन्न शब्दो का अर्थ नितान्त धुंधला, अनिश्चित तथा अपरिच्छिन्न होता है, वक्ता तथा श्रोता का सामान्य प्रयोजन उस अर्थ को निश्चित और सीमित बना देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे वर्णनो अथवा प्रतीक-मूलक व्यजनाओ का अभिप्राय दो चीजो से निश्चित होता है प्रथमत हमारे वर्णित वस्तुओ के ज्ञान से, और दूसरे उन प्रयोजनो से जिनके लिये हम विभिन्न अवसरो पर उस ज्ञान का उपयोग करते हैं।

## दार्शनिक विश्लेषण

अब हम दार्शनिक विश्लेषण की समस्या की ओर लौटेंगे। दर्शन बोध-क्रिया के उन सामान्य रूपो का विश्लेषण करता है जो कि धारणाओ तथा कथनो के रूप में व्यक्त किये जाते हैं। एक धारणा अथवा प्रत्यय सरल भी हो सकता है और जटिल भी। सरल प्रत्यय का विश्लेषण नही हो सकता, यद्यपि उसकी व्याख्या हो सकती है, जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। 'या', 'और,' 'नही' आदि सरल प्रत्यय हैं। किसी जटिल प्रत्यय का विश्लेषण करने का अर्थ है उसे सरल प्रत्ययो में खडित करना, और उन सम्बन्धो के सकेत करना जो उन सरल प्रत्ययो के बीच पाये जाते हैं। यह प्रक्रिया जब तक चलती रहती है जब तक हम सरल प्रत्ययो तक न पहुँच जायें। सरल प्रत्यय उसे कहते हैं जिसका विषयभूत तत्व साक्षात् अनुभव की अपेक्षा से समझा जा सकता है। उदाहरण के लिये 'हरा' नामक प्रत्यय का अर्थ समझने का एक ही तरीका है, अर्थात अनुभव में आने वाले हरे पदार्थ की ओर सकेत कर देना। दूसरे शब्दो में हम कह सकते हैं कि 'हरा' शब्द की प्रत्यक्ष-मूलक व्याख्या या परिभाषा ही हो सकती है। इससे यह अनुगत होता है कि एक जन्मान्ध मनुष्य कभी भी 'हरा' शब्द का अर्थ नही समझ सकता। इसी प्रकार एक ऐसा व्यक्ति जिसने कभी दाँत के दर्द का अनुभव नही किया है, नही समझ सकता कि दाँत की पीडा का क्या अर्थ हो सकता है। ऐसे ही 'उसकी अपेक्षा बडा', 'बाई ओर', 'अमुक का विरोधी' आदि सम्बन्ध भी किसी-न-किसी प्रकार के साक्षात् अनुभव द्वारा ही समझे जा सकते हैं।

मूल्य वाले रूपों में इसलिये रखते हैं कि इस प्रकार उन पर कुछ नयी क्रियायें की जा सकें।

किन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा दार्शनिक विश्लेषण के विषय प्राय व्याख्यात्मक धारणाएँ या उत्सृष्ट प्रत्यय होते हैं। ये प्रत्यय गणित तथा भौतिकशास्त्र के प्रत्ययों की भाँति ज्ञात सम्बन्धों की सहायता से निर्मित नही होते; प्राय उनका उद्देश्य विभिन्न ऐसे तथ्यो की व्याख्या करना होता है जिनका हमे धुधला अनुभव ही होता है। उदाहरण के लिये कार्य-कारण-भाव की धारणा लीजिए।

क्या कार्य-कारण-सम्बन्ध को नियमित परम्परा (Regular Succession) मे परिणमित किया जा सकता है। अथवा क्या उसका अर्थ केवल नियमित साहचर्य (Regular Correlation) है? वैज्ञानिक के लिये यह सम्भव है कि वह कार्य-कारण भाव की कल्पना ऊपर के दो मे से किसी एक रूप मे कर ले, क्योंकि उसके अध्ययन का विषय वे घटनाएँ हैं जिन पर वह प्रयोगात्मक नियन्त्रण रखता है,और जिनके अस्तित्व को परीक्षा द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु दार्शनिक चिन्तन को केवल वही तक सीमित नही किया जा सकता जहाँ तक हमे व्यावहारिक सुविधा प्राप्त है। दार्शनिक को कार्य-कारण-सम्बन्ध के दूसरे उदाहरणों पर भी दृष्टि रखनी पड़ेगी, जैसे कि नैतिक और मनोवैज्ञानिक निर्धारण। दर्शन का काम एक ऐसे प्रत्यय की सृष्टि करना होगा जो उन विभिन्न उदाहरणों की परिपूर्ण व्याख्या कर सके। मतलब यह कि दार्शनिक प्रत्यय केवल अनुभूत तत्त्वो के योग मात्र को प्रकट नही करेगा, वैसा योग सम्भव भी नही है, क्योंकि विभिन्न कार्य-कारण-सम्बन्धो की स्थितियाँ एक-दूसरे से नितान्त भिन्न होती हैं। दर्शन वस्तुत अनुभूत तत्वो को इस प्रकार पुन सृष्ट एव ग्रथित करता है कि वे एक सम्बद्ध अवयवी (Connected Whole) का रूप धारण कर ले।

अभिप्राय यह है कि दार्शनिक विश्लेपण की क्रिया को दार्शनिक व्याख्या से अलग नहीं किया जा सकता। दर्शन में किसी प्रत्यय का विश्लेषण करने की क्रिया और एक व्याख्यात्मक प्रत्यय को निर्मित करने की क्रिया एक ही होती है। दार्शनिक प्रत्यय का लक्ष्य होता है अनुभव के किसी क्षेत्र का सफल चिन्तन, अथवा उस क्षेत्र के एक सफल चित्र की उद्भावना। ऐसा चित्र प्राप्त करने के लिये दार्शनिक को यह दिखला सकना चाहिए कि अनुभव का विशेप क्षेत्र एक आत्मसंगत समष्टि या अवयवी है।

प्रत्यय (Constructs) होते हैं, और उन्हें परिभापित करने का प्राय मतलव होता है उनकी उपयुक्तता का मडन करना। यह मडन केवल यह निश्चय कर लेने से प्राप्त नही हो जाता कि उन प्रत्ययो का प्रयोग निर्दिष्ट अर्थो में किया जाय।

विश्लेष्य तया विश्लेपक (वह वाक्य-समूह जिसके द्वारा विश्लेपण किया जाता है) में क्या सम्वन्ध होता है? श्री लैंगफोर्ड ने "विश्लेपण का विरोधाभास" का उल्लेख किया है, जिसका प्रतिपादन इस प्रकार किया जा सकता है। यदि विश्लेपक व्यजनाओ का वही अर्थ होता है जो कि उस शब्द-समूह का जो विश्लेष्य को प्रकट करता है, तो विश्लेपण द्वारा कोई नई बात नही कही जायगी, वल्कि केवल एक तादात्म्य को प्रकट किया जायगा, और इस प्रकार वह महत्वशून्य वन जायगा। किन्तु यदि दोनो ओर की व्यजनाएँ एक ही अर्थ प्रकट नही करती, तो विश्लेपण गलत हो जायगा।[११] इस पहेली का हल इस प्रकार है। समस्त विश्लेषण प्रयोजन-मूलक होता है। किसी प्रत्यय का विश्लेषण करने का अर्थ है, किसी प्रयोजन के लिये उसके अर्थ को निश्चित कर देना। इसका मतलब यह हुआ कि विश्लेष्य और विश्लेपक को एक खास प्रयोजन के लिये ही, एक विशेप सन्दर्भ में, तुल्य या समान माना जा सकता है। यदि हम विश्लेपक के अर्थ को इस प्रकार सीमित न करें तो हम पायेंगे कि 'अश्व', 'पृथ्वी' आदि किसी भी प्रत्यय का पूर्ण विश्लेपण नही किया जा सकता। यहाँ तक कि 'भाई' जैसे सरल प्रत्यय को भी यह कह कर विश्लेपित नही किया जा सकता कि उसका अर्थ "नर-लिंग का सहोदर" है।[१४] कारण यह है कि भाई शब्द के साथ तरह-तरह के अनुषग लगे हैं, जो उक्त विश्लेपक पदो में नही आ पाते। उक्त विश्लेपण केवल इस दृष्टि से सही है कि वह भाई नामक जीव की शारीरिक रचना (Anatomy) के बारे में कुछ जानकारी दे देता है।

गणित के प्रत्ययो के विश्लेपण से भी हमें केवल समानात्मक या एकात्मक (Identical) व्यजनाएँ नही मिलती। यह ठीक है कि १६+९=२०+५ किन्तु गणित की कुछ क्रियाएँ पहली व्यजना पर ही की जा सकती हैं, और कुछ केवल दूसरी पर। उदाहरण के लिये हम १६+९ को दो सख्याओ के वर्गों के रूप में अर्थात् $४^२+३^२$ के रूप में रख सकते हैं, २०+५ को इस प्रकार नही रख सकते। इसी प्रकार दूसरी व्यजना को हम ५ (४+१) के रूप में रख सकते है, पहली व्यजना को वैसे नही रख सकते। गणित की इन क्रियाओ की दृष्टि से उक्त दोनो व्यजनाएँ समानात्मक (Identical) नही हैं। वस्तुत गणित के क्षेत्र में व्यजनाओ को विभिन्न समान

उसके एकात्मक होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिये वेदान्ती ब्रह्म की धारणा को ईश्वर की धारणा से अलग करते हैं। इसी प्रकार ब्रेडले ने भी निरपेक्ष तत्व (Absolute) तथा ईश्वर में भेद किया है। ऐसे ही तर्कशास्त्री हेतु (Condition) तथा कारण मे अन्तर करते हैं। दूसरे, एक प्रत्यय की व्याख्या करने का अर्थ है उसका एक प्रत्यय-समष्टि मे स्थान निश्चित कर देना। हमारे विचार मे किसी वक्तव्य या कथन का विश्लेषण नही किया जा सकता, उसकी व्याख्या ही की जा सकती है। किसी कथन की व्याख्या करने का अर्थ है उसके द्वारा आक्षिप्त होने वाले अर्थों (Implications) को उद्घाटित कर देना; उसकी व्याख्या का दूसरा अर्थ हो सकता है एक कथन-समष्टि में उसका स्थान बता देना। किसी कथन का अर्थ निश्चित करने के लिये उसके अगभूत प्रत्ययो का विश्लेषण जरूरी होता है, और उस कथन के आक्षिप्त अर्थों को प्रकट करने के लिये उसकी व्याख्या की जरूरत होती है।

विश्लेषण तथा व्याख्या की क्रियाओ द्वारा दर्शन उस चीज की उपलब्धि करता है जिसे "प्रत्ययो की समष्टि" (Categorical System) की सजा दी गई है।[५] प्रत्यय-समष्टि से मतलब उन सम्बद्ध प्रत्ययो अथवा धारणाओ से है जो सास्कृतिक अनुभव के किसी क्षेत्र का सम्भव वर्णन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार का वर्णन यथार्थ के किसी क्षेत्र की व्यापक चेतना को प्रकट करता है, अर्थात् उस सास्कृतिक चेतना को जो कि किसी युग अथवा देश की विशेषता होती है। दर्शन की समन्वयात्मक क्रिया के सम्बन्ध मे हम आगे चर्चा करेंगे।

ऊपर हमने विश्लेषण के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया वह तर्क-मूलक भाववादियो के विश्लेषण-सम्बन्धी मत से भिन्न है। हमारे मत में विश्लेषण एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम सास्कृतिक चेतना मे प्रतिफलित यथार्थ के किसी क्षेत्र की रचना को मूर्त करते है। इसके विपरीत तर्कमूलक भाववादियो का विचार है कि विश्लेषण का यथार्थ की आन्तरिक रचना से कोई सम्बन्ध नही होता। उदाहरण के लिये श्री ए० जे० ऐयर ने दर्शन के कार्यो को समझाते हुए यह कहा है कि उनका काम परिभाषा देना है। एक प्रकार की परिभाषा कोष के अन्दर दी हुई होती है। वहाँ परिभाषित शब्द के बदले कुछ ऐसे प्रतीक रक्खे जाते है जो परिभाषित शब्द के प्रत्यय का काम कर सकें।[६] किन्तु इन प्रकार की पर्याय-मूलक परिभाषाएँ दार्शनिक परिभाषाएँ नही होती। अरस्तू ने कहा है कि परिभाषा में हमें दो चीजो का सकेत करना चाहिए, अर्थात् उस वर्ग का जिसमें परिभाषित वस्तु का स्थान है, और उन विशिष्ट धर्म

इस प्रकार दार्शनिक प्रत्यय प्राय वही काम करता है जो कि कोई व्याख्या-सूत्र या स्थापना। दार्शनिक व्याख्या का प्रारम्भिक रूप लक्षण या परिभापा होती है, उस परिभापा अथवा लक्षण-प्रत्यय को प्रत्ययो की एक समष्टि के वीच स्थापित कर देना ही व्याख्या का चरम रूप है।

किसी प्रत्यय का विश्लेपण हम एक दूसरे प्रयोजन मे भी कर सकते है, उसकी प्रामाणिकता अथवा उपयुक्तता की परीक्षा के लिये। दार्शनिक ब्रेडले ने आकाश, काल, कारण आदि का विश्लेषण इसी दृष्टि से किया है। दार्शनिक विश्लेपण का उचित लक्ष्य रचनात्मक होता है, अर्थात् व्याख्यात्मक प्रत्ययो का निर्माण करना, दूसरी कोटि का विश्लेपण दार्शनिक मूल्याकन का अग है।

वस्तुत किसी प्रत्यय का दार्शनिक विश्लेपण एक सहज कार्य नही है। इस विश्लेपण का अर्थ है, अनुभूत अनुभव-क्षेत्र की आन्तरिक रचना के सम्वन्ध में कल्पना करना। यह कल्पना एक प्रकार का निर्माण या स्थापना (Hypothetical Construction) होती है। दार्शनिक विश्लेषण का, विशेपत प्रथम कोटि के विश्लेपण का, यह लक्ष्य रहता है कि उक्त निर्माण को व्यवस्थित तथा आत्मसगत वना दे। इसीलिए हम कहते हैं कि किसी प्रत्यय के दार्शनिक विश्लेपण को उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के प्रयत्न से अलग नही किया जा सकता। जब हम कहते हैं कि एक दार्शनिक विश्लेषण सही है, तो उसका मतलब यह होता है कि हम विश्लेषित प्रत्यय को प्रामाणिक मानकर स्वीकार कर लें। उदाहरण के लिए कारणता, कर्तव्य आदि प्रत्ययो का सही विश्लेषण उनकी प्रामाणिकता की सिद्धि से भिन्न नही होगा। किन्तु जब हम निरपेक्ष तत्व (Absolute) जैसी धारणाओं के विश्लेषण को सही कहेंगे तो हमारा मतलव यह होगा कि वह विश्लेपण या परिभापा एक विशेष दर्शन-पद्धति, जैसे कि शकर, हीगल, या ब्रेडले की दर्शन-पद्धति की, अपेक्षा से ही सही अथवा प्रामाणिक है। एक परिभाषा अथवा विश्लेपण सार्वभौम रूप में प्रामाणिक तभी होगा जव वह हमारे अनुभव-क्षेत्र को व्यवस्थित रूप दे सकेगा। यहाँ हम पाठको को स्मरण दिलायें कि जिसे हमने सास्कृतिक अनुभूति कहा है, और जो कि कला, साहित्य आदि में अभिव्यक्ति पाती है, वह सार्वभौम रूप में प्रामाणिक होती है।

किसी प्रत्यय की व्याख्या करने का अर्थ है एक, उस प्रत्यय की उन दूसरे प्रत्ययो से समानता तथा विभिन्नता दर्शित करना जो उससे मिलते-जुलते है और इस प्रकार

उसके एकात्मक होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिये वेदान्ती ब्रह्म की धारणा को ईश्वर की धारणा से अलग करते हैं। इसी प्रकार ब्रेडले ने भी निरपेक्ष तत्व (Absolute) तथा ईश्वर मे भेद किया है। ऐसे ही तर्कशास्त्री हेतु (Condition) तथा कारण मे अन्तर करते है। दूसरे, एक प्रत्यय की व्याख्या करने का अर्थ है उसका एक प्रत्यय-समष्टि में स्थान निश्चित कर देना। हमारे विचार में किसी वक्तव्य या कथन का विश्लेपण नही किया जा मकता, उसकी व्याख्या ही की जा सकती है। किसी कथन की व्याख्या करने का अर्थ है उनके द्वारा आक्षिप्त होने वाले अर्थों (Implications) को उद्‍घाटित कर देना, उसकी व्याख्या का दूसरा अर्थ हो सकता है एक कथन-समष्टि मे उसका स्थान वता देना। किसी कथन का अर्थ निश्चित करने के लिये उसके अगभूत प्रत्ययो का विश्लेपण जरूरी होता है, और उस कथन के आक्षिप्त अर्थो को प्रकट करने के लिये उसकी व्याख्या की जरूरत होती है।

विश्लेपण तथा व्याख्या की क्रियाओ द्वारा दर्शन उस चीज की उपलब्धि करता है जिसे "प्रत्ययो की समष्टि" (Categorical System) की सज्ञा दी गई है।[५] प्रत्यय-समष्टि से मतलव उन सम्वद्ध प्रत्ययो अथवा धारणाओ से है जो सास्कृतिक अनुभव के किमी क्षेत्र का सम्भव वर्णन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार का वर्णन यथार्थ के किमी क्षेत्र की व्यापक चेतना को प्रकट करता है, अर्थात् उस सास्कृतिक चेतना को जो कि किसी युग अथवा देश की विशेपता होती है। दर्शन की समन्वयात्मक क्रिया के सम्वन्व में हम आगे चर्चा करेंगे।

ऊपर हमने विश्लेपण के सम्वन्व मे जो मत प्रकट किया वह तर्क-मूलक भाववादियो के विश्लेपण-सम्वन्वी मत से भिन्न है। हमारे मत मे विश्लेपण एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम सास्कृतिक चेतना में प्रतिफलित यथार्थ के किसी क्षेत्र की रचना को मूर्त करते हैं। इनके विपरीत तर्कमूलक भाववादियो का विचार है कि विश्लेपण का यथार्थ की आन्तरिक रचना से कोई सम्वन्व नही होता। उदाहरण के लिये श्री ए० जे० ऐयर ने दर्शन के कार्यों को समझाते हुए यह कहा है कि उसका काम परिभाषा देना है। एक प्रकार की परिभाषा कोप के अन्दर दी हुई होती है। वहां परिभाषित शब्द के वदले कुछ ऐसे प्रतीक रक्खे जाते है जो परिभाषित शब्द के प्रत्यय का काम कर सकें।[६] किन्तु इस प्रकार की पर्याय-मूलक परिभाषाएँ दार्शनिक परिभाषाएँ नहीं होती। अरस्तू ने कहा है कि परिभाषा में हमें दो चीजों का सकेत करना चाहिए, अर्थात् उस वर्ग का जिसमें परिभाषित वस्तु का स्थान है, और उन विशिष्ट धर्म

(Differentia) का जो परिभापित वर्ग की वस्तु को दूसरे उपवर्गो से भिन्न करता है। तर्कमूलक भाववादी के अनुसार अरस्तू की परिभापा दार्शनिक परिभापा नही होती। उक्त पद्धति के अनुसार परिभापा करने का अर्थ इस प्रकार है। किसी शब्द या प्रतीक को परिभापित करने का अर्थ उस वाक्य या कथन के वदले जिसमें वह शब्द पाया जाता है, ऐसे वाक्यो को रखना है जिनमें न तो वह शब्द पाया जाता है, और न उसका कोई पर्याय।[१७] मतलव यह है कि हम एक वाक्य या कथन को दूसरे वक्तव्यो तथा कथनो में इस प्रकार परिवर्तित करें कि वाद के कथनो में पूर्व कथनो में पाये जाने वाले पद अथवा प्रत्यय न रहें। उदाहरण के रूप में ऐयर ने वर्ट्रान्ड रसेल के "निश्चित वर्णन" (Definite Desription) के सिद्धान्त का उल्लेख किया है। रसेल ने यह वतलाने की कोशिश की है कि एक प्रकार के वाक्य अथवा व्यजनाएँ दूसरी कोटि के वाक्यो अथवा व्यजनाओ मे कैसे परिवर्तित की जायें। उदाहरण के लिये एक वाक्य लीजिए, 'गोल वृत्त का अस्तित्व सम्भव नही है।' दार्शनिक विश्लेपण की क्रिया से उक्त कथन को निम्न कथन में परिवर्तित किया जा सकता है 'कोई वस्तु ऐसी नही है जो वृत्ताकार भी हो और गोलाकार भी।' इसी प्रकार एक दूसरा वाक्य लीजिए 'मेघदूत के लेखक कालिदास हैं।' विश्लेपण करने पर इस वाक्य के वदले हमें निम्न वाक्य प्राप्त होगे 'सिर्फ एक व्यक्ति ने "मेघदूत" लिखा, और वह व्यक्ति कालिदास थे।' उक्त वाक्य का दूसरा विश्लेषण भी दिया गया है 'कभी कोई ऐसा व्यक्ति नही हुआ जिसने "मेघदूत" लिखा, लेकिन जो कालिदास नही था।'[१८] तर्कमूलक भाववादी के अनुसार दार्शनिक विश्लेपण करने वाले वाक्य या कथन वियोजक (Analytic) होते है, जिसका मतलव यह है कि वे हमें कोई नया ज्ञान न देकर विश्लेपित वाक्यो के आक्षिप्त अर्थो की ओर ही ध्यान आकृप्ट करते है। दार्शनिक वाक्य अनुभवात्मक (Empirical) न होकर वियोजक होते हैं।[१९]

उक्त मन्तव्य और उसके समस्त अतिवादी निष्कर्पो का प्रतिपादन कार्नैप ने किया है। उनके अनुसार दो प्रकार की भापा होती है, एक का विपय वस्तु-जगत होता है, और दूसरे का भापा-सम्वन्धी क्रम।[२०] उक्त दो भापाओ के अनुरूप ही दो तरह के अभिव्यक्ति-प्रकार है। एक प्रकार में हम वस्तुओ तथा तथ्यो पर प्रकाश डालते है, और दूसरे में पदो (Terms), व्यजनाओ तथा वाक्यो के तर्कात्मक अथवा आकारात्मक (Formal) सम्वन्ध को उद्घाटित करते है। विज्ञान की भापा वस्तुओ की भापा है, जो कि वस्तु-सत्यो के प्रति सकेत करती है। किन्तु दर्शन की अभिव्यक्ति-

प्रणाली दूसरी कोटि की है, वह भाषा-सम्बन्धी क्रम तथा उसके नियमो का अनुशीलन तथा प्रकाशन करती है। दर्शन का यह काम नही है कि वह हमे वस्तु-जगत के सम्बन्ध मे जानकारी दे। असली दर्शन मे वस्तु-जगत से सम्बन्ध रखने वाले कथन नही होते, उस दर्शन के वाक्य तर्कमूलक कथन (Logical Statements) होते है। तात्पर्य यह कि दर्शन का प्रमुख कार्य भाषा का तर्कात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है। कार्नेप का ऐसा मत है कि यह विश्लेषण पदो आदि के क्रम-नियमो (Syntax) के निर्देश-रूप ही होता है।[२१] उस विश्लेषण मे शब्दो के अर्थो का बिल्कुल ही विचार नही किया जा सकता, वहाँ केवल यह देखने की कोशिश की जाती है कि विभिन्न भाषाबद्ध व्यंजनाओ अथवा विभिन्न भाषा प्रतीको के पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडता है कि दर्शन का काम 'उन विभिन्न नियमो का, जिनका सम्बन्ध वाक्यो की रचना तथा कुछ वाक्यो को दूसरे वाक्यो से निष्कृष्ट करने की प्रणाली से है, उद्घाटन करना है।'[२२]

यह मन्तव्य गणित की प्रकृति से प्रेरणा लेता है। बीज गणित का (क+ख) (क—ख)=क²—ख² समीकरण सही होगा, बिना इस विचार के कि क और ख के मूल्य क्या है। उक्त समीकरण की प्रामाणिकता क और ख के विशेष मूल्यो पर निर्भर नही है, वह उन मूल्यो की निरपेक्ष है। इसलिये हम कह सकते है कि गणितशास्त्र केवल रूपाकार (Form) का विज्ञान है, जिसका काम कतिपय वर्गो के प्रतीको के रूपात्मक सम्बन्धो का उद्घाटन करना है। तर्कमूलक भाववादियो का विचार है कि इसी प्रकार दर्शन भी केवल उन नियमो की खोज करता है जिनके अनुसार एक कोटि के कथनो या वाक्यो को दूसरी कोटियो के कथनो या वाक्यो मे प्रामाणिकता के साथ परिवर्तित किया जा सकता है।

पहली दृष्टि मे ऐसा जान पड़ता है कि तर्कमूलक भाववादियो का मत हमारे अपने मत से विशेष भिन्न नही है। हम ने कहा था कि दर्शन का विषय साक्षात् अनुभूत वस्तुएँ न होकर, अनुभव-विशेष का चिन्तन है। अर्थात्, दार्शनिक चिन्तन वस्तुओ के बारे मे नही होता, और चूँकि दार्शनिक चिन्तन का विषय वस्तुएँ नही है इसलिए यह स्वाभाविक है कि दर्शन हमे वस्तु-जगत के सम्बन्ध मे कोई जानकारी न दे सके। किन्तु हमारे तथा तर्क-मूलक भाववादियो के मतो की यह समानता दिखाऊ चीज है, वास्तविक नही। यह ठीक है कि दर्शन का विषय विचार, अर्थात् प्रत्यय और कथन, होते है, किन्तु प्रत्ययो और कथनो को यथार्थ जगत से विच्छिन्न नही किया जा सकता।

जब हम कहते हैं कि दर्शन का काम चिन्तन प्रक्रिया पर मनन करना है, तो हमारा मतलब इतना ही है कि दर्शन साक्षात् वस्तु-जगत के स्वरूप का अन्वेषण नहीं करता। दर्शन या तो विभिन्न विज्ञानों द्वारा उत्सृष्ट प्रत्ययों की परीक्षा करता है, अथवा वह ऐसे व्याख्यात्मक सूत्रों को प्रस्तुत करता है जिनके द्वारा विभिन्न अनुभव-क्षेत्रों से सम्बद्ध प्रत्यय एकता को प्राप्त कर लें।

तर्कमूलक भाववाद की मान्यता की मुख्य कमजोरी यह है कि **यदि हम अर्थों की उपेक्षा कर दें तो प्रतीक प्रतीक नहीं रह जाते, और उनके बीच कोई तर्कमूलक सम्बन्ध नहीं हो सकता।** तर्कमूलक सम्बन्ध न तो ध्वनियों के बीच होता है और न कागज पर अंकित किये हुए चिन्हों के बीच। ऊपर बीज-गणित के जिस समीकरण का जिक्र किया गया वहाँ भी क और ख केवल संख्याओं को ही प्रकट कर सकते हैं, यद्यपि यह ठीक है कि वे किन्हीं खास संख्याओं को संकेतित नहीं करते। उदाहरण के लिये उक्त समीकरण में क और ख के स्थान पर हम 'मेज' और कुर्सी अथवा 'गाय' और 'अश्व' नहीं रख सकते। जैसा कि वाइल्ड और कावलिज ने कहा है 'यदि हम प्रतीकों को उनके अर्थों से विच्छिन्न करके अनुशीलन का विषय बनायें, तो वे प्रतीक नहीं रह जाते, अपितु विशुद्ध भौतिक चीजें बन जाती हैं।'[२३]

यह कहा गया है कि गणित 'विशुद्ध रूपाकारों का विज्ञान' है, और यह कि 'तर्कशास्त्र का लक्ष्य रूपाकारों को दर्शित करना है।'[२४] किन्तु यह समझना भूल होगी कि यथार्थ से विच्छिन्न होकर रूपाकार में किसी प्रकार का अर्थ रह जाता है। यह धारणा कि रूपाकार का वस्तुसत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं होता, रूपाकार की प्रकृति के अज्ञान का द्योतक है। यह आश्चर्य की बात है कि तर्कमूलक भाववादियों ने रूपाकार (Form) की महत्वपूर्ण धारणा का उचित विश्लेषण करने की कोशिश नहीं की है।

प्राय: रूपाकार का अर्थ प्रत्यक्ष दीखने वाली वह बनावट या रचना है जो किसी वस्तु के विभिन्न अवयवों के संगठन-क्रम में प्रतिफलित होती है। इसका यह मतलब नहीं कि रूपाकार केवल उसी वस्तु में हो सकता है जिसमें अवयव हैं। उदाहरण के लिये एक लोहे की सलाख में अवयव दिखाई नहीं देते, फिर भी उसका आकार अथवा रूपाकार होता ही है। यह भी जरूरी नहीं है कि एक जगह घेरने वाली वस्तु में ही रूपाकार हो, एक गीत या एक ऐतिहासिक घटना में भी रूपाकार होता है, यद्यपि ये चीजें देशगत नहीं होतीं।

दूसरा उदाहरण लीजिए। एक सीमेन्ट के प्लास्टरवाली दीवार चिकनी, चमकदार तथा चतुर्भुज के आकार की हो सकती है। प्रश्न है क्या ये सभी विशेषण दीवार के रूपाकार को लक्षित करते हैं, अथवा केवल अन्तिम विशेषण ही? कोई कारण नही है कि हम किसी वस्तु की ज्यामितीय (Geometrical) विशेषताओं तक ही रूपाकार को सीमित करें, और उसके दूसरे विशेषणों की उपेक्षा करें। जब हम किसी मनुष्य अथवा जानवर के आकार या आकृति का वर्णन करते हैं तो हम प्राय उसके रंग का उल्लेख भी करते हैं। सच यह है कि किसी चीज़ का वर्णन हमारे प्रयोजन द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिये एक लड़की का जो वर्णन किसी दर्ज़ी को सन्तुष्ट करेगा, वह उस लड़की के संभावित वर को सन्तुष्ट नही कर सकेगा। इसी प्रकार एक रसायन-शास्त्री द्वारा दिया हुआ युद्ध का वर्णन इतिहासकार के काम का नही होगा। रसायन-शास्त्री की दृष्टि में युद्ध एक प्रकार की घटनाओं का समूह है, इतिहासकार की दृष्टि मे दूसरे प्रकार की घटनाओं का। सम्भवत. रसायन-शास्त्री के लिये युद्ध का रूपाकार एक प्रकार का होता है, और इतिहासकार के लिये, तथा विरोधी देशों के इतिहासकारों के लिये, दूसरे-दूसरे प्रकारों का।

जिसे हम किसी घटना की आकृति या रूपाकार कहते हैं वह उसका वह पहलू होता है जिसमे हमारी अभिरुचि है। चूँकि हमारी रुचियाँ सामान्य होती है, इसलिये वस्तुओं की रूपाकार-सम्बन्धी विशेषताओं का सामान्य वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि वस्तु का कोई भी गुण उसका रूपाकार माना जा सकता है। तर्क-शास्त्री टॉम्सन ने लिखा है: 'रूपाकार से मतलब है चेतना के सम्मुख उपस्थित वस्तु को देखने का ढंग। जब हमारा ध्यान किसी वस्तु की ओर आकृष्ट होता है, तो हम स्वयं उस वस्तु को नही देखते, हम उसे अपनी पूर्वसिद्ध धारणाओं के आलोक मे देखते हैं। उदाहरण के लिये एक गरीब आदमी धनी व्यक्ति को सौभाग्यशाली के रूप में देखता है, एक धार्मिक-आध्यात्मिक व्यक्ति की दृष्टि मे धनी व्यक्ति वह है जो दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रलोभनों से घिरा है, तथा व्यापारी की दृष्टि में धनी व्यक्ति की विशेषता यह है कि ग्राहक-रूप में उसका प्रोत्साहन महत्वपूर्ण है।'[२१]

तो, किसी कथन का रूपाकार उसके अर्थ अथवा विषय-वस्तु से किस प्रकार भिन्न होता है? एक कथन प्राय दो प्रत्ययों के बीच सम्बन्ध अथवा सम्बन्धाभाव का निर्देश करता है, कथन या वाक्य का आकार या रूपाकार उस सम्बन्ध की गुणात्मक विशे-

जब हम कहते हैं कि दर्शन का काम चिन्तन प्रक्रिया पर मनन करना है, तो हमारा मतलब इतना ही है कि दर्शन साक्षात् वस्तु-जगत के स्वरूप का अन्वेषण नही करता। दर्शन या तो विभिन्न विज्ञानो द्वारा उत्सृष्ट प्रत्ययो की परीक्षा करता है, अथवा वह ऐसे व्याख्यात्मक सूत्रो को प्रस्तुत करता है जिनके द्वारा विभिन्न अनुभव-क्षेत्रो से सम्वद्ध प्रत्यय एकता को प्राप्त कर लें।

तर्कमूलक भाववाद की मान्यता की मुख्य कमजोरी यह है कि **यदि हम अर्थो की उपेक्षा कर दें तो प्रतीक प्रतीक नहीं रह जाते, और उनके वोच कोई तर्कमूलक सम्वन्ध नहीं हो सकता।** तर्कमूलक सम्वन्व न तो ध्वनियो के वीच होता है और न कागज पर अकित किये हुए चिन्हो के वीच। ऊपर वीज-गणित के जिस समीकरण का जिक्र किया गया वहाँ भी क और ख केवल सख्याओ को ही प्रकट कर सकते हैं, यद्यपि यह ठीक है कि वे किन्ही खास सख्याओ को सकेतित नही करते। उदाहरण के लिये उक्त समीकरण में क और ख के स्थान पर हम 'मेज' और कुर्सी अथवा 'गाय' और 'अश्व' नही रख सकते। जैसा कि वाइल्ड और कावलिज्ञ ने कहा है 'यदि हम प्रतीको को उनके अर्थों से विच्छिन्न करके अनुशीलन का विपय वनायें, तो वे प्रतीक नही रह जाते, अपितु विशुद्ध भौतिक चीजें वन जाती हैं।'[२३]

यह कहा गया है कि गणित 'विशुद्ध रूपाकारो का विज्ञान' है, और यह कि 'तर्कशास्त्र का लक्ष्य रूपाकारो को दर्शित करना है।'[२४] किन्तु यह समझना भूल होगी कि यथार्थ से विच्छिन्न होकर रूपाकार में किसी प्रकार का अर्थ रह जाता है। यह धारणा कि रूपाकार का वस्तुसत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं होता, रूपाकार की प्रकृति के अज्ञान का द्योतक है। यह आश्चर्य की वात है कि तर्कमूलक भाववादियो ने रूपाकार (Form) की महत्वपूर्ण धारणा का उचित विश्लेषण करने की कोशिश नही की है।

प्राय रूपाकार का अर्थ प्रत्यक्ष दीखने वाली वह बनावट या रचना है जो किसी वस्तु के विभिन्न अवयवो के सगठन-क्रम में प्रतिफलित होती है। इसका यह मतलव नही कि रूपाकार केवल उसी वस्तु में हो सकता है जिसमें अवयव हैं। उदाहरण के लिये एक लोहे की सलाख में अवयव दिखाई नही देते, फिर भी उसका आकार अथवा रूपाकार होता ही है। यह भी जरूरी नही है कि एक जगह घेरने वाली वस्तु में ही रूपाकार हो, एक गीत या एक ऐतिहासिक घटना में भी रूपाकार होता है, यद्यपि ये चीजें देशगत नही होती।

सम्बन्ध नही होता, कहने का मतलब यह है कि वह यथार्थ वस्तु-सत्ता आवश्यक रूप में मानवीय प्रयोजनो के अनुरूप देखी जाती है। वस्तु-सत्ता अपने को इस प्रकार देखने देती है, यह स्थिति आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकती है। लेकिन इसमे बहुत ज्यादा आश्चर्य की गुजाइश नही है। अन्तत मनुष्य को वस्तुसत्ता अर्थात् विश्व ने ही उत्पन्न किया है, और उस विश्व में उसकी सारी जरूरते पूरी होती रहती हैं। विश्व-ब्रह्माण्ड अथवा वस्तु-सत्ता मनुष्य की जरूरतो को पूरा करे यह भी उतने ही आश्चर्य की बात है। मनुष्य ब्रह्माण्ड को कैसे जान पाता है, इसका, अन्तिम विश्लेषण मे, यही उत्तर हो सकता है कि मनुष्य और वस्तु-जगत में एक प्रकार का आन्तरिक सामजस्य है, और मनुष्य वस्तु-जगत का एक आवश्यक कार्य या परिणाम है।

अब हम दर्शन की अन्तिम क्रिया की परीक्षा करे, अर्थात् उसके मूल्याकन-व्यापार की। दर्शन दो प्रकार का मूल्याकन करता है। प्रथमत दर्शन यह जानना चाहता है कि कोई सास्कृतिक क्रिया प्रामाणिक है अथवा नही। दूसरे, दर्शन यह निश्चित करना चाहता है कि किसी सास्कृतिक क्रिया का समस्त जीवन की अपेक्षा से क्या महत्व है। हम मूल्याकन के इन दो प्रकारो की अलग-अलग परीक्षा करेंगे।

दर्शन विज्ञान की धारणाओ का आलोचनात्मक विश्लेषण करता है, जब कि वह स्वय अपनी धारणाओ का रचनात्मक विश्लेषण करता है। वह विज्ञान के प्रत्ययो का विश्लेषण और मूल्यांकन इस दृष्टि से करता है कि उन्हें अपनी व्यापक प्रत्यय-समष्टि मे स्थान दे सके। उदाहरण के लिये दर्शन भौतिक शास्त्र के सहचार-सम्बन्ध (Correlation) के प्रत्यय की परीक्षा इस दृष्टि से कर सकता है कि उसे कार्य-कारण की अथवा पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की अधिक व्यापक धारणाओ के अन्तर्गत ला सके। प्राय दर्शन की रुचि विज्ञान के उन प्रत्ययो में होती है जिनका सम्बन्ध उनकी अन्वेषण-पद्धति और व्याख्या मे होता है। इसी प्रकार दर्शन को कला-सृष्टि के सामान्य रूप मे अभिरुचि होती है, उसे नैतिक और आध्यात्मिक जीवन मे भी अभिरुचि रहती है।

निष्कर्ष यह कि दर्शन सास्कृतिक चेतना के विभिन्न रूपो की सामान्य विशेषताओं का विश्लेषण और परीक्षा करता है। दर्शन का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि विभिन्न अनुभव-क्षेत्रो से सम्बद्ध विचारको के अवश्य-स्वीकृत मन्तव्यो (Postulates) और अन्वेषण-पद्धतियो मे सामजस्य स्थापित करे। यथार्थ की विभिन्न प्रतीकात्मक अभि-

पता का द्योतक होता है। उदाहरण के लिये निम्न वाक्यो में "क एक घोडा है", "क लाल है", "क ख से वडा है", क का दूसरे प्रत्ययो से भिन्न-भिन्न कोटियो का सम्वन्ध दिखलाया गया है। प्रत्येक वाक्य में एक ही उद्देश्य है, किन्तु प्रत्येक वाक्य उम उद्देश्य को भिन्न रोशनी में रखकर दर्शित करता है। मनुष्य वस्तुओ को विभिन्न दृष्टियो से देखता है। वे उसे विभिन्न रूपो मे रोचक जान पडती हैं। किन्तु वह एक ही वाक्य को अनेक अर्थों में नही ले सकता, कारण यह है कि वाक्य-निर्माण का एक ही उद्देश्य होता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि किसी वाक्य या कथन का रूप या रूपाकार निश्चित रूप मे मनुष्य की किसी रुचि या प्रयोजन से सम्वन्वित होता है। उदाहरण के लिये जव हम कहते हैं कि क ख से वडा है, तो हमारा उद्देश्य होता है क और ख की मात्रा-मूलक तुलना, यह तुलना या तो आकार को लेकर हो सकती है, अथवा सख्या को लेकर। इससे सिद्ध होता है कि ऐसा कोई रूपाकार नही है जिसका किसी-न-किसी यथार्थ से सम्बन्ध न होता हो। जिसे हम वाक्य या कथन का रूप अथवा कथन-रूप (Propositional Form) कहते हैं वह उस खास यथार्थ की ओर सकेत करता है, जिसका दिये हुए सन्दर्भ में, वक्ता के एक खास प्रयोजन से सम्वन्ध है। यह वक्ता के प्रयोजन पर निर्भर करता है कि एक खास मौके पर किसी विवर्त्तमान तत्त्व (Variable) को किस कोटि का मान (Value) दिया जाय। उदाहरण के लिये ऊपर के वाक्य में, अर्थात् इस वाक्य में कि क ख से वडा है, यह सम्भव नही है कि हम क के स्थान पर 'पीला' लिख दें और ख के स्थान पर 'भैंस' और यह कहें कि 'पीला' 'भैंस' से वडा होता है। यह कथन निरर्थक है, क्योकि, इस सन्दर्भ में, 'बडा' विशेषण का कोई ऐसा अर्थ नही है जिसका मानवीय प्रयोजन से सम्वन्ध हो।

एक वाक्य-रूप अथवा कथन-रूप (Propositional Form) उस ढग या दृष्टि की ओर सकेत करता है जिसके अनुसार किसी वस्तु को देखा जा रहा है, फलत वह रूप यह निर्धारित करता है कि उस वाक्य में किस प्रकार के उद्देश्यो तथा विधेयो को रक्खा जा सकता है। जव देखने का दृष्टिकोण और उससे सम्वन्धित कथन-रूप निश्चित होगे, तो वाक्य में प्रयुक्त प्रतीको तथा प्रत्ययो के सम्वन्ध भी निश्चित होगे, उन सम्वन्धो में से कुछ को पहले से (Apriori) जान लेना कठिन नही होगा। जिसे हम तर्कशास्त्रीय आवश्यकता (Necessity) कहते हैं उसका मूल मानव प्रयोजनो के व्यापृत होने के वे ढग हैं जो वस्तु-सत्ताओ की अपेक्षा से प्रकट होते हैं। इसका यह मतलव नही कि तर्कशास्त्रीय आवश्यकता का यथार्थ की प्रकृति से कोई

सम्बन्ध नही होता, कहने का मतलव यह है कि वह यथार्थ वस्तु-सत्ता आवश्यक रूप में मानवीय प्रयोजनो के अनुरूप देखी जाती है। वस्तु-सत्ता अपने को इस प्रकार देखने देती है, यह स्थिति आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकती है। लेकिन इसमे वहुत ज्यादा आश्चर्य की गुजाइश नही है। अन्तत मनुष्य को वस्तुसत्ता अर्थात् विश्व ने ही उत्पन्न किया है, और उस विश्व मे उसकी सारी जरूरतें पूरी होती रहती हैं। विश्व-ब्रह्माण्ड अथवा वस्तु-सत्ता मनुष्य की जरूरतो को पूरा करे, यह भी उतने ही आश्चर्य की वात है। मनुष्य ब्रह्माण्ड को कैसे जान पाता है, इसका, अन्तिम विश्लेपण मे, यही उत्तर हो सकता है कि मनुष्य और वस्तु-जगत में एक प्रकार का आन्तरिक सामजस्य हैं, और मनुष्य वस्तु-जगत का एक आवश्यक कार्य या परिणाम है।

अव हम दर्शन की अन्तिम क्रिया की परीक्षा करे, अर्थात् उनके मूल्याकन-व्यापार की। दर्शन दो प्रकार का मूल्याकन करता है। प्रथमत दर्शन यह जानना चाहता है कि कोई सास्कृतिक क्रिया प्रामाणिक है अथवा नही। दूसरे, दर्शन यह निश्चित करना चाहता है कि किसी सास्कृतिक क्रिया का समस्त जीवन की अपेक्षा से क्या महत्व है। हम मूल्याकन के इन दो प्रकारो की अलग-अलग परीक्षा करेंगे।

दर्शन विज्ञान की धारणाओ का आलोचनात्मक विश्लेपण करता है, जव कि वह स्वय अपनी धारणाओ का रचनात्मक विश्लेपण करता है। वह विज्ञान के प्रत्ययो का विश्लेपण और मूल्याकन इस दृष्टि से करता है कि उन्हें अपनी व्यापक प्रत्यय-समष्टि मे स्थान दे सके। उदाहरण के लिये दर्शन भौतिक शास्त्र के सहचार-सम्वन्ध (Correlation) के प्रत्यय की परीक्षा इस दृष्टि से कर सकता है कि उसे कार्य-कारण की अथवा पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की अधिक व्यापक धारणाओ के अन्तर्गत ला सके। प्राय दर्शन की रुचि विज्ञान के उन प्रत्ययो में होती है जिनका सम्वन्ध उनकी अन्वेपण-पद्धति और व्याख्या से होता है। इसी प्रकार दर्शन को कला-सृष्टि के सामान्य रूप मे अभिरुचि होती है, उसे नैतिक और आध्यात्मिक जीवन मे भी अभिरुचि रहती है।

निष्कर्ष यह कि दर्शन सास्कृतिक चेतना के विभिन्न रूपो की सामान्य विशेषताओ का विश्लेपण और परीक्षा करता है। दर्शन का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि विभिन्न अनुभव-क्षेत्रो से सम्बद्ध विचारको के अवश्य-स्वीकृत मन्तव्यो (Postulates) और अन्वेपण-पद्धतियो में सामंजस्य स्थापित करे। यथार्थ की विभिन्न प्रतीत्यात्मक अभि-

व्यक्तियो के सम्वन्ध मे, जिन्हें मानव-मस्तिष्क इकट्ठा कर लेता है, उस मस्तिष्क की वोधात्मक क्रिया को निर्विरोध अथवा आत्मसगत वनाना दार्शनिक चिन्तन का विशेप प्रयोजन है। दर्शन मानवीय चिन्तन को सुसम्वद्ध तथा सगत वनाने की ओर प्रयत्नशील रहता है। इस दृष्टि मे दर्शन इसका विचार करता है कि एक प्रतीकात्मक क्रिया से दूसरी प्रतीकात्मक क्रिया तक जाते हुए हमारी वुद्धि किस तरह विरोध या विसगति को वचाती हुई चले।

केवल सिद्धान्तो से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रो (Theoretical Disciplines) में हमारा विचार करने का ढग हमारी एक प्रकार के कथनो से दूसरे प्रकार के कथनो तक पहुँचने की क्रिया, हमारी अनुमान-प्रणाली, तर्कशास्त्र के नियमो द्वारा शासित होती है, किन्तु कविता ,सगीत आदि ललित कलाओ के क्षेत्र में एक अनुभव से दूसरे अनुभव अथवा अनुभव-खण्ड की ओर सक्रमण करने के नियम हमारी सौन्दर्य-सवेदना पर निर्भर होते है। वे तर्कशास्त्र के नियमो से भिन्न भी हो सकते है। एक श्रेष्ठ आलोचक अपनी सवेदना से यह जान लेता है कि किसी कविता या चित्र में दो भिन्न अनुभवो अथवा प्रतीको का सगठन उचित हुआ है अथवा नही, यद्यपि वह इस औचित्य को हमेशा नियमो के रूप में प्रकट नही कर पाता। हम पहले कह चुके है कि समीक्षा एक प्रकार की दार्शनिक क्रिया है। जिसे हम सौन्दर्य शास्त्र अथवा अलकारशास्त्र (Aesthetics) कहते है, वह दर्शन की ही एक शाखा है, जहाँ आलोचना-क्रिया के सामान्य नियमो अथवा सिद्धान्तो का निरूपण किया जाता है।

सौन्दर्य-दर्शन का काम केवल उन स्थितियो का अन्वेपण ही नही है जिनमें एक कलाकृति प्रामाणिक अथवा ग्राह्य वन जाती है, वह उन तत्वो का भी अन्वेपण करता है जो उस कलाकृति को महत्ता प्रदान करते है। सामान्य रूप में दर्शन जिसका विपय विविध मूल्य है, न केवल यह जानने की कोशिश करता है कि प्रामाणिकता कितने प्रकार की होती है, वल्कि यह भी कि महत्ता के कितने दर्जे होते है, और महत्व के हिसाव से विभिन्न मूल्यो अर्थात् महत्वपूर्ण जीवन-क्षणो को एक साध्य-साधन क्रम में किस प्रकार व्यवस्थित और सम्वद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार दर्शन केवल प्रामाणिकता की ही जाँच नही करता, वह यह भी जानने की कोशिश करता है कि जीवन में किन मूल्यो का कहाँ और क्या स्थान होना चाहिए।

हमने दर्शन के विभिन्न कार्यो का विवरण दिया। दर्शन के प्रथम दो कार्य विशुद्ध

रूप मे बौद्धिक तथा तर्क-मूलक होते है, वे बुद्धि-मूलक अन्तर्दृष्टि अथवा प्रतिभान (Rational Intuition) पर निर्भर करते हैं। जहाँ तक दर्शन विश्लेषण और व्याख्या करता है, वह मानवीय विद्याओ का अग है, और उनके वक्तव्यो की जाँच ठीक वैसे ही हो सकती है जैसे कि दूसरी मानवीय विद्याओ के कथनो की परीक्षा। जैसा कि हम बतला चुके है, मानवीय विद्याओ की अन्वेषण-विधि कल्पनात्मक विस्तार तथा कल्पना-मूलक सम्बन्ध-स्थापन द्वारा तादात्म्य की अनभूति है। इस विधि का उपयोग उन सब दशाओ मे किया जाता है जहाँ हम स्थापना तथा निगमन-मूलक तर्क-प्रणाली (Hypothetical-deductive Reasoning) से काम लेते है। दार्शनिक तर्कना के हर कदम पर हमे यह महसूस होना चाहिए कि वह निश्चयात्मक है। ऐसा महसूस करने की सम्भावना के मूल में क्या रहता है ? बात यह है कि दार्शनिक तर्कना मे हम उन अर्थो अथवा रूपाकारो के बारे मे सोचते हैं जिनका सम्बन्ध मानवीय प्रयोजनो से होता है और जिन्हे स्वय मनुष्य, अपनी आन्तरिक जरूरतो के कारण, बाह्य जगत पर निक्षिप्त कर देता है।

कल्पनात्मक विस्तार तथा सम्बन्ध-स्थापन की क्रियाओ द्वारा ही मानवीय मस्तिष्क जीवन की विभिन्न सम्भावनाओ के अपेक्षित महत्व का निर्धारण कर पाता है; उन सम्भावनाओ तथा उनके सापेक्ष या निरपेक्ष मूल्यो दोनो का बोध उक्त विधियो से ही होता है। अगले अध्याय मे, जहाँ हम नैतिक जीवन के आदर्शो की विभिन्नता तथा सापेक्षता का विचार करेंगे, इस विषय पर कुछ और रोशनी डाली जायगी।

## दर्शन की समन्वय-क्रिया

अब हम एक दूसरी समस्या उठायेगे। कहा जाता है कि दर्शन मे विभिन्न कोटियो के ज्ञानो का समन्वय किया जाता है। क्या यह ठीक है ? यदि हां, तो किस अर्थ में ? जैसा कि हमने सकेत किया प्राचीन विचारक प्राय यह मानते रहे है कि दर्शन समस्त ज्ञान का समन्वय करता है। आज भी कुछ विचारक इसे मानते हैं। उदाहरण के लिये डॉ० ब्रॉड ने लिखा है . 'दर्शन की कम-से-कम दो सम्भव क्रियाएँ है, जिन्हे मैं क्रमश समग्र-दर्शन (Synopsis) तथा समन्वय (Synthesis) कहूँगा। समग्र दर्शन का अर्थ है अनुभव के उन सब क्षेत्रो या पहलुओ को, जिन्हें साधारण लोग अलग-अलग रखते है, एक साथ करके देखना। समन्वय का अर्थ है ऐसे आत्म-सगत एव सम्बद्ध

प्रत्ययो (Coherent Set of Concepts) तथा सिद्धान्तो की उद्भावना जिनके द्वारा एकत्रित किये हुए समस्त तथ्य-क्षेत्रो को सन्तोपप्रद रूप मे समझा जा सके।'[२१]

हमे इसमें सन्देह है कि दर्शन कभी भी वैसे प्रत्यय तथा सिद्धान्त दे सकता है जिनका ब्रॉड ने उल्लेख किया है। ऊपर हमने स्पेन्सर के इस मत की समीक्षा की थी कि दर्शन पूर्णतया एकीकृत ज्ञान है, और उसका काम व्यापकतम सिद्धान्त-सूत्रो का अन्वेपण है। हम स्पेन्सर, स्पिनोज़ा, हीगल आदि की चिन्तन-पद्धति के कायल नही हैं। फिर भी इसमे सन्देह नही कि दर्शन, एक प्रकार से, समस्त ब्रह्माण्ड को अथवा समस्त अनुभव-जगत को एक साथ देखने की कोशिश करता है। हमारा कहना है कि इस प्रकार देखने में दर्शन का जो प्रयोजन होता है वह विज्ञान के प्रयोजन से भिन्न है। विज्ञान विभिन्न सत्ताओ के कारणो की खोज करता है, वह उन नियमो की खोज भी करता है जो विभिन्न घटनाओ को शासित करते हैं। इसके विपरीत दार्शनिक की रुचि उन अनुभवो तथा क्रियाओ में होती है जिनमे मूल्य निहित रहते हैं। वह अनुभव के विभिन्न क्षेत्रो का अन्वेषण इसलिये करता है कि उन जीवन-सम्भावनाओ का उद्घाटन कर सके जिनमें मनुष्य मूल्यो की उपलब्धि करता है। दार्शनिक की रुचि कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने में नही होती। दर्शन का इतिहास देखने से जान पडता है कि दार्शनिक लोग चरम कारण अथया परम तत्व को जानने का प्रयत्न करते रहे हैं, किन्तु असलियत यह है कि दर्शन अस्तित्व अथवा सत्ता के ऐसे रूप की खोज करता रहा है जिसे अनन्त मूल्य का अधिष्ठान माना जा सके। हमारा विचार है कि अतीत की अनेक वडी दर्शन-पद्धतियाँ इस वक्तव्य के आलोक में समझी जा सकती हैं। उदाहरण के लिये वेदान्त के ब्रह्म को ससार का कारण अथवा आदि कारण नही कहा जा सकता। वस्तुत वेदान्त के अनुसार कार्य-कारण-भाव की धारणा ब्रह्म पर लागू ही नही हो सकती, क्योकि ब्रह्म कूटस्थ और निर्विकार है, जिसमें कारणता नही रह सकती। दूसरे, वेदान्त यह मानता है कि यह जगत मायामय है और उसकी प्रतीति एक भ्राति है, ऐसी दशा में जगत की उत्पत्ति का प्रश्न ही नही उठता। सच यह है कि वेदान्त ने इस प्रश्न में कभी अभिरुचि नही ली कि इस दुनिया की उत्पत्ति अथवा सृष्टि कैसे हुई। उसकी अभिरुचि का मुख्य केन्द्र यह लक्षित कर देना रहा कि मोक्ष अथवा ब्रह्मभाव किसे कहते हैं, और उस दशा को साधक कैसे प्राप्त कर सकता है।[२०] वेदान्त का चरम तत्व वेदान्त के चरम श्रेय अथवा मोक्ष से भिन्न नही है, और उसकी प्राप्ति ही मानव-जीवन का परम ध्येय है।

इसी प्रकार कान्ट भी ईश्वर को आदि कारण से समीकृत नहीं करता। कान्ट के विचार में कारण की धारणा केवल व्यवहार-जगत में ही लागू होती है, उसे ईश्वर आदि अतीन्द्रिय पदार्थों पर लागू नहीं किया जा सकता। बौद्धों के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण है, निर्वाण उनका उच्चतम या निरपेक्ष तत्व भी है। माध्यमिक कारिका के प्रारम्भ में नागार्जुन ने निर्वाण का जो वर्णन दिया है वह कुछ वैसा ही है जैसा अध्यात्मवादी विचारकों द्वारा दिया हुआ ब्रह्म का वर्णन।[१८] किसी भी दशा में निर्वाण को आदि कारण से समीकृत नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार हीगल का निरपेक्ष प्रत्यय चेतना की सर्वोच्च दशा अथवा उसकी सर्वोच्च भूमिका को संकेतित करता है, यह समझना कठिन हो जाता है कि कैसे उसे विश्व का कारण अथवा उत्पत्तिकर्ता कहा जा सकता है।

दूसरी ओर जब प्राचीन विचारक इस जगत को मिथ्या अथवा अतात्विक कहते हैं, तो प्रायः उनका मतलब यह घोषित करना होता है कि इस दुनिया के सुख तथा ऐश्वर्य क्षणिक हैं, जिनमें स्थायी मूल्य नहीं रहता। उदाहरण के लिए प्लेटो के जाति-प्रत्ययवाद में गुफा के रूपक द्वारा यह बताने की कोशिश की गई है कि इस दुनिया की चीजें अर्थहीन या सारहीन छाया मात्र हैं, और हमें उनकी ओर से अपना मन हटाकर प्रत्यय-जगत की ओर लगा देना चाहिए। वेदान्त के इस सिद्धान्त की कि जगत मिथ्या है, ऐसी ही व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिए अद्वैतसिद्धि के एक टीकाकार श्री विट्ठलेशोपाध्याय ने लिखा है कि अद्वैत वेदान्त के जगत को मिथ्या घोषित करने का प्रयोजन यह है कि साधक में इस दुनिया की चीजों के प्रति वैराग्य की भावना उत्पन्न कर दी जाय। दुनिया के प्रति आसक्ति की भावना यह कहने से उतनी अच्छी तरह दूर नहीं होती कि यहाँ के सुख-भोग क्षणिक हैं, जितनी कि यह कहने कि दुनिया मिथ्या है।"[१९] यहाँ पाठक स्मरण रखें कि "अद्वैतसिद्धि" नामक ग्रंथ का प्रधान उद्देश्य जगत के मिथ्यापन की सिद्धि है। उक्त ग्रंथ से काफी पहले अपनी पुस्तक "श्लोकवार्तिक" में श्री कुमारिल ने विज्ञानवाद की समीक्षा करते हुए कहा था कि बुद्ध ने जब जगत को मिथ्या बतलाया, तो उनका उद्देश्य यह था कि लोगों में दुनिया की चीजों के प्रति वैराग्य उत्पन्न कर दें। कुछ लोगों ने भूल से इसका मतलब यह लगाया कि बुद्ध जी के अनुसार ज्ञान का बाह्य विषय होता ही नहीं।"[२०]

हमारा मत है कि दर्शन की एकीकरण तथा समन्वय-क्रिया का विषय जीवन के मूल्य हैं। मूल्य-विज्ञान होने के नाते ही दर्शन विभिन्न बोधों का एकीकरण अथवा

समन्वय करने की चेष्टा करता है। फिर भी हम इसे अस्वीकार नही करना चाहते कि वहुत से महत्वपूर्ण दार्शनिको ने अपने चिन्तन में दर्शन को एक वैज्ञानिक प्रयत्न के रूप में ही स्वीकार किया है, और दार्शनिक चिन्तन द्वारा वही काम करने की कोशिश की है जो कि विज्ञानो में किया जाता है। जैसे-जैसे विज्ञानो के क्षेत्र, उनकी सफलता तथा महत्व में वृद्धि होती गई है, वैसे-वैसे दार्शनिक विचारक इस वात पर ज़ोर देते आये हैं कि दर्शन को वैज्ञानिक विचार-पद्धतियो का अवलम्वन लेना चाहिए। यह वात आवुनिक योरपीय दर्शन की प्रगति पर विशेप रूप में लागू है।

किन्तु भौतिक विज्ञानो की प्रगति का तथा-कथित वैज्ञानिक दर्शन पर एक दूसरा प्रभाव भी पडा है, विज्ञान ने धीरे-धीरे तत्व-दर्शन की समस्याओ को उसके क्षेत्र से हटाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि तथा-कथित वैज्ञानिक दार्शनिक आज यह वतलाते हैं कि दर्शन का कार्य केवल विश्लेपण है। प्रो० ऐयर ने जान लॉक, वार्कले आदि का नाम यह दिखाने के लिये लिया है कि दर्शन मुख्यत विश्लेपण ही है। ऐयर का विचर है कि अधिकाश वडे दार्शनिको ने अधिकतर विश्लेपण ही किया है, वे तत्व-चिन्तक ( Metaphysicians ) नही थे।[11] उन्होने लॉक के "मानवीय प्रज्ञा पर एक निवन्ध" का हवाला देते हुए कहा है कि वह 'मुख्यत एक विश्लेपणात्मक ग्रथ है।'[12] ऐसा जान पडता है कि तथा-कथित वैज्ञानिक दर्शन को समन्वय से कोई मतलव नही है। तर्कमूलक भाववादियो के विचार में दर्शन के वक्तव्य तथ्य-मूलक नही होते, उनका विषय भापा के सम्बन्ध होते हैं, और इसलिये दर्शन तर्कशास्त्र का एक अग या विभाग है।[13]

उक्त मन्तव्य के विरुद्ध हम मानते हैं कि दर्शन कभी भी अपनी समग्र दृष्टि लेने की आदत को नही छोड सकता और न वह समन्वय-क्रिया से ही विरत हो सकता है। किन्तु भविष्य में दर्शन की उन क्रियाओ का उद्देश्य मनुष्य के सास्कृतिक जीवन की सम्भावनाओ को लक्षित करना ही होना चाहिए। दर्शन को यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि मनुष्य की सौन्दर्यमूलक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन-सम्भावनायें क्या हैं। अपनी सृजनशील प्रवृत्ति की प्रेरणा से मनुष्य अनवरत उच्चतम मूल्यो के लाभ की सम्भावनाओ का अन्वेपण करता रहता हैं। दर्शन का यह काम है कि इस अन्वेपण को व्यवस्थित प्रयत्न का रूप दे, और उसकी दिशा का निर्देश करे।

ब्रह्माण्ड के वीच मनुष्य का जीवन दो विरोधी माँगो का सघर्ष-केन्द्र वना रहता

है; एक ओर उसकी आग्नेय कल्पनाशक्ति की ऊँची माँगे है, और दूसरी ओर उसके चारो ओर फैली हुई वास्तविकता की नीरस माँगे या जरूरतें। मनुष्य एक पूर्ण जीवन की कल्पना करता है और उसे यथार्थ बनाने के लिये अपना सब कुछ दाँव पर लगा देता है। शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के अनेक नियमो की परवाह न करते हुए कुछ समझदार दीवानो ने "स्थितप्रज्ञ" के आदर्श की कल्पना की। आश्चर्य की बात है कि उनमें से कुछ उस आदर्श की उपलब्धि भी कर सके। ससार के प्रमुख कवियो ने यह कभी नही माना कि उनकी प्रियतमाएँ केवल हाड-मास की पुतलियाँ है, जिनकी मदद से कतिपय शारीरिक क्षुधाएं पूरी की जा सकती है। वे उनके व्यक्तित्वो मे लगातार अपरिमित सौन्दर्य का प्रक्षेप करते आये है। मनुष्य यह विश्वास रखता है। कि वह दुनिया को तथा अपने को बदल सकता है; इसलिये वह यह मानने मे इनकार करता है कि वह एक साधारण प्राणी है, दुनिया की असख्य चीजो मे एक, अथवा धरती के बहुत से प्राणियो में से एक। मनुष्य दर्शन का अवलम्बन इस आशा मे लेता है कि वह उस उच्च परिणति को लक्षित कर सकेगा जहाँ पहुँचने की हम आशा करते या कर सकते हैं।

हमारे इन वक्तव्यो का सम्बन्ध जीवन तथा जीवन की अनुभूति के विभिन्न स्तरो या धरातलो की उस कल्पना से है जिनका हम पिछले किसी अध्याय में उल्लेख कर आये हैं। जो व्यक्ति जितने ही बुद्धिमान तथा सवेदनशील होते है, वे याथार्थ के उतने ही अधिक विस्तार को छू कर जीवित रहना चाहते है, और विश्व-ब्रह्माण्ड से उतनी ही अधिक माँगें करते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक युग मे अधिक सवेदनशील तथा मेधावी मनुष्य अपने को दार्शनिक प्रश्नो से उलझते पाते है। इस प्रकार के लोग धरती के साधारण जीवन मे सन्तुष्ट नही हो पाते।

फिलासफी या दर्शन उस आन्तरिक बेचैनी की अभिव्यक्ति है जो एक उच्च कोटि के मस्तिष्क और सशक्त कल्पना मे निहित होती है, उन आत्माओं में जो अपने को विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करना चाहती है। इस प्रकार की आत्माएँ साधारण सफलताओ तथा उपलब्धियो से सन्तुष्ट नही होती। वे अपने सामने ऊँचे लक्ष्यो को रखती हैं, और यह जानने की कोशिश भी करती है कि उन लक्ष्यो तक किस तरह पहुँचा जा सकता है। वे दर्शन की ओर आकृष्ट होती है, क्योकि दर्शन का प्रमुख कार्य जीवन की उच्चतम सम्भावनाओ का निरूपण करना है, उन सम्भावनाओ का जिन्हें यथार्थ बनाना सम्भव है। मनुष्य यह चाहता है कि उसका उक्त सम्भावनाओ

समन्वय करने की चेष्टा करता है। फिर भी हम इसे अस्वीकार नही करना चाहते कि बहुत से महत्वपूर्ण दार्शनिको ने अपने चिन्तन में दर्शन को एक वैज्ञानिक प्रयत्न के रूप में ही स्वीकार किया है, और दार्शनिक चिन्तन द्वारा वही काम करने की कोशिश की है जो कि विज्ञानो में किया जाता है। जैसे-जैसे विज्ञानो के क्षेत्र, उनकी सफलता तथा महत्व में वृद्धि होती गई है, वैसे-वैसे दार्शनिक विचारक इस बात पर ज़ोर देते आये हैं कि दर्शन को वैज्ञानिक विचार-पद्धतियो का अवलम्बन लेना चाहिए। यह बात आधुनिक योरपीय दर्शन की प्रगति पर विशेष रूप में लागू है।

किन्तु भौतिक विज्ञानो की प्रगति का तथा-कथित वैज्ञानिक दर्शन पर एक दूसरा प्रभाव भी पडा है, विज्ञान ने धीरे-धीरे तत्व-दर्शन की समस्याओ को उसके क्षेत्र से हटाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि तथा-कथित वैज्ञानिक दार्शनिक आज यह बतलाते हैं कि दर्शन का कार्य केवल विश्लेषण है। प्रो० ऐयर ने जान लॉक, बार्कले आदि का नाम यह दिखाने के लिये लिया है कि दर्शन मुख्यत विश्लेषण ही है। ऐयर का विचर है कि अधिकाश बडे दार्शनिको ने अधिकतर विश्लेषण ही किया है, वे तत्व-चिन्तक ( Metaphysicians ) नही थे।[११] उन्होने लॉक के "मानवीय प्रज्ञा पर एक निबन्ध" का हवाला देते हुए कहा है कि वह 'मुख्यत एक विश्लेषणात्मक ग्रथ है।'[१२] ऐसा जान पडता है कि तथा-कथित वैज्ञानिक दर्शन को समन्वय से कोई मतलब नही है। तर्कमूलक भाववादियो के विचार में दर्शन के वक्तव्य तथ्य-मूलक नहीं होते, उनका विषय भाषा के सम्बन्ध होते हैं, और इसलिये दर्शन तर्कशास्त्र का एक अग या विभाग है।[१३]

उक्त मन्तव्य के विरुद्ध हम मानते हैं कि दर्शन कभी भी अपनी समग्र दृष्टि लेने की आदत को नही छोड सकता और न वह समन्वय-क्रिया से ही विरत हो सकता है। किन्तु भविष्य में दर्शन की उन क्रियाओ का उद्देश्य मनुष्य के सास्कृतिक जीवन की सम्भावनाओ को लक्षित करना ही होना चाहिए। दर्शन को यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि मनुष्य की सौन्दर्यमूलक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन-सम्भावनायें क्या हैं। अपनी सृजनशील प्रवृत्ति की प्रेरणा से मनुष्य अनवरत उच्चतम मूल्यो के लाभ की सम्भावनाओ का अन्वेषण करता रहता है। दर्शन का यह काम है कि इस अन्वेषण को व्यवस्थित प्रयत्न का रूप दे, और उसकी दिशा का निर्देश करे।

ब्रह्माण्ड के बीच मनुष्य का जीवन दो विरोधी मांगो का सघर्ष-केन्द्र बना रहता

है; एक ओर उसकी आग्नेय कल्पनाशक्ति की ऊँची माँगे है, और दूसरी ओर उसके चारो ओर फैली हुई वास्तविकता की नीरस माँगे या जरूरते। मनुष्य एक पूर्ण जीवन की कल्पना करता है और उसे यथार्थ बनाने के लिये अपना सब कुछ दाँव पर लगा देता है। शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के अनेक नियमो की परवाह न करते हुए कुछ समझदार दीवानो ने "स्थितप्रज्ञ" के आदर्श की कल्पना की। आश्चर्य की बात है कि उनमे से कुछ उस आदर्श की उपलब्धि भी कर सके। ससार के प्रमुख कवियो ने यह कभी नही माना कि उनकी प्रियतमाएँ केवल हाड-मास की पुतलियाँ है, जिनकी मदद से कतिपय शारीरिक क्षुधाए पूरी की जा सकती है। वे उनके व्यक्तित्वो में लगातार अपरिमित सौन्दर्य का प्रक्षेप करते आये है। मनुष्य यह विश्वास रखता है। कि वह दुनिया को तथा अपने को बदल सकता है, इसलिये वह यह मानने से इनकार करता है कि वह एक साधारण प्राणी है, दुनिया की असख्य चीजो मे एक, अथवा धरती के बहुत से प्राणियो मे से एक। मनुष्य दर्शन का अवलम्बन इस आशा मे लेता है कि वह उस उच्च परिणति को लक्षित कर सकेगा जहाँ पहुँचने की हम आशा करते या कर सकते है।

हमारे इन वक्तव्यो का सम्बन्ध जीवन तथा जीवन की अनुभूति के विभिन्न स्तरो या धरातलो की उस कल्पना से है जिनका हम पिछले किसी अध्याय मे उल्लेख कर आये है। जो व्यक्ति जितने ही बुद्धिमान तथा सवेदनशील होते है, वे याथार्थ के उतने ही अधिक विस्तार को छू कर जीवित रहना चाहते है, और विश्व-ब्रह्माण्ड से उतनी ही अधिक माँगें करते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक युग में अधिक सवेदनशील तथा मेधावी मनुष्य अपने को दार्शनिक प्रश्नो से उलझते पाते है। इस प्रकार के लोग धरती के साधारण जीवन से सन्तुष्ट नही हो पाते।

फिलासफी या दर्शन उस आन्तरिक बेचैनी की अभिव्यक्ति है जो एक उच्च कोटि के मस्तिष्क और सशक्त कल्पना में निहित होती है, उन आत्माओ में जो अपने को विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करना चाहती है। इस प्रकार की आत्माएँ साधारण सफलताओ तथा उपलब्धियो से सन्तुष्ट नही होती। वे अपने सामने ऊँचे लक्ष्यो को रखती है, और यह जानने की कोशिश भी करती है कि उन लक्ष्यो तक किस तरह पहुँचा जा सकता है। वे दर्शन की ओर आकृष्ट होती है, क्योकि दर्शन का प्रमुख कार्य जीवन की उच्चतम सम्भावनाओ का निरूपण करना है, उन सम्भावनाओ का जिन्हे यथार्थ बनाना सम्भव है। मनुष्य यह चाहता है कि उसका उक्त सम्भावनाओ

का अन्वेषण प्रामाणिक तथा सही हो, एक भुलावा मात्र न हो। इसलिये दर्शन मनुष्य की समस्त सार्थक अनुभूतियो तथा विज्ञानो की समस्त साक्षी को बटोर कर विश्व का एक सम्पूर्ण चित्र खीचने की कोशिश करता है, और उस चित्र की अपेक्षा में जीवन की सम्भावनाओ का निरूपण करता है।

मनुष्य की उस कल्पना को जो इस प्रकार का चित्र खीचती है हम दार्शनिक कल्पना कह सकते हैं। सास्कृतिक दृष्टि से तत्व-दर्शन का मुख्य उपयोग यह है कि वह मनुष्य की बोध-कल्पना तथा मूल्य-कल्पना को अधिकाधिक उत्प्रेरित करे। दार्शनिक क्रियाओ के महत्व को हृदयगम करने का एक तरीका यह है कि हम थोडी देर को यह सोच लें कि दर्शन का अभाव हो गया। दर्शन का अभाव होने का मतलब यह है कि मनुष्य की दार्शनिक प्रकृति अथवा दार्शनिक ढग से देखने की और सोचने की वृत्ति लुप्त हो गई। उस दशा में निम्न कोटि की पहेलियाँ बूझने या हल करने की कोशिश करने वालो का अभाव हो जायगा मनुष्य प्रतीको की मदद से ऐसे दुरूह तथा जटिल सम्बन्धो की कल्पना कर लेता है कि जिन तक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा नही पहुँचा जा सकता, मानवीय व्यवहार की अपेक्षा में भौतिकशास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के अधिक व्यापक नियम उतने प्रभावशाली नही होते जितने कि मनोविज्ञान, अर्थ-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, आदि के नियम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी एव नैतिक प्रेरणाएँ, उदाहरण के लिये मनुष्य किसी से प्रेम करने लगता है इसलिए नही कि उस पर भौतिकशास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के सामान्य नियमो का शासन है, बल्कि इसलिए कि उसके मन में बुद्धि, भावना, नैतिक व्यवहार आदि की कतिपय विशेषताओ के प्रति पक्षपात है। यदि दार्शनिको का अस्तित्व न हो तो कोई उस बडी विषमता को नहीं देखेगा जो ब्रह्माण्ड की अपेक्षा में मनुष्य की क्षुद्रतम स्थिति तथा उसकी भयकर आकाक्षाओ एव प्रेरणाओ के बीच पाई जाती हैं। दर्शन हमारे सामने अणु तथा विराट जगत के असख्य रूपो को उपस्थित करता है, जीवन की अनगिनत सम्भावनाओ एव दृष्टियो की उद्भावना करता है, और जीवन तथा जगत के असख्य सम्बन्धो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रकार दर्शन हमें जीवन की क्षुद्र स्थितियो से ऊपर उठाकर विश्व-ब्रह्माण्ड की हलचल के केन्द्र में स्थापित कर देता है। दूसरी कोई भी विद्या, ग्रह-नक्षत्र-विषयक खगोलशास्त्र और सूक्ष्म जीवो का अध्ययन करने वाला प्राणिशास्त्र भी, हमारे मन में विस्मयपूर्ण आनन्द की वैसी व्यापक भावना नही जगा सकते जैसी कि दर्शन जगाता है। दर्शन हम में जो चेतना उत्पन्न करता है वह जीवन

को उच्चतम कोटि की तृप्ति देती है। खगोल-शास्त्र तथा प्राणि-शास्त्र के पडित अपने यत्रो द्वारा विपुल एवं विध सत्ताओ का साक्षात्कार करते हैं, लेकिन उनकी सम्बद्धता में जीवन की आवेगात्मक सभावनाओ का जैसा अनुभव दर्शन मे मिलता है वैसा उक्त विज्ञानो मे नही। इस दृष्टि से देखने पर दर्शन कला के उच्चतम रूपो का समकक्ष जान पडता है। बौद्धिक अन्वेषण के क्षेत्र में दर्शन का वही स्थान है जो कलाओ में कविता का। उन लोगो को जिनकी प्रकृति प्रधानतया बौद्धिक है, दर्शन से वैसे भी आनन्द मिलता है जैसे कि आवेगात्मक प्रकृति के लोगो को कविता से। यही कारण है कि तर्कमूलक भाववाद जैसे सिद्धान्त दार्शनिक चिन्तन को बुद्धि-जगत से वैसे ही निर्वासित नही कर सकते जैसे कि प्लेटो राज्य से कविता को निर्वासित नहीं कर सका।

यह लक्षित करने की बात है कि दर्शन जिन तथ्यो तथा सम्बन्धो का निरीक्षण करता है उनका निरीक्षण किसी दूसरे विज्ञान मे नहीं होता। दार्शनिक निरीक्षण का समावेश इन्द्रियो के प्रत्यक्ष मे नही हो सकता। इसीलिये दार्शनिक वक्तव्यो की परीक्षा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा नही की जा सकती। यह कहना भी सही नही है कि दर्शन के वक्तव्य या कथन तर्कशास्त्रीय वक्तव्य या कथन होते हैं, जिनका लक्ष्य भाषा-प्रतीको अथवा वाक्यो के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है। ऊपर हमने जिन कथनो के उदाहरण प्रस्तुत किये उनका अर्थ तथा अभिप्राय मानवीय रुचियो एव प्रयोजनो के व्यापक सदर्भो में ही जाना जा सकता है।

इन विचारणाओ से हम अर्थवत्ता अर्थात् वाक्यो अथवा कथनो के अर्थवान होने की उपयुक्त पहचान प्राप्त कर सकते है। वह कोई भी वाक्य या कथन सार्थक होता है जिसका मानवीय रुचियो तथा मानवीय कल्पना की जरूरतों के अनुरूप कोई मतलब है। इस परिभाषा के अनुसार केवल कथन ही सार्थक नही होते बल्कि प्रश्न और आदेश तथा विधि-निषेध भी सार्थक एव बुद्धिगम्य हो जाते हैं। उक्त अर्थ तथा मत मे सब प्रकार के वक्तव्य, फिर चाहे वे स्थिति-बोधक (Categorical) हो अथवा सापेक्ष (Hypothetical), वे उपन्यास आदि साहित्य के वाक्य हो अथवा ऐतिहासिक कृतियो के वाक्य, सार्थक समझे जाने चाहिएँ।

जैसा कि हमने ऊपर कहा, विभिन्न क्षेत्रो से सम्बन्ध रखने वाले वक्तव्यो में तर्क-शास्त्रीय सम्बन्ध नही हो सकते। लेकिन चूँकि विभिन्न वक्तव्य-क्षेत्र सभी मानवीय प्रयोजनो से सम्बन्धित होते हैं—उन प्रयोजनो से जो एक ही मानव व्यक्तित्व में पाये

पूर्ण चित्र के भाग बन सकें। श्रोडिन्जर वतलाते है कि किसी भी सम्वन्ध में मनुष्य जिन प्रयोगो को कर सकता है उनकी सख्या बहुत वडी होती है, इस वडी सख्या मे से थोडे ही प्रयोगो को हम वस्तुत कर पाते हैं। उन थोडे किये हुए प्रयोगो के वल पर हम यथार्थ की बनावट के सम्वन्ध में कल्पना करते हैं। यह कल्पना कितनी कम निश्चयात्मक होती है यह समझने के लिये इस वात पर ध्यान देना चाहिए कि कोई एक भी नया प्रयोग, ऊपर के उदाहरण में तस्वीर के एक नये टुकडे की भाँति, हमारी पुरानी व्याख्यात्मक योजना को पूर्णतया वदल दे सकता है। तस्वीर के प्रत्येक नये टुकडे की भाँति प्रत्येक नया प्रयोग, यथार्थ की रचना के वारे में, हममें नयी कल्पना जगाता है। मानव मस्तिष्क यह प्रयत्न करता है कि सम्पूर्ण उपलब्ध प्रयोगात्मक तथ्यो के आधार पर वह यथार्थ जगत का ऐसा चित्र वनाये जो अपने मे सगत हो, लेकिन वास्तविक अनुभव तथा प्रयोगो पर किसी प्रकार की रोक नही लगायी जा सकती, भविष्य के प्रयोग हमारे सामने कुछ भी उपस्थित कर सकते हैं। इसलिये भौतिकशास्त्र के सामान्य कथन कभी पूर्णतया सत्य नही होते, वे पूर्ण या चरम सत्य होने का दावा कर ही नही सकते।

मानवीय विद्याओ के दृष्टिकोण और निष्कर्ष भी वदलते रहते हैं, किन्तु यहाँ परिवर्तन का दूसरा कारण होता है। मानवीय विद्याओ का विषय एक ऐसा यथार्थ है, अर्थात् मानव जीवन और इतिहास, जो कभी पूर्णतया निर्मित या सिद्ध नही होता, वल्कि लगातार विस्तार और जटिलता में वढता रहता है। जैसे ही एक नया महत्वपूर्ण उपन्यास लिखा जाता है, अथवा एक नई सामाजिक व्यवस्था, चुनाव तथा शासन के एक नये रूप की, कल्पना की जाती है, अथवा विश्व के या विश्व सम्बन्धी चिन्तन के वारे में एक नये सिद्धान्त का निरूपण किया जाता है, वैसे ही मानव-जीवन का स्वरूप वदल जाता है। उदाहरण के लिये गेटे का 'फाउस्ट', टॉलस्टाय की 'एनाकेरीनिना' जैसी कृतियाँ तथा जनतत्र एव तानाशाही जैसे शासन के रूप, मानवीय व्यवहार तथा प्रेरणाओ की नवीन सम्भावनाओ का उद्घाटन ही नही करते, उनमें वृद्धि भी कर देते हैं।

हमने वतलाया कि भौतिकशास्त्रो की रूपरेखाएँ वदलती रहती हैं, और मानवीय विद्याएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। चूंकि दर्शन की विषय-वस्तुएँ शास्त्र तथा विद्याएँ हैं, इसलिये यह अनिवार्य है कि दर्शन भी बदलता रहे। किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि दार्शनिक चिन्तन भौतिक शास्त्रो तथा मानवीय विद्याओं से अधिक

परिवर्तनशील हैं। वस्तुत अपनी प्रकृति मे दर्शन भौतिक विज्ञानो की अपेक्षा कलाओ तथा साहित्य के ज्यादा निकट है। इसलिये दर्शन मे होनेवाले परिवर्तन कला-साहित्य में होने वाले परिवर्तनो से ज्यादा उग्र नही होते। वस्तुत कला-साहित्य मे होने वाले परिवर्तन उतना उनके पुराने रूपो को बदल नही देते, जितना कि उनमे नये रूपो को जोडकर वृद्धि कर देते हैं। इसलिये यह घोषित करना कि दर्शन अथवा तत्व-दर्शन एक वन्ध्या विद्या है जिसके अन्वेषको मे आपस मे सदैव मतभेद रहा है और जिनमे ऐतिहासिक अविच्छिन्नता का अभाव है, उचित नही है। मूल्यो के सामान्य विज्ञान के रूप में, अर्थात् एक ऐसी विद्या के रूप में जिसका काम विभिन्न मूल्यो का अध्ययन करना है, दर्शन के इतिहास मे उतनी ही अविच्छिन्नता मिलेगी जितनी कि किसी दूसरे शास्त्र के इतिहास मे। इसका प्रमाण यह है कि हम आज भी प्राचीन विचारको के तर्कशास्त्र से सम्बन्धित ही नही, बल्कि सौन्दर्य, नैतिकता और अध्यात्म से सम्बन्धित विवेचनो को भी, रसपूर्वक पढते और समझ पाते हैं।

## सकेत और टिप्पणियाँ

१. हर्बर्ट स्पेन्सर, फर्स्ट प्रिन्सिपिल्स, तृतीय संस्करण, (विलियम्स और नार्गेट, लन्दन, १८७५), पृ० १३१, १३२, १३३।

२. दे० इन्टरनेशनल एन्साइक्लोपीडिया आव् यूनीफाइड सायन्स, भाग १, अंक १, आटो न्यूराय का लेख पृ० १९, और आर० कारनेप का लेख, पृ० ५२-५८।

३. वही, पृ० ३४।

४. वही, पृ० ४९।

५. प्रोसीडिंग्ज आफ दी एरिस्टाटोलियन सोसायटी, सप्लीमेंटरी वाल्यूम १९, १९४५, एफ० वैजमैन का पर्चा, पृ० १३१।

६. अरस्तू, मैटाफिजिक्स, बुक ए (१)

७. आर० जी० कालिंगवुड, दी आइडिया आव् हिस्टरी, (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४६), भूमिका पृ० १।

८. यह बात सब प्रकार की समीक्षा-मूल्यांकन की क्रियाओ पर लागू है। कला और साहित्य साक्षात् अनुभव-जगत से सम्बन्धित रहते है और वहाँ से सामग्री प्राप्त करते हैं; इसके विपरीत समीक्षा और सौन्दर्य-शास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध अनुभव से हो, यह जरूरी नहीं है। समीक्षा मुख्यतः कला की प्रभविष्णुता और आन्तरिक संगति की जांच करती है; सौन्दर्यशास्त्र अथवा कला-मीमांसा उक्त प्रभाव और संगति के

स्वरूप का अन्वेषण करती है। ऐसा ही अन्तर नैतिकजीवन और नीतिशास्त्र में है। दर्शन की अपेक्षा विज्ञानो—सामाजिक और भौतिक—का अनुभव-जगत से निकटतर सम्बन्ध होता है।

९. दे० सी० के० ऑगडेन और आई० ए० रिचर्ड्स, द मीनिंग ऑव् मीनिंग, (कीगन पाल, १९२७), पृ० १०-१२।

१०. प्रोसीडिंग्ज़ आव् एरिस्टाटीलियन सोसायटी, नई सीरीज़ भाग ३३, १९३२-३३; एल्० एस्० स्टैबिंग का पर्चा, द मैथड आव् एनेलिसिस इन मैटाफिजक्स, पृ० ८२।

११. दे० फिलॉसिफिकल एनेलिसिस, सपादक मैक्स ब्लैक, (कारनेल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५०) कु० एलिस एम्ब्रोस का पर्चा, द प्राब्लेम आव् लिंग्विस्टिक इन्एडीक्वेसी, पृ० २६।

१२ वही, पृ० २७।

१३. द फिलासफी आव् जी० ई० मूर, (द लायब्रेरी आव् लिविंग फिलासफर्स, १९४२), पृ० ३२३।

१४. प्रो० मूर का उदाहरण वही, पृ० ६६४-६५।

१५. दे० पार्सन्स और शिल्ज टुवर्ड ए जेनरल थियरी ऑव् एक्शन, पृ० ५०।

१६. लैंग्वेज, ट्रुथ, ऐन्ड लाजिक, पृ० ५९।

१७. वही, पृ० ६०।

१८. वही, भूमिका, पृ० २६।

१९. वही, पृ० ६१, २३।

२० वीनबर्ग, एन एग्जामीनेशन ऑव् लाजिकल पॉज़िटिविज्म, पृ० २३२।

२१. टुएन्टिएथ सेंचुरी फिलॉसफी, सपादक डी० डी० रयून्स, (फिलॉसफिकल लायब्रेरी, न्यूयार्क, १९४३), लाजिकल एम्पीरिसिज्म, पृ० ३७८।

२२. वही।

२३. फिलासफी ऐन्ड फिनामिनालॉजिकल रिसर्च, भाग ८, अंक ४, जून, १९४८ श्री जान वाइल्ड और जे० एल० काब्लिज का पर्चा, आन द डिस्टिंक्शन बिट्वीन दी एनेलिटिक ऐन्ड द सिन्थेटिक, पृ० ६६२।

२४. एल्० एस्० स्टेबिंग, ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टु लॉजिक, प्रस्तावना।

२५. आउटलाइन आव् लॉज आव् थाट से एच० केल्डरवुड द्वारा वाकेबुलरी आव् फिलासफी में उद्धृत पृ० १९३-९४।

२६ सी० डी० ब्रॉड, फिलासफी ऐन्ड साइकीकल रिसर्च, (रतलेज ऐन्ड कीगन पाल, लन्दन, १९५३), पृ० ८

२७. शंकर कहते हैं: 'सृष्टि की आख्यायिका, क्रम आदि के ज्ञान से कोई लाभ नहीं; आत्मैक्य के ज्ञान से मुक्ति मिलती है, यह तो श्रुतियों की प्रसिद्ध बात है।' ऐतरेय उपनिषद्, अध्याय २, भूमिका।

२८. वर्णन इस प्रकार है: 'निरोधहीन, उत्पादहीन, नाशहीन अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, आगमनहीन, निर्गमहीन', इत्यादि।

२९. दे० न्यायामृताद्वैतसिद्धी, सपादक अनन्तकृष्ण शास्त्री, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, १९३४, भूमिका पृ० ७७।

३०. कुमारिल, श्लोकवार्तिक, (विवलिओथिका इन्डिका संस्करण, कलकत्ता १९०३), पृ० १४८, श्लोक २०२।

३१. लैंग्वेज, ट्रुथ ऐन्ड लाजिक, पृ० ५२।

३२. वही।

३३. वही, पृ० ५७।

# अध्याय ७

## नीति-धर्म या आचार-नीति

सम्भवत ससार में कोई ऐसा सामान्य-वुद्धि-सपन्न मनुष्य, स्त्री या पुरुप, नही है जो नैतिक भेदो को प्रकट करने वाले शब्दो का व्यवहार नही करता। जहाँ मनुष्य वातचीत करता है वहाँ समाज होता है, और समाज का अस्तित्व आवश्यक रूप मे नैतिक मूल्याकन के अस्तित्व से सहचरित है। कहने का तात्पर्य यह है कि नैतिकता का अनुभव सब मानवीय समाजों की एक सार्वभौम विशेपता है। अतएव, हमें यह जानकर आश्चर्य नही होना चाहिये कि सभ्य समाजो के दार्शनिक तथा सामाजिक विचारक नैतिक प्रश्नो को विशेप महत्व देते आये हैं, यद्यपि नैतिक समस्याओ का सचेत अनुचिन्तन, व्यक्तियो तथा समाजो दोनो के जीवन में, अपेक्षाकृत विलम्ब से शुरू होता है। वे समाज जो अपेक्षाकृत ज्यादा उन्नत हैं अपने नैतिक पक्षपातो को सुचिन्तित नैतिक मन्तव्यो के रूप में प्रतिपादित करने की कोशिश करते हैं, और फिर उन्हें कानूनी धाराओ के रूप में निबद्ध करते हैं। इसी प्रकार वे कलाकार और दार्शनिक जो प्रौढता के स्तर पर पहुँच चुके हैं नैतिक समस्याओ के महत्व से परिचित होने लगते हैं। वैसे ही धर्म-साधना अथवा अध्यात्म भी अपेक्षाकृत उन स्त्री-पुरुपो को रुचिकर विपय लगता है जिनकी अवस्था पक चुकी है और जिनकी अनुभूति प्रौढ वन चुकी है।

मनुष्य अपनी प्रकृति से प्रेरित होकर ही नैतिक तथा दूसरी वैसी समस्याओ पर विचार करते हैं। अक्सर मनुष्य के हृदय में परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ उदित होती हैं, और उसकी विभिन्न इच्छाएँ उसे विभिन्न दिशाओ में चलने की प्रेरणा देती हैं। इसके फलस्वरूप मनुष्य को एक या दूसरे रास्ते को पसन्द करना पडता है। एक विचार-शील प्राणी होने के नाते मनुष्य उन सिद्धान्तो की जानकारी प्राप्त कर लेना चाहता है जो उसकी पसदो के पीछे छिपे रहते हैं। मनुष्य की शक्तियाँ और उसके साधन सीमित होते हैं। फलत वह दुनिया की सब चीजो को चाहने पर भी नहीं

पा सकता। इसलिये उसे विभिन्न लक्ष्यो तथा विभिन्न कोटियो के सुखो मे से चुनाव करना पड़ता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक बुद्धिमान होता है वह अपने जीवन को उतना ही अधिक महत्व देता है, और अपनी इच्छाओ, सकल्पो आदि के सम्बन्ध मे उतना ही अधिक सोचता है। मनुष्य चाहता है कि वह अपने प्रयत्नो तथा शक्तियो को उचिततम दिशा में लगाये और अपने जीवन को अधिक-से-अधिक सफल अथवा समुन्नत करे। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसमे स्वप्न देखने और आशाएँ जगाने की अनन्त क्षमता है, जैसे ही वह एक लक्ष्य तक पहुँच जाता है, वैसे ही एक ज्यादा ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये व्याकुल होने लगता है। साथ ही मनुष्य चाहता है कि वह जीवन के चरम लक्ष्य या गन्तव्य को अपनी कल्पना मे पूर्णतया प्रत्यक्ष कर ले, जिससे उसके प्रयत्न, जीवन भर, निश्चित दिशा में अग्रसर होते रहे।

मनुष्य अपने जीवन के मूल्यो को समझना चाहता है, इसका मतलब यह है कि वह अपने जीवन की विभिन्न सम्भावनाओ से सुपरिचित हो जाना चाहता है। मनुष्य स्वभावत आशावादी होता है, किन्तु थोड़े ही अनुभव के बाद उसे यह पता चल जाता है कि वह दुनिया मे हरेक चीज नही पा सकता, उसे यह भी पता हो जाता है कि हर चीज पाने योग्य नही है। जैसे-जैसे उसकी जिन्दगी का अनुभव बढ़ता जाता है, वह यह महसूस करने लगता है कि उसे अपनी पसन्दो के बारे मे अधिक सतर्क होना चाहिए, और अपनी प्रवृत्तियो पर अधिक नियत्रण भी रखना चाहिए। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसके जीवन मे कष्ट, विफलता तथा मनोरथ-भग के अनुभव न आते हो। अधिक-से-अधिक चतुर, शक्तिमान तथा भाग्यशाली व्यक्ति के जीवन मे भी इस प्रकार के अनुभवो के अवसर आते है, और तब वह विचार करने लगता है कि सफल जीवन-यापन के नियम क्या है, और जीवन का अर्थ तथा लक्ष्य क्या है। मनुष्य की नैतिक तथा धार्मिक खोज, अन्तिम विश्लेषण में, जीवन-विवेक की खोज है। मनुष्य यह जानना चाहता है कि जीवन को उचित ढग से चलाने या व्यतीत करने का मार्ग कौन-सा है।

जब तर्क-मूलक भाववादी यह कहते है कि नीति-शास्त्र अथवा आचार-विज्ञान का अस्तित्व शास्त्र के रूप मे सम्भव नही है, तब वे केवल यह नही कहते है कि हमारे नैतिक निर्णय वस्तुत कथन या वक्तव्य नही होते। इस प्रश्न मे तो कदाचित् दार्शनिको को ही रुचि हो सकती है। वे विचारक वस्तुत एक ज्यादा महत्व की चीज की सम्भावना से इनकार करते है, अर्थात् इस सम्भावना से कि जीवन को सुचारु रूप से चलाने की

कोई विद्या या कला हो सकती है। बीसवी सदी के नरनारी प्राय बेचैनी तथा बौद्धिक उलझन का जीवन व्यतीत करते हैं। हमारे युग के मनुष्य के पास सभी चीजे है, केवल एक को छोडकर, उसके पास केवल जीवन-विवेक का ही अभाव है, जिसकी मदद से वह उचित ढग से जीवन विता सके। जीवन के सम्वन्ध में हमारी नासमझी इतनी अधिक वढ गई है कि हम इसकी आवश्यकता भी महसूस नही करते कि जीवन-विवेक नाम की कोई चीज होनी चाहिए, और उसकी सम्भावना से भी इनकार करते हैं।

आज के मनुष्य की परेशानियो का असली स्रोत है, उसका यह अन्वेपण कि हमारे नैतिक मूल्य आपेक्षिक होते हैं। अर्थात् चरित्र की अच्छाई-बुराई के बारे में हम जो सम्मतियाँ देते हैं, उसके निर्णय में जिन पैमानो का प्रयोग करते है, वे आपेक्षिक हैं। इतिहास के तथा समकालीन विभिन्न समाजो में, जिनका इतिहास के अन्वेपको तथा नर-विज्ञान ने पता चलाया है, चरित्र की अच्छाई-बुराई के सम्वन्ध में भिन्न-भिन्न मन्तव्य पाये जाते हैं। फलत उन सभी मन्तव्यो के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हो जाती है। तर्क-मूलक भाववादी इस अविश्वास की भावना को शास्त्रीय रूप दे देते हैं।

नैतिक पैमानो की सापेक्षता यह सिद्ध करती जान पडती है कि नैतिक मूल्य तथा पैमाने वस्तुनिष्ठ नही हैं, इसका मतलब यह होता है कि वे यथार्थ अथवा विश्वसनीय नही हैं। अपनी एक पुस्तक "आचार-दर्शन में तर्क-वुद्धि का स्थान' मे श्री टूलमिन ने यह प्रतिपादित किया है कि श्रेयत्व (Goodness) अथवा नैतिक अच्छाई (Rightness) को न तो सरल कोटि का गुण माना जा सकता है और न जटिल कोटि का गुण, वस्तुत श्रेयत्व तथा अच्छाई, अथवा उनके विपरीत चीजें, गुण हैं ही नही। लालिमा एक सरल गुण है जो कि सव दीखने वाले लाल पदार्थो में पाया जाता है, किन्तु जिन्हें हम अच्छा कार्य कहते हैं उनमे कोई ऐसा गुण नही पाया जाता जो सव को दिखाई दे। उदाहरण के लिये 'नम्रता का व्यवहार' तथा 'अपना ऋण चुकाना' नामक क्रियाओ मे कोई ऐसा सामान्य गुण नही है जिसकी प्रतीति हो सके। उन दोनो व्यवहारो को अच्छा कहा जायगा, लेकिन उन दोनो में कोई ऐसा सामान्य धर्म या गुण नही पाया जाता जिसे हम नैतिक अच्छाई का नाम दे सके। गुण दो प्रकार के होते हैं। सरल गुण वे हैं जिनकी ओर सकेत किया जा सकता है, अर्थात् जिनका अस्तित्व उन चीजों के सकेत द्वारा जिनमे वह गुण पाया जाता है, दर्शित किया जा सकता है। जिसे हम नैतिक अच्छाई कहते हैं उसे इस प्रकार सकेत से दर्शित नही किया जा सकता। अव

एक जटिल गुण का उदाहरण लीजिये। "रेखा-गणित की इस 'पॉलिगान' (अनेक भुज नक्ल) मे २५७ भुजाये है।" यह गुण सीधे देखने पर प्रकट नही होता, किन्तु एक विशेष पद्धति का प्रयोग करने पर उसकी उपस्थिति का बोध हो सकता है। यह विशेष पद्धति गणना या गिनती है। किन्तु मानवीय व्यवहारो की अच्छाई-बुराई का निर्णय करने के लिए ऐसी किसी पद्धति का निर्देश नही किया जा सकता। इससे श्री टूलमिन यह निष्कर्ष निकालते है कि अच्छाई-बुराई को एक गुण नही मानना चाहिए, और उन्हे वस्तुनिष्ठ यथार्थ मानकर नही चलना चाहिए।[1]

उक्त धारणाओ के विरुद्ध यहाँ हम यह प्रतिपादित करेगे कि अच्छाई तथा श्रेष्ठता गुण है, शायद वे जटिल गुण है जिन्हे एक विशेष पद्धति द्वारा जाना जा सकता है। मतलब यह है कि हमारा मन्तव्य टूलमिन के मत का विरोधी है।

पहले हमे यह समझ लेना चाहिए कि प्रश्न क्या है। प्रश्न यह नही है कि अच्छाई अथवा श्रेयत्व एक ऐसा गुण है या नही जो वस्तुनिष्ठ रूप मे दिखाई देता है, प्रश्न यह है कि यदि श्रेयत्व अथवा अच्छाई वैसा गुण हो, तब उन असख्य मतभेदो की व्याख्या कैसे होगी जो कि विभिन्न समाजो की नैतिक मान्यताओ मे पाये जाते है? सक्षेप में, आज के युग में नीति-शास्त्र की मुख्य समस्या यह है कि नैतिक मान्यताओ के सम्बन्ध मे जो असख्य मतभेद पाये जाते है उनकी नैतिक मूल्याकन की वस्तुनिष्ठता से कैसे सगति बिठायी जाय।

यहाँ हम पाठको का ध्यान उन कतिपय निष्कर्षो की ओर आकृष्ट करेगे जिन पर पिछले अध्यायो मे पहुँचा जा चुका है। प्रथमत मानव व्यवहार, जहाँ तक वह व्यवहार मानवीय क्रियाओ के अध्ययन का विषय होता है, भौतिक गतिरूप नही होता, उन क्रियाओ मे मानव-व्यवहार विभिन्न अर्थों के वाहक के रूप में परीक्षा का विषय होता है। यहाँ 'अर्थ' से मतलब उन चीजो से है जिन्हे मनुष्य 'साध्य' अथवा 'साधन' के रूप मे मूल्यवान समझता है। मानव-व्यवहार मे अनुस्यूत अर्थ या तो लक्ष्य रूप होता है अथवा लक्ष्यो की ओर ले जाने वाला साधन-रूप, उन अर्थों मे पाया जाने वाला मूल्य भावात्मक भी हो सकता है और निषेधात्मक भी। दूसरे, यदि ये अर्थ अथवा मूल्य गुण है, तो वे आवश्यक रूप से आपेक्षिक होगे। इसका मतलब यह हुआ कि वस्तुओ, घटनाओ अथवा चरित्रो मे अनुस्यूत मूल्य, गुणो की तादात्म्य प्रकृति के अनुसार, दूसरी चीजो की अपेक्षा से ही वर्तमान अथवा अस्तित्ववान

होते हैं। उदाहरण के लिये हम उस कर्म अथवा चरित्र को अच्छा कहेंगे जो वाछनीय परिणाम उत्पन्न करता है। इसी प्रकार किसी स्थिति की श्रेष्ठता उस चेतना की सापेक्ष होती है जो उसका अनुभव करती है, कालिदास या भास का एक नाटक शिक्षित मनुष्य की सवेदना की अपेक्षा से महत्वपूर्ण या मूल्यवान होता है, पशुओ तथा पत्थरों के लिए उसका कोई मूल्य नही होता।

उक्त मन्तव्य के कतिपय क्रान्तिकारी परिणाम हैं, जिन पर हमें ध्यान देना चाहिए। वस्तुओ की लालिमा जैसी सरल विशेषता भी उस आंख की रचना की सापेक्ष होती है जो उसे देखती है। जिस आँख में शकु (Cones) उपस्थित होते हैं और आंख के पर्दे पर उचित रूप में वितरित होते हैं, वही लालिमा को देख सकती है। यदि विभिन्न जन्तुओ की आँखो के पर्दो की रचनाएँ भिन्न-भिन्न हो, तो तथा-कथित लाल वस्तुएँ अलग-अलग रगो वाली प्रतीत होगी। इस कल्पना का आधार यह तथ्य है कि सामान्य मनुष्यो तथा वर्णान्ध मनुष्यो के चाक्षुप प्रत्यक्षो में अन्तर होता है।

ऊपर हमने वाह्य प्रत्यक्षो की बात की, अर्थात् उन प्रत्यक्षो की जिनका सम्वन्ध इन्द्रियो से होता है। किन्तु अर्थो के प्रत्यक्षीकरण मे वुद्धि तथा सौन्दर्य की सवेदना का भी हाथ रहता है। इसलिये ये प्रत्यक्ष बौद्धिक तथा दूसरी कोटि के उस प्रशिक्षण पर भी निर्भर करते हैं जो किसी व्यक्ति को मिला है। उदाहरण के लिये गणित के एक समीकरण का एक ऐसे व्यक्ति के लिये कोई महत्व नही होता जिसने गणित का अध्ययन नही किया है। वैसे ही अखवार देखकर एक शिक्षित राजनीति या कूटनीति का विद्यार्थी जिन अर्थो का प्रत्यक्ष करता है, उनका प्रत्यक्ष एक साधारण मनुष्य को नही हो सकता। जहाँ यह सम्भव है कि हम 'पॉलिगान' की भुजाओ की गणना करने के लिये एक निश्चित पद्धति का निर्देश कर दें, वहाँ यह सभव नही है कि कोई व्यक्ति गणित तथा भौतिकशास्त्र की लम्बी-चौडी जानकारी के बिना आइन्स्टाइन के कतिपय मन्तव्यो का ठीक-ठीक अभिप्राय समझ लें। उसी प्रकार कालिदास तथा शैक्सपियर की कृतियो में पाये जाने वाले सौन्दर्य का ठीक आभास लेने के लिये यह अनिवार्य है कि पाठक को साहित्य का रस लेने की समीक्षात्मक शिक्षा मिली हो। मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में कोई व्यक्ति तव तक विभिन्न सम्वन्धो तथा प्रभावो को ग्रहण नही कर सकता, जब तक उसमें कल्पनात्मक तादात्म्य स्थापित करने की विकसित क्षमता न हो। यद्यपि मूल रूप में यह क्षमता सभी मनुष्यो में विद्यमान होती है, फिर भी उन मनुष्यो की सम्वेदना, जिन्हें काफी शिक्षा नही मिली है, इस प्रकार के तादात्म्य को नही

प्राप्त कर सकती। वस्तुत बौद्धिक तथा सौन्दर्य-मूलक अनुभूतियों के क्षेत्र मे एक उच्च शिक्षित तथा अपढ मनुष्य मे उतना ही अन्तर होता है जितना कि दो भिन्न कोटियो के प्राणियो मे। जहाँ एक ही समाज के दो व्यक्तियो मे काफी अन्तर हो सकता है, वहाँ विभिन्न समाजो के व्यक्तियो में और भी अधिक अन्तर होने की सम्भावना रहती है।

यह सौभाग्य की बात है कि नैतिक भलाई-बुराई का प्रत्यक्ष सदैव लम्बे-चौडे प्रशिक्षण पर निर्भर नही करता। यही कारण है कि विश्वविद्यालय का एक शिक्षक तथा एक किसान दोनो एक विशिष्ट व्यवहार की अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध मे एकमत हो सकते है, जब कि बिहारी के एक दोहे तथा साधारण तुकबन्दी के अन्तर को देखने में उन दोनो का मतैक्य होना बहुत कठिन है। किन्तु जटिल परिस्थितियो में ऐसे मतैक्य की आशा नही की जा सकती। यह बिल्कुल सम्भव है कि एक कर्म या व्यवहार जिसे किसान बहुत खराब समझता है, विश्वविद्यालय के शिक्षक को उचित ही नहीं बल्कि श्लाघ्य जान पडे।

हम पहले कह चुके है कि किसी कर्म की भलाई-बुराई को आंकने के लिये हमे उसके परिणामो पर ध्यान देना चाहिए, भले ही वह परिणाम अभी घटित न हुआ हो और केवल कल्पना का विषय हो। किसी व्यक्ति के चरित्र का मूल्याकन हम उन व्यवहारो के आलोक मे करते है जिन्हे वह स्वभावत किया करता है, अथवा उन परिणामो के आलोक मे जिन्हे उसकी सकल्पशक्ति अक्सर उत्पन्न किया करती है। जिन लोगो के बारे मे हम ज्यादा नहीं जानते उनके सम्बन्ध मे नैतिक निर्णय देते समय हम प्राय उनकी नीतियो तथा व्यवहारो के नतीजो का विचार करते है। इसके विपरीत सुपरिचित व्यक्तियो को आंकते समय हम उनकी प्रकृति तथा चरित्र का विचार करते है। इसका मतलब यह हुआ कि हमारे नैतिक निर्णय का विषय परिस्थितियो के साथ बदलता रहता है। वह उन परिवर्तनो पर भी निर्भर करता है जिन्हे हम स्वय उत्पन्न करना चाहते है। ब्रूटस एक भला आदमी था जिसने जान-बूझकर सीज़र की हत्या की, यह हत्या एक दुष्ट कर्म था। ब्रूटस के विरोधियो ने इस काम पर नजर रखी और कहा कि ब्रूटस एक बुरा व्यक्ति है, क्योंकि उसने एक बुरा काम किया। इसके उत्तर मे ब्रूटस का कोई मित्र कह सकता था कि अपनी प्रकृति और चरित्र से ब्रूटस एक भला आदमी है, और यह कि उसने सीज़र की हत्या एक अच्छे परिणाम के लिये की थी।

वे चरम मूल्य अथवा मूल्य-समूह क्या है जिनकी अपेक्षा से किसी कर्म या चरित्र की अच्छाई-बुराई का निर्णय किया जाय ? आचार-शास्त्र के इतिहास में चरम आदर्श या मूल्य के सम्बन्ध मे हम अनेक धारणाएँ पाते है, जैसे सुख, पूर्णत्व, आत्म-लाभ, नैतिक नियमो का पालन, ईश्वर के अनुशासन का पालन, इत्यादि। प्रश्न है कि इन धारणाओ की विभिन्नता का क्या कारण है, और इस प्रकार मतभेदो को देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि नैतिक जीवन के कुछ निश्चित नियम या पैमाने है ? ऊपर के प्रश्न तथा अन्य नैतिक समस्याओ का विचार हम निम्न क्रम से करेगे। प्रथमत हम चरम आदर्श अथवा मूल्य की बुद्धिग्राह्य धारणा बनाने की कोशिश करेगे। दूसरे, हम यह देखेगे कि उस धारणा से नैतिक मूल्याकन के किन-किन पैमानो को प्राप्त किया जा सकता है, और विभिन्न पैमानो मे किस प्रकार सामन्जस्य अथवा समन्वय किया जा सकता है। इसके बाद हम इस कठिन समस्या को हल करने की कोशिश करेगे कि व्यक्ति तथा समाज मे क्या सम्बन्ध होना चाहिए। ये विचारणाएँ सम्भवत हमे यह सकेत दे सकेगी कि एक सुसस्कृत जीवन मे नैतिकता का क्या स्थान होता है ।

हमारे विचार मे नैतिक अच्छाई तथा श्रेयत्व दोनो गुण है, वे एक विशेष कोटि की चीजो की विशेषताएँ है। एक कर्म अच्छा या बुरा, नैतिक या अनैतिक होता है, वह स्वय अच्छाई अथवा नैतिकता नही है। एक कर्म नैतिक दृष्टि से उदासीन भी हो सकता है, अर्थात ऐसा जिसे न नैतिक कहा जा सकता है और न अनैतिक। मानवीय कर्म मे नैतिक विशेषताओ के अतिरिक्त भी अनेक विशेषताएँ हो सकती है, वह आशु, प्रवृत्ति-मूलक तथा जल्दबाजी मे अनुष्ठित हो सकता है, और सकल्प-मूलक एव सुचिन्तित भी। इसी प्रकार श्रेयत्व कुछ चीजो तथा अनुभूतियो का गुण है, वह किसी खास वस्तु अथवा अनुभव का नाम नही है ।

श्रेष्ठता या श्रेयत्व, हमारी समझ में, जीवन का गुण है, अथवा जीवनानुभूति का। चेतन प्राणियो की सापेक्षता मे ही सौन्दर्य, रग आदि का कुछ महत्व होता है, उसी प्रकार श्रेयत्व भी जीवन का सापेक्ष है। रग तथा सौन्दर्य बाहरी वस्तुओ मे हो सकता है, सभवत होता है, किन्तु चरम मूल्यो का अधिष्ठान वे वस्तुएँ नही, अपितु उन वस्तुओ का अनुचिन्तन ओर उसके द्वारा आनन्द लेने की क्रियाएँ है। एक नैतिक कर्म की भाँति सुन्दर वस्तु का मूल्य भी साधनात्मक होता है। साध्य अथवा चरम मूल्य वे अनुभूतियाँ हे जो सुन्दर वस्तुओ तथा नैतिक कर्मो द्वारा जगायी जाती है ।

चरम मूल्य या श्रेय स्वय जीवन का नाम है, वह उस जीवन की विशेषता है जो वाछनीय समझा जाता है। सवेदनशील मनस्वी व्यक्ति निरादरपूर्ण जीवन की अपेक्षा मृत्यु को ज्यादा पसन्द करता है; इसी प्रकार एक ऐसा जीवन जिसमे अनवरत भयकर शारीरिक कष्ट रहता है, वाछनीय नही समझा जाता। इसलिये नैतिक कर्म वह नही है जो जीवन की मात्रा को बढाता है, नैतिक अथवा धार्मिक व्यापार वह है जो पहले से मौजूदा जीवन को सुखी तथा श्रेष्ठतर बनाने मे मदद करता है।

दो प्रकार के मूल्य है जिन्हे चरम कहा जा सकता है। ये मूल्य मनुष्य की उन क्रियाओ द्वारा उत्पन्न किये जाते है जिन्हे हम सभ्यता तथा संस्कृति कहते है। जीवन जीने योग्य बनता है, या तो उन क्रियाओ से जो हमारी जरूरतो की निर्विघ्न पूर्ति मे सहायक होती और भौतिक तथा मानसिक कष्टो को दूर करती है, अथवा उन क्रियाओ द्वारा जो हमारे अस्तित्व का प्रसार करती हुई उसे समृद्ध करती है।

विशुद्ध रूप में नैतिक अथवा धार्मिक क्रियाएँ निम्न कोटि की होती है वे जो दूसरो के कष्ट को रोकती अथवा दूर करती है, वे क्रियाएँ जो दूसरो के सुख के लिये त्याग-रूप होती है; तथा आत्म-दमन के वे व्यापार जो किसी महत्वपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने मे सहायक होते है। अन्तिम कोटि का व्यापार तभी नैतिक कहा जाता है जब उद्दिष्ट लक्ष्य निर्वैयक्तिक होता है, जैसे देश की स्वतत्रता की प्राप्ति। जब कोई व्यक्ति किसी वैयक्तिक बडे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आत्म-दमन करता है, जैसे कि ज्ञान अथवा ऊँचे पद की प्राप्ति के लिये, तो हम उसकी प्रशसा करते है। यह प्रशसा उसके सक्षम व्यक्तित्व के लिये होती है, न कि उसकी नैतिकता के लिये।

मनुष्य शारीरिक अथवा भौतिक कष्ट से विशेष रूप में डरते है, मानसिक कष्ट से उसकी अपेक्षा कम। इसलिये वे उस व्यक्ति को जो उनके कष्टो, विशेषत: शारीरिक कष्टो को, दूर करता है, बडी कृतज्ञता तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। ऐसे व्यक्ति की दूसरे लोग भी बडी प्रशसा करते है। अन्याय तथा कष्ट के प्रतिकार के लिए जो व्यक्ति जितना ही अधिक त्याग करता और स्वय कष्ट उठाता है, उसके प्रति लोगो को उतनी ही अधिक कृतज्ञता तथा श्रद्धा होती है। एक विजयी सेनापति की प्रशसा हम इसलिये करते है कि वह युद्ध मे असामान्य शक्ति अथवा असाधारण निपुणता का परिचय देता है; एक नैतिक वीर की प्रशसा इसलिये की जाती है कि वह बडे निस्वार्थ भाव से दूसरो के सुख के लिये प्रयत्न करता है।

आत्म-दमन तथा अपने सुख का परित्याग, अपने समय, शक्ति, धन तथा आराम का वलिदान, उच्च कोटि की नैतिकता में आवश्यक तत्व होता है। किमी नैतिक कर्म की महत्ता का माप दो प्रकार से किया जाता है। प्रथमत यह देखा जाता है कि व्यक्ति-विशेष ने कितना कष्ट सहकर दूसरो की भलाई की, और दूमरे यह देखना होता है कि जिस कष्ट से उसने दूसरो को वचाया वह कितना वडा था, और दूसरो का जो कल्याण उसने किया उसका विस्तार कितना था और वह किस कोटि का था। इन कई पैमानो से हम बुद्ध, ईसा तथा महात्मा गाधी जैसे नैतिक वीरो के महत्व का अनुमान कर सकते हैं।

नैतिकता की दृष्टि से वह व्यवहार जिसमें केवल औचित्य का ध्यान रक्खा जाता है, निम्नतमकोटि का होता है। प्लेटो के "रिपब्लिक" ग्रथ मे सिफेलस नामक गृहस्थ ने नैतिकता की औचित्य-मूलक व्याख्या की है। सिफेलस का कहना है कि भला व्यक्ति वह है जो देवताओ और मनुष्यो का ऋण चुकाता रहता है। दूसरे मनुष्य जो हमारा उपकार करते हैं उसका हमे वदला दे देना चाहिये, और हमे देवताओ के अनुग्रह का भी प्रतिकार करना चाहिए। जर्मन दार्शनिक कान्ट की नैतिकता की धारणा इससे कुछ भिन्न है। कान्ट कहता है कि हमें नैतिकता के निरपेक्ष कानून को मानकर चलना चाहिए। कोई ऐसा काम नही करना चाहिए जिसे हम दूसरो के लिए वुरा समझते हैं। विशप वटलर की नीति-पद्धति मे यह वतलाया गया है कि मनुष्य को "आत्म-प्रेम" तथा "दूसरो के हित-सम्पादन" के वीच उचित सामन्जस्य रखना चाहिये। हैनरी सिजविक का कथन है कि हमें वुद्धि-पूर्वक आत्म-हित तथा पर-हित का समन्वय करते हुए चलना चाहिए, बुद्धि यह कहती है कि हमारे अपने हित तथा दूसरो के हितो का समान महत्व है। ये सव सिद्धान्त, किमी-न-किसी रूप में, नैतिक व्यवहार की औचित्य-मूलक व्याख्या देते हैं, और औचित्य की धारणा के आधार पर व्यक्ति तथा समाज के सघर्ष का निपटारा करना चाहते हैं। वे उस उच्चतर नीतिवाद से भिन्न हैं जो अपने हितो का त्याग करते हुए पर-हित-चिन्तन की शिक्षा देता है।

नैतिक चिन्तन के क्षेत्र मे अधिकाश मतभेदो का केन्द्र यह प्रश्न है कि व्यक्ति के लिये चरम साध्य या मूल्य, अर्थात् उच्चतम श्रेय, क्या है। दार्शनिको ने इस प्रश्न पर भी वहुत विचार किया है कि कहाँ तक व्यक्ति को समाज के लिये अपने हितों का वलिदान करना चाहिए। विभिन्न देशो तथा युगो के विचारको ने आदर्श मनुष्य के विभिन्न चित्र खीचे हैं प्लेटो का "दार्शनिक शासक," अरस्तू का "मनस्वी व्यक्ति",

स्टोइको का "विवेकी पुरुष", गीता का "स्थितप्रज्ञ", बौद्धो का 'बोधिसत्व", ईसाइयो का "सत" नीत्शे का "अतिमानव" ये सब आदर्श-पुरुष की विभिन्न कल्पनाएँ हैं। अन्य कल्पनाएँ हमे कवियो, नाटककारो तथा उपन्यासकारो की कृतियो मे मिल सकती हैं, और कार्लाइल, इमर्सन आदि निबन्धकारो की कृतियो मे भी।

आदर्श पुरुष की इन भिन्न, और कभी-कभी विरोधी, धारणाओ में किस प्रकार सामन्जस्य स्थापित किया जा सकता है? कुछ विचारक परलोक मे विश्वास करते हैं और कुछ केवल इस धरती मे; इस कोटि के विचारको मे स्वभावत. गहरे मतभेद हैं। किन्तु उन विचारको में भी जो परलोक मानते हैं, मतभेद पाये जाते हैं। इन परिस्थितियो मे हम नैतिक अथवा धार्मिक व्यवहार के एक या अनेक सार्वभौम नियमो पर कैसे पहुँच सकते हैं?

क्या नैतिक व्यवहार का कोई सार्वभौम नियम है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमे मनुष्य के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक तथ्यो को याद रखना पड़ेगा। मनुष्य नामक प्राणी की बहुत तरह की जरूरते होती हैं और वह प्रत्येक जरूरत को अनेक ढगो से पूरा कर सकता है। मनुष्य की जरूरतो की यह विभिन्नता और, विभिन्न परिवेशो मे, उनकी पूर्ति के उपायो की अनेकता का एक परिणाम यह होता है कि विभिन्न जन-समूहो मे विभिन्न जरूरते ज्यादा महत्वपूर्ण बन जाती हैं। इस स्थिति का एक नतीजा यह होता है कि विभिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न ढगो से सुखी तथा दुखी बन जाते हैं। लेकिन इन भिन्नताओ के बावजूद विभिन्न मनुष्यो के लिये यह सम्भव होता है कि वे एक-दूसरे की सुख-दुख-सम्बन्धी स्थितियो से सहानुभूति कर सके। ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीवन के मुख्य मूल्य दो हैं एक जरूरतो तथा दूसरे लोगो के दबाव से स्वतत्रता, और दूसरे व्यक्तित्व का चेतना-मूलक विस्तार। जहाँ तक पहले मूल्य का सम्बन्ध है, विचारको ने उसकी प्राप्ति के लिये दो विरोधी उपाय बतलाये हैं। कुछ का कहना है कि मनुष्य को अपनी जरूरतो को कम करना चाहिए, और अपने मनोवेगो पर नियत्रण रखना चाहिए। दूसरो का विचार कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ बढानी चाहिए और अपनी बढी हुई आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए डटकर प्रयत्न करना चाहिए। स्पष्ट ही इन दोनो आदर्शों में धरती-आसमान का अन्तर या विरोध है। यहाँ हम यह निर्णय करने की कोशिश नही करेंगे कि इन दोनो में कौन-सा आदर्श कितना अच्छा है, फिर भी इस मौलिक मतभेद के सम्बन्ध में हम कुछ शब्द कहेंगे।

यह लक्षित करने की बात है कि आत्म-नियन्त्रण तथा सयम की शिक्षा केवल धर्म-शिक्षको ने ही नही दी है। एपीक्यूरस जैसे सौख्यवादियो ने भी सयम से रहने की सिफारिश की है। एपीक्यूरस "दुख के अभाव" को, न कि "सुख की उपस्थिति" को, विवेकी मनुष्य के जीवन का लक्ष्य समझता था। वह उन सुखो को अधिक वाछनीय समझता था जो सतुलन की अवस्था से सहचरित रहते है। वे सुख जिनकी प्राप्ति के पूर्व वासना की अपेक्षा होती है, और जो दुख से मिश्रित रहते हैं—वे सुख जो लक्ष्य की प्राप्ति से उत्पन्न होते हैं—एपीक्यूरस को पसन्द नही थे।[२] इस सम्बन्ध में यह बात याद रखनी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपनी सब इच्छाओ को पूर्ण नही कर सकता। उदाहरण के लिये कोई भी व्यक्ति उन समस्त सुन्दर स्त्रियो को प्राप्त नही कर सकता जिन्हे वह पसन्द करने लगे। हमारी बहुत-सी इच्छाओ के मूल में अनुकरण तथा प्रतिद्वन्द्विता की भावना रहती है, हमारी औद्योगिक सभ्यता की समस्त सम्पत्ति ऐसी इच्छाओ को पूर्ण नही कर सकती। वस्तुत वे व्यक्ति जो उस जीवन-आदर्श को मानकर चलेंगे जो सब प्रकार की इच्छाओ, वासनाओ तथा महत्वा-काक्षाओ को प्रोत्साहन देता है, सभवत अपने को नष्ट ही कर लेंगे। और अधिकाश मनुष्यो के लिए तो वैसे जीवन-दर्शन का अनुसरण सम्भव ही नही है। साथही यह माना जा सकता है कि उस आलसी व्यक्ति की अपेक्षा जो सन्तुष्ट दीखने का बहाना करता है, वह व्यक्ति अधिक श्लाघ्य है जो अपनी आवश्यक जरूरतो को पूरा करने के लिए उचित प्रयत्न करता है। वह समाज जिसमें लोग भौतिक सम्पत्ति की उत्पत्ति का प्रयत्न करते हैं, उस समाज से जहाँ आलस्य तथा गरीबी बुरी चीजें नही समझी जाती, ज्यादा अच्छा माना जाना चाहिये।

यह लक्षित करने की बात है कि बौद्ध धर्म ने, जो सासारिक सुख के त्याग की शिक्षा देता है, साधुओ के लिए 'अप्रमाद' के गुण पर विशेप गौरव दिया है। इसी प्रकार योग-दर्शन में पतजलि ने साधक के लिए यम, नियम आदि के कठिन अनुशासन का निर्देश किया है। जब धर्म-शिक्षको ने यह बतलाया कि हमें ससारिक सम्पत्ति तथा सुखो के प्रति उदासीन होना चाहिए, तो उन्होने यह भी शिक्षा दी कि मनुष्य को आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए। वस्तुत एक स्वस्थ व्यक्ति, फिर चाहे वह धार्मिक हो अथवा नही, हमेशा अपनी सृजनात्मक शक्तियो का उपयोग करता रहता है, ताकि वह अस्तित्व के उच्चतर धरातल पर पहुँच सके।

ऊपर के वक्तव्य द्वारा हम पाठको के मन पर यह अकित करना चाहते हैं

कि एक ही व्यक्ति के लिये, कल्पनात्मक तादात्म्य द्वारा विभिन्न, यहाँ तक कि विरोधी आदर्शों से सहानुभूति करना सम्भव है। यह बात प्रसिद्ध यूनानी जीवनीकार प्लूटार्क के उस मनोभाव द्वारा पुष्ट होती है जो उसने एक स्थान पर विजयी सिकन्दर तथा डायोजिनीज नामक दार्शनिक के प्रति प्रकट किया है। प्लूटार्क ने वहाँ यह छिपाने की कोशिश नहीं की है कि उसके मन में सिकन्दर के प्रति ऊँची प्रशंसा का भाव था। उसने सिकन्दर तथा डायोजिनीज़ से सम्बन्धित एक घटना का विवरण दिया है, जहाँ उसकी दार्शनिक निर्लिप्तता प्रतिफलित हुई है। जब सिकन्दर डायोजिनीज़ से मिलने गया तो वह धूप में लेटा हुआ था। सम्राट ने उसे नम्र स्वर में सम्बोधित किया और पूछा, 'मैं आप की क्या सेवा कर सकता हूँ?' 'सिर्फ मेरी धूप छोड़ दो', डायोजिनीज़ ने उत्तर दिया। प्लूटार्क बतलाता है कि यह उत्तर सुनकर सिकन्दर आश्चर्य से स्तम्भित रह गया। उसे उक्त सन्त की लापरवाही में एक उच्चतर महत्ता दिखाई दी, और जब उसके दरबारी साथी उक्त दार्शनिक को एक राक्षस कह कर उसकी हँसी उड़ा रहे थे, सिकन्दर ने कहा—'यदि मैं सिकन्दर न होता तो मैं चाहता कि मैं डायोजिनीज़ बन जाऊँ।'[1]

यह आख्यान ऐतिहासिक है या नहीं, यह विशेष महत्व की बात नहीं है। उक्त कथा एक ऐसे मनोभाव को हमारे सम्मुख उपस्थित करती है जिसके सम्बन्ध में यह सोचा जा सकता है कि वह सिकन्दर के मन में आया और जिसका प्लूटार्क ने भी अनुभव किया। दूसरी जगह एनेक्ज़ार्कस के एक कथन को उद्धृत करते हुए प्लूटार्क इस प्रकार टिप्पणी करता है: 'उस कथन द्वारा एनेक्ज़ार्कस यह कहना चाहता था कि वे भड़कीली चीजें जिनके पीछे विजेता लोग इतने खतरे और श्रान्ति का आह्वान करते हैं, सचमुच ही घृणास्पद हैं, क्योंकि, अन्तत, विजेताओं का सुख-भोग साधारण लोगों के उपभोगों से शायद ही कुछ बढ़ पाता हो।'[2] मतलब यह है कि सांसारिक सम्पत्ति, कुल मिलाकर, एक नश्वर चीज है। यह विचार जहाँ "दी इमीटेशन आफ क्राइस्ट" जैसे धार्मिक ग्रंथों में पाये जाते हैं, वहाँ वे इतिहासकारों की कल्पना से बाहर नहीं हैं।

हमारे युग के वे अन्वेषक जो विभिन्न समकालीन तथा अतीत समाजों या जातियों में प्रचलित आदर्शों को तटस्थ दृष्टि से देख सकते हैं, उन आदर्शों से सहानुभूति करना कठिन नहीं पायेंगे। किंतु जिन लोगों में इस प्रकार की तटस्थता नहीं है, वे उन प्राचीन आदर्शों के प्रति स्वभावतः आकृष्ट होंगे जो उनके अपने जीवन की जरूरतों के अनुरूप है। बात यह है कि जिन्हें हम जीवन अथवा व्यवहार के आदर्श कहते हैं वे निश्चित

रूप में विभिन्न समाजो अथवा उनके कुछ हिस्सो की जरूरतो के सापेक्ष होते है। ऐसी जघन्य प्रथाएँ भी जैसे वृद्ध लोगो को मार डालने की प्रथा, उन समाजो में जहाँ भोजन की बहुत ज्यादा कमी है, स्वाभाविक जान पड सकती हैं।

ऊपर की विचारणा से यह निर्गत होता है कि मानव-व्यवहार के लिये ऐसे नियमो का निर्देश नही किया जा सकता जिनका विभिन्न समाजो मे अध भाव से अनुसरण किया जा सके। इसी प्रकार हम उस व्यवहार के ऐसे कानूनो का भी ठीक-ठीक निरूपण नही कर सकते जो हमें उसके सम्बन्ध में निश्चित भविष्यवाणियाँ करने मे सहायक हो सकें। वस्तुत मानव-व्यवहार के क्षेत्र में व्यवहार की दिशा का परिवर्तन वैसे ही स्वाभाविक है जैसे कि भौतिक वस्तुओ के सम्बन्ध में परिवर्तनो का एक दिशा में घटित होते रहना। जिस प्रकार मनुष्य का वुद्धिमूलक सफल व्यापार उसकी सृजनशील अन्तर्दृष्टि पर निर्भर करता है, वैसे ही उसका नैतिक व्यवहार भी। जिस व्यक्ति में उस प्रकार की अन्तदृष्टि का अभाव है वह, धर्मभीरु होते हुए भी, सदैव नैतिक आचरण अनुष्ठित कर सकेगा, इसमें सन्देह है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। यदि सृजनशीलता मानव-व्यवहार की सार्वभौम विशेषता है, तो फिर मनुष्य ऐसे अटूट नियमो अथवा विश्वसनीय आदर्शो की खोज क्यो करता है जिन पर वह अन्ध भाव से निर्भर कर सके? और क्यो कभी-कभी सवेदनशील लोगो के मन मे नैतिक अन्तर्द्वन्द्व उठ खडे होते है?

उक्त प्रश्नो में से प्रथम का उत्तर इस प्रकार है। जहाँ प्रत्येक मनुष्य सृजनशील जीवन के स्पन्दन में साझेदार होना चाहता है, वहाँ प्रत्येक मनुष्य अपनी सृजनशीलता का उपयोग नही करना चाहता। वस्तुत सृजनशील शक्तियो का उपयोग वहाँ तक ही प्रिय लगता है जहाँ तक वह स्वच्छन्द अर्थात् वाहर से अनिर्धारित होता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति भी, जिसकी प्रकृति उसे लगातार सृजनशील होने को वाध्य करती है, सृजनात्मक व्यवहार को न तो सरल ही पाता है, न अमिश्रित रूप मे सुखपूर्ण। एक वडी कलाकृति अथवा एक महत्वपूर्ण विचार-पद्धति का निर्माण वस्तुत एक उतनी ही, या उससे भी ज्यादा, श्रान्त करने वाली क्रिया है जैसी कि एक नये वच्चे को अस्तित्व में लाने की क्रिया। एक उपन्यास लिखने की अपेक्षा किसी उपन्याम को पढना कही ज्यादा सरल और आनन्दप्रद है, इसी प्रकार एक फिल्म को देखना जितना सुखद है उतना उमका निर्माण करना नही। सृजनशीलता का अर्थ है जोखिमपूर्ण साहसिक कार्य में हाथ डालना। अधिकाश मनुष्य उपयोगिता के दायरे

मे रहते है और अपरिचित एव रोचक नवीनता की खोज की अपेक्षा नीरस किन्तु परिचित क्षेत्र मे ठहरना ज्यादा पसन्द करते है। यही कारण है कि आँकडो के आधार पर निर्धारित किये हुए मानव-व्यवहार के नियम काफी दूर तक सही होते है। फिर भी यदि ज्यादा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ की प्रगति के सम्बन्ध मे सफल भविष्यवाणियाँ नही की जा सकती, तो इसका कारण यह है कि वह प्रगति ऐसे नर-नारियो द्वारा निर्धारित होती है जो असाधारण सृजनशीलता वाले होते है, और जिनका व्यवहार नियमो के दायरे मे नही बँध पाता।

जिस प्रकार इतिहास-प्रसिद्ध वीरो के सकल्प तथा निर्णय सदैव सुरक्षा तथा उपयोगिता की परिधि मे नही रहते, वैसे ही नैतिक वीर पुरुष सम्मानपूर्ण समझी जाने वाली परम्परा तथा व्यवहार के नियमो पर कुठाराघात करते है, और, नई परिस्थितियो के अनुकूल, नये आदर्शों तथा नियमो की घोषणा कर देते है। गौतम बुद्ध तथा कार्ल मार्क्स इसी कोटि के नैतिक वीर या नेता थे। बुद्ध जी ने अपने समय के हिन्दू समाज की खराबियो की कठोर आलोचना की और कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध ऐसे आदर्शों की शिक्षा दी जो मजदूरो तथा दलितो का हित-साधन करने वाले थे। बौद्धिक क्षेत्र मे प्रसिद्ध अर्थशास्त्री वेबलेन ने अपनी पुस्तक "थियरी आफ दी लेजर क्लास" (अवकाश-प्राप्त वर्गों का सैद्धान्तिक अध्ययन) मे, जहाँ उसने अभिजात वर्गों के चरित्र तथा मान्यताओ के खोखलेपन का उद्घाटन किया है, कुछ वैसा ही कार्य किया है।

जीवन की साधारण स्थितियो मे भी सृजनशील व्यक्ति नियमो को अक्षरश मानकर नही चलता। वह उनके आन्तरिक अभिप्राय के अनुकूल चलता है। वह निर्जीव नियमो को अपनी सजीव मानवता अथवा मानवीय भावना पर हावी नही होने देता। फिर भी यह ठीक है कि सर्वसाधारण की प्रचलित मान्यताओ के विरुद्ध सोचने या करने मे हमेशा खतरा होता है, और वैसा करने मे प्राय व्यक्ति के मन मे अन्तर्द्वन्द्व छिड जाता है। यह द्वन्द्व एक ओर उन रूढिवादी परम्परा के जो सद्बुद्धि (Conscience) के रूप मे व्यक्ति के अन्दर निवासित होती है, और दूसरी ओर उसकी मौलिक, सृजनशील चेतना के बीच उदित होता है। केवल वही व्यक्ति जिसमे विद्रोह करने का साहस है और जो विद्रोह की स्थिति मे स्थिर रह सकता है, सृजनात्मक नैतिकता की प्रगति मे योग दे पाता है।

नैतिक निर्णय के क्षेत्र मे एक दूसरे प्रकार के द्वन्द्व की सम्भावना भी रहती है।

हमें अवसर दो कार्य-दिशाओ मे ऐसा चुनाव करना पडता है जो पूर्णतया वाछनीय नही होता, जहाँ या तो दो मे से एक श्रेय का परित्याग करना पडता है, या दो मे से एक बुराई का स्वीकार। कवि शेली के जीवन मे एक ऐसा क्षण आया था जब उसे दर्शन और कविता के वीच चुनाव करना पडा। इसी प्रकार हैनरी वर्गसा को दर्शन और गणित के वीच चुनाव करना पडा। एक दुखपूर्ण नाटकीय स्थिति मे किसी नारी के सामने यह प्रश्न आ सकता है कि वह अपने पति के जीवन की रक्षा करे, अथवा अपने पुत्र या भाई की। इस प्रकार के अवसरो के लिये कोई ऐसा नियम नही वतलाया जा सकता जिसे विना सोचे-विचारे मानकर चला जा सके। अपनी सृजनशील जटिल प्रकृति के कारण मानव-जीवन अक्सर अनेक सम्भावनाओ के ऐसे सगमस्थल पर आकर खडा हो जाता है जहाँ उसके सुख और दुख की अनेक राहे दिखाई पडती है।

नैतिक अन्तर्दृष्टि के विकास का अर्थ यह नही है कि मनुष्य क्रमश किसी स्थिर नैतिक आदर्श के रूप को अधिकाधिक निश्चित या निर्दिप्ट करता चलता है। उस अन्तर्दृष्टि की प्रगति का ठीक अर्थ यह है कि हम क्रमश मनुष्य के सुखी तथा दुखी होने के, और उसके सुख-दु ख के विविध कारणो के, विभिन्न रूपो से परिचित होते चलते है। मानव सुख-दु ख के विविध रूपो तथा कारणो की समुचित जानकारी के लिये साहित्य की विभिन्न कृतियाँ, जीवनियाँ एव इतिहास पढने का ज्यादा महत्व हो सकता है, बनिस्बत दर्शन-ग्रथो तथा धर्म-पुस्तको के उलटने के। महाभारत का "स्त्री पर्व," जहाँ मृत वीरो की माताओ तथा पत्नियो को अपने प्रियजनो के लिये रोते हुए दिखलाया गया है, "यद्ध और शान्ति" (War and Peace) तथा "पश्चिम का सुनसान युद्ध-क्षेत्र" ( All quiet on the Western Front ) जैसे उपन्यास, अपने सूक्ष्म अकन द्वारा, युद्ध के प्रति जितनी घृणा पैदा कर सकते है उतनी नैतिक तथा राजनैतिक शास्त्र के पडितो के लेख और व्याख्यान नही। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जैसे ही वह किसी कष्ट की वास्तविकता अथवा सम्भावना का साक्षात्कार करता है, वैसे ही उसे हटाने की कोशिश करने लगता है। इतिहास में महान नैतिक शिक्षक वे व्यक्ति हुए हैं जिनमें, अपनी मौखिक शिक्षा द्वारा, लोगो के सुख दुख की परिस्थितियो का सकेत कराने की क्षमता थी। हमारे कहने का मतलब यह नही है कि दार्शनिको तथा विचारको द्वारा जिन सामान्य नियमो का उद्घाटन होता है वह, व्यक्तियो तथा समाजो के लिये, जीवन के दिशा-निर्धारण में सहायक नही होता, किन्तु हम कहना चाहते है कि वैसे नियम और सिद्धान्त यथार्थ जीवन में

निरपवाद रूप में लागू नहीं किये जा सकते। और यह मान्यता कि नैतिकता के नियम निरपवाद रूप से सत्य होते हैं, अक्सर मानव-प्रगति में बाधक सिद्ध होती है। प्रतिक्रियावादी राजनैतिक नेता तथा शासक अक्सर, पुराने सिद्धान्तों के नाम पर, सामाजिक प्रगति में बाधक बन जाते हैं। इस प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों के उदाहरण सुलभ हैं, जैसे राजाओं के दैवी अधिकार, व्यक्ति की व्यापारिक स्वतन्त्रता, तात्विक अथवा बुद्धि-मूलक आत्म (Real or Rational Self) तथा विद्यमान आत्म या व्यक्तित्व (Actual Self) का भेद, इत्यादि।

हमारा यह कथन कि नीति के क्षेत्र में निरपवाद नैतिक सिद्धान्त या आदर्श प्राप्त नहीं किये जा सकते, दो प्रकार के लोगों को चकित और स्तंभित करने वाला प्रतीत होगा, उन लोगों को जो कि अपने दैनिक जीवन में ही नहीं बल्कि उच्चतम आकांक्षाओं के क्षेत्र में भी एक स्थिर अभ्यास (Habit) के अनुकूल चलना चाहते हैं, अर्थात् जो अपनी जीवन दिशा के बारे में स्वयं चिन्तन करने के कष्ट से बचना चाहते हैं, और उन लोगों को जो यह देखना चाहते हैं कि नैतिक व्यवहार के नियम भौतिक-शास्त्र के नियमों की भांति अखंड हों। एक अपेक्षाकृत स्थिर युग में साधारण नर-नारी स्वीकृत मूल्यों तथा पैमानों के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। ऐसे समाज में ज्यादा सृजनशील लोग भी यह आवश्यकता नहीं महसूस करते कि पुराने मूल्यों तथा मान्यताओं को छोड़कर चलें। किन्तु सांस्कृतिक संकट के समय में साधारण तथा असाधारण दोनों कोटियों के मनुष्य मति विभ्रम तथा तनाव की स्थिति में पड़ जाते हैं। साधारण लोगों के लिये विभिन्न आदर्शों द्वारा निर्धारित विरोधी नैतिक मानों को आदर देना कठिन हो जाता है, और असाधारण, सृजनशील व्यक्ति परिवेश को नयी रूपरेखा देना कठिन पाते हैं। इस कठिनाई से बचने का एक ही उपाय है, यह कि जहां तक सम्भव हो लोग उन ईमानदार नेताओं के साथ सहयोग करें जो कि बौद्धिक तथा नैतिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर जोर देते हैं।

मानव-व्यवहार के नियम गणित के सूत्रों में नहीं बाँधे जा सकते, लेकिन इसके लिये वे नियम दोषी नहीं हैं। यह ठीक है कि मनुष्य ने जितनी भाषाएँ अथवा प्रतीक-पद्धतियां बनाई हैं उनमें गणित की भाषा सबसे ज्यादा पूर्ण तथा सही है। किन्तु यह जरूरी नहीं है कि मनुष्य की सब प्रकार की अनुभूतियाँ गणित के माध्यम से प्रकट की जा सकें। यह सम्भव नहीं है कि यदि लोग [illegible] बिना गणित के प्रतीकों में लिखें, और प्रेमी लोग अपनी प्रेम-चर्चा बीज गणित तथा "कैलकुलस" की भाषा में करें।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है मानव-व्यवहार के नियम गुणात्मक होते हैं। वे नियम जिन शब्दो द्वारा प्रकट किये जाते हैं उन शब्दो का अर्थ एकदम नपा-तुला नही होता, उनमे से प्रत्येक का अर्थ अनेकात्मक एकता-रूप होता है। जीवत कल्पना द्वारा ही वह एकता ग्रहण की जा सकती है। उदाहरण के लिये जब हम कहते है कि "एक प्रिय बालक की मृत्यु दु ख का कारण होती है", तो यहाँ बालक, सुख आदि शब्द किसी सुस्थिर या सुनिश्चित अर्थ को व्यक्त नही करते, उनके अर्थ एक-एक क्षेत्र का सकेत करते हैं। सृजनशील कल्पना द्वारा ही मनुष्य उन अर्थों को ठीक से समझ सकता है।

## नैतिकता के नियम-सूत्र

हमारे नैतिक व्यवहार के नियमन के लिये, अथवा उसके नियामक, दो सिद्धान्त है, दोनो की व्याख्या और प्रयोग सृजनात्मक ढग से ही हो सकता है। पहला नियामक कानून निम्न प्रसिद्ध उक्ति मे निहित है "दूसरो के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा कि तुम अपने प्रति कराना चाहते हो।" इस उक्ति का अर्थ मुख्यत निषेधात्मक है, न कि भावात्मक। उसका मतलब है कि दूसरे के ऊपर वैसी अनुभूतियाँ न लादो जिन्हे, उन दूसरो की स्थिति मे, तुम खुद नापसन्द करोगे। इससे मिलती-जुलती एक उक्ति सस्कृत मे है जो निषेधात्मक अर्थ देती है। यह उक्ति महाभारत (शान्ति पर्व) में पाई जाती है और इस प्रकार है 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्' अर्थात् जो चीज अपने प्रतिकूल पडती है, उसे दूसरो के प्रति आचरण मे न बरतो। जर्मन दार्शनिक कान्ट का "निरपेक्ष आदेश" जो इसी नियम को विधि-रूप तथा निषेध-रूप मे लागू करने की कोशिश करता है, हमे आत्म-विरोध मे फँसा देता है। कान्ट का निरपेक्ष आदेश इस प्रकार है 'उस नियम के अनुकूल काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम के रूप मे पालन किये जाते देखना पसन्द करो।' इस नियम के अनुसार यदि हम यह इच्छा करे कि मनुष्य को ब्रह्मचारी अथवा दानी होना चाहिए, तो उसमे आत्म-विरोध उत्पन्न हो जायगा। यदि सब लोग ब्रह्मचारी होगे, तो फिर बच्चे उत्पन्न होने बन्द हो जायेगे, और इस प्रकार ब्रह्मचारियो का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। वैसे ही यदि सब लोग दानी होगे, तो फिर दान लेनेवाला कौन रहेगा? कान्ट का सिद्धान्त ब्रह्मचर्य और दान को विरोधग्रस्त व्यवहार दर्शित करता है। उस सिद्धान्त का विधायक रूप भी समुचित नही। यह कामना करने मे कि प्रत्येक व्यक्ति

को कवि अथवा गणितशास्त्री होना चाहिए, कोई अन्तर्विरोध नहीं है, फिर भी सरकार द्वारा ऐसा कानून बनाया जाना जो कविता लिखने तथा गणित सीखने को अनिवार्य बना दे, उचित नहीं होगा।

ऊपर हमने जिस नियम का उल्लेख किया उसका प्रयोग करने के लिये यह जरूरी है कि प्रयोग करने वाला अपने को उस स्थिति में रख सके जिसमे कोई दूसरा व्यक्ति है। स्पष्ट ही यह व्यापार सृजनशील कल्पना की अपेक्षा रखता है। वह व्यक्ति जो कल्पना द्वारा अपने को दूसरो की स्थिति में नहीं रख सकता, उन दूसरो से उचित व्यवहार नहीं कर सकता। इसका मतलब यह है कि नैतिक व्यवहार वे ही प्राणी कर सकते हैं जिनमे कल्पना-शक्ति का सद्भाव है।

नैतिकता का दूसरा नियम भावात्मक अथवा विधि-रूप है। उसे इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है "मनुष्य को यथाशक्ति निर्वैयक्तिक ढंग से स्वतंत्र अथवा अर्थवान् जीवन-क्षणों के उत्पन्न करने की कोशिश करनी चाहिए।" हम दूसरे प्राणियो, मनुष्यो अथवा पशुओं, की सरल जरूरतो को पूरा करके, उनकी स्वतंत्रता-वृद्धि द्वारा, उन्हे सुखी बना सकते हैं। तात्पर्य यह है कि हम दूसरो की वैध जरूरतो को पूरा करके सदैव ही सुख की मात्रा में वृद्धि कर सकते हैं। बुद्ध जैसे धार्मिक शिक्षक भी मनुष्य को स्वतंत्र एवं सुखी बनाना चाहते हैं, वे मुख्यत आत्म-नियंत्रण की शिक्षा देकर मनुष्यो को दुर्वासनाओ के दबाव से मुक्ति दिलाते हैं। इसी प्रकार एक अज्ञानी व्यक्ति को ज्ञान देने का अर्थ भी उसे एक प्रकार की मुक्ति देना है। केवल अज्ञान तरह-तरह के भयो तथा गलत इच्छाओं का कारण होता है। ज्ञान तथा विवेक द्वारा हम ऐसी चीजो से मुक्ति पाते हैं। अब दूसरी कोटि का उदाहरण लीजिये। कलाकार, कवि तथा दार्शनिक भी मानवता के सुख की वृद्धि करते हैं, लेकिन उनका तरीका दूसरा है। वे मनुष्यो की सृजनशक्तियो को प्रेरणा देते हैं और उनके चेतना-मूलक अस्तित्व का प्रसार करते हैं।

सृजनात्मक सांस्कृतिक क्रिया की एक विशेषता यह है कि वह आत्म-त्याग नहीं चाहती। कवि तथा दार्शनिक अपने विशिष्ट कार्यों के लिये बहुत से कष्ट उठा सकते हैं लेकिन उनका परिश्रम तथा कष्ट-सहन स्वेच्छापूर्वक होता है, वह दूसरो के लिये नहीं होता। कहना चाहिए कि कलाकार अथवा विचारक अपने व्यक्तित्व के घटिया अंशों को काट देता है, ताकि इस व्यक्तित्व के उच्चतर अंश उन्नति एवं विकास कर सकें।

इस प्रकार वे लोग जिस अनुभव अथवा जीवन-स्पन्दन की उत्सृष्टि करते है, उसका उपभोग दूसरे मनुष्य भी कर सकते है। यह माना जा सकता है कि कवि या दार्शनिक को यदि यह पता रहे कि उसके प्रयत्नो का दूसरो के लिये कोई अर्थ नही है, तो वह उतना परिश्रम न करे। फिर भी मोटे रूप मे यह सही है कि सृजनात्मक व्यापार खास तौर से दूसरो के लिये अनुष्ठित नही किया जाता। यह भी नही कहा जा सकता कि कवि अथवा विचारक केवल अपने के लिये परिश्रम करता है। वस्तुत कला तथा चिन्तन की सृष्टियाँ निर्वैयक्तिक रूप मे अर्थवती होती है। सत्य का अनुसन्धान तथा सौन्दर्य का सृजन करते हुए मनुष्य स्वय अपने व्यक्तिगत स्वार्थो के प्रति भी उदासीन होता है, वह अपने हितो का बलिदान करके भी अपनी सृष्टि को पूर्ण बनाने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सृजनात्मक सास्कृतिक क्रिया का क्षेत्र नैतिकता के क्षेत्र का अतिक्रमण करता है। किसी कवि या विचारक को हम तब तक नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ नही कह सकते जब तक कि उसके चिन्तन अथवा कला-सृष्टि के पीछे मानव-जाति के कल्याण करने की सचेत भावना भी वर्तमान न हो। हो सकता है कि एक कलाकृति सुन्दर होने के साथ-साथ मनुष्यो को सन्मार्ग पर चलाने वाली भी हो, जैसा कि तुलसीदास का "मानस" है, किन्तु वह उद्देश्य कला-सृष्टि का आवश्यक अग नही है। यही बात विचारात्मक कृतियो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। निश्चित ही सत्य की कुछ-न-कुछ उपयोगिता भी होती है, किन्तु विचारक लोग सत्य का अनुसन्धान उपयोगिता के लिए नही करते। इसलिये कलासृष्टि तथा दार्शनिक अथवा अन्य कोटि के चिन्तन को हम विशिष्ट रूप में नैतिक व्यवहार नही कह सकते।

## कर्तव्य-पालन तथा साधुता

(Duty and Virtue)

ऊपर हमने नैतिक जीवन के दो सार्वभौम नियमो का निरूपण करने का प्रयत्न किया। किन्तु "नैतिक" तथा "नैतिकता" शब्दो का अर्थ सुनिर्दिष्ट नही है। नैतिक अथवा प्रशसनीय व्यवहार के निम्न तीन उदाहरणो पर विचार कीजिये.

क ने उधार लिया हुआ रुपया समय पर चुका दिया।

ख महोदय अपने अगले उपन्यास को उत्तम बनाने के लिये कडा परिश्रम कर रहे हैं।

ग नामक व्यक्ति के पास इतना रुपया है कि वह मोटर खरीद ले, किन्तु इसके बदले वह विश्वविद्यालय के गरीब छात्रों की मदद करना ज्यादा ठीक समझते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या उक्त तीनों व्यक्तियों के व्यवहारों की एक समान प्रशंसा होनी चाहिए? एक अर्थ में ऋण चुकाना हमारा कर्तव्य है। उपन्यास को उत्तम बनाने की कोशिश भी कर्तव्य है, किन्तु पहले अर्थ में नहीं। इसी प्रकार यह किसी व्यक्ति का कर्तव्य नहीं कहा जा सकता कि वह अपनी साधारण जीवन-चर्या से हटकर विश्वविद्यालय के छात्रों की मदद करता फिरे। वस्तुत कर्तव्य उसे कहना चाहिए जिसके करने की हमसे आशा की जाती है, अथवा जिसे न करना बुराई समझी जायगी। यदि हम इस परिभाषा को मान लें, तो यह अनुगत होता है कि हमारे लिये कर्तव्य-पालन की परिधि के बाहर भी सत्कार्य करने की सम्भावना रहती है।

हमारा प्रस्ताव है कि उक्त तीन कर्मों की अच्छाई का वर्णन करने के लिए, उनकी मूल्यात्मकता के उद्घाटन के लिये, हमें तीन विशेषणों का प्रयोग करना चाहिए। हम कहेंगे कि जहाँ क का व्यवहार उचित और मुनासिब है, तथा ख का व्यवहार प्रशंसनीय है, वहाँ ग का व्यवहार साधुता-मूलक (Virtuous) है। उक्त तीन प्रकार के व्यवहारों के लिये एक ही विशेषण का प्रयोग करना उचित नहीं होगा। उस दशा में हम व्यवहार के साधारण औचित्य तथा साधुता के उदात्त रूप में अन्तर नहीं कर सकेंगे। उक्त तीनों ही व्यवहारों को हम अच्छा कहेंगे, किन्तु, स्पष्ट ही, उनकी अच्छाइयों के दर्जे हैं। हमारी राय में प्रथम व्यवहार को जो उचित तथा प्रत्याशित है कर्तव्य-पालन के अन्तर्गत रखना चाहिए, और दूसरे व्यवहारों को प्रशंसनीय एवं साधु व्यवहारों की कोटियों में। इस प्रकार हम कर्तव्य-निष्ठा तथा साधुता में अन्तर करना पसन्द करते हैं।

किसी भी शास्त्र का काम अनुभूत तथ्यों की व्याख्या करना है, ऐसे तथ्यों की जो सर्वसाधारण के अनुभव में आते हैं। नीति-शास्त्र भी इस नियम का अपवाद नहीं है। नीति-शास्त्र अथवा आचार-शास्त्र का काम हमारी, अर्थात् मनुष्य की, नैतिक चेतना द्वारा उपस्थापित तथ्यों की व्याख्या करना है। ऐसा ज्ञात होता है कि मनुष्य स्वभावतः अच्छाई की अनेक कोटियाँ विदित करता और मानता है। वह कुछ कामों तथा कतिपय व्यक्तित्वों को ज्यादा महत्त्व देता है, और कुछ को कम। यह दावा नहीं किया जा सकता कि विभिन्न जातियों अथवा समाजों के मनुष्य श्रेष्ठता की विभिन्न

कोटियो के सम्बन्ध मे एक ही मत रखते है, फिर भी, जैसा कि प्लूटार्क सरीखे लेखको ने लक्षित किया है, एक ही स्तर के दो व्यक्तित्वो अथवा योग्यताओ के वीच नैतिक योग्यता अथवा श्रेष्ठता को प्राय अधिक महत्व दिया जाता है। भले ही हम इस प्रश्न का उत्तर न दे सके कि दार्शनिक अरस्तू तथा कवि शेक्सपियर मे, अथवा कवि गेटे तथा सेना-नायक नेपोलियन मे, कौन अधिक वडा अथवा महत्वशाली है, किन्तु इन सभी की अपेक्षा बुद्ध और ईसा ज्यादा वडे महापुरुप माने जाते है। इसी प्रकार जहाँ हम सब प्रकार की त्रुटियो अथवा भूलो पर रुष्ट होते है, वहा नैतिक त्रुटियो के प्रति जितना रोप प्रकट किया जाता है उतना दूसरी भूलो के लिये नही।

इन विचारणाओ से हम निम्न निष्कर्प निकालते है। विभिन्न लोगो के व्यवहारो तथा व्यक्तित्वो में कई तरह की श्रेष्ठता हो सकती है, एक व्यक्ति कवि रूप मे प्रशसनीय हो सकता है, और दूसरा परोपकारी समाज-सेवक के रूप में। किन्तु उन श्रेष्ठताओ मे, सम्भवत, नैतिक श्रेष्ठता को ज्यादा महत्व दिया जाता है। यहाँ याद रखना चाहिए कि जव हम दो विभिन्न वर्गो की श्रेष्ठताओ की तुलना करे, तो हमे उनके समान स्तर पर ही ध्यान देना चाहिए। उदाहरण के लिए यह उचित न होगा कि हम एक महाकवि की तुलना एक छोटे से समाज-सेवक से करने लगे, अथवा एक गाधी जैसे वडे मानव-हितैपी की तुलना एक साधारण कवि अथवा वैज्ञानिक से करने लगें। हमने यह भी देखा कि एक व्यक्ति नैतिक दृष्टि से प्रशसनीय न होते हुए भी दूसरी दृष्टियो से महत्वशाली हो सकता है। इस सम्बन्ध में एक दूसरे निष्कर्प की ओर भी हम आपका ध्यान आकृष्ट करेगे। यदि नैतिकता का अर्थ कर्तव्य-पालन तक सीमित कर दिया जाय, तो यह कहना होगा कि सन्तो का जीवन तथा चरित्र नैतिकता के दायरे से वाहर की चीज़ होती है।

ऊपर हमने नैतिक जीवन के जिन नियमो का उल्लेख किया है उनका सम्बन्ध कर्तव्य-पालन के क्षेत्र से है, साधुता के क्षेत्र से नही। नैतिक जीवन के नियम यह वतला सकते है कि मनुष्य, सामाजिक सन्तुलन तथा औचित्य की रक्षा के लिये, कैसे व्यवहार करे। खास तौर से वे यह वता सकते है कि मनुष्य क्या न करे। किन्तु मनुष्य वहुत उच्च कोटि का जीवन कैसे प्राप्त करे, अपने जीवन में उच्चतम कोटि की कला-सृष्टि अथवा विचार-सृष्टि कैसे करे, इसके लिए नियमो का निर्देश नही किया जा सकता। मानव-व्यवहार के किन्ही भी नियमो की जानकारी से जिस प्रकार कोई व्यक्ति महाकवि अथवा वडा गणितशास्त्री नही वन सकता, वैसे ही उन नियमो की जानकारी से कोई

एक ऊँची कोटि का साधु अथवा धर्म-शिक्षक भी नही बन सकता। जीवन की विभिन्न भूमिकाओं में मनुष्य का व्यवहार सृजनात्मक होता है, और उस सृजनात्मक जीवन का कोई निश्चित नियम या कानून नही है।

नैतिक जीवन और व्यवहार का कोई वह विवरण पूर्ण नही समझा जा सकता जो मनुष्य द्वारा की जाने वाली दूसरे मूल्यो की खोज की उपेक्षा करेगा। सच यह है कि आचार-दर्शन को सभ्यता और सस्कृति के सामान्य विवेचन से अलग नही किया जा सकता। इस प्रश्न का कि "मानव जीवनमूल्यो के बीच, उन मूल्यो के जो सभ्यता तथा सस्कृति की धारणाओ मे निहित है, नैतिकता का स्थान कहाँ है?" हमारा उत्तर इस प्रकार होगा। यदि नैतिकता का अर्थ कर्तव्य-पालन लिया जाय, तो नैतिक व्यवहार का अर्थ होगा सभ्य व्यवहार। समाज की विभिन्न सस्थाएँ सभ्य व्यवहार के रूपो को अनिवार्य प्रथाओ अथवा रूढियो का रूप दे देती है। इस व्यवहार का सम्बन्ध श्रेष्ठ जीवन के साधनो से होता है, उनका उद्देश्य जीवन-व्यापार को ठीक से, स्वतन्त्र रूप से, चलाना रहता है। किन्तु जिसे हमने साधुता का व्यवहार कहा है वह उपयोगिता के दायरे का अतिक्रमण करता है, उसकी स्थिति सास्कृतिक मूल्यो के बीच है। जिन्हे हम साधु पुरुष कहते है उनका व्यवहार स्वय उन्ही के व्यक्तित्वो को पवित्र नही करता, वह व्यवहार जहाँ विपन्न मनुष्यो को सुखी बनाता है, वहाँ दर्शको को उदार परोपकार-भावना से अनुप्राणित भी करता है।

## व्यक्ति और समाज

अब हम नीति-शास्त्र के कतिपय कठिन प्रश्नो से उलझने का प्रयत्न करेगे। क्यो व्यक्ति समाज के लिये किसी प्रकार का त्याग करे? क्यो वह अपने साथियो के लिये कोई कष्ट उठाये? समझा जाता है कि इस प्रकार त्याग करना नैतिक दृष्टि से वाञ्छ-नीय है। किन्तु हम कह चुके है कि नैतिक व्यवहार वह व्यवहार है जो किसी अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक हो। भला आत्म-त्याग द्वारा कौन से लक्ष्य की प्राप्ति होती है? इसी से सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न है—यह कहने का क्या तात्पर्य हो सकता है कि साधुता (Virtue) स्वय ही अपना पारितोषिक है, स्वय अपना लक्ष्य है? यह मान्यता प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट के सिद्धान्त से सम्बन्धित है, लेकिन काण्ट ने स्वय ही कहा था कि केवल साधुता अथवा नैतिक उत्कृष्टता काफी नही है उसके साथ सुख को

भी सहचारित होना चाहिए। जो मनुष्य जितना ही अधिक साधु-प्रवृत्ति होता है, उसे उतना ही अधिक सुख प्राप्त होना चाहिए।

इन समस्याओ को हल करने के लिये यह जरूरी है कि हम मनुष्य की सामाजिक प्रकृति और उसकी जरूरतो को ठीक-ठीक समझे। कन्फ्यूशियस तथा प्लेटो के समय से यह मान्यता चली आती है कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है। कुछ आधुनिक विचारकों का खयाल है कि मनुष्य से नीचे की भूमिका मे भी सामाजिक जीवन उपस्थित होता है उदाहरण के लिये वन्दरो आदि मे भी सामाजिक जीवन पाया जाता है। किन्तु पशु की भूमिका मे सामूहिक अस्तित्व मुख्यत आत्म-रक्षण का उपकरण होता है। प्लेटो ने वतलाया था कि मानवीय धरातल पर समाज हमारी जरूरतो की सहयोग-मूलक पूर्ति मे सहायक होता है। सामाजिक जीवन मे इस सहयोग का अर्थ विभिन्न श्रमो का विभाजन है। समाज मे विभिन्न मनुष्य अलग-अलग कोटियो के काम करते हुए एक-दूसरे की आवश्यकता-पूर्ति मे सहायक होते है। दूसरे, मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो कल्पनाशील है, इसलिये वह भविष्य की वात सोचता है। वह केवल आज की आवश्यकताओ की पूर्ति की ही चिन्ता नही करता, वल्कि उन आवश्यकताओ के भविष्य मे आने वाले दबाव की बात भी सोचता है। इस प्रकार सुरक्षा की इच्छा मनुष्य द्वारा उस वस्तु का निर्माण कराती है जिसे हम सभ्यता कह आये है। सभ्यता की प्रगति के मुख्यत दो रूप है उन उद्योगधन्धो की अधिकाधिक पूर्णता जिनके द्वारा उपयोगी चीजे निर्मित की जाती है, और उन सस्थाओ का विकास जिनके द्वारा क्रमश अधिकाधिक मनुष्यो में सहयोग बढता है। किन्तु मनुष्य अथवा नरनारी उपयोगी सामग्री के उत्पादन के लिये जहाँ सहयोग करना चाहते है, वहाँ उस सामग्री पर अधिकार करने के लिए आपस मे लडते भी है। दुनिया मे सम्पत्ति के लिये सघर्ष चलता है, और शक्ति के लिये भी, इन सघर्षो के परिणामस्वरूप विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो के बीच प्रतियोगिता, वर्ग-युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय (राष्ट्रो के बीच) युद्ध होते है। इस प्रकार व्यक्तियो, समूहो, वर्गो तथा राज्यो के वीच नियत्रणकर्ता और नियन्त्रित का सम्बन्ध उत्पन्न होता है। सभ्यता की उन्नति का एक अर्थ यह भी है कि व्यक्तियो तथा दलो के ऊपर पडने वाले अन्यायपूर्ण नियत्रण एव दवाव खत्म हो जायँ, और क्रमश अधिकाधिक व्यक्तियो, समूहो, तथा जातियो को आत्म-शासन का अधिकार मिले।

ऊपर की विचारणाओ से निम्न अप्रिय निष्कर्ष निकलता है मनुष्यो की एकता तथा पारस्परिक प्रेम और आदर का कारण यह नही है कि वे सुरक्षा तथा स्वतन्त्रता

चाहते हैं। ये उपयोगी प्रेरणाएँ अक्सर उनके बीच संघर्ष भी उत्पन्न करती हैं। अक्सर ऐसा होता है कि मनुष्य सम्पत्ति तथा शक्ति से प्राप्त होने वाले अवकाश, स्वतंत्रता तथा सुरक्षा के लिये दूसरों को हानि पहुँचाने को उद्यत हो जाते हैं। समाज अथवा पुलिस का भय ही उन्हें वैसा करने से कुछ हद तक रोक पाता है।

मैं यहाँ एक दूसरा मन्तव्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मेरी समझ में मनुष्य की सामाजिकता का मूल उसकी पशु-सुलभ जरूरतों में नहीं है, उसका मूल मनुष्य की सृजनशील प्रकृति में है। यदि हम जीव-योनियों के विकास का अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि हर धरातल पर जीवधारी परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया करने में सृजनात्मक विविधता का समावेश कर लेते हैं। अनेक जीव झुण्डों में रहना चाहते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि वे एक-दूसरे की भौतिक समीपता में आनन्द का अनुभव करते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि दूसरे ऐसे जीवों की सन्निधि, जो हमारे मित्र हैं, अथवा कम-से-कम शत्रु नहीं हैं, हमें स्वास्थ्यकर प्रतीत होती हैं। यही कारण है कि मेलों तथा उत्सवों में इतनी भीड़ रहती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अधिकतर जीवनधारी एक-दूसरे की भौतिक निकटता को पसन्द करते और उसकी कामना करते हैं।

किन्तु मनुष्य अपने साथियों की भौतिक निकटता ही नहीं चाहता, वह उनके आध्यात्मिक सामीप्य की भी कामना करता है। मानव व्यक्ति लगातार प्रतीकों के माध्यम से दूसरे नर-नारियों की जीवन-क्रिया में साझेदार बनता है, और इस प्रकार अपने अस्तित्व को अनुक्षण, नया तथा समृद्ध बनाता रहता है।

मनुष्य की सृजनशील प्रकृति में दो प्रकार की हलचलें होती रहती हैं। एक ओर तो वह दूसरों के अनुभवों तथा संवेदनाओं को ग्रहण करके अपने अस्तित्व का प्रसार करता है, दूसरी ओर वह यह चाहता है कि उसकी अपनी अनुभूतियाँ दूसरों के द्वारा ग्रहण की जायें और सराही जायें। कोई कवि केवल अपने ही लिये गीत नहीं लिखता, और कोई दार्शनिक केवल अपने उपयोग के लिये सिद्धान्तों का निर्माण नहीं करता। ऐसा जान पड़ता है कि शारीरिक जीवन की भांति आध्यात्मिक जीवन भी अपने को पुनः पुष्ट करके बनाये रखना चाहता है। दूसरों के अनुभवों को ग्रहण करने तथा जीने की हमारी कामना कितनी बलवती होती है, इसका सबूत किसी भी रंगमंच अथवा सिनेमा में पहुँच कर प्राप्त किया जा सकता है। हम सिनेमा जाते हैं, इसका मुख्य

कारण यह है कि, सिनेमा-हाल मे वैठकर, फिल्म के अभिनेताओ के कार्यकलाप देखते हुए, हम उनकी प्रतिक्रियाओ तथा भावनाओ का आरोप स्वय अपने ऊपर कर लेते है, जिससे हमारे जीवन की क्रिया वेगवान हो जाती है। इसी प्रकार नित्य प्रति अखवार तथा पुस्तके पढकर, ओर अपने मित्रो के साथ लम्वी-चौडी गप करके, हम अपनी जीवनगति को तीव्र तथा समृद्ध वनाते है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति के कारण एकान्तवास का दण्ड बहुत कडा दण्ड समझा जाता हे।

हमारी वस्तु-सग्रह की प्रवृति हमे स्वार्थी तथा हिसाव रखने वाला वना देती हे। उस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर हम दूसरे मनुष्यो को केवल साघन-रूप मे देखने लगते है, जिनका सम्वन्घ व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये उपयोगी होना चाहिए। किन्तु जव व्यक्ति सृजन-मूलक साहचर्य खोजता है, तो उसे सपर्क मे आनेवाले नर-नारी दूसरी ही रोशनी मे दिखाई देते है । ऐसा व्यक्ति दूसरे मनुष्यो के विकास तथा उन्नति मे अभिरुचि लेता है, इसलिये नही कि उस उन्नति से कोई व्यक्तिगत भोतिक लाभ होगा, बल्कि इसलिये कि उनकी आध्यात्मिक उन्नति तथा उससे समृद्ध होने वाले जीवन मे वह स्वय भी साझेदार हो सकेगा, और इस प्रकार अपने आनन्द की वृद्धि कर सकेगा। तो, एक मनुष्य दूसरो के लिये त्याग क्यो करे ? हमारा उत्तर है कि एक आध्यात्मिक एव सृजनशील प्राणी होने के नाते ही हम मनुष्य से यह आशा तथा प्रार्थना कर सकते है कि, न केवल वह दूसरे मनुष्यो मे अभिरुचि ले, बल्कि उनके लिए त्याग भी करे।

कुछ ऐसे ही प्रयोजन की पूर्ति के लिए उच्च प्रकृति के पुरुष अपनी क्षुद्र प्रवृत्तियों को उच्च प्रवृतियो के नियत्रण मे रखते है। सामाजिक जीवन यह जरूरी बना देता है कि हम एक सीमा तक आत्म-नियत्रण करे, किन्तु उच्च कोटि के लोग केवल इसलिये भी आत्मनियत्रण करते है, इसलिये भी इद्रियो तथा मन को वश मे रखना सीखते है, कि वैसा करने से व्यक्तित्व की ऊर्ध्व प्रगति होती है । अन्तत मनुष्य की प्रगति का अर्थ यह है कि वह कमश उन मूल्यो को प्राप्त करने के प्रयत्न से विरत हो जाय जो केवल व्यक्तिगत है, और उन मूल्यो की खोज करे जो निर्वैयक्तिक है। जब हम स्वतत्रता, न्याय, सत्य, कला, साहित्य, आदि की प्रतिष्ठा के लिये प्रयत्न करने का महत्व समझ लेगे, तो हमारे लिए यह कठिन न होगा कि हम दूसरो के लिये त्याग करे ।

यह समझना गलत है कि इस प्रकार त्याग करने मे कोई आनन्द नही होता।

जब एक कवि अच्छा गीत लिखने के लिये और एक वैज्ञानिक एक बढ़िया सिद्धान्त की कल्पना के लिये प्रयत्न करता है, तो वह एक ऐसी चीज़ की सृष्टि करता है जिसका अनुचिन्तन उसे तथा दूसरे समानधर्मा लोगों को भी सदैव आनन्द देता रहेगा। जब दूसरे लोग हमारी आध्यात्मिक सृष्टियों में आनन्द लेते हैं तो हमें कुछ वैसा ही सुख होता है जैसा कि उस माँ को जिसके बच्चे को प्रशंसा या प्रेम दिया जा रहा है। एक नयी आध्यात्मिक सृष्टि करने में वैसे ही परिश्रम तथा आनन्द होता है जैसे कि एक नये बच्चे को जन्म देने में। दोनों ही प्रकार की सृष्टियों के मूल में जीवन की वह अदम्य प्रवृत्ति रहती है जो उसे अपने को बार-बार उत्कृष्ट करने को बाध्य करती है।

## साधुता स्वयं अपना साध्य है

वह परोपकारी साधु-प्रकृति का मनुष्य जो लगातार दूसरों के लिये अपने सुख का बलिदान करता है, एक दूसरी कोटि के आनन्द को प्राप्त करता है। कलाकार तथा वैज्ञानिक की भाँति वह पुरुष भी उन सुखों के प्रति उदासीन होता है जिनका सम्बन्ध हमारी सृजनशील प्रकृति से नहीं है। साधु व्यक्ति उन वस्तुओं की कामना नहीं करता जो अधिकांश लोगों को आकृष्ट करती हैं। इस प्रकार वह अपने को उन वस्तुओं की ज़रूरत से मुक्त कर लेता है। स्वयं मुक्त होकर वह अपने उन साथियों की मदद करने की कोशिश करता है जो ज़रूरतमन्द तथा दुखी हैं। दूसरे नर-नारियों की सेवा करते हुए वह स्वयं अपने कष्ट की परवाह नहीं करता। सेवा तथा सहायता द्वारा वह जीवन के ऐसे क्षणों अथवा रूपों की सृष्टि करता है जो दुखियों के कष्ट दूर करके उन्हें सुखी बनाते हैं, स्वयं साधु पुरुष उनके सुख से सुखी हो जाता है। एक परिश्रम से लिखी हुई कलाकृति में आलोचक लोग अक्सर दोष निकालते हैं, कला-सृष्टि से मिलने वाली प्रशंसा तथा सुख सुनिश्चित नहीं होते। किन्तु उपकारी व्यक्ति जो दुखियों की भलाई करता है, उसका परिणाम सबको प्रत्यक्ष होता है, उसके बारे में किसी शंका-सन्देह की गुंजाइश नहीं रहती। कला में रस लेने के लिये पूर्व शिक्षा की आवश्यकता होती है, किन्तु दुःख तथा कष्ट की अनुभूति इतनी सार्वभौम है कि उसे कम-से-कम बुद्धि के लोग समझ लेते हैं। उपकारी पुरुष कष्ट से मुक्ति तथा सुखपूर्ण जीवन-क्षणों की सृष्टि करता है। उन जीवन-क्षणों में जहाँ दुखियों का कष्ट सुख में बदल जाता है, वहाँ उस सृष्टि का कर्ता भी अप्रभावित नहीं रहता, देखने वालों को भी यह जानकर आनन्द होता है कि कुछ लोगों का दुःख दूर हो गया। कलात्मक

तथा विचारात्मक कृतियो का आनन्द कल्पना के उपभोग में रहता है, जब कि नैतिक कर्म द्वारा उत्पन्न आनन्द प्रत्यक्ष अनुभूत होता है । कला-सृष्टि तथा नैतिक सृष्टि के एक दूसरे अन्तर पर भी ध्यान देना चाहिए। नैतिक प्रयत्न का फल तुरन्त मिल जाता है, दुखियो के कष्ट के निराकरण के रूप मे । उपकारी साधु पुरुष प्रत्यक्ष देखता है कि उसका प्रयत्न सफल हुआ, उस प्रयत्न से कोई दूसरा व्यक्ति सुखी हुआ। किन्तु कलाकार अथवा विचारक के भाग्य में प्राय यह देखना नही होता कि उसकी कृति पाठको को कहाँ तक आनन्द दे रही है। उसके पास पाठको की प्रतिक्रिया सीधे नही पहुँचती, उसे केवल समीक्षको का न्यूनाधिक सहानुभूतिपूर्ण निर्णय ही सुनने को मिलता है।

क्या साधुता स्वय अपना पुरस्कार है ? उत्तर मे निवेदन है कि 'हां'। प्रेमी के चुम्बन की भाँति साधुता की व्यावहारिक अभिव्यक्ति दोनो सम्बद्ध पार्टियो को आनन्द देती है। यही कारण है कि साधु व्यवहार का प्रभाव सक्रामक होता है। कवि की प्रशसा सुनकर हम स्वय कविता लिखना शुरू नही कर देते। हम मे यह इच्छा पैदा हो सकती है कि हम भी कवि हो, किन्तु वह इच्छा हमे कवि बनने की योग्यता नही दे देती। किन्तु जब हम किसी उदार-प्रवृति व्यक्ति को दूसरो का भला करते देखते है, तो उसका हम पर सीधे प्रभाव पडता है। इस प्रकार का व्यवहार हम में परोपकार की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। प्लूटार्क ने लिखा है 'साधु व्यवहार की यह विशेषता है कि जहाँ हम उसकी प्रशसा करते हैं वहाँ हम मे उसके अनुकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होती है नैतिक श्रेष्ठता मे अपूर्व आकर्षण रहता है।'[5] किन्तु वह साधुता जो स्वय अपना पुरुस्कार होती है, कर्तव्य-पालन से ज्यादा ऊँची चीज है। समाज हमें कर्तव्य-पालन के लिए बाध्य कर सकता है, किन्तु वह हमें परोपकारी साधु बनने के लिये बाध्य कर नही सकता। कर्तव्यनिष्ठ पुरुप प्राय समाज की रूढियो तथा अनुशासन को मानकर चलने वाला होता है। इसके विपरीत साधु व्यवहार उन व्यक्तियो में ही पाया जाता है जिनकी नैतिकता सृजनात्मक है, और जो दूसरो के जीवन में सुख के क्षण उत्पन्न करने मे आनन्द अनुभव करते हैं। लोग कर्तव्य का पालन प्राय' अनिच्छा तथा भय से करते हैं। यदि पुलिस तथा समाज का भय न हो तो बहुत से लोग कानून की परवाह न करें। किन्तु असली अर्थ मे धार्मिक अथवा साधु पुरुप स्वेच्छा से दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार एक कथाकार अपने ही द्वारा दिये हुए अपने पात्रो के जीवन से तादात्म्य का अनुभव करने लगता है, वैसे ही साधु प्रकृति मनुष्य दूसरो को सुखी बनाकर स्वय उसी सुख का कल्पनात्मक उपभोग करता है।

साधु पुरुष हम उसे कहेंगे जो दूसरों के हित-साधन में सृजनात्मक आनन्द का अनुभव करता है। इसके विपरीत कर्तव्यनिष्ठ पुरुष प्राय समाज के नियमों तथा रूढ़ियों के अनुरूप चलने वाला होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ लोग कर्तव्य-पालन करने में आनन्द का अनुभव भी करते हैं। ऐसे लोग यह समझते हैं कि सामाजिक कानून तथा रीति-रिवाज निरर्थक नहीं हैं। वे लोग कल्पना द्वारा उन नियमों तथा रिवाजों की उपयोगिता तथा सौन्दर्य का आभास पा लेते हैं। ऐसे लोगों की स्थिति उन व्यक्तियों के, जो अनिच्छा से कर्तव्य का पालन करते हैं, तथा उन व्यक्तियों के जो स्वेच्छा से दूसरों का हितसाधन करते हैं, बीच में समझनी चाहिए।

कुछ विचारकों ने नि स्वार्थ अथवा दूसरों के हित-चिन्तन के जीवन के पक्ष में यह तर्क दिया है कि वैसा जीवन व्यवहार-नीति की दृष्टि से श्रेष्ठ होता है, अर्थात् वह अधिक विवेक तथा चतुराई का द्योतक है। उनका कहना है कि केवल अपने सुख की खोज स्वयं अपने ही उद्देश्य में असफल होती है। प्रकृतिवादी के पक्ष का समर्थन करते हुए श्री स्टेस ने लिखा है 'ईसा तथा बुद्ध जैसे नैतिक प्रतिभासम्पन्न महापुरुषों की बड़ी खोज यह थी कि स्वार्थपूर्ण जीवन सुखी जीवन नहीं होता, और अपने को सुखी बनाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम दूसरों के सुख के लिये प्रयत्न करें।' आगे वे कहते हैं 'ऐसा क्यों है, यह कहना मुश्किल है। मनुष्य सुखी नहीं हो सकता जब तक उसके चारों ओर सब सुखी नहीं हैं। कारण यह कि व्यक्ति सम्पूर्ण मानवता से सम्बद्ध है। मानवजाति के सुख में ही उसका सुख है।"

ऊपर के वक्तव्य से हमारा दो बातों में मतभेद है। यह नहीं कहा जा सकता कि स्वार्थपरता से कभी लाभ होता ही नहीं, और मनुष्य तब तक सुखी नहीं हो सकता जब तक कि दूसरे सब लोग सुखी न हों। पुराने जमाने में राजाओं तथा उनके पार्श्ववर्ती अमीरों और सब प्रकार के मालिकों के सुख का एक आधार यह भी रहा है कि वे दूसरों से काम कराके स्वयं आराम से रहते रहे हैं। हमारे प्रतियोगिता-प्रधान समाज में, जहाँ अच्छी नौकरी आसानी से नहीं मिलती, अक्सर एक व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हराकर नौकरी तथा उसके साथ सुख के साधन प्राप्त कर लेता है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कभी-कभी एक की हार अथवा असफलता दूसरे के सुख और सफलता का कारण बन जाती है। इस स्पष्ट तथ्य का खण्डन ऐसे किसी अनिश्चित सिद्धान्त द्वारा नहीं हो सकता कि व्यक्ति का अस्तित्व मानवजाति के अस्तित्व से संबद्ध है।

हम मानते है कि व्यक्तियो तथा जातियो के पारस्परिक सघर्ष, जिनका सम्बन्ध उनके स्वार्थो से होता हे, वास्तविक है। जैसा कि हमने पीछे सकेत किया, उन सघर्षो के मूल मे भौतिक सामग्री, महत्वपूर्ण पद आदि की एषणाएँ रहती है। इन सघर्षो का सम्बन्ध प्राय साधनो से रहता हे, और उनका लक्ष्य जरूरतो से मुक्ति तथा आर्थिक निश्चिन्तता या सुरक्षा है। अभिलषित साधन भौतिक पदार्थ तो होते ही है, कभी-कभी मनुष्य भी होते है।

यहाँ हम जिस जीवन-दर्शन का प्रतिपादन कर रहे है उसके अनुसार उक्त सघर्षो से उत्पन्न होने वाली समस्याओ का समाधान दूसरा ही हे। सम्भव हे कि इन सघर्षो को पूर्णतया खत्म न किया जा सके, शायद उनकी पूर्ण समाप्ति श्रेयस्कर भी न हो, लेकिन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्थाओ मे उचित परिवर्तन द्वारा उन्हे कम जरूर किया जा सकता हे। इस समस्या पर हम आगे अधिक प्रकाश डालेगे। यहाँ हम उस जीवन-दृष्टि का सकेत करने की चेष्टा करेगे जो व्यक्ति के लिये उपादेय है। विभिन्न मूल्यो के प्रति व्यक्ति का रुख कैसा होना चाहिए ?

इस प्रसग मे हमे एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिए। विभिन्न मनुष्यों के स्वार्थो एव हितो मे सघर्ष होता है, यह सत्य है, किन्तु स्वय व्यक्ति की विभिन्न रुचियो मे भी सघर्ष हो सकता है। हरेक व्यक्ति के जीवन मे कभी-कभी ऐसे अवसर आते है, जब वह दो कार्य-दिशाओ मे से ठीक से चुनाव नही कर पाता। "जीने की कला" के सम्बन्ध मे हमारे विचार इस प्रकार है। चूंकि मनुष्य अपनी प्रकृति से एक सृजनशील प्राणी है, इसलिये वह तब तक पूर्णतया सुखी नही हो सकता जब तक वह अपनी सृजनात्मक शक्तियो के उपयोग की व्यवस्था न करे। धन, सम्पत्ति तथा भौतिक सामग्री अवश्य ही मनुष्य के सुख मे वृद्धि करती है, किन्तु उनसे मिलने वाले सुख प्राय निषेधात्मक होते है। औसत आदमी अपनी जरूरतो की पूर्ति के सम्बन्ध मे निश्चिन्तता चाहता है, इसलिये वह एक निश्चित आय की कामना करता है। किन्तु इस प्रकार की निश्चिन्तता अथवा सुरक्षा की भावना काफी नही है। मनुष्य तब तक सुखी नही हो सकता जब तक वह कोई सृजनात्मक कार्य न करता रहे। जिसे हम इस पुस्तक मे सस्कृति के नाम से पुकारते आये है, वह केवल एक दिखावे की चीज नही है। वह मानव-प्रकृति की आवश्यकता है। इसलिये वह कलाकार या विचारक जिसकी आय मामूली है, एक ऐसे करोड़पति से जिसका व्यक्तित्व सस्कृत नही है, अधिक सुखी हो सकता है।

साथ ही हमें कहना है कि मनुष्य की सृजनशील प्रकृति अपने को विविध रूपों से अभिव्यक्त तथा सन्तुष्ट कर सकती है। सम्भवत साधु मनुष्य की नैतिक सृजनशीलता, कुछ दृष्टियों से, समान श्रेणी के कलाकार अथवा गणितशास्त्री की सृजनशीलता से अधिक सन्तोषप्रद होती है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि दूसरों के हित-चिन्तन अथवा परोपकार में लगे बिना मनुष्य सुखी हो ही नहीं सकता। हमारा विश्वास है कि एक बड़ा कवि, दार्शनिक अथवा गणितशास्त्री दूसरों के हित-चिन्तन की विशेष परवाह किये बिना भी सुखी हो सकता है। लेकिन वह कोई व्यक्ति पूर्णतया सुखी नहीं हो सकता जो अपनी सृजनात्मक शक्तियों का उपयोग करना नहीं सीखता, और केवल उपयोगिता के क्षेत्र में परिश्रम करता रहता है। केवल अपने हितों तथा स्वार्थों में ज्यादा फँसे रहना सिर्फ इसीलिये बुरा नहीं है कि उससे कभी-कभी दूसरों के हितों की हानि होती है, बल्कि इसलिये भी कि वैसी प्रवृत्ति हमारी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को कमजोर बनाती हैं। एक बड़े-से-बड़ा भौतिकवादी भी तब तक जिन्दगी से अधिकतम आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता जब तक वह अपनी स्वार्थपरता, लोभ तथा परिग्रह-शीलता पर कुछ नियमण न करे, और अपनी सृजनात्मक प्रकृति के कोमल पक्षों का विकास न करे। एक ऐसा व्यवसायी व्यक्ति जिसने कठोर लेन-देन के व्यापारों में अधिक फँसे रहकर अपनी नैसर्गिक मृदुलता को खो दिया है, कभी भी उस उच्च कोटि के आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता जो गहरी कोमल मैत्री के सम्बन्ध में प्राप्त होता है, अथवा जो ललित कलाओं के रस-ग्रहण तथा चिन्तनात्मक ग्रंथों के अध्ययन से उपलब्ध होता है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. एस० ई० टलमिन, ऐन एग्जामीनेशन आव् द प्लेस आव् रीजन इन एथिक्स, (केम्ब्रिज, १९५०), पृ० ११।

२. दे० बर्ट्रान्ड रसेल, हिस्टरी आव् वेस्टर्न फिलासफी, पृ० २६७।

३. दे० प्लूटार्क, लाइव्ज (सिलेक्टेड), (मेस्टर बुक्स, १९५२), पृ० १८३।

४. वही, पृ० १८७।

५. वही, पृ० ६४।

६. डब्ल्यू० टी० स्टेसग्रिसेन प्रिंट द माडर्न माइन्ड, (मैकमिलन, १९५३), पृ० २८८।

------

# अध्याय ८

## धर्म-दर्शन की प्रकृति और पद्धति

इस अध्याय मे हम मानव-जीवन तथा अनुभूति के उस पक्ष का विचार करेंगे जिसे अंग्रेजी मे 'रिलीजन' कहते हैं। हमारी भाषा मे 'रिलीजन' का कोई ठीक पर्याय नही है। धर्म शब्द का सम्बन्ध आचार-नीति से अधिक है, मोक्ष अथवा पूर्णता की खोज से कम। जो जीवन मोक्ष अथवा पूर्णत्व की खोज करता है, वह कर्तव्य-पालन-रूप नैतिकता से उदासीन भी हो सकता है। आध्यात्मिक जीवन के इस पहलू को "मोक्ष-धर्म" कह सकते हैं। हमारी भाषा मे आध्यात्मिक शब्द का प्रयोग प्राय मोक्षान्वेषी जीवन के लिये होता है।

सब प्रकार के विश्लेषण का स्वरूप विश्लेषण के प्रयोजन से निर्धारित होता है। दार्शनिक विश्लेषण का प्रयोजन है, विश्लेष्य की प्रामाणिता तथा महत्व को आँकना। विलियम जेम्स ने यह सम्मति प्रकट की है कि धार्मिक अथवा आध्यात्मिक प्रवृत्तियो के स्वरूप का अन्वेषण उनके मूल्याकन से अलग रखा जाना चाहिए। वह कहते हैं

हाल की लिखी हुई तर्क-शास्त्र-सम्बन्धी पुस्तको मे किसी वस्तु से सम्बन्धित दो प्रकार के अन्वेषणो मे अन्तर किया गया है। पहले अन्वेषण के क्षेत्र में पूछा जाता है कि वस्तु का स्वभाव क्या है? वह कैसे अस्तित्व मे आयी? उसकी रचना या बनावट, उद्भव तथा इतिहास क्या है? दूसरे अन्वेषण के क्षेत्र मे हम पूछते हैं, उस वस्तु का जो अब अस्तित्ववान है, महत्व अथवा प्रयोजन क्या है? पहले प्रश्न के उत्तर में एक तथ्य-सम्बन्धी कथन किया जाता है। दूसरे के उत्तर मे एक मूल्यात्मक कथन करना पडता है।[1]

जेम्स का विचार ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तु के सत्तामूलक तथा ऐतिहासिक विश्लेपण में कोई प्रयोजन निहित नही होता, वैसा विश्लेपण प्रयोजन को छोडकर

किया जा सकता है। किन्तु यह सही नही है। आश्चर्य की बात है कि उपयोगितावादी अथवा व्यवहारवादी (Pragmatist) होते हुए भी जेम्स यह न देख सके कि अन्वेषक के प्रयोजन और उसके अन्वेषण मे आवश्यक लगाव होता है। हमारा विचार है कि हम किसी घटना अथवा वस्तु का पूर्ण विश्लेषण नही कर सकते। सब प्रकार का विश्लेषण एकागी अथवा आशिक होता है, कार्य-कारण-मूलक विश्लेषण भी इसका अपवाद नही है। जब हम किसी वस्तु या घटना का सकेत करते है तो हमेशा उसके किसी पहलू पर ध्यान देते हैं, और उस पहलू के कारणो का ही निर्देश करते है। मतलब यह है कि हमारा ज्ञान आवश्यक रूप मे अमूर्त (Abstract) अथवा चयनात्मक होता है। इसलिये जब दार्शनिक किसी चीज का विश्लेषण इस दृष्टि से करता है कि बाद में वह उसका मूल्याकन करे तो, आवश्यक रूप मे, उसका विश्लेषण उस वैज्ञानिक के विश्लेषण से भिन्न हो जाता है जिसका लक्ष्य पदार्थ की बनावट या रचना का उद्घाटन है। उपरोक्त उद्धरण मे जेम्स ने एक दूसरी गलती भी की है, उसका यह विचार गलत है कि किसी वस्तु की रचना, उद्भव तथा इतिहास-सम्बन्धी प्रश्न एक ही कोटि के होते हैं। केवल जीवित प्राणियो का इतिहास होता है, और वस्तु के उद्भव के अन्वेषण का एक जीव-विज्ञानी के लिये वही अर्थ नही होता जो एक समाजशास्त्री अथवा भौतिक विज्ञान के ज्ञाता के लिये होता है।

मोक्षधर्म के अध्ययन के सम्बन्ध मे जेम्स ने एक और परामर्श दिया है, जो ज्यादा रोचक है। जेम्स का कहना है कि आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन हम साधारण लोगो के अनुभवो के आलोक मे न करके उन आध्यात्मिक प्रतिभाओ के जीवन की अपेक्षा मे करें जिनके लिये आध्यात्मिक साधना एक तीव्र ज्वर जैसा अस्तित्व रखती है।[2] मतलब यह कि आध्यात्मिक जीवन को समझने के लिये हमें उसके ज्यादा विकसित रूपो पर ध्यान देना चाहिए। जेम्स का यह मत हमें उचित लगता है। जब हम कला की प्रकृति समझना चाहते हैं तो हम उसका अध्ययन बड़े कलाकारो की कृतियों की अपेक्षा मे करते हैं, यद्यपि कलात्मक रुचि प्राय सभी मनुष्यों मे पाई जाती है। इसी प्रकार जब हम उपन्यास अथवा गणित का स्वरूप समझना चाहते हैं तो हम बड़े उपन्यासकारों तथा गणितशास्त्रियो की कृतियो पर ध्यान लगाते हैं, यद्यपि कहानी कहने तथा गिनने की प्रवृत्तियाँ सभी मनुष्यों मे पाई जाती है। जेम्स के पक्ष मे एक दूसरी परिस्थिति भी है। अपने उन्नत रूप में ही मोक्ष धर्म जादू-टोना, पुराणो तथा दूसरी सम्बद्ध चीजो से अलग हो पाता है। प्रसिद्ध जर्मन विचारक वुण्ट ने लिखा

है कि सास्कृतिक चेतना को हम जितने ही कम विकसित रूप मे देखते है, उतना ही हम पाते है कि मोक्ष-धर्म-सम्बन्धी तत्व दूसरे तत्वो मे मिश्रित हो रहे है।[३] किसी जाति की पौराणिक गाथाओ में तत्वदर्शन, कविता, नीति-भावना तथा मोक्षधर्म के तत्त्व सकुल रूप में मिश्रित होते है। अतएव यदि हम "रिलीजन" या आध्यात्मिक साधना के स्वरूप को समझना चाहते है, तो हमे उन रहस्यवादी सन्तो तथा दूसरी कोटि के साधको की जीवनियो का अध्ययन करना चाहिए जिनमे आध्यात्मिक खोज विकसित रूप में वर्तमान थी।

जेम्स के मत की आलोचना की गई है। यूरेन नामक लेखक का कहना है कि जेम्स का प्रसिद्ध ग्रथ "वेराइटीज आफ रिलीजस एक्सपीरियन्स" अपवादो का अध्ययन करता है।[४] चूंकि जेम्स यह दावा करते है कि वह समस्त आध्यात्मिक अथवा धार्मिक अनुभूति का अध्ययन कर रहे है, इसलिये अपवाद जैसे दीखने वाले अर्ध-विक्षिप्त लोगो के अनुभव सामान्य आध्यात्मिक अनुभूति के प्रतिमान नही बन सकते। न आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में, न कला मे ही हम अपवादो को अपना मानदण्ड बना सकते है। उदाहरण के लिये कला के क्षेत्र मे अनेक अजीब वाद पाये जाते है जैसे कि अनागतवाद (Futurism) समघनवाद (Cubism), वर्तुल-गतिवाद (Vorticism) इत्यादि, ऐसे वादो के आधार पर हम कला के स्वरूप का ठीक से निर्धारण नही कर सकते।[५]

अपनी समीक्षा के बावजूद यूरेन को मानना पडा है कि जेम्स की पुस्तक एक महत्वपूर्ण कृति है। ऐसा जान पडता है कि जेम्स द्वारा बताई हुई पद्धति सफलता से काम करती है। वास्तविकता यह है कि जिसे हम असामान्य (Abnormal) कहते है, फिर चाहे उसकी उपस्थिति विक्षिप्त व्यक्ति मे हो अथवा प्रतिभाशाली में, स्वय सामान्य का ही अतिरजित रूप है। सामान्य और असामान्य के बीच कोई खाई नही है। सामान्य जीवन के आधार पर ही असामान्य की भी व्याख्या की जा सकती है। सच यह है कि हम असामान्य को जहाँ तक समझ पाते है वहाँ तक यही जानते है कि किस प्रकार वह सामान्य की ही एक सम्भाव्य परिणति है। हम नेपोलियन अथवा गाधी जैसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियो को समझ पाते है, क्योकि उनकी विशिष्टताएँ सामान्य गुणो का ही अतिरजित रूप होती है।

जिस प्रकार सामान्य तथा असामान्य के बीच अविच्छिन्नता (Continuity)

है, वैसे ही आदिम तथा सभ्य समाजों में भी। यदि हमारी और आदिम मनुष्यों की प्रकृति में समानता न हो, तो हम उन्हें हर्गिज न समझ सकें। प्रश्न है, इस अविच्छिन्नता का स्वरूप क्या है? गैलोवे ने लिखा है 'मानव प्रकृति एक है, जिसके कारण आज घटित होने वाली मानसिक क्रियाएँ वैसी ही अतीत क्रियाओं को समझने की कुंजी बन जाती हैं। अपने बौद्धिक व्यापारों में मनुष्य ने बड़ी उन्नति कर ली है, किन्तु बौद्धिक जीवन के पीछे वे संवेदनाएं, प्रवृत्तियाँ तथा प्रेरणाएँ होती हैं जो मानव विकास की सभी भूमिकाओं में प्राय वही रहती हैं।'[1] किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि आज की "संस्कृतियाँ" आदिम "संस्कृतियों" का विकसित रूप हैं, और वे "संस्कृतियाँ" आधुनिक "संस्कृतियों" तक पहुँचने की सीढ़ियाँ मात्र हैं। आदिम तथा आधुनिक की अविच्छिन्नता की एक दूसरी व्याख्या सम्भव है। विभिन्न ऐतिहासिक जातियों अथवा समाजों ने जिन विभिन्न "संस्कृतियों" को विकसित किया है, वे उन विभिन्न रूपों की प्रतीक हैं जिनमें मानव-जीवन अपने को अभिव्यक्त तथा सन्तुष्ट कर पाता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मानव-शिशु को, उसके जन्म के बाद, जिस "संस्कृति" में रख दिया जाय वह उसी के अनुरूप बन जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विभिन्न "संस्कृतियाँ" एक ही मानव-प्रकृति की विभिन्न सृजनात्मक सम्भावनाएं प्रकट करती हैं। किन्तु यह समझना भूल होगी कि मनुष्य के व्यवहारों की अत्यन्त विविधरूपता का कारण उसकी सृजनशीलता ही है। मनुष्यों के विभिन्न भौतिक परिवेश, उनके विभिन्न सामाजिक अनुभव, उनकी परम्पराओं की विभिन्नताएँ, जो उनकी प्रथाओं तथा रूढ़ियों में प्रतिफलित होती हैं, तथा उनके दूसरी जातियों से सम्पर्कित होने के अवसर, ये सभी मानव-समाजों के विभिन्न जीवन-रूपों का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

किन्तु कोई भी "संस्कृति" मानव प्रकृति से बाहर नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों में दो प्रकार के भेद मुख्य होते हैं : एक उनकी आस्थाएँ तथा विश्वासों के भेद, और दूसरे उनके प्रकृति पर स्वनाधिकार नियन्त्रण के भेद। विभिन्न जातियों के विभिन्न विश्वासों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले निष्कर्षों को हम वैसे ही समझा करते हैं जैसे कि कल्पित मान्यताओं अथवा स्थापनाओं के निष्कर्षों को। जब हम कहते हैं कि आदिम तथा सभ्य मनुष्य के बीच अविच्छिन्नता है, तो हमारा यह मतलब नहीं होता कि उनकी आस्थाएँ तथा विश्वास एक-से हैं। हमारा तात्पर्य यह है कि आदिम तथा सभ्य मनुष्य दोनों सुन्दर तथा असुन्दर, न्यायपूर्ण तथा रहस्यमयी सत्ताओं के प्रति

एक-सी ही आवेगात्मक प्रतिक्रिया करते हैं। यह ठीक है कि मानव-चेतना तत्व पदार्थों के अथवा विश्व की सचालक शक्तियो के, बारे मे लगातार भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करती आई हैं। उसके लिये सौन्दर्य, शक्ति तथा रहस्यमयता के रूप भी बदलते रहते हैं। फिर भी इन चीजो से सम्बद्ध मनुष्य की मूल भावनाएँ या प्रतीतियाँ प्राय वही रहती हैं। उन प्रतीतियो की समानता के कारण ही आज का सभ्य पुरुष आदिम जातियो की आवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को समझ सकता है, और उनकी व्याख्या कर सकता है। इस सिद्धान्त का एक निष्कर्ष यह है कि आदिम जातियो का मोक्षधर्म तथा आधुनिक मनुष्यकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियोकी व्याख्या एक ही सिद्धान्त द्वारा सभव होनी चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे कि आदिम कला तथा आजकी कला को समझने के लिये भिन्न सिद्धान्तो की कल्पना नही की जाती, बल्कि एक ही सिद्धान्त-सूत्र की अवतारणा की जाती है।

## धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का स्वरूप

**धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति, हमारे-मत में मूलत एक रहस्यपूर्ण परिणति, लक्ष्य अथवा उपस्थिति (सत्ता) की प्रतीति है जो जीवन के समस्त मूल्यों का मूल या आधार समझी जाती है।** जिसे हम धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन कहते हैं, वह वह जीवन है जो उक्त लक्ष्य तथा सत्ता की सापेक्षता मे जिया जाता है। यह परिभाषा धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना तथा जीवन के विषय के सम्बन्ध मे मुख्यत दो बाते कहती है प्रथमत उस विषय के स्वरूप का हमे धुँधला आभास ही रहता है, दूसरे, यह समझा जाता है कि वह विषय या तत्व उन सब मूल्यो का आधार है जिनका अन्वेषण मनुष्य करता है। धार्मिक चेतना के इस विषय की कभी एक ईश्वर के रूप मे कल्पना की जाती है, और कभी अनेक देवी-देवताओ के समूह के रूप मे। दूसरी स्थिति मे ऐसी भावना या मान्यता रह सकती है कि विभिन्न देवी-देवताओ मे पूर्णत्व के विभिन्न पहलू मौजूद है। उदाहरण के लिये ऋग्वेद के दो सबसे महत्वपूर्ण देवता इन्द्र और वरुण समझे जाते हैं। इन्द्र बल तथा शक्ति के अधिष्ठाता हैं, और वरुण मुख्यत नैतिक व्यवस्था के सरक्षक हैं। एकेश्वरवादी धर्मों मे अकेले ईश्वर को सब प्रकार के गुणो तथा ऐश्वर्यों का आश्रय माना जाता है। बौद्ध धर्म मे सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक धारणा निर्वाण की है, जो कि मानव-जीवन का रहस्यपूर्ण लक्ष्य है, किन्तु निर्वाण का वही अर्थ है जो कि बुद्धत्व का, और बौद्धधर्म के जन-प्रसिद्ध रूपो मे बुद्ध की कल्पना प्राय वैसे ही की जाती है जैसे कि दूसरे धर्मों में ईश्वर की।

ईश्वर तथा पूर्णत्व की विभिन्न कल्पनाओं, और मानव-जीवन के लक्ष्य-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं में, जहाँ अनेक समानताएँ पाई जाती हैं, वहाँ अनेक भेद भी दिखाई देते हैं। इन धारणाओं तथा कल्पनाओं पर विभिन्न "संस्कृतियों" की छाप रहती है। उदाहरण के लिये मुसल्मानों के ईश्वर तथा वैष्णवों के ईश्वर में बहुत अन्तर है। इसी प्रकार बौद्धों के निर्वाण तथा मुसल्मानों और ईसाइयों के स्वर्ग में कोई समानता नहीं है। यदि हम आदिम जातियों तथा आधुनिक सभ्य जातियों की कल्पनाओं पर ध्यान दें, तो और अधिक भेद दिखाई देता है। साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि विभिन्न धर्मों में पाये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों तथा उपासना एवं भक्ति के रूपों में आश्चर्यजनक समानताएँ पाई जाती हैं।

यहाँ दो सम्बद्ध प्रश्न उठते हैं। प्रथमत, ईश्वर तथा मानव-जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं? दूसरे, इन धारणाओं की प्रामाणिकता क्या है? एक तीसरा प्रश्न भी हो सकता है, क्या इन धारणाओं तथा कल्पनाओं का मानव-जीवन के लिये कोई स्थायी महत्व है?

इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले हम इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि धार्मिक धारणाओं का स्वरूप ऐतिहासिक होता है। इसका मतलब यह है कि विभिन्न ऐतिहासिक युगों तथा जातियों में इन धारणाओं का स्वरूप अलग-अलग हो जाता है। जिसे हम प्रत्ययात्मक अथवा धारणात्मक ज्ञान कहते हैं, उसका उद्गम हमारी अनुभव-राशि में होता है। विभिन्न धार्मिक धारणाएँ यह सिद्ध करती हैं कि विभिन्न जातियों की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति भी अलग-अलग होती है। इस अनुभूति में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं? परिवर्तन की एक दिशा यह है कि जहाँ आदिम समाजों में नैतिक तथा बौद्धिक, बोधात्मक तथा आवेगात्मक, लौकिक तथा पारलौकिक, उपासना-सम्बन्धी तथा जादू-टोना से सम्बन्ध रखने वाले, मनुष्य के यथार्थ जीवन से सम्बन्धित तथा उसके आदर्श स्वप्नों से लगाव रखने वाले तत्व एक-दूसरे से मिले रहते हैं, वहाँ, सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ, मनुष्य अपनी विभिन्न रुचियों एवं स्वार्थों तथा उनके विषयों को अलग-अलग कर लेते हैं, और उसकी पूजा तथा उपासना के विषयभूत पदार्थों को दूसरी चीजों से विविक्त कर लेते हैं। मनुष्य जिन देवताओं की उपासना करता है उनका उसके जीवन की [illegible] आदि जरूरतों से घना सम्बन्ध रहता है। उदाहरण के लिये वैदिक आर्यों के जीवन में कृषि का विशेष स्थान था, इसलिये उन्होंने अपने मन्त्र देवता इन्द्र की कल्पना [illegible]

प्रकार की कि वह कृषि के लिये उपयोगी हो सके। वैदिक इन्द्र बादलो तथा वर्षा का स्वामी है। जैसे-जैसे मनुष्य का प्रकृति की भौतिक शक्तियो पर अधिकार बढता गया, वैसे-वैसे उसके उपास्य देवताओ की प्रकृति बदलती गई। अब वह अपने देवताओ मे अधिक सूक्ष्म, आध्यात्मिक विशेषताओ का आरोप करने लगा। कारण यह था कि अब मनुष्य को प्रकृति पर नियन्त्रण करने की अपेक्षा सूक्ष्म आध्यात्मिक गुणो की उपलब्धि करना ज्यादा कठिन जान पडता था। जिन चीजो को मनुष्य कठिनाई मे प्राप्त कर सकता है, उनका सम्बन्ध वह उपास्य देवता से जोड देता है।

इस सम्बन्ध मे एक दूसरी चीज पर भी ध्यान देना चाहिए। एक ही सस्कृति के अन्तर्गत पढे-लिखे विद्वान लोग ईश्वर अथवा चरम तत्व की कल्पना एक प्रकार से करते है, और साधारण लोग दूसरे प्रकार से। हमारे देश मे यह माना जाता है कि अपनी-अपनी बौद्धिक योग्यता के अनुसार विभिन्न लोगो को ईश्वर की उपासना भिन्न ढगो से करनी चाहिए। इस मन्तव्य को अधिकारी-भेद का सिद्धान्त कहते है। प्रत्येक व्यक्ति हर प्रकार के ज्ञान तथा उपासना का अधिकारी नही होता। हमारे ऋषि उच्च कोटि के जिज्ञासुओ को ही अध्यात्म की शिक्षा देने को तैयार होते थे।

## धार्मिक धारणाओ की उत्पत्ति

अब हम इस पर विचार करेगे कि धार्मिक-आध्यात्मिक धारणाओ का उदय कैसे होता है, और उनकी प्रामाणिकता क्या है। आध्यात्मिक अथवा धार्मिक अनुभूति की परिभाषा मे हमने इस बात पर जोर दिया है कि उस अनुभूति का विषयभूत तत्व रहस्यमय होता है। इस रहस्यमयता को किस प्रकार समझा जाय, और उसका सामान्य जीवनानुभूति से कैसे सम्बन्ध स्थापित किया जाय ? कुछ रहस्यवादियो ने कहा है कि आध्यात्मिक अनुभूति एक निराली अनुभूति होती है जिसका मनुष्य की साधारण सवेदनाओ से कोई सम्बन्ध नही होता। रहस्यवादियो के इस दावे को स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि आध्यात्मिक अनुभूति एक अतिमानवीय अनुभूति है, जिसका सामान्य व्यक्तियो के जीवन और अनुभव से कोई लगाव नही है। यदि यह मान लिया जाय कि तथा-कथित रहस्यवादी सन्तो की अनुभूति एकदम निराली होती है, तो यह स्वीकार करना पडेगा कि वे लोग सामान्य मनुष्यो से भिन्न कोटि के प्राणी होते है। उस दशा मे यह समझना कठिन हो जायगा कि क्यो धार्मिक शिक्षको

तथा सन्तो की शिक्षाएँ जन-साधारण को इतनी भली लगती है, और किस प्रकार वे शिक्षक और सन्त जन-मन तथा जन-जीवन को प्रभावित कर पाते है।

इन कारणो से हम किसी ऐसी चीज को मानने को तैयार नही है जैसा कि श्री अरविन्द घोष का ऊर्ध्व चेतन (Super-mind) है, जिसके बारे मे यह समझा जाता है कि वह साधारण मनुष्यो द्वारा अप्राप्य अनुभूतियाँ प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत हम मानते है कि ऊँची-से-ऊँची बुद्धि तथा अधिक-से-अधिक रहस्यमय अनुभूति का बोध उन साधारण-से-साधारण लोगो तक पहुँच सकना चाहिए जो आवश्यक बौद्धिक तथा कल्पनात्मक तैयारी करने को उद्यत हो। बुद्धि तथा कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ाने सामान्य मानव-अनुभूति की सीमाओ का अतिक्रमण नही करती। बड़े-से-बड़े प्रतिभाशालियो की बड़ी-से-बड़ी सृष्टियाँ, अन्तिम विश्लेषण मे, जन-साधारण के अनुभवो, विचारो, इच्छाओ तथा आशाओ का विस्तार अथवा नवीन संगठन मात्र होती है।

जहाँ हम यह स्वीकार करते है कि आध्यात्मिक-धार्मिक चेतना का विषय रहस्यमय होता है, वहाँ हम यह नही मानते कि वह विषय हमारे साधारण अनुभवो की सीमा का अतिक्रमण करने वाला होता है। सच यह है कि रहस्यमयता की भावना भी हमारी सामान्य अनुभव-शक्ति का ही अंग है। व्यावहारिक जीवन की उलझनो मे पड़कर हमारी यह भावना कुंठित होने लगती है, किन्तु वह कभी पूर्णतया नष्ट नही होती।

## रहस्यानुभूति तथा अवचेतन

मनुष्य सृजनशील है, किन्तु उसकी सृजनशीलता किस प्रकार व्यापृत होती है, यह कोई नही जानता। लेखक और कलाकार "प्रेरणा" की बात करते है, यह शब्द भी यह प्रकट करता है कि कला तथा चिन्तन मे नवीन भावो तथा विचारो का स्फुरण रहस्यमय ढंग से होता है—अर्थात् प्रतिभाशालियो के विशेष महत्त्वपूर्ण विचार और कल्पनाएँ उनके मस्तिष्क मे अकस्मात् उपस्थित होती है।

कभी-कभी देखा गया है गणित की जिस समस्या का हल जाग्रत अवस्था मे प्रयत्न करने पर भी नही मिलता वह हल स्वप्नावस्था मे अपने आप प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार शतरंज के खेल मे एक खिलाड़ी विचार लगाने पर जितना निर्भर रहता है उतना ही अचानक सूझो पर भी। ऐसा जान पड़ता है कि हमारे मानसिक जीवन का

सृजनात्मक प्रगति मुख्यत अवचेतन की अँधेरी तहो मे घटित होती है।[७] किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उक्त प्रगति को लाने में सचेत प्रयत्न का कोई हाथ ही नही होता। इसका प्रमाण यह है कि किसी क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कोटि की सूझे उन्ही के मन मे आती है जो उस क्षेत्र के विशेषज्ञ है।

अचेतन अथवा अवचेतन की सृजन-क्रिया का सचेत मस्तिष्क से क्या सम्बन्ध होता है? प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युग ने यह प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति से भिन्न एक जातीय अवचेतन होता है, अर्थात् वह अवचेतन जिसका सम्बन्ध मानवजाति से। युग मानते है कि हमारे अवचेतन के कुछ तत्व जातीय अवचेतन से ग्रहण किये जाते है। प्रस्तुत लेखक को जातीय अवचेतन की सत्ता में विश्वास नही है। हम मानते है कि अन्तत अवचेतन का हरेक तत्व सचेत अनुभूति से प्राप्त होता है। **व्यक्ति का अवचेतन उसकी अनुभूति के उन तत्वों से गठित होता है जिनका उसके जीवन में अभी तक उचित उपयोग नहीं हो पाया है।** अवचेतन के गर्भ में दमित इच्छाएँ अथवा प्रतीतियाँ हो सकती है, किन्तु यह जरूरी नही है कि वहाँ केवल वही चीजे हो। वस्तुत मनुष्य की प्रतीतियाँ तथा सवेदनाएँ सदैव उसकी व्याहारिक जीवन की जरूरतो का अतिक्रमण करती है। हमारी वे सवेदनाएँ और प्रतीतियाँ, जिनका हमारे उपयोगी तथा ज्ञात जीवन से सम्बन्ध स्थापित नही होता, हमारे अवचेतन में प्रविष्ट हो जाती है। अधिक-से-अधिक व्यावहारिक तथा असवेदनशील व्यक्ति में भी इस प्रकार की प्रतीतियो तथा सवेदनाओ का सचय रहता है। उदाहरण के लिये मृत्यु की उपस्थिति में नितान्त व्यावसायिक वृत्ति का मनुष्य भी विचलित हो जाता है, और उदात्त भावनाओ का अनुभव करने लगता है। इसी प्रकार एक ऊँचे शैल-शिखर, विस्तृत समुद्र तथा त्याग और साहस के महान कर्म की उपस्थिति में सभी के हृदय में निरुपयोगी कोटि की विचित्र सवेदनाएँ जगती है। हम यह नही मानते कि हमारी अवचेतन प्रतीतियाँ केवल दमित वासनाओ से ही निर्मित होती है। विभिन्न व्यक्तियो की रुचियाँ अलग-अलग होती है, और उनकी अवचेतन प्रतीतियाँ तथा वृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हो सकती है। अवचेतन जगत प्राणियो को सुखद भी हो सकता है और कष्टपूर्ण भी। जिन अवचेतन अनुभूतियो का प्रभाव किसी भौतिकशास्त्री, गणितज्ञ अथवा शतरज के खिलाडी के सृजनात्मक व्यापारो पर पडता है, उनका मूल दमित वासनाओ में नही हो सकता। यह मानने का कोई कारण नही है कि एक कलाकार, कवि अथवा सगीतज्ञ की सृजन-क्रिया पूर्वोक्त व्यक्तियो की सृजन-क्रिया से एकदम भिन्न होती है।

इस रोशनी मे देखने पर यह जान पडेगा कि मनुष्य का अवचेतन उन जरूरतो, इच्छाओ तथा सवेदनाओ का भडार होता है, जिनका अभी कोई उपयोग नही हो सका है। एक ही "सस्कृति" तथा परिवेश में रहने वाले लोगो के अवचेतन की अनुभूतियो मे कुछ समानता होती है, जो अपने को पौराणिक तथा अन्य प्रचलित कथा-कहानियो आदि में अभिव्यक्त करती है। अवचेतन का मुख्य कार्य यह होता है कि वह सचित अनुभूतियो मे जहाँ-तहाँ विस्तार, अथवा उनके नये सस्थान, उत्पन्न करे। किन्तु जैसे ही ये विस्तार तथा सस्थान तैयार होकर चेतन मे आते है वैसे ही मनुष्य की समीक्षा-बुद्धि उनकी परीक्षा करने लगती है। फलत अवचेतन की सृष्टियो को चेतन मन के बोध तथा विश्वासो के साथ समझौता करना पडता है। किन्तु कभी-कभी विपरीत प्रतिक्रिया भी आवश्यक हो सकती है। अवचेतन की सृष्टियो के लिये स्थान बनाने की जरूरत चेतन अनुभव के नियमो में परिवर्तन की माँग भी कर सकती है।

चेतन तथा अवचेतन के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाले एक परिणाम पर दृष्टिपात करना चाहिए। जैसे-जैसे चेतन के क्षेत्र मे विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे अवचेतन का क्षेत्र घटता जाता है। उदाहरण के लिये विज्ञान की प्रगति ने मानवीय अवचेतन की उन क्रियाओ मे बाधा डाल दी है जिनके द्वारा चमत्कारी घटनाओं तथा जादू आदि के प्रभावो की कल्पना की जाती थी। इतना निश्चित है कि एक ऐसे व्यक्ति के मन मे जिसने वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त की है, उस प्रकार की कल्पनाएँ प्रायः नही उठती जैसी कि अज्ञानी लोगो के मन मे उठा करती हैं।

तो, धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का विषय मनुष्य के अवचेतन अथवा उपचेतन मन का प्रक्षेप होता है। अवचेतन तथा उपचेतन मे भेद करना कठिन है, इसलिये यहाँ वह प्रयोजनीय भी नही है। दोनो का काम एक ही अर्थात् ऐसी प्रतीति को जन्म देना जिसका वर्तमान जीवन के प्रयोजनो से सम्बन्ध नहीं बन पाता है। अवचेतन की धर्म-सम्बन्धी वृत्तियाँ, अथवा आध्यात्मिक प्रतीतियाँ दूसरी कोटि की प्रतीतियो से भिन्न होती हैं। यह भेद कुछ वैसा ही होता है जैसा कि दर्शन तथा दूसरे विज्ञानो का भेद। धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण चेतनात्मक जीवन तथा अनुभूति से होता है। वस्तुतः यह अनुभव मनुष्य की समस्त आन्तरिक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति [illegible] होता है। इस दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता कि दर्शन तथा धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म-चिन्तन के

जिस एकता की धुंधली प्रतीति होती है, उसे दर्शन तर्कशास्त्रीय तथा अन्य मूल्यो के आलोक में समझने का प्रयत्न करता है।

ऊपर हमने कहा था कि धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक परम्पराओ द्वारा निर्धारित होती हैं। एक तीसरी चीज भी है जो उसके स्वरूप को प्रभावित करती है, अर्थात् विशिष्ट जन-समूह अथवा व्यक्ति का स्वभाव। यह बात प्रत्येक युग की धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना के सम्बन्ध मे लागू है। वह उस चेतना की विभिन्न भूमिकाओ अथवा सोपानो (Stages) पर भी लागू है। प्रसिद्ध लेखक रयूडाल्फ ऑटो ने लिखा है 'पदावली की समानता के वावजूद-और यह समानता आश्चर्यजनक हो सकती है—रहस्यवादी अनुभूति उतनी ही विविध होती है जितनी कि सामान्य धार्मिक चेतना।'[८] ऑटो ने एक ओर शकर की शीतल एव निरुद्वेग तथा फारस की उष्ण और आवेगपूर्ण रहस्यानुभूति में, और दूसरी ओर वुद्धिवादी वेदान्तीय रहस्यानुभूति तथा ज्योतिवादियो (Illuminists) की अभिचारान्वेपी, चमत्कार-प्रिय रहस्य-भावना में अन्तर किया है।[९]

धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना द्वारा उपस्थापित अनुभूति अनेक कोटियो की हो सकती है मुख्यत बौद्धिक तथा आवेगात्मक सत्ता या सत्ताओ से सम्वन्धित, अथवा मूल्यात्मक। उस चेतना का विपय एक ऐसी कारण-सत्ता भी हो सकती है जो सुख और दुख उत्पन्न करती है, और एक ऐसी दुनिया भी जिसमे सुख-दुख के उपादान सचित हैं। उस दशा में उक्त चेतना का विपय भय तथा आतक की सवेदना उत्पन्न करता है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान का विश्वरूप देखकर अर्जुन के मन में कुछ ऐसा ही भय-सचार हुआ था। इसके विपरीत धार्मिक चेतना का विषय अपने को सव प्रकार के सौन्दर्य तथा कल्याणमय गुणो के आश्रय के रूप में भी उपस्थित कर सकता है, वैसा विषय उपासना तथा प्रशसा की भावनाएँ जगाता है। यह भी सम्भव है कि धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का विषय शक्ति, शील, सौन्दर्य तथा उदात्तभाव के साथ - साथ कृपाशीलता तथा रौद्र भाव का आधार भी प्रतीत हो।

इन भिन्नताओ को सामने रखते हुए यह सम्भव नही दीखता कि मनुष्य की धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का कोई एक प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत कर दिया जाय। किन्तु डा० ऑटो का विश्वास है कि विभिन्न युगो तथा देशो में पाई जाने वाली धार्मिक चेतना के विपय में कुछ गुण ऐसे पाये जाते हैं जो सार्वभौम है, जैसे शक्ति तथा विराटता,

रहस्यमयता और आकर्षण। ऑटो ने इन गुणो के समूह को एक नई धारणा मे पिरोने का प्रयत्न किया है। यह धारणा विशुद्ध अथवा अतीन्द्रिय (Holy or Numenous) की धारणा है।[१०] किन्तु हमारा विचार है कि ऑटो का यह मन्तव्य उनके ही द्वारा प्राप्त किये हुए कतिपय निष्कर्षो के विरुद्ध पडता है। उदाहरण के लिये हमारा विश्वास है कि शकराचार्य की बौद्धिक रहस्य-भावना का वर्णन उक्त धारणाओ की मदद से नही हो सकता। अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म को निर्गुण कहा जाता है, वह किसी चीज का कारण नही हो सकता और न उस पर किसी प्रकार का प्रभाव ही पड सकता है। ब्रह्म को विराट अथवा उदात्त, या आकर्षण आदि गुणो का आधार कहना समुचित नही प्रतीत होता। शायद वेदान्त के ब्रह्म को हम एक ही तरह विशेषित कर सकते है, अर्थात् यह कह कर कि वह रहस्यपूर्ण है। ऑटो ने एक दूसरी बात भी कही है। उनके मत मे धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का एक तत्व है, "निर्भरता की भावना" (Creature Consciousness) अर्थात् यह भावना कि मै किसी स्रष्टा की सृष्टि हूँ, उस पर पूर्ण रूप से निर्भर हूँ। हमारा विश्वास है कि कोई भी अद्वैतवादी इस प्रकार की भावना का अनुभव नही करता, क्योकि वह लगातार इस तथ्य पर मनन करता है कि मै ब्रह्म हूँ, ब्रह्म से अभिन्न हूँ। ल्यूबा नाम के लेखक ने ठीक ही लिखा है कि 'आधुनिक मनुष्य की अध्यात्म चेतना से भय तथा आतक की सवेदनाएँ प्राय. बहिष्कृत हो चुकी है।[११]

## गुह्य शक्तिवाद ('मानाइज्म')

ऊपर हमने कहा कि धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का विषय रहस्यपूर्ण जान पड़ता है और उसका धुंधला बोध ही हो पाता है। इसका कारण यह है कि उसका सामान्य अनुभव के विषयो से क्या सम्बन्ध है, यह निरूपित नही हो पाता। हम प्राय एक जटिल अनुभूति को समझने के लिये उसे अनुभव-खण्डो मे विश्लेषित करते है, अर्थात् ऐसे सरल अनुभवो मे जिनसे हम सुपरिचित है; किन्तु धार्मिक चेतना की विषयभूत सत्ता के सम्बन्ध मे हम इस प्रकार का विश्लेषण तथा समन्वय नही कर पाते। हम यह नही देख पाते कि साधारण अनुभव के किन तत्वो से वह विषय उद्भूत तथा गठित होता है। इसलिये हमे ऐसा जान पड़ता है कि वह विषय या सत्ता एक रहस्यपूर्ण ढग से हमारे सामने उपस्थित हो गयी है, और वह सत्ता रहस्यपूर्ण ही है। आदिम काल के धर्मों में इस विषय या सत्ता की एक रहस्यपूर्ण शक्ति (Mana) के रूप मे कल्पित की जाती है, बाद मे यही शक्ति देवताओ, भूत-प्रेतो आदि का रूप धारण कर लेती

है। प्रसिद्ध फ्रेंच समाजशास्त्री दुरखाइम ने लिखा है कि "माना" वह मौलिक तत्व है जिसमें से वे विविध सत्ताएँ निर्मित हुई है जिनकी विभिन्न धर्मों मे विभिन्न कालो मे पूजा होती आई है। तरह-तरह की आत्माएँ, दैत्य, भूत, प्रेत तथा देवता इसी शक्ति के विविध रूप हैं जिन्हें वह, व्यक्तित्व-सम्पन्न बनती हुई, धारण करती है।[१२] प्रारम्भ में धार्मिक चेतना ने जिन सत्ताओ का साक्षात्कार किया वे व्यक्तित्व-सम्पन्न देवता आदि थे अथवा एक निर्वैयक्तिक शक्ति, यह निश्चित करना हमारे लिये आवश्यक नही है। हमारे मन्तव्य की पुष्टि के लिये यह देख लेना काफी है कि धार्मिक चेतना का विषय सदैव रहस्यपूर्ण होता है और वह मनुष्य की अवचेतन सृजन-क्रिया द्वारा उत्सृष्ट किया जाता है। टाइलर ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि वह अलौकिक चेतन सत्ताओ में विश्वास है। यह परिभाषा इस बात पर गौरव देती है कि धर्म-चेतना की विषयभूत सत्ता की एक जीवित शक्ति के रूप में कल्पना की जाती है। किन्तु वह निर्वैयक्तिक शक्ति जिसे "माना" कहते हैं, भौतिक पदार्थो से उतनी ही सम्बन्धित है जितनी कि जीवित प्राणियो से। उदाहरण के लिये वह शक्ति जैसे राजाओ, न्यायाधीशों, वैद्यों आदि में प्रतिफलित मानी जाती है, वैसे ही तावीजो, मूर्तियो आदि में भी। कुछ जातियो में "टोटेम" (निषिद्ध जन्तु अर्थात् वह जन्तु जिसे मारकर खाना निषिद्ध है) में भी वैसी शक्ति का होना माना जाता है। कही-कही ऐसे नियम होते है कि उन वस्तुओ को जिन में इस शक्ति की उपस्थिति मानी जाती है, स्पर्श नही करना चाहिए। वस्तुत उस शक्ति के बारे में दोनो धारणाएँ पाई जाती है, यह कि वह कुछ चीजो को पवित्र बनाती है, और यह कि वह कुछ वस्तुओ को अपवित्र बना देती हैं। इसलिये एक लेखक ने कहा है कि 'टोटेम-पूजा वस्तुत "माना" की उपासना का ही एक रूप है।'[१३]

## परम श्रेय की कल्पना

अब हम धर्म-चेतना के व्यावहारिक रूप का विचार करेंगे। सदैव नही, फिर भी प्राय ,यह समझा जाता है कि धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभव की विषयभूत सत्ता मे कारण-शक्ति निहित रहती है। प्राय उन सब धर्मो में जो एक या अनेक सत्ताओ की पूजा-उपासना करते है यह विश्वास पाया जाता है। किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे यह मन्तव्य उन दार्शनिक सम्प्रदायो के सम्बन्ध में सही नहीं है जो चरम तत्व की कल्पना एक निरपेक्ष, निर्गुण तत्व के रूप में करते है। यही बात बौद्ध धर्म के सम्बन्ध

मे कही जा सकती है, क्योकि बौद्ध मत एक चरम कारण अथवा स्रष्टा मे विश्वास नही करता। किन्तु एक बात मे दुनिया के सब धर्म समान मत रखते है। वे मानते है कि धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का विषय सब मूल्यो का अधिष्ठान होता है। धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन में उस चरम मूल्य के प्रति एक व्यावहारिक मनोभाव विद्यमान रहता है। यहाँ हम एक और बात कहना चाहेगे। वह परम श्रेय जिसकी कामना धार्मिक-आध्यात्मिक साधना मे निहित होती है, स्पष्ट रूप मे निरूपित नही हो पाता, उसके स्वरूप का रहस्यमय आभास ही रहता है। मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति के हर रूप और भूमिका मे परम श्रेय रहस्यमय लक्ष्य के रूप मे ही आभासित होता है। वह वस्तुत जीवन की एक ऐसी सभावना होती है जिसे अवचेतन शक्तियाँ रहस्यमय रूप मे प्रक्षिप्त करती है। इस मान्यता से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है, वह कोई भी विषय अथवा लक्ष्य जिसे हम बहुत स्पष्ट रूप मे जानते है धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का विषय नही हो सकता। मतलब यह कि धार्मिक-आध्यात्मिक साधना द्वारा प्राप्त होने वाला लक्ष्य सदैव रहस्यपूर्ण ही बना रहना चाहिए। सर जेम्स फ्रेज़र ने धर्म का वर्णन करते हुए कहा है कि वह उन शक्तियो को प्रसन्न करने की कोशिश है जिनके बारे मे यह विश्वास रहता है कि वे मनुष्य से ऊँची है, और मनुष्य तथा प्रकृति की प्रगति पर नियन्त्रण रखती है।[१४] यह परिभाषा इस बात पर जोर देती है कि धर्म-चेतना के विषय की कल्पना मुख्यत एक शक्ति अथवा कारण के रूप मे की जाती है, जिसका प्रधान उपयोग उपासक की जरूरतो को पूरा करना है। हम इससे इनकार नही करते कि धार्मिक लोग इस प्रकार की क्रियाएँ किया करते है। वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्राय देवताओं की उपासना करते है। किन्तु हम यह मानने को तैयार नही है कि वैसी क्रियाएँ खास तौर से धार्मिक क्रियाएँ है। क्योकि कुछ धार्मिक साधक ऐसे होते है—और अनेक दार्शनिको तथा रहस्यवादियो की गणना ऐसे साधको मे होगी—जो ईश्वर तथा अन्य देवताओ को इस ढग से प्रसन्न करने की कोशिश नही करते, और उनसे अपनी जरूरतो की पूर्ति के लिए प्रार्थना नही करते।

जिसे हम धार्मिक-आध्यात्मिक मनोभाव कहते है उसमे कुछ तत्त्व [illegible] हैं : एक उत्तरोत्तर मूल्य अथवा परम श्रेय की धुँधली चेतना, [illegible] अपर्याप्तता की चेतना [illegible] विभिन्न [illegible] होती है, [illegible] अपने वर्तमान जीवन से असन्तोष और [illegible]

की प्रेरणा तथा प्रवृत्ति। इस लक्ष्य को ईश्वर, निर्वाण, पूर्णत्व अथवा मोक्ष आदि नामों से पुकारा जाता है। यह सर्वविदित है कि भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मोक्ष की विभिन्न धारणाएँ पायी जाती हैं। उदाहरण के लिये वेदान्त और सांख्य के अनुसार मोक्ष का रूप एक है तथा न्याय-वैशेषिक के अनुसार दूसरा। रामानुज जैसे ईश्वरवादियों की मोक्ष-सम्बन्धी धारणा भिन्न ही है। इसी प्रकार बौद्ध निर्वाण का आदर्श हिन्दू धारणाओं से भिन्न है। मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में यह मतभेद इस मन्तव्य की पुष्टि करता है कि उस लक्ष्य के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अधूरी है। हमारी समझ मे जीवन का धार्मिक-आध्यात्मिक लक्ष्य मानव-जीवन की वह उच्चतम सम्भावना है जिसकी किसी युग के सर्वाधिक संवेदनशील तथा विकसित व्यक्तियों अथवा विचारकों द्वारा कल्पना की जाती है।

## नेति-नेति

यह लक्षित करने की बात है कि संसार के धार्मिक-दार्शनिक साहित्य में जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में प्राय निषेधात्मक वर्णन पाये जाते हैं। दार्शनिक दृष्टि इस लक्ष्य को प्राय चरम तत्व से समीकृत करती है। संसार के सभी रहस्यवादी सन्तों तथा दार्शनिकों ने यह मत प्रकट किया है कि परम ब्रह्म अथवा ईश्वर अवर्णनीय है, अर्थात् उसकी भावात्मक विशेषताओं का संकेत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का उल्लेख उपनिषदों में जगह-जगह पाया जाता है। दूसरे देशों के धार्मिक ग्रंथों में भी उनका अभाव नहीं है। उदाहरण के लिये वृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म का निम्नलिखित निषेध-मूलक वर्णन मिलता है। 'वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, लाल नहीं है उसमें छाया नहीं है, अँधेरा नहीं है . उसमें रस, गंध रूप, शब्द, गति कुछ भी नहीं है।'[१५] अन्यत्र ब्रह्म को नेति-नेति (ऐसा नहीं ऐसा नहीं) कहा गया है, जिसका मतलब यह कि ब्रह्म के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी दूसरी वस्तु के सदृश या समान है। इसी प्रकार केनोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म तक न वाणी पहुँचती है, न मन, न आँखें। उसके वर्णन का केवल एक ही उपाय है, यह कहना कि वह 'है'।[१६] इस ढंग का निषेधात्मक वर्णन निर्वाण का भी मिलता है, बौद्ध साहित्य में निर्वाण अक्सर चरम तत्व का पर्याय बन जाता है। उदाहरण के लिये अपने ग्रंथ 'माध्यमिक कारिका' के प्रारम्भ में नागार्जुन ने बुद्ध की इस प्रकार स्तुति की है

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ।
य प्रतीत्य समुत्पाद प्रपचोपशम शिवम्
देशयामास सम्बुद्धस्त वन्दे वदता वरम् ।

अर्थात् जिन पूर्ण बुद्ध ने विरोध और उत्पत्ति, उच्छेद और नित्यता, एकार्थता और नानार्थता, आगम और निर्गम से शून्य प्रपच का उपशम करने वाले कल्याण-स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश किया था उनकी मैं वन्दना करता हूँ।

अन्यत्र निर्वाण का वर्णन इस प्रकार है

अप्रहीणमसप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥

अर्थात्, "जो न राग आदि की हानिस्वरूप है, न किसी वस्तु की प्राप्ति-स्वरूप, न उच्छिन्न है, न शाश्वत, न निरुद्ध है और न उत्पन्न, उसे निर्वाण कहा जाता है।"

(माध्यमिक कारिका)

पाश्चात्य साहित्य में भी ईश्वर अथवा चरम तत्त्व के ऐसे वर्णन पाये जाते हैं। श्री स्टेस की पुस्तक "टाइम ऐण्ड इटरनिटी" के दूसरे अध्याय में कुछ ऐसे वर्णन एकत्रित किये गये हैं। श्री स्टेस ने उक्त अध्याय को शीर्षक दिया है, "निषेध-रूप परम तत्त्व', जो कि बड़ा सार्थक है।

धार्मिक साहित्य में धर्म-साधना के विषयभूत तत्त्व की रहस्यमयता का एक दूसरे ढंग से भी संकेत किया गया है। उस तत्त्व का वर्णन परस्पर-विरोधी विशेषणों अथवा विरोधाभासों के द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिये हम कठोपनिषद् में पढ़ते हैं 'बैठे हुए वह दूर चला जाता है, सोता हुआ सर्वत्र जाता है। उस देवता को जिसमें [illegible] है भी और नहीं भी है, मेरे सिवाय कौन जान सकता है?'[१७] [illegible] के सिद्धान्तकारों ने अपने शास्त्र में [illegible] की गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार किया है कि ब्रह्म को आनन्दमय भी कहा जा सकता है अथवा नहीं। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि निर्गुण ब्रह्म को हम आनन्दमय भी नहीं कह सकते।[१८]

# निष्काम उदासीनता अथवा वैराग्य

धर्म-साधना का विषयभूत तत्व इस धरती से सम्बद्ध सत्ताओ तथा मूल्यो से भिन्न-रूप प्रतीत होता है। आध्यात्मिक अनुभूति का अर्थ एक ऐसे लक्ष्य अथवा तत्व की प्रतीति है जो ऐहलौकिक अनुभव का अतिक्रमण करता है। वह अनुभूति मनुष्य को ऐहिक जीवन से विरक्त करने वाली होती है। यही कारण है कि विश्व के धर्म-साहित्य मे हम लगातार वैराग्यवाद की झलक पाते है। स्टेस का कथन है कि जहा ईश्वर अथवा परम तत्व का निषेध-मूलक वर्णन सभी धर्मों मे पाया जाता है, वहा हिन्दू धर्म मे उसकी प्रधानता है।[१९] हम यह मान सकते है कि स्टेस का यह कथन भारत के दार्शनिक साहित्य पर लागू होता है। किन्तु यह कहना गलत होगा कि वैराग्य-वाद का व्यावहारिक रूप खास तौर से हिन्दू धर्म की विशेषता है। नीचे हम "इमीटेशन आफ क्राइस्ट" पुस्तक से, जो कि ईसाई धर्म की एक लोकप्रिय पुस्तक है, कुछ उद्धरण देगे, जिनसे यह सिद्ध होता है कि ईसाई भक्त भी वैराग्यवाद को महत्व देते रहे है[२०]

दुनिया के शोरगुल से जितना हो सके दूर रहो, क्योकि दुनिया की चीजो की चर्चा, वह फिर चाहे कितनी ही शुद्धता अथवा सच्चाई के साथ की जाय, एक वडी वाधा है। वह हमें जल्दी ही अपवित्र करती है, और हम अहकार के दास बन जाते है। (१।१०)

जव हम अपने लिये पूर्णतया मृत हो चुकेगे, और अपने प्रति बिल्कुल ही आसक्ति नही रखेंगे, तब हम दैवी चीजो का स्वाद ले सकेगे, और स्वर्गीय अनुभूति पा सकेगे। (१।११)

वडे सन्त लोग मनुष्यो के सम्पर्क से बचते थे। एक ने कहा जब जब मै मनुष्यो के वीच जाकर लौटा हूँ, मुझे लगा है कि मैं पहले से हीन बन गया हूँ। (१।२०)

खाना और पीना, सोना और जागना, परिश्रम तथा आराम करना, और दूसरी जरूरतो को महसूस करना, साधक व्यक्ति के लिये वडे कष्ट का कारण होता है, उस साधक के लिये जो कि पाप से बचना चहता है लेकिन धिक्कार है उसको जो अपने उस कष्ट को समझते नही। और अधिक धिक्कार है उन्हे जो इस दु खपूर्ण अपवित्र जीवन से अनुराग करते हैं जब तक हम अपने इस दुर्वल शरीर को साथ लिये फिरते हैं, तब तक हम कभी भी पाप से नही बच सकते, और न अशान्ति और दु ख को ही बचा सकते है। (१।२२)

आध्यात्मिक शिक्षको ने सदैव आतरिक जीवन पर बल दिया है। कठोपनिषद् कहता है कि केवल वह धीर पुरुष आत्मा का प्रत्यक्ष करता है जिसकी दृष्टि भीतर की ओर मुडी हुई है, और जिसमे अमरत्व की कामना है।[२१] टामस केम्पिस भी कहते है 'वह जो कि भीतर का जीवन व्यतीत करता है बाहर की चीजो को कोई महत्व नही देता ऐसे आध्यात्मिक साधक के लिये किसी खास स्थान अथवा समय की जरूरत नही होती कोई चीज मनुष्य के हृदय को उतनी अपवित्र नही करती जितना कि दूसरे प्राणियो के प्रति अशुद्ध प्रेम।'[२२] (२११)

एक मानववादी की दृष्टि मे इन उद्गारो का क्या तात्पर्य हो सकता है ?

हमरी समझ मे परलोकवाद तथा वैराग्यवाद का अन्तरग अभिप्राय दो प्रकार का है। पहली बात यह है कि साधक व्यक्ति मे सदैव एक दैवी असन्तोष की ज्वाला जलती रहती है। वह उन सब चीजो के प्रति जो वर्तमान जीवन मे उपलब्ध हो सकती है, असन्तोष का अनुभव करता है। वह सदैव उच्चतर और महत्तर का स्वप्न देखता रहता है, और धरती के जीवन की सीमाओ मे विफलता का अनुभव करता है। मानव-प्रकृति मे दो प्रकार की जरूरते हो सकती है। एक का सम्बन्ध उसके अस्तित्व की रक्षा से होता है, और दूसरी का उसकी सृजनशील प्रकृति के विकास से। प्रथम कोटि की जरूरते सीमित होती है। उनकी सतुष्टि करता हुआ मनुष्य शीघ्र ही ऊब महसूस करने लगता है। किन्तु दूसरी कोटि की जरूरते असीम होती है, उनकी कभी सम्पूर्ण तृप्ति नही हो सकती। उनकी प्रेरणा से मनुष्य सदैव ऊँचे और अधिक ऊँचे स्वप्न देखता तथा उन्हे पूर्ण करता है। इस प्रकार की प्रेरणाओ की चरम परिणति मनुष्य की धार्मिक-आध्यात्मिक जरूरतो मे प्रतिफलित होती है।

मनुष्य की वैराग्य-भावना तथा परलोकवाद का एक दूसरा अभिप्राय भी जान पडता है। मनुष्य उपयोगिता के क्षेत्र के प्रति—उस क्षेत्र के प्रति, साधन और साध्य है, जहाँ सघर्ष और उससे उत्पन्न होने वाली अशान्ति है—असन्तोष का अनुभव करता है। मानव-जीवन का लक्ष्य सृजनात्मक है [illegible] लगता है जैसे वह अपनी पशु-प्रकृति की सीमाओ से परेशान है और उनका अतिक्रमण करना चाहता है। मनुष्य मे इस [illegible] जीवन को [illegible] करने की शक्ति है, उसकी निम्न प्रकृति की वास्तविकता उसे कष्ट देती है। मनुष्य उस जीवन से [illegible] करना चाहता है जो उसे [illegible] [illegible] द्वारा [illegible] से [illegible] है। हमारी सृजनशील ऐसे क्षणो मे [illegible]

होती है जब हम उपयोगिता के क्षेत्र से विरत होते है। शायद इसीलिये आध्यात्मिक साधक "दुनिया के शोरगुल" से पलायन करना चाहता है।

## सन्तो का चरित्र

उपयोगिता के निम्न क्षेत्र के प्रति उदासीनता सब प्रकार की सृजनशीलता की आवश्यक शर्त है। इतिहासकार ट्वाइनबी ने प्रतिभाशालियो के सम्बन्ध मे कहा है कि उनकी जीवनचर्या में दो प्रकार की गति रहती है वे अपने को समाज या दुनिया से विच्छिन्न कर लेते है, और फिर उसमे वापस जाते है। ट्वाइनबी का यह विचार सच जान पडता है, ऐसा कोई भी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति नही हुआ जिसने, अपना सृजनात्मक कार्य करने के लिये, अपने को दुनिया से अलग न किया हो। किन्तु अधिकाश प्रतिभाशालियो के जीवन मे इस प्रकार का अलगाव कभी-कभी, तथा अव्यवस्थित ढग से, अनुष्ठित होता है, किन्तु आध्यात्मिक साधक तटस्थता या वैराग्य का अभ्यास नियमित ढग से करता है।

जिन्हे हम सन्त कहते है उनके चरित्र का स्वय, उनकी तथा समाज की दृष्टियो से, क्या महत्व है?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें सन्तो के चरित्र पर निकट से दृष्टिपात करना होगा। सन्त में जो तटस्थता तथा वैराग्य पाया जाता है वह निषेध-मूलक ही नही होता। सन्त अपने को उन चीजो के प्रति जो व्यक्तित्व को सकीर्ण बनाती है, जो एक को दूसरे मनुष्यो से सघर्ष मे फँसाने वाली है, उदासीन बना लेते है। किन्तु विपरीत वस्तुओ के प्रति, जैसे पर-हित-चिन्तन, सन्तोष तथा स्वभावगत मधुरता, उनका भाव मैत्री तथा स्वीकार का होता है। सन्त-प्रकृति की प्रधान विशेषता है, सतुलित माधुर्य अथवा मधुर सतुलन। सत के स्वभाव में रागात्मक तत्व होता ही न हो, ऐसा नही है, हमारे अधिकाश सन्त और कवि, जैसे सूरदास, चैतन्य महाप्रभु और रामकृष्ण परमहस, बडे भावुक पुरुष थे। किन्तु यह ठीक है कि सत का आवेग दूसरे मनुष्यो के चचल मनोवेगो से भिन्न कोटि का होता है। आध्यात्मिक सन्तुलन अथवा प्रसन्नता के लिये पतजलि ने निम्न उपाय बतलाये है। साधक को दूसरो के सुख में मैत्रीपूर्ण सन्तोष होना चाहिए, दुखियो के प्रति करुणा होनी चाहिए, धार्मिक लोगो के व्यापारो में आनन्द महसूस करना चाहिए, और पापी के प्रति उपेक्षा का भाव

रखना चाहिए।[31] इन चार सद्गुणों पर बौद्ध दर्शन में भी ऐसे ही गौरव दिया गया है। जेम्स ने सत-प्रकृति के अनेक तत्वों का उल्लेख किया है जैसे यह अटूट विश्वास कि एक आदर्श तत्व या शक्ति है जिसका हमारे जीवन से लगाव है, कष्ट-सहिष्णुता और शारीरिक सुख के प्रति वैराग्य; करुणा तथा परोपकार की प्रवृत्ति, सब के प्रति मैत्री की भावना, समस्त भय का अभाव, मधुर अनिर्वाच्य आन्तरिक शान्ति, इत्यादि।

कौन मनोवैज्ञानिक यह कहने का साहस करेगा कि सन्त का व्यक्तित्व, किसी भी दृष्टि से, वांछनीय नहीं है? समाज के लिये सन्त का कितना महत्व है इस सम्बन्ध में जेम्स कहते हैं कि संसार की भलाई के लिये वे सद्गुण जो सन्त में पाये जाते हैं नितान्त आवश्यक हैं।[32] सन्त संसार की उपयोगिताओं तथा मूल्यों के प्रति उदासीन होता है, इस प्रकार की उदासीनता के बिना न न्याय ही हो सकता है, और न विवेकपूर्ण शासन। इनके बिना विज्ञान, कला आदि के क्षेत्र में कोई उन्नति नहीं हो सकती, और मैत्री, बन्धुभाव, देश-भक्ति, साहस आदि गुणों की भी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

कला, विज्ञान आदि में अभिरुचि रखते हुए, दुखी नर-नारियों की सेवा करते हुए, अव्यावहारिक दीखने वाले ऊँचे आदर्शों का सपना जगाते हुए संसार के प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति सदैव से यह प्रमाणित करते आये हैं कि मनुष्य की सृजनशील आध्यात्मिक प्रकृति उसके पशु-सामान्य व्यक्तित्व से कहीं ऊपर है। मानवता की उन्नति की ओर ले जाने वाले प्रतिभाशालियों के इस जुलूस में सन्तों तथा धर्म-शिक्षकों का स्थान सदैव से सब से आगे रहा है।

## समाज और आध्यात्मिकता

अभी दो महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देना बाकी है। प्रथमत, धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का इन मूल्यों से क्या सम्बन्ध है जिनका लगाव हमारे दैनिक जीवन से है? और दूसरे धार्मिक आध्यात्मिक-चेतना जिन नियमों को उद्घाटित करती है वे कहाँ तक वास्तविक होते हैं? दोनों प्रश्न एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इनके उत्तर भी एक-दूसरे से जुड़े हुए होंगे। प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि जो नितान्त नैतिक है अस्तित्व-सम है, एक तो भौतिक अस्तित्व का रूप है जो तात्विक है, और दूसरा पारलौकिक अस्तित्व का रूप है जो मानव अर्थात् आत्म-प्रकाश से जुड़ा है। कहा गया

है कि इन दोनो अस्तित्व-क्रमो मे कोई सम्बन्ध नही है। यदि कोई कथन या वाक्य उन दोनो के सम्बन्ध को बतलाता है तो वह प्रतीकात्मक रूप मे सत्य होगा, शाब्दिक अर्थ मे नही।[२५] स्टेस का विचार है कि धर्म तथा अध्यात्म की भाषा सदैव ही प्रतीकात्मक होती है, उसका उद्देश्य किसी वस्तु-सत्ता का वर्णन नही होता, उसका लक्ष्य जिज्ञासुओ तथा साधुओ के मन मे ऊँची भावनाएँ जागृत करना होता है। उक्त अस्तित्व-क्रमो मे इतनी अधिक दूरी है कि एक को दूसरे की दृष्टि मे अतात्त्विक या मिथ्या कहा जा सकता है। भौतिक अस्तित्व-क्रम की अपेक्षा से दैवी अस्तित्व-क्रम को मिथ्या तथा भ्रान्त कहा जा सकता है, वैसे ही दैवी अथवा आध्यात्मिक क्रम की अपेक्षा मे इस ससार को मिथ्या अथवा भ्रमपूर्ण कहना पडेगा।[२६] यह दूसरा मन्तव्य अद्वैत वेदान्त की एक प्रमुख मान्यता है।

किन्तु एक मानवतावादी ऐसे अस्तित्व-क्रम मे विश्वास नही कर सकेगा जो परिचित, ऐहलौकिक जीवन का अतिक्रमण करता है। मानववाद के अनुसार मानवीय अस्तित्व एक ऐसा केन्द्र-बिन्दु है जहाँ ब्रह्माण्ड की सारी शक्तियाँ आकर इकट्ठी होती है। यदि ब्रह्माण्ड मे कुछ ऐसी चीजे है जो मनुष्य के पर्यवेक्षण तथा कल्पना का अतिक्रमण करती है, तो उनका, मानव-अस्तित्व के लिये, कोई अर्थ नही हो सकता। मनुष्य कभी भौतिक प्रकृति-जगत को न समझ पाता यदि प्रकृति के व्यापारो का लगाव मनुष्य की रुचियो तथा पर्यवेक्षण से न होता। जिसे हम दैवी अथवा आध्यात्मिक अस्तित्व-क्रम कहते है उसकी अभिव्यक्ति भी मनुष्य के उन स्वप्नो तथा आदर्शो मे होनी चाहिए जिनकी वह सामान्यत कल्पना किया करता है। दैवी अस्तित्व-क्रम तथा ऐहलौकिक, भौतिक अस्तित्व-क्रम मे कोई विरोध नही होना चाहिए, क्योकि वे दोनो ही मानव-व्यक्तित्व मे क्रिया-प्रतिक्रिया करते है। मनुष्य एक साथ ही भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो प्रकार के जीवन व्यतीत करता है।

वह तटस्थ उदासीनता जो मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की विशेषता है, उसकी प्रकृति के बाहर की चीज नही है। इस उदासीनता की कल्पना केवल निषेध-रूप मे नही करनी चाहिए। ऐन्द्रिय सुखो तथा परिग्रह-भावना के प्रति किचित उदासीनता के बिना, किसी प्रकार के आध्यात्मिक, सृजनशील जीवन से अनुराग नही हो सकता। किन्तु दोनो जीवन एक-दूसरे के निषेधक नही है। पतजलि ने स्पष्ट बतलाया है कि योग के साधक मे मैत्री, करुणा तथा मुदिता अर्थात् दूसरे के सुख मे सन्तोष-भावना के गुण होने चाहिएँ। उनकी यह शिक्षा इस बात की द्योतक है कि योगी मे भी करुणा

जैसे गुणों का होना आवश्यक है। मतलब यह कि जिसे हम उदासीनता तथा वैराग्य कहते हैं उसमें एक खास तरह का अनुराग भी निहित है।

आध्यात्मिक साधक में जो वैराग्य-भावना या उदासीनता पाई जाती है, उसका कुछ-न-कुछ अंश प्रत्येक ऊंची प्रकृति के मनुष्य में होता है। उस उदासीनता का एक मतलब यह है कि मनुष्य उन चीजों के लिये जो स्पष्ट ही सीमित मूल्यवाली हैं, ज्यादा परेशान हो। गुड़िया खो जाने से छोटी बच्ची नितान्त व्याकुल हो जाती है, किन्तु उस हानि का उसके माता-पिता पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। यह जानते हुए कि गुड़िया थोड़े मूल्य की चीज है, वे मन-ही-मन बच्ची की परेशानी को देखकर हँसते हैं। इसी प्रकार एक सन्त-प्रकृति शासक युद्ध में अपने बेटे की हार की खबर सुनकर अविचलित रह सकता है। बच्ची के पिता तथा उक्त शासक के मन में क्रमश अपनी-अपनी सन्तति के लिये सहानुभूति हो सकती है, और वे उनका कष्ट दूर करने के लिये प्रयत्नशील भी हो सकते हैं किन्तु बिना आसक्ति के। सन्त का खास तौर से यह स्वभाव होता है कि जहाँ वह अपने व्यक्तिगत कष्टों के प्रति उदासीन होता है, वहाँ दूसरों के कष्ट के लिये बहुत संवेदनशील भी होता है। सन्तों का वर्णन करते हुए सन्त कवि तुलसीदास ने कहा है कि 'जैसे अंजलि में रखा हुआ फूल दोनों हाथों को समान रूप से सुगन्ध देता है, वैसे ही सन्त मित्रों तथा शत्रुओं दोनों की भलाई करते हैं'।[1] अरण्यकाण्ड के अन्त में राम ने सन्तों के स्वभाव का वर्णन इस प्रकार किया है 'वे अपनी प्रशंसा से संकुचित और दूसरों की प्रशंसा सुनकर सुखी होते हैं। शुद्ध स्वभाव के सन्त सब के सहज मित्र होते हैं; श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, करुणा उनके स्वाभाविक गुण हैं।' बौद्ध ग्रंथों में चार महत्त्वपूर्ण सद्गुणों का उल्लेख किया है जिन्हें ब्रह्म विहार कहते हैं, इनका पालन भिक्षुओं तथा साधारण गृहस्थों सब को करना चाहिए। ये सद्गुण वही हैं जिनका उल्लेख "योग-सूत्र" में है, अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। बौद्ध धर्म यह सिखाता है कि हमें प्राणियों के प्रति प्रेम की भावना रखनी चाहिए। भिक्षु का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'उसका मन, प्रेम की भावना लिये हुए एक दिशा में व्याप्त होता है फिर दूसरी में फिर तीसरी में, फिर चौथी में, और फिर समस्त ब्रह्माण्ड में; ऊपर, नीचे चारों ओर और सर्वत्र वह अपनी प्रेम-भावना को प्रसारित करता है, द्वेष या [illegible] भाव की सम्भावना नहीं है'।[2] जेम्स कहते हैं 'जब हम सन्त के साथ होते हैं उस समय हम सन्त की सहायता पर जितना भरोसा कर सकते हैं, उतना किसी दूसरे पर नहीं।'[3]

दुनिया की वस्तुओ के प्रति उदासीन होते हुए सन्त के मन मे यह विश्वास विद्यमान हो सकता है कि इस ससार से श्रेष्ठतर कोई दूसरा जीवन-क्रम है, यह भी सम्भव है कि उसमे इस प्रकार का कोई विश्वास न हो, उसे सिर्फ इतना दिखाई देता है कि इस दुनिया की चीजो का मूल्य तथा महत्व सीमित है, अथवा उनमे महत्व नही है। पहली स्थिति मे साधक सम्भवत कुछ वैसे आवेगो तथा मनोभावो का भी अनुभव करेगा जिनका वर्णन ऑटो ने किया है। दूसरी स्थिति मे भी वह उस मानसिक शान्ति को प्राप्त कर सकेगा जो व्यर्थ की दुश्चिन्ताओ तथा प्रयत्नो से विरत होने पर मिलती है। इस शान्ति-भावना को स्वय मे धार्मिक साधना का लक्ष्य कहा जा सकता है। फिर भी प्राय धर्म-साधना के लक्ष्य की भावात्मक रूप में कल्पना की जाती है, और वैसी कल्पना उनमे भी पाई जाती है जो ईश्वर अथवा ब्रह्म मे विश्वास नही रखते। बौद्ध धर्म एक ऐसा बडा धर्म है जो ईश्वर को नही मानता, किन्तु बौद्ध निर्वाण का अर्थ अस्तित्व का विनाश नही है, जैसा कि पहले लोग समझते थे। यह कहना कि निर्वाण का अर्थ विच्छेद या विनाश है, बुद्ध के अनुसार एक दुष्टतापूर्ण प्रवाद है।[१०] "सर्वसिद्धान्त-सग्रह" में लिखा है कि बुद्ध के अनुसार मुक्ति अथवा निर्वाण का अर्थ लगातार निर्दोष चेतन दशाओ का प्रवाहित होते रहना है।[११] नागार्जुन का एक महत्व-पूर्ण वक्तव्य है कि 'ससार निर्वाण से किंचित् भी भिन्न नही है, और निर्वाण ससार से थोडा भी भिन्न नही है।'[१२] बौद्ध निर्वाण का अर्थ विश्व-चेतना (विश्व-सम्बन्धी चेतना) का विनाश नही है, उसका मतलब एक विशेष प्रकार की विश्व-चेतना का विनाश है। भगवद्‌गीता मे यह सिखलाया गया है कि कर्मयोगी को उसी प्रकार जीवित रहना और वरतना चाहिए जैसे दुनिया के दूसरे लोग करते है। भेद यही होगा कि कर्मयोगी उदासीन एव तटस्थ होगा, और निष्काम भावना से कर्म करेगा, जब कि दूसरे लोग सकाम कर्म करते है। वस्तुत धार्मिक साधक का अनुराग उन निर्वैयक्तिक मूल्यो से होता है जिनका, उसकी कल्पना मे, परम श्रेय से सम्बन्ध है। हम कह सकते है कि यह परम श्रेय मानव-जीवन की सृजनात्मक सम्भावनाओ का उच्चतम रूप ही है।

हमने ऊपर कहा था कि तथा-कथित अवचेतन की सृष्टियाँ अन्तत चेतन जीवन में ही उद्‌भूत होती है। रहस्यवादी की अधिक से अधिक रहस्यपूर्ण उक्तियो का सम्बन्ध उसके सास्कृतिक वातावरण तथा देश-काल के दार्शनिक विचारो से होता है। श्री जी० ए० को ने लिखा है कि 'जिसे हम रहस्यवादी अनुभूति कहते है, वह केवल उन शिक्षाओ को उद्‌भासित करती है जो रहस्यवादी को पहले मिल चुकी है।'[१३] इसका मतलब यह

हुआ कि रहस्यवादी की उक्तियों का उसके समाज के विचारों से बहुत-कुछ लगाव होता है। यही नहीं, किसी व्यक्ति का वैराग्य किस कोटि का और कितना शक्ति-पूर्ण होगा, यह इस पर निर्भर करेगा कि उसने जीवन के किन-किन मूल्यों को जाना है। वैराग्य का अर्थ जीवन से घृणा तथा अलगाव नहीं है। ठीक तौर से मनुष्य का वैराग्य उन्हीं चीजों के प्रति हो सकता है जिनकी कमियों अथवा सीमित महत्व का उसने अनुभव किया है। वस्तुत वैराग्य जीवन से पलायन नहीं है। जीवन के मूल्यों की उपलब्धि का प्रयत्न करते हुए ही हम में उनके प्रति उदासीनता की भावना जगती है। जीवन-मूल्यों के प्रति वैराग्य वास्तव में उच्चतर मूल्यों के प्रति आसक्ति का द्योतक है। मीमासकों की यह शिक्षा कि संन्यास लेने से पहले मनुष्य को जीवन की विभिन्न स्थितियों से होकर गुज़रना चाहिए, संन्यास से पहले गृहस्थ में रह चुकना चाहिये, यह प्रमाणित करता है कि उक्त विचारकों की मानव-प्रकृति में गहरी अन्तर्दृष्टि थी।

## आध्यात्मिक अनुभूति की प्रामाणिकता

प्रश्न किया जा सकता है कि आध्यात्मिक अनुभूति कहां तक प्रामाणिक होती है? जर्मन विचारक फ़ेकनर तथा अंग्रेज दार्शनिक सेमुएल एलेक्जैण्डर ने ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए एक नये ढंग का तर्क दिया है। उनका कहना है कि हमारे भीतर किसी की उपासना करने की आवश्यकता महसूस होती है। जिस प्रकार हमारी अन्य क्षुधाएँ, जैसे कि भोजन तथा काम-वासना से सम्बन्धित ज़रूरतें, यह सिद्ध करती हैं कि उन्हें पूरा करने वाले पदार्थों की सत्ता है, वैसे ही उपासना की ज़रूरत यह सिद्ध करती है कि कोई उपास्य सत्ता अथवा देवता है।[18] किन्तु हमें यह युक्ति समीचीन नहीं जान पड़ती। यह नहीं कहा जा सकता कि सब मनुष्य अपने भीतर उपासना करने की प्रवृत्ति का अनुभव करते हैं। किन्तु धार्मिक-आध्यात्मिक संवेदना में एक दूसरी कोटि की प्रामाणिकता की उपस्थिति मानी जा सकती है। जहां तक उस संवेदना का अर्थ जीवन के मूल्यों के प्रति एक खास कोटि का मनोभाव है, वहां तक उस संवेदना की उपस्थिति ही उसका प्रमाण है। हम यह पहले ही संकेत कर चुके हैं कि हमारी सौन्दर्य-भावना तथा उससे सम्बद्ध आवेगात्मक स्थितियां एक विशेष अर्थ में प्रामाणिक होती हैं। रुचि अथवा रूपाकार हमारे मन में जिन कल्पना-सृष्ट मनोदशाओं को जगाता है उनकी प्रभावपूर्ण अनुभूति ही उन्हें प्रामाणिक अथवा यथार्थ बनाती है। यह ज़रूरी नहीं है कि वे दशाएं तभी प्रामाणिक मानी जाएं जब वे सब मनुष्यों में समान रूप में

उत्पन्न हो। एक ही वस्तु-सत्ता के सम्वन्ध मे विभिन्न कलाकार विभिन्न कोटियो की अनुभूतियाँ प्रकट करते है, और वे सभी अनुभूतियाँ एक साथ यथार्थ अथवा प्रामाणिक होती है। कालिदास के प्रेम-काव्य तथा शेक्सपियर के प्रेम-काव्य मे विशेष समानता नही है, फिर भी वे दोनो साथ-साथ विश्वसनीय तथा प्रामाणिक है। इसी प्रकार यह जरूरी नही है कि विभिन्न सन्तो और साधको का आध्यात्मिक अनुभव एक दूसरे के समान ही हो। साधु शान्तिनाथ ने अपनी पुस्तक "एक सत्यान्वेषी के अनुभव" (Experiences of a Truth-seeker) मे लिखा है कि उन्हे यह विश्वास नही रहा कि समाधि की दशा मे हमे सत्य का साक्षात्कार होता है, क्योकि समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेने वाले विभिन्न योगी सत्य के सम्बन्ध मे अलग-अलग मत प्रकट करते पाये जाते है।[15] सत्य के सम्बन्ध मे योगियो द्वारा दिये हुए वर्णन एक-दूसरे से भिन्न होते है और उस विवरण के रूप बहुत-कुछ विभिन्न योगियो द्वारा प्राप्त शिक्षा द्वारा निर्धारित होते है।[16] साधु शान्तिनाथ की इस राय से हम सहमत नही है। मानव-प्रकृति मे अनेक सृजनात्मक सम्भावनाएँ निहित है, इसलिये मनुष्य अपनी उच्चतम की कल्पना अनेक रूप मे कर सकता है। ये विभिन्न रूप सब-के-सब एक साथ प्रामाणिक हो सकते है, ठीक वैसे ही जैसे कि विभिन्न कवियो द्वारा लिखे हुए भिन्न प्रेम-काव्य, अथवा उनके विभिन्न सौन्दर्य आदि के वर्णन, एक साथ ही सही तथा प्रामाणिक होते है। वस्तुत प्रेम अथवा सौन्दर्य की अनुभूति परिमाण मे अपरिमित होती है, और वह अपने को असख्य रूपो मे व्यक्त कर सकती है। इसी प्रकार समाधि की अनुभूति भी अपने को विभिन्न रूपो में मूर्त तथा प्रकाशित करे, तो हमे आश्चर्य न होना चाहिए।

## आदिम धर्म

सिद्धान्त मे हम यह मान चुके है कि धर्म के आदिम तथा विकसित रूपो मे अविच्छिन्नता होनी चाहिए। किन्तु हम अभी तक यह नही दिखा सके है कि विकसित आध्यात्मिक चेतना मे जो तत्व होते है वे आदिम धार्मिक चेतना मे भी पाये जाते है। जान पडता है कि इस सम्बन्ध मे हमे निराश होना पडेगा। नर विज्ञान के पण्डितो ने आदिम धर्म के सम्बन्ध मे जो तथ्य इकट्ठे किये है वे हमारी विशेष मान्यता के विरोधी जान पडते है।

इस विभिन्नता या विरोध के दो पहलू है। प्रथमत नर-विज्ञान ने यह कोशिश की है कि तथा-कथित धार्मिक जीवनके तथ्यो का समावेश उपयोगी जीवनके क्रममे कर ले,

दूसरे उनका विश्वास है कि आदिम धर्म एक प्रकार का मिथ्या विज्ञान है, अथवा वह विज्ञान या वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास मे एक सीढी मात्र है। इस दूसरी दृष्टि से यह अनुगत होता है कि धर्म नाम की वस्तु क्रमश मानव-जीवन तथा सभ्यता से विलुप्त हो जायगी।

फ्रेजर के अनुसार धर्म मे दो तत्व होते हैं एक चिन्तनात्मक और दूसरा व्यावहारिक। एक ओर तो धर्म में मनुष्य से उच्चतर अलौकिक शक्तियों में विश्वास रहता है, और दूसरे, उन शक्तियो को प्रसन्न करनेके लिये तरह-तरह के अनुष्ठान किये जाते हैं।[१७] मनुष्य देवताओ को प्रसन्न करने के लिये प्रयत्न करता है क्योंकि उसे यह विश्वास रहता है कि देवता लोग उसके हितो को आगे बढा सकते हैं। मैलिनाउस्की का कथन है 'यह सिद्ध किया जा सकता है कि धर्म का मनुष्य की मूल, जैवी आवश्यकताओ से आन्तरिक सम्बन्ध रहता है, यद्यपि यह सम्बन्ध सीधे दिखाई नही देता।'[१८] उनके मत मे 'धर्म-चेतना विचार अथवा चिन्तन मे उत्पन्न नही होती, न वह भ्रांत, ज्ञान में ही जन्म लेती है। उसका जन्म जीवन की यथार्थ, दुखपूर्ण स्थितियो मे होता है, अर्थात् मनुष्य की योजनाओ और यथार्थ के विरोध मे।'[१९]

फ्रेजर ने इस मन्तव्य का स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि धर्म वैज्ञानिक दृष्टि के विकास मे एक सोपान मात्र है। धर्म की उत्पत्ति जादू-टोने से होती है, और जब जादू-टोने से काम नही चलता, तो विज्ञान का उदय होने लगता है। मानव-चिन्तन का विकास, कुल मिलाकर, जादू-टोने से धर्म की ओर, और धर्म से विज्ञान की दिशा मे हुआ है, इसलिये धर्म जहाँ वह प्रकृति की व्याख्या रूप होता है, क्रमश. विज्ञान द्वारा स्थानच्युत कर दिया जाता है।[२०] फ्रेजर के अनुसार जादू, धर्म तथा विज्ञान तीनो विचारात्मक सिद्धान्त हैं, उनमे आधुनिक साइन्स ने बाकी दो को हटाकर जगह ले ली है।[२१] अपनी यह सम्मति देते हुए फ्रेजर महोदय योरप तथा अमेरिका के एक प्रतिनिधि विचारक के रूप में दिखाई देते हैं, जो वहाँ की प्रबल वैज्ञानिक परम्परा का उचित प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रसिद्ध मानस-शास्त्री फ्रायड भी धर्म को एक प्रकार की भ्रान्ति मानता है जो कि क्रमश: दूर हो जायगी। धर्म का जन्म मनुष्य की इच्छाओं में होता है। हर मनुष्य में एक इच्छा रहती है कि उसकी रक्षा करने वाला एक पिता हो। ईश्वर की कल्पना भी आप्त-काम-तृप्ति के रूप में की गई है। एक दैवी शक्ति का वात्सल्य मानव जीवन के

खतरो के समक्ष हमे निश्चिन्त वनाता हे, तथा नैतिक व्यवस्था की स्थापना करके हमारी न्याय की माँग को पूरा करता है, ऐसी माँग जो मानवीय "सस्कृति" मे प्राय अपूर्ण रह जाती है, और धरती के अस्तित्व का परलोक मे विस्तार करके अपूर्ण इच्छाओ की पूर्ति के लिये देशकाल का आधार उपस्थित कर देता है। [१२]यहां हमे जर्मन दार्शनिक कान्ट के सिद्धान्तो की याद आती हे। क्यो हमे ईश्वर, अमरता आदि मे विश्वास करना चाहिए ? कान्ट का उत्तर है हमे ईश्वर को इसलिये मानना चाहिए कि विश्व मे धार्मिक तथा अधार्मिक लोगो के प्रति पूर्ण न्याय हो सके। देखा जाता हे कि पृथ्वी पर धार्मिक मनुष्य हमेशा सुखी नही होता, और सुखी लोग हमेशा धार्मिक नही होते। इस विपमता को मिटा देना ईश्वर का ही काम है। फ्रायड ने अपने मन्तव्य मे एक दूसरी वात भी कही है , धर्म का एक काम यह भी है कि वह मनुष्य की असामाजिक प्रवृत्तियो को नियन्त्रण मे रखे।

मैलिनाउस्की का विचार है कि मनुष्य की मूल जरूरते उसकी दैवी प्रकृति से सम्बद्ध हैं। फ्रायड के अनुसार वे जरूरते मनुष्य की मनोवैज्ञानिक तथा जैवी दोनो प्रकृतियो से सम्वन्धित हैं। किन्तु यह वात मैलिनाउस्की को भी स्वीकार है कि धार्मिक विश्वास जीवन को अग्रगति देने वाले होते है, और इस प्रकार उनका सास्कृतिक महत्व होता है। अमरता का आश्वासन देकर धर्म मनुष्य को मृत्यु की भयावनी परि-स्थिति मे ढाढस या तसल्ली देता है। इस प्रकार धर्म मनुष्य को मृत्यु तथा विनाश की शक्तियो के द्वारा पराजित होने से वचाता है' [१३]शरीर से भिन्न आत्मा मे विश्वास का असली मूल मनुष्य की 'गहरी आवेगात्मक माँगो मे, अर्थात् उसकी अधिकाधिक जीवन के लिय माँग मे हे।' [१४] जीवन की अभिलापा, जीवन के अतिरेक की कामना को ही, हम सृजनशीलता कहते हैं। यह आश्चर्य की वात है कि नर-विज्ञान मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र आदि के पडित मनुष्य की इस मूल प्रेरणा को, जो मानव व्यक्तित्व की दूसरी समस्त प्रेरणाओ के साथ जुडी है, स्वीकार नही करते।

जिसे हम उदासीनता या तटस्थता कहते हैं वह अधिक जीवन की इच्छा का ही गुणात्मक पहलू है। महात्मा ईसा ने गरीवी की वडी प्रशसा की हे, लेकिन उन्होने भी कहा कि 'मै यहाँ इसलिये आया हूँ कि लोग जीवन पा सके, और उसे प्रचुर मात्रा मे पा सके।' सृजनशील जीवन विभिन्न धरातलो पर जिया जा सकता है ऐन्द्रिय धरातल पर, वोद्धिक धरातल पर ओर आध्यात्मिक धरातल पर। किन्तु धार्मिक-आध्यात्मिक मनुष्य जीवन की कामना उसके उच्चतम धरातल पर करते हैं। प्रश्न

है, क्या मनुष्य के आदिम जीवन मे हम उस प्रकार की उच्चता की खोज जो वैराग्य तथा उदासीनता से सहचरित होती है, पा सकते है ? नर-विज्ञान ने जिन तथ्यो को उपस्थित किया है उनसे उक्त प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर नही मिल सकता। इसके दो कारण है : पहली बात तो यह है कि सब शास्त्रो की भाति नर-विज्ञान के प्रदत्त (Data) या तथ्य चयनात्मक होते है। नर-विज्ञान जिन अन्वेषण-पद्धतियो का उपयोग करता है उनके द्वारा मनुष्यो की वैयक्तिक भावनाओ का पता लगाना कठिन है। वह आदिम समाजो के बाहरी धार्मिक जीवन को देख सकता है, पर उस जीवन से सहचरित वैयक्तिक मनोभावो का उचित आकलन नही कर सकता। दूसरी बात यह है कि नर-विज्ञान के पडित प्राय धार्मिक-आध्यात्मिक कोटि के लोग नही होते, और वे उस प्रकार की बौद्धिक तथा रागात्मक तैयारी भी नही कर पाते जो उच्चतर कोटि की धार्मिक-आध्यात्मिक प्रक्रियाओ को समझने के लिये जरूरी है। कोई भी अन्वेषक अनुभव के उन क्षेत्रो के बारे मे उचित प्रश्न नही पूछ सकता जिन क्षेत्रो से उसका परिचय नही है। एक तीसरा करण भी है। हमारे विकसित आध्यात्मिक-धार्मिक चेतना के ज्ञान का आधार मुख्यत रहस्यवादी सन्तो द्वारा प्रस्तुत किया हुआ विस्तृत साहित्य है, इस कोटि का साहित्य आदिम समाजो मे एकदम ही उपलब्ध नही है।

फिर भी ज्यादा विचारशील नर-विज्ञानियो ने यह सकेत किया है कि आदिम धर्म-चेतना मे भी वैयक्तिक अथवा निजी तत्व रहते है, यद्यपि उन तत्वो का स्पष्ट विश्लेषण नही किया जा सका है। मॅलिनाउस्की ने लिखा है 'जिस किसी ने धर्म-तत्व का गहरे, सच्चे रूप मे अनुभव किया है वह जानता है कि आध्यात्मिकता के गहनतम क्षण एकान्त मे आते है, अर्थात् उस समय जब मन दुनिया से विमुख होता है और व्यक्ति ससार से हटकर ध्यान-मग्न होता है, न कि भीड़ की स्थिति मे जहाँ मन उखड़ा हुआ रहता है। क्या यह सम्भव है कि आदिम धर्मों मे इस प्रकार की एकान्त प्रेरणा का नितान्त अभाव हो ? कोई भी अन्वेषक जिसने आदिम मनुष्यो को निकट सम्पर्क मे जाना है और सम्बद्ध साहित्य का ठीक से अनुशीलन किया है, इस सम्बन्ध में सन्दिग्ध नही होगा। दीक्षा के समय नये व्यक्ति को सबसे अलग कर लेना, धार्मिक परीक्षा के क्षणो मे व्यक्ति के निजी सघर्ष, एकान्त स्थलो मे आत्माओ, देवताओ तथा अन्य शक्तियो से सम्पर्क, ये सब चीजे यह दर्शित करती है कि आदिम धर्म [illegible] एकान्त की चीज होता है।'

११ यूरेन, वही, पृ० १६०।

१२. यूरेन द्वारा उद्धृत, पृ० १८६।

१३. दे० ऐटकिन्सन ली, ग्राउन्ड वर्क ऑव् द फिलॉसफी ऑव् रिलीजन, (डकवर्थ, लन्दन, १९४६), पृ० १९।

१४ सर जेम्स फ्रेज़र, द गोल्डेन बाउ, संक्षिप्त सं० (मैकमिलन, १९४७) पृ० ५०।

१५. बृहदारण्यक, ३।८।

१६ दे० केनोपनिषद् १।३ तथा कठोपनिषद् २।६।१२।

१७. कठोपनिषद् १।२।२१।

१८. ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।९।

१९. दे० डब्ल्यू० टी० स्टेस, टाइम ऐन्ड इटर्निटी, (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, १९५२), पृ० ९।

२० टामस ए कैम्पिस, दी इमीटेशन ऑव् क्राइस्ट, (कालिन्स, लन्दन और ग्लासगो), पृ० ४५, तथा आगे।

२१ कठोपनिषद्, २।१।१।

२२ इमीटेशन ऑव् क्राइस्ट, २।१ (पृ० १०९)

२३ योगसूत्र, १ । ३३ ।

२४ द वैरायटीज़, इत्यादि, पृ० ३६८।

२५ टाइम ऐन्ड इटर्निटी, पृ० ७४।

२६ वही, पृ० ८६, १२३ और आगे।

२७ रामचरित मानस, बालकाण्ड, दोहा ३।

२८ श्रीमती रिज डेविड्स के "डायलाग्ज़ ऑव् द बुद्ध" से क्रिस्टमस हम्फ्रेज़ द्वारा उद्धृत, बुद्धिज़म (पैलिकन बुक्स, १९५२), पृ० १२५।

२९ जेम्स, वैरायटीज़, पृ० ३६१।

३०. राधाकृष्णन्, इन्डियन फिलासफी, भाग १, संशोधित सं० (जार्ज एलेन ऐन्ड अन्विन, १९२९), पृ० ४५०।

३१. राधाकृष्णन् द्वारा उद्धृत, वही, पृ० ४४८।

३२. माध्यमिक कारिका २५, १९।

३३ यूरेन, वही, पृ० २१२।

३४ फेकनर की युक्ति का संकेत श्री सी० ई० एम्० जोड की 'द रिकवरी ऑफ फेथ' (फेबर ऐन्ड फेबर, लन्दन, १९५२), में पृ० ९१ पर है। एलेक्जेन्डर के मत के लिए देखिए स्पेस, टाइम ऐन्ड डीइटी (मैक मिलन, लन्दन, १९२०) भाग २, बुक ४,

अध्याय २ एलेक्जेन्डर के मत में धार्मिक-आध्यात्मिक संवेदना के संकेतों को चिन्तन द्वारा विस्तृत करने से ईश्वर की धारणा मिलती है। किन्तु वह यह भी मानते हैं कि ईश्वरत्व का गुण सिद्ध पदार्थ नहीं है, अपितु सदैव भविष्य में उत्पन्न होने वाला गुण रहेगा। यह मत हमारी धारणा के निकट है।

३५. दे० साधु शान्तिनाथ, एक्सपीरिएन्सेज ऑव ए ट्रूथ सीकर, अर्चनाय, गोरखपुर, अध्याय १५।

३६. वही, पृ० ४७३।

३७. जे० फ्रेजर, वही, पृ० ५०।

३८. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् द सोसल सायन्सेज, कल्चर, पृ० ६४२।

३९. वही।

४०. फ्रेजर, वही, पृ० ७११, ७१२।

४१. वही, पृ० ७१२।

४२. सिग्मन्ड फ्रायड, द फ्यूचर ऑव् ऐन इल्यूजन, (अं० अनु० होगार्थ प्रेस, लन्दन, १९२८), पृ० ५२।

४३. बी० मेलिनाउस्की, मैजिक, सायंस ऐन्ड रिलीजन, (द फ्री प्रेस, इलियानिस, १९४८), पृ० २३।

४४. वहीं।

४५. वही, पृ० ३८।

४६. डब्ल्यू० ई० हॉकिंग, द मीनिंग ऑव् गॉड इन ह्यूमैन एक्सपीरियेन्स, पृ० १३-१४।

४७. दे० बर्ट्रान्ड रसेल, रिलीजन ऐन्ड सायन्स, (होम यूनिवर्सिटी लायब्रेरी), पृ० ८

४८. मज्झिम निकाय ने राधाकृष्णन् द्वारा उद्धृत, इन्डियन फिलॉसफी, भाग १, पृ० ३७१।

# अध्याय ६

## प्रेम और मैत्री शिक्षा और राजनीति

अब तक हमने इसका वर्णन किया कि मनुष्य की सृजनशील आत्मा किस प्रकार अपने को कला, दर्शन, नैतिकता तथा धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना मे अभिव्यक्त करती है। अब हम उन स्थितियो का विवेचन करगे जिनम मनुष्य की सृजन-वृत्ति अपने को चरितार्थ कर पाती है। वैसा करने के लिये हमे अध्यात्म की तटस्थ ऊँचाई से नीचे उतरना होगा, और फिर उस धरती के जीवन मे प्रवेश करना होगा, जहाँ मानवीय सृजनशीलता का नाटक अहर्निश खेला जाता है।

आध्यात्मिक जीवन मे जिस उदासीनता तथा वैराग्य की अपेक्षा होती है वह सासारिक धन-सम्पत्ति के प्रति होता है, अथवा उसके नरनारियो के प्रति ? क्या आध्यात्मिक व्यक्ति में मैत्री और प्रेम की भावना होती है ? अथवा यह समझना चाहिए कि मैत्री और प्रेम की आध्यात्मिक जीवन से सगति नही बैठती ? यदि यह मान लिया जाय कि आध्यात्मिक जीवन आत्मा के जीवन का सर्वोच्च रूप है तो यह प्रश्न बडा महत्वपूर्ण बन जाता है कि उस जीवन में हमारे कतिपय महत्वपूर्ण आवेगो के लिये स्थान होता है या नही। प्राय यह समझा जाता है कि सत लोग इस दुनिया के प्रति वैराग्य रखते है, और परलोक मे अभिरुचि लेते है। जब टॉमस कैम्पिस ने यह कहा कि 'दुनिया के शोरगुल से भागो' तो वह इसी मनोवृत्ति को प्रतिफलित कर रहे थे। किन्तु सन्तो के जीवन का जो चित्र तुलसीदास जैसे लेखको ने खीचा है, वह उतना निषेधात्मक नही है। जिन सन्तो तथा धर्म-शिक्षको ने मानव-इतिहास को प्रभावित किया है वे अकेले मे नही, वल्कि विश्व के नर-नारियो के बीच, रहते थे। महात्मा बुद्ध, ईसा, कबीर, नानक, दादू आदि इसी कोटि के सत थे। तुलसी जैसे भक्त कवि की गणना भी उन्ही के बीच होनी चाहिए। कौन यह कहने का साहस करेगा कि इन महापुरुषो मे मैत्री आदि के आवेगो का अभाव या कमी थी ? उनमे

से कुछ, जैसे सूरदास और तुलसीदास, सन्त बनने से पहले, एक दूसरे अर्थ में प्रेमिक रह चुके थे, अर्थात् सांसारिक अर्थ में। अपने प्रसिद्ध महाकाव्य "रामचरित मानस" में तुलसीदास ने जगह-जगह यह बतलाने की कोशिश की है कि भले लोग, खास तौर से राम के भक्त, सन्तों के साहचर्य में विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं। मतलब यह है कि सन्त-समाज में न केवल दूसरे सन्तों के लिये, बल्कि सब प्रकार के भले लोगों के लिये जगह रहती है। किन्तु सन्तों के आवेगात्मक जीवन की एक विशेषता परिलक्षित होती है उस जीवन में इन्द्रिय-सम्बन्धी विकारों के लिये कोई स्थान नहीं होता। सन्तों की भावनाएँ तथा आवेग विशुद्ध आध्यात्मिक धरातल से सम्बद्ध होते हैं। इन्द्रियों के सुखभोग को सन्देह की दृष्टि से देखते हुए सन्त लोग प्राय स्त्रियों के सम्पर्क से बचे रहना चाहते हैं।

सन्तों के चरित्र को यहीं छोड़कर हम पूछेंगे कि साधारण सामाजिक जीवन में प्रेम तथा मैत्री का क्या स्थान है? प्रेम किसे कहते हैं और उसकी जरूरत क्या है?

राल्फ लिन्टन नामक विचारक ने एक स्थान पर लिखा है कि मनुष्य की सबसे बड़ी जरूरत यह है कि दूसरे लोग उसके प्रति मैत्री-मूलक आवेगों का प्रदर्शन करें।[1] सम्भवत मनुष्य की सामाजिक प्रकृति के मूल में यही जरूरत रहती है। अपनी शारीरिक जरूरतों के कारण छोटे शिशु को दूसरे मनुष्यों पर निर्भर होना पड़ता है, किन्तु बाद के जीवन में वह दूसरे मनुष्यों में जो रुचि लेता है उसका कारण केवल यह शारीरिक निर्भरता ही नहीं है। इसी प्रकार हमारी शारीरिक आवश्यकताएं प्रेम की पूरी व्याख्या नहीं कर सकतीं, क्योंकि प्रेम का मनोभाव और उसका आनन्द का अनुभव बहुत ही जटिल वस्तुएँ हैं।

जिसे हम नगर जीवन कहते हैं उसका आधार पारस्परिक सहयोग तथा सेवा-विनिमय है। इसमें सन्देह नहीं कि पारस्परिक सहयोग करने वालों में स्नेहपूर्ण मैत्री का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि ऐसा सम्बन्ध उत्पन्न हो ही जाय। आज के समाज में नागरिकों का [illegible] सम्पर्क [illegible] अर्थात् ठेके पर निर्भर बनता जा रहा है। आज [illegible] का [illegible] [illegible] के लिये होता। [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] परिमाण उत्पन्न करने के लिये [illegible] है। [illegible] [illegible] सामाजिक युग के किसी भी [illegible] [illegible] [illegible] पाये जा सकते हैं। [illegible]

नही कि यह सहयोग एक ही समाज अथवा राष्ट्र के सदस्यो के बीच होता हो। आज मनुष्यो के सहयोग-मूलक कार्य का दायरा बहुत बढ गया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार यातायात, तथा डाक-वितरण जैसे क्षेत्रो मे विभिन्न देशो के नागरिक अनजाने ही एक-दूसरे के हित के लिये सहयोग करते है। इन उदाहरणो से यह भी सिद्ध होता है कि एक-दूसरे को जाने बिना भी लोग परस्पर सहयोग कर सकते है।

निष्कर्ष यह है कि सभ्य जीवन के लिये प्रेम और मैत्री आवश्यक नही है। पुलिस का सिपाही और मैजिस्ट्रेट, जज और एसेम्बली का सदस्य, वैज्ञानिक और इजीनियर, बैंक का क्लर्क और कारखाने का श्रमिक, मैनेजर और विक्रेता ये सब बिना सम्बद्ध लोगो को जाने, और बिना मैत्री आदि आवेगो के, अपने-अपने कार्य सुचारु रूप से अनुष्ठित कर सकते है।

हम मानते है कि प्रेम हमारे सृजनात्मक जीवन की आवश्यकता है, उस जीवन के प्रत्येक रूप और प्रत्यक स्तर की। प्रेम का सब से स्थूल रूप भौतिक प्रणय है। स्त्री पुरुष के पारस्परिक आकर्षण के मूल मे क्या रहता है? सम्भवत नर-नारियो का आकर्षण कभी विशुद्ध रूप मे भौतिक नही होता। एक व्यक्ति दूसरे के प्रति आकर्षित होता है, इसीलिये नही कि वह भौतिक दृष्टि से सुन्दर है, बल्कि इसलिये भी कि उसके व्यक्तित्व मे एक विशेष कोटि का आकर्षण है जो कि कतिपय आत्मिक, आवेगात्मक ओर बौद्धिक, गुणो मे प्रतिफलित है। फिर भी इससे इन्कार नही किया जा सकता कि प्रेम-पात्र के व्यक्तित्व मे भौतिक सौन्दर्य भी एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। इस आकर्षण का मतलब क्या है? सामान्य रूप मे आकर्षण के मूल मे सम्बद्ध व्यक्ति का यौवन होता है। उपन्यासकार शरत्चन्द्र ने एक स्थान पर लिखा है सौन्दर्य का मतलब है प्रजनन की योग्यता, जब तक एक मनुष्य मे प्रजनन की शक्ति बनी रहती है तब तक उसके व्यक्तित्व मे यौवन-मूलक सौन्दर्य झलकता रहता है। प्रेम-पात्र के भौतिक आकर्षण का एक अर्थ यह है कि वह प्रेमिक की सृजनशील शक्तियो को उकसाने की क्षमता रखता है। तो क्या यह कहना चाहिए कि भिन्न लिगो का पारस्परिक आकर्षण एक तरीका है जिसके द्वारा प्रकृति विशिष्ट जीव-योनि को कायम रखती है? यह वर्णन उचित हो सकता है, उसकी कमी यह है कि प्रकृति की प्रयोजनशीलता को एक रूपक के रूप मे ही लिया जा सकता है।

हमारी दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रेमिक के मन मे, प्रेम की अवस्था मे

किस प्रकार की भावना वर्तमान होती है ? वह अपनी ओर से क्या महसूस करता है, और स्वयं प्रेम-पात्र के सम्बन्ध में क्या महसूस करता है ? ये प्रश्न प्रेम के सभी रूपों और सभी स्तरों को लेकर उठाया जा सकता है।

प्रेमिक को जान पड़ता है कि उसकी प्रेमिका अतिशय रमणीयता अथवा मूल्यवत्ता का अधिष्ठान है। उसे लगता है कि वह अपने प्रेम-पात्र का समुचित वर्णन नहीं कर सकता। प्रेमिका के गुण उसमें तीव्र आकांक्षा उत्पन्न करते हैं। उसकी सुन्दरता और मधुरता, उसकी संवेदनशीलता और स्नेहशील प्रकृति, उसकी बुद्धि और चतुरता, उसकी आकर्षक चाल-ढाल और स्पष्ट व्यवहार, उसकी उच्च सदाशयता - ये सब चीजें प्रेमिक के अवधान तथा आकांक्षा का विषय बन जाती हैं। जिसे हम आकांक्षा या कामना कहते हैं, वह जीवन की बढ़ी हुई गति का प्रतीक है, इसी प्रकार प्रेम-भावना बढ़ी हुई जीवन-शक्ति की द्योतक है। किसी के प्रेम में होने की स्थिति बड़ी प्रिय तथा अर्थवती जान पड़ती है, उसके द्वारा प्रेमिक की समस्त वृत्तियाँ तथा संवेदनाएँ उत्तेजित हो जाती हैं। प्रेमिक चाहता है कि अपनी समस्त विशेषताओं को लिये हुए प्रेमिका उसकी बन जाय। प्रेमिक में यह कामना होती है कि वह प्रेमिका की मोहक जीवन-प्रक्रिया में, भौतिक और आत्मिक दोनों स्तरों पर, साझीदार बन जाय। एक रहस्यमय ढंग से प्रेमिका प्रेमी में नये जीवन-स्पन्दन को जागृत करती है। प्रारम्भ में भौतिक रूप में, और बाद में आवेगात्मक भूमिकाओं में, वह उसे अधिक जीवन्त बना देती है। सम्भवतः उच्चतम कोटि का प्रेम प्रेमियों के आध्यात्मिक धरातल को भी ऊँचा बना देता है।

यद्यपि सभी लोग प्रेम की आवश्यकता महसूस करते हैं, विशेषतः भौतिक प्रेम को, फिर भी कभी-कभी एक ऐसे व्यक्ति के जीवन में प्रेम का आविर्भाव हो जाता है जो उसे खोज नहीं रहा था। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रेम के सभी रूप जीवन-शक्ति को तीव्र करने वाले होते हैं। यदि प्रेमियों का व्यक्तित्व सुसम्पन्न हो तो वे प्रेम द्वारा निश्चय ही मानसिक और बाद में आध्यात्मिक, विस्तार का अनुभव करते हैं।

वे व्यक्ति जो मानसिक दृष्टि से सृजनशील होते हैं, जैसे कलाकार और विचारक, प्रेम की आवश्यकता का विशेष अनुभव करते हैं। वे प्रायः ऐसे व्यक्तियों की ओर आकृष्ट होते हैं जिनसे उनकी अपनी प्रकृति का [illegible] है। [illegible] प्रेमी प्रेमिका के सम्पर्क द्वारा अपनी [illegible] को तीव्र बनाने की आशा

से पुलकित होता है, इसके विपरीत सक्रिय कोटि का प्रेमी यह चाहता है कि प्रेमिका स्वय उसके आत्म-प्रसार में सहायक हो। प्रथम कोटि का प्रेमी ऐसी नारी से प्रेम करने लगेगा जिसकी विशेषताएँ स्वय उसकी क्षमताओ की पूरक हैं, दूसरी कोटि का प्रेमिक ऐसी प्रेमिका को खोजेगा जिसकी हृदय-वुद्धि उसके समान हो, और जो उसे प्रशसा - मूलक प्रोत्साहन दे सके। एक ही प्रेमिक व्यक्तित्व मे दोनो प्रकार की जरूरतें मौजूद हो सकती हैं। सम्भवत प्रत्येक प्रेमी प्रेमिका से उक्त दोनो ही कोटियों का सहयोग तथा आदान-प्रदान चाहता है। किन्तु एक बात निश्चित है सृजनशील प्रकृति का मनुष्य ऐसे ही साथी के साथ सुखी हो सकता है जो उसकी विशिष्ट योग्यताओं को समझ सके। एक सवेदनशील व्यक्ति केवल आदान से सन्तुष्ट नही होता, वह यह महसूस करना चाहता है कि उसके सम्पर्क से उसके साथी को कुछ मिल रहा है। इस प्रकार के व्यक्ति का मनोभाव कुछ ऐसा होता है मेरे साथी को यह अनुभव होना चाहिए कि हमारा सम्पर्क उसके लिये उपयोगी, महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है। जो व्यक्ति हमारे विशेष गुणो की सराहना कर सकता है, वह हमे सहज ही अपने से बाँध लेता है। अन्तत हम उसी व्यक्ति से प्रेम कर सकते हैं जो हमारे व्यक्तित्व की विशेप क्षमताओ को आदर दे सके। प्रेम के सम्बन्ध मे एक आवश्यक तत्व यह है कि प्रेमिक लोग एक-दूसरे को समझपूर्ण स्नेह का आधार दे सके।

सृजनशील व्यक्तियो को वैसे आधार और स्नेह की बडी भूख होती है। स्नेह-मिश्रित आधार ही वह वस्तु है जिसे प्रेरणा कहते हैं। जो प्रेमिका प्रेमिक कलाकार अथवा विचारक को सहानुभूतिपूर्ण प्रशसा दे सकती है, वह, उसके सृजन के श्रम को शान्त करके, उसे आगे सृजनशील होने की प्रेरणा देती है। प्रेमिका से प्राप्त समुचित प्रशसा, उसकी स्नेहपूर्ण चिन्ता और सहायता, पुरुष की सृजन-क्रिया को अपेक्षित आधार देती और उसके विकास मे सहायक होती है।

ऐसा जान पडता है कि प्रेम में कुछ निर्भरता का भाव रहता है। अपनी शान्ति तथा सुख के लिये प्रेमिक प्रेमिका पर निर्भर करने लगता है। उसे लगता है कि प्रेमिका के बिना वह नि शक्त तथा नि स्व हो जाता है। अपनी प्रेमिका के प्रति असली प्रेमिका मनोभाव होता है मुझे तुम्हारी सख्त जरूरत है। प्रेमिका का प्रेमी के प्रति कुछ अश तक वैसा ही भाव होना चाहिये जैसा कि मा का बच्चे के प्रति होता है। नितान्त निकटता के क्षणो में प्रेमिक को प्रेमिका के सम्मुख अपने विशुद्ध, साहाय्यापेक्षी रूप में उपस्थित हो सकना चाहिए। इसका यह मतलब नही कि प्रेमिक में उचित स्वाभिमान

नहीं होना चाहिए, फिर भी अभिमान और प्रेम एक साथ नहीं चल सकते। प्रमिक में प्रेमिका के सम्पर्क द्वारा अपने जीवन को समृद्ध करने की अभिलाषा स्वाभिमान से तीव्रतर होनी चाहिए। और नारी मे यह क्षमता होनी चाहिए कि वह प्रेमिक को मातृत्व का सरक्षण दे सके।

इसका क्या कारण है कि केवल नारी ही पुरुष को प्रेरणा देती है? क्या इसका यह मतलब है कि शारीरिक धरातल की भाँति अन्य धरातलो पर भी पुरुष की सृजन-शीलता को उकसाने के लिये नारी की आवश्यकता होती है? अथवा यह कि उन दोनो की भिन्न क्षमताएँ उन्हे एक-दूसरे की जरूरतें पूरा करने के योग्य बना देती है? नारी चाहती है कि वह पुरुष के प्रयत्नो से लाई हुई भौतिक तथा दूसरी कोटि की सम्पत्ति को ग्रहण करे। सम्भवत वह स्वय इस योग्य नही होती कि सम्पत्ति के लिये सीधे सघर्ष करे। शायद वह स्वय सृजन भी नही करती, केवल एक कोटि के सृजन को छोड़कर। पुरुष की तुलना में नारी, शायद, अधिक सतुलित, निश्चयात्मक तथा स्थिर प्रकृति की होती है। उसका स्नेह भी ज्यादा स्थायी होता है। सम्भवत वह अपने प्रेमिक के माध्यम से ही सास्कृतिक प्रगति मे योग दे सकती है। वह पुरुष को प्रेरणा देती है, और उसके समर्पण को स्वीकार करती है। वह सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को अपने प्रेमिक की दृष्टि से देखती है। सम्भवत वह यह चाहती है कि उसके प्रेमिक की दृष्टि व्यापक हो, किन्तु वह स्वय एक स्वतन्त्र दृष्टि विकसित करने की आकांक्षा नही रखती। नारी ऐसे पुरुष को खोजती है जो भौतिक तथा सामाजिक धरातल पर उसका रक्षण करे, और उसके लिए ससार की समृद्धि, पद तथा शक्ति जीत कर लाये। सम्भवत नारी स्वयं सघर्ष करके विजय करना नहीं चाहती, वह चाहती है कि उसका पति, पुत्र अथवा भाई विजय करे, और उस विजय में वह गर्व का अनुभव करे। नारी के सौन्दर्य और आकर्षण का एक ही लक्ष्य होता है, एक ऐसे पुरुष को वशवर्ती बना लेना जो जीवन भर उसके लिये, उसके अस्तित्व के रक्षण तथा प्रसार के लिये, प्रयत्न करता रहेगा।

नारी समर्थ अथवा पुरुषार्थी मनुष्य को पसन्द करती है; साथ ही यह भी सच है कि वह उसी व्यक्ति को प्रेम दे सकती है जो उसका स्नेहपूर्ण सरक्षण चाहता है। पति से अधिक वह अपने बच्चों को ज्यादा प्यार करती है, और वह पति को वहीं तक प्यार कर सकती है जहाँ तक वह उस पर अपनी निर्भरता प्रकट करे। जो प्रेमिक नारी की मातृत्व-भावना को जागृत नहीं करता, वह उसे पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर सकता।

ऐसी नारी तब तक पूर्ण रूप से सुखी नही हो सकती जब तक उसके बच्चा न हो जाय।

सृजनशील कलाकार अथवा विचारक को प्रेम की जरूरत क्यो होती है? जान पडता है कि सृजन का श्रम तब तक दूर नही होता जब तक उसकी सृष्टि पर किसी की प्रेमपूर्ण दृष्टि न पडे। भवभूति के "उत्तर रामचरित" मे सीता ने इस बात को लेकर दु ख प्रकट किया है कि उनके उत्पन्न किये हुए शिशुओ को प्यार करने के लिए आर्यपुत्र (राम) मौजूद नही है। ठीक इसी प्रकार कलाकार भी चाहता है कि उसकी सृष्टि पर उसकी प्रेमिका की स्नेहपूर्ण दृष्टि पडे। ऐसा जान पडता है कि अपने विभिन्न सृजनशील रूपो में जीवन को सर्वत्र स्नेह की आवश्यकता होती है, मानव-जीवन अनवरत अपने अस्तित्व को दूसरो में प्रसारित करना चाहता है।

हमारी सर्वश्रेष्ठ सृष्टि स्वत स्फूर्त होती है। किन्तु हमारा सृजन-प्रयत्न समाज द्वारा तब ही स्वीकार होता है जब वह अनुशासित तथा सगठित हो। प्राय यह अनुशासन तथा सगठन उस जीवन-क्षण की आन्तरिक आवश्यकता होती है जिसकी सृष्टि किसी चित्र अथवा कविता, किंवा एक बौद्धिक सिद्धान्त-सूत्र के रूप में, की गई है। इस अनुशासन में गुजरते हुए कलाकार अथवा विचारक को एक प्रकार का आनन्द होता है। कभी-कभी वह अनुशासन अखरता भी है। हमारी सामाजिक जिन्दगी में लीको तथा रूढियो के रूप में बहुत-कुछ ऐसा अनुशासन रहता है जिसका अनुसरण निरर्थक तथा कष्टप्रद लगता है। समाज चाहता है कि हम अक्सर अपने ऊपर कृत्रिमता का लबादा डाले रहे, वह लगातार हमारे व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधक होता है। यही कारण है कि कलाकार, जो कि मनुष्य की सामान्य नैसर्गिक प्रवृत्तियो का प्रतिनिधि होता है, समाज के अनुशासन और दबाव को असह्य पाता है। कलाकार की सृजनशील प्रकृति अक्सर उसे सामाजिक अनुशासन का उल्लघन करने को उकसाती है। फलत एक रूढिवादी समाज में लेखक तथा कलाकार अक्सर अकेलापन महसूस करते हैं। कलाकार नवीन सृष्टियाँ करता है, और वह चाहता है कि उन सृष्टियों के लिये कही उसे स्नेहपूर्ण अवलम्ब मिले, जिससे वह समाज में विच्छिन्न महसूस न करे।

किन्तु इसका यह मतलब नही कि प्रेम की आवश्यकता केवल कलाकार को ही होती है। वस्तुत प्रेम की भूख सार्वभौम है। ऐसा जान पडता है कि प्रत्येक मनुष्य,

अपने प्रत्येक गतिलेश के लिये, किसी दूसरे के समर्थन तथा स्वीकृति की आवश्यकता महसूस करता है। प्रत्येक नर-नारी अपने जीवन मे एक ऐसे व्यक्ति के प्रवेश की प्रतीक्षा करता है जो उसे पूर्णतया समझ सके, अर्थात् जो उसके व्यक्तित्व के बहुमूल्य गुणों को ठीक-ठीक पहचानकर उसे स्नेह दे सके। व्यक्तित्व के परिपूर्ण विकास अथवा परफुटन के लिये एक ऐसे साथी की उपस्थिति आवश्यक जान पड़ती है। हमें एक ऐसे साथी या मित्र की जरूरत रहती है जो हमारे व्यक्तित्व को उसकी सम्पूर्णता मे स्वीकार कर ले, जिसके सामने पहुँचने मे हमे दुराव अथवा दम्भ की जरूरत न हो, जहा हम अपने असली रूप मे, बिना किसी दिखावे के, प्रकट हो सके और जो हमारे बौद्धिक-आत्मिक व्यक्तित्व को प्यार करते हुए भी उसके पशु-सुलभ पक्ष को घृणा की दृष्टि से न देखे। प्रत्येक मनुष्य मे यह कामना रहती है कि वह कहीं पर अपने प्रकृत नग्न रूप मे उपस्थित हो सके, उस रूप में जिसे वह सदैव समाज की आँखों से बचाता रहता है। मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने जिन ग्रन्थियों का उल्लेख तथा विवेचन किया है उनके उदय का मुख्य कारण वह तनाव है जो कि समाज की कृत्रिम रूढियो तथा मांगो और सामान्य नैसर्गिक मानव-व्यक्तित्व की जरूरतों के विरोध से उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि प्रेम एक ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को व्याकुल विक्षिप्तता से बचाकर उसे स्वस्थ रखती है।

## प्रेम और विवाह

प्रायः यह समझा जाता है कि प्रेम की तीव्रता और रोमान्स वैवाहिक बन्धन के विरुद्ध होता है। कीर्केगार्ड ने लिखा है 'नारी के द्वारा अनेक मनुष्य प्रतिभावान बन गये हैं, वीर पुरुष, कवि अथवा सन्त, किन्तु उस नारी के द्वारा नहीं जिसे उन्होंने पा लिया बल्कि उसके द्वारा जिसे वे नहीं पा सके थे।' तात्पर्य यह कि [illegible] अप्राप्य नारी का प्रेम मनुष्य को ऊँचाई पर ले जाने वाला होता है। [illegible] यह कहा कि वह नारी जिससे मनुष्य विवाह करता है उसे [illegible] नहीं हो सकती। [illegible] और [illegible] सबके [illegible], अर्थात् विवाह-[illegible] की [illegible] करता है। [illegible] है, और [illegible] में विवाह [illegible] है। फिर भी [illegible] कुछ बातें [illegible]। [illegible] [illegible] की [illegible] है, जीवन [illegible] नहीं। [illegible],

लोगो मे यह प्रवृत्ति होती हे कि वे एक-दूसरे के सम्बन्ध में वडी ऊँची कल्पनाएँ करें, ओर एक-दूसरे के व्यक्तित्व को सौन्दर्य तथा दूसरे मूल्यो का अधिष्ठान मानकर चलें। गृहस्थ जीवन की असुन्दर जरूरतें प्रेमियो के रोमान्टिक स्वप्नो मे हस्तक्षेप करती हैं, और उनके मनो से पारस्परिक आकर्पण हटाने लगती हैं। यह आकर्पण नप्ट न हो, इसके लिये दो उपायो का सकेत किया जा सकता हे। प्रथमत उन युवक-युवतियो को जो विवाह करना चाहते हैं, पति-पत्नी के भावी सम्बन्ध तथा गृहस्थ जीवन की जरूरतो के बारे मे ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जो उनमे यथार्थ-दृप्टि का उन्मेप कर सके। दोनो ओर केवल भौतिक आकर्पण को महत्व नही दिया जाना चाहिए, वल्कि यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि उनमे कहाँ तक रुचियो तथा स्वभावोकी समानता हे। दूसरे, उनको यह देखना चाहिए कि अपनी विशिष्ट रुचियो तथा महात्वाकाक्षाओ के साथ वे कहाँ तक एक-दूसरे की जरूरत महसूस करते रहेगे। हमारा अनुमान है कि स्थायी प्रेम उन्ही पति-पत्नी के बीच कायम रह सकता है जो किसी निरुपयोगी सृजनशीलता के क्षेत्र मे लगातार एक-दूसरे की सहायता की अपेक्षा करते रह सकते हैं।

हम प्रेम की परिभापा दे चुके। किसी से प्रेम करने का अर्थ है उसकी जीवन-प्रक्रिया मे साझेदार बनने की आकाक्षा, अथवा उसके जीवन-स्पन्दन को आत्मसात् करने की कामना। साथ ही प्रेमिक की एक दूसरी इच्छा भी होती है, अर्थात् अपने जीवन-स्पन्दन को दूसरे द्वारा ग्रहण तथा स्वीकृत कराने की आकाक्षा। परिपूर्ण प्रेम मे ये दोनो तत्व रहते हैं, उसमे जीवन के सुन्दर, सप्राण स्पन्दनो का आदान-प्रादान रहता है। वह प्रेम जिसका आधार केवल शारीरिक आकर्पण और भोग है, स्थायी नही हो सकता। न वह प्रेम टिक सकता है जिसका आधार केवल सामाजिक सुविधा है। स्थायी प्रेम केवल उन दो व्यक्तियो के बीच रह सकता है जो लगातार एक-दूसरे को आकर्षक पाते हैं, और अनवरत एक दूसरे के आन्तरिक व्यक्तित्व को समृद्ध करते रह सकते हैं।

सच्चे प्रेमी जानबूझकर अपने को एक-दूसरे से छिपाने की कोशिश नही करते, वे लगातार यह प्रयत्न करते है कि अपने आन्तरिक व्यक्तित्वो को एक-दूसरे तक पहुँचा दें। वे निरन्तर एक-दूसरे को सुखी वनाने की कोशिश भी करते हैं। वह प्रेम जो इस प्रकार के कोमल सम्वन्ध-सूत्र के वदले प्रेमपात्र से पराजय-मूलक समर्पण चाहता है, असली प्रेम नही होता। वास्तविक प्रेम प्रेमपात्र के व्यक्तित्व की स्वतत्रता को कुचलना नही चाहेगा। असली प्रेमी एक-दूसरे को समझने ओर पाने का प्रयत्न

करते रहते है, यह प्रवृत्ति एक-दूसरे को सुखी बनाने की इच्छा का आवश्यक परिणाम होती है। विशुद्ध प्रेम केवल यह नही चाहता कि प्रेमपात्र पर अधिकार करके उससे अधिकाधिक भौतिक सुख पा लिया जाय, उसकी मूल भावना यह होती है कि प्रेमपात्र के व्यक्तित्व का सरक्षण करते हुए उसकी समृद्धि और विकास मे योग दिया जाय।

मैत्री का अर्थ एक ऐसा प्रेम-सम्बन्ध है जिसमे शारीरिक आकर्षण के तत्व विद्यमान नही होते। मैत्री का सम्बन्ध प्राय एक ही लिंग के ऐसे सदस्यो मे होता है जिनमे रुचियो आदि की समानता है। भिन्न लिंग के सदस्यो मे विशुद्ध मैत्री का सम्बन्ध होना, अर्थात ऐसा सम्बन्ध जिसमे शारीरिक आकर्षण मौजूद न रहे, कठिन होता है। इस प्रकार की मैत्री मे यदि दोनो ओर से पर्याप्त आत्म-नियन्त्रण रखा जाय, तो वह सम्बन्ध उच्च कोटि की पारस्परिक प्रेरणा का स्रोत बन सकता है।

ऐसा जान पडता है कि सन्त तथा धार्मिक शिक्षक केवल मैत्री की भावना से सन्तुष्ट रहते हैं। उनकी इस भावना का विषय सम्पूर्ण मानवता होती है। फिर भी वे उन लोगो के साथ ज्यादा निकटता का अनुभव करते है जो उनके शिष्य अथवा अनुयायी होते हैं। किन्तु सन्त की मैत्री-भावना मे तटस्थ उदासीनता का ऐसा गहरा पुट रहता है कि वह प्रिय से प्रिय व्यक्ति के वियोग अथवा मृत्यु से भी विशेष विचलित नही होता। ऐसा प्रतीत होता है कि सन्त लोग, जो कि आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित होते है, अपनी शान्त तथा शुद्ध जीवन-प्रेरणा द्वारा दूसरो को लाभान्वित करने मे तत्पर रहते हैं। वे स्वयं यह जरूरत महसूस नही करते कि दूसरो के जीवन-स्पन्दन मे साझेदार बनकर अपने व्यक्तित्व का प्रसार करें। कलाकार अथवा [illegible] की अपेक्षा सन्त की उदासीनता तथा तटस्थता ज्यादा पूर्ण होती है।

सारांश यह कि प्रेम और मैत्री सांस्कृतिक जीवन का आवश्यक अंग है। वे उस जीवन की आदर्शता हेतु स्थितियों को भी निर्मित करते हैं। भौतिक और आध्यात्मिक दोनो धरातलों पर प्रेम-सम्बन्ध सम्बद्ध व्यक्तियों की जीवन-क्रिया को समृद्ध [illegible] होता है। सामान्यत सभी प्राणी प्रेमानुभूति के क्षण में व्यक्तिगत [illegible] का [illegible] कर लेते हैं, [illegible] आध्यात्मिक [illegible] द्वारा आत्म-प्रसार की क्षमता [illegible] लोगों में पाई जाती है। प्रेम का मार्ग सबसे सीधा और सरल मार्ग है जिससे [illegible] व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के जीवन में प्रवेश करके [illegible], और इस प्रकार अपने अस्तित्व का प्रसार करता है।

## शिक्षा का आदर्श

अब हम दूसरा प्रश्न उठायेंगे शिक्षा का लक्ष्य अथवा प्रयोजन क्या है, और सस्कृत जीवन के विकास मे उसका क्या योग रहता है।

शिक्षा की अनेक परिभाषाएँ दी गई है। कहा गया है कि 'शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वयस्क होता हुआ व्यक्ति समूह के जीवन और "सस्कृति" मे प्रवेश करता है,'[1] अथवा 'वह प्रक्रिया जिसके द्वारा समाज के ज्यादा अनुभवी सदस्य सीखने की क्रिया पर सोद्देश्य नियन्त्रण करते है,'[2] अथवा 'समाज के वयोवृद्ध लोगो का वह प्रयत्न जिसके द्वारा वे आगे आने वाली पीढी का जीवन अपने आदर्शो के अनुरूप ढालते है।'[3] पहली परिभाषा इस बात पर जोर देती है कि शिक्षा का अर्थ, मुख्यत, सास्कृतिक विरासत का सम्प्रेषण है। दूसरी और तीसरी परिभाषाएँ इस बात पर गौरव देती है कि यह सम्प्रेषण एक चयनात्मक तथा नियन्त्रित क्रिया होती है। शिक्षा की जरूरते और लक्ष्य क्या है, शिक्षा की नीति क्या होनी चाहिए, इसके सम्बन्ध मे विचार करने की आवश्यकता निम्न कारणो से पडती है। प्रथमत मानवजाति के पूर्वजो से मिले हुए जानने तथा व्यवहार करने के रूप इतने अधिक है कि कोई एक व्यक्ति उन्हे समग्रता मे आत्मसात् नही कर सकता। कोई भी बालक या वयस्क वे सब चीजे नही सीख सकता जो कि सम्पूर्ण मानवजाति को विदित है। दूसरे, विभिन्न बालको तथा वयस्को की रुचियाँ एव क्षमताएँ अलग-अलग होती है। तीसरे, शिक्षा देने वाले अधिकारी (पुराने जमाने मे यह अधिकार चर्च को था, और अब राज्य को है) प्राय यह चाहते है कि बालको मे खास तरह की आदते तथा मनोभाव उत्पन्न हो, अर्थात् शिक्षार्थियो की मनोवृत्ति एक खास तरह की बने। सामूहिक रूप मे मानवजाति ही नही आज का कोई भी समाज जितना जानता है उतना किसी एक व्यक्ति को नही सिखाया जा सकता। इसके अतिरिक्त समाज के सामूहिक जीवन मे कुछ ऐसी आदते, व्यवहार तथा मनोभाव भी पाये जाते है जो वाछनीय नही समझे जाते। एक और बात है। कुछ चीजो को सभी लोग वाछनीय समझते है, और कुछ को कुछ खास लोग। ऐसी परिस्थितियो मे शिक्षक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह बालको को वैसी चीजें सिखाये जिनके विरुद्ध समाज के अधिक प्रभावशाली वर्गो तथा व्यक्तियो को कोई आपत्ति न हो।

प्रश्न है पूर्वजो से विरासत मे मिले हुए ज्ञान-विज्ञान, मनोभावो, व्यवहारो तथा

आदतों की राशि में से उन चीजों का चयन किन दृष्टियों तथा मन्तव्यों के अनुकूल किया जाय जिनका सम्प्रेषण वाछनीय है ?

यहाँ हम आप का ध्यान एक चीज की ओर आकृष्ट करेंगे। प्राय: सभी यह मानते हैं कि शिक्षा व्यक्ति के लिये वाछनीय तथा उपयोगी होती है। प्राय: यह समझा जाता है कि अशिक्षित व्यक्ति से शिक्षित व्यक्ति अच्छा होता है; खास तौर से उच्च शिक्षा की उपलब्धि एक सौभाग्य समझा जाता है। बहुत-से समाजों में उच्च शिक्षा का लाभ थोडे ही लोग उठा पाते हैं, वे व्यक्ति जो अपेक्षाकृत समृद्ध घरानों के होते हैं, अथवा वे प्रतिभाशाली छात्र जो अपनी योग्यता से छात्रवृत्ति (वजीफा) आदि पा जाते हैं। इस दृष्टि से भारतवर्ष जैसे गरीब देश और ब्रिटेन, अमेरिका आदि समृद्ध देशों में केवल इतना अन्तर है कि जहाँ उन देशों मे बहुत से वजीफे आदि उपलब्ध है, वहाँ हमारे देश में बहुत थोडे विद्यार्थी उस प्रकार की सहायता प्राप्त कर पाते हैं।

मैं इस साधारण बात पर जोर देना चाह रहा हूँ कि शिक्षा उनके लिये, जो उसे प्राप्त करते हैं, लाभप्रद तथा वाछनीय होती है। क्या इस परिस्थिति से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य बच्चों तथा बडों में कुछ ऐसी क्षमताएँ उत्पन्न करना है जिनके द्वारा वे कतिपय श्रेयों का उपभोग एवं कतिपय मूल्यों की सृष्टि कर सकें ? यह आश्चर्य की बात है कि इस सम्बन्ध में शिक्षा-विशारदों में मतैक्य नहीं है। यह कहने का कि शिक्षा द्वारा शिक्षार्थियों को लाभ होता है, यह अर्थ नहीं कि उस प्रकार लाभ पहुँचाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। उदार जनतन्त्रवादी विचारकों ने, जो कि व्यक्तित्व के मूल्य तथा महत्त्व पर जोर देते हैं, अवश्य ही इस बात पर जोर दिया है कि शिक्षक को यह मानकर चलना चाहिए कि शिक्षार्थी बालक स्वयं में एक साध्य है, और उसकी शक्तियों का विकास अथवा उसके व्यक्तित्व की पूर्णता ही शिक्षा का लक्ष्य है। किन्तु सब लोग इस को स्वीकार नहीं करते। तानाशाही देशों में यह समझा जाता है कि राष्ट्रीय जीवन का चरम ध्येय मातृभूमि अथवा पितृभूमि का गौरव, अथवा एक विशेष प्रकार की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था को कायम रखना है, जिसकी प्रतिष्ठा के लिये जीवन [illegible]। ऐसे देशों में प्रायः शिक्षा का उपयोग बच्चों को [illegible] नागरिक बनाने में होता है। [illegible] श्रेय [illegible] का श्रेय होता है, [illegible] दूसरे देशों में इस बात पर [illegible]

दिया है कि व्यक्ति का कल्याण समाज-कल्याण से अलग नही किया जा सकता, और यह कि समाज के लिये व्यक्ति के हितो की उपेक्षा की जा सकती है।

मान लीजिए कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति का तथा समाज का लाभ होता है, तब यह प्रश्न उठता है कि वह लाभ या कल्याण है क्या ? इस प्रश्न का उत्तर देने के प्रयत्न मे शिक्षा-दर्शन, अज्ञात रूप मे, जीवन-दर्शन मे परिणत हो जाता है। जैसा कि प्लेटो समझते थे, व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में शिक्षा का सबसे ज्यादा हाथ रहता है। फलत शिक्षक की जिम्मेदारी बहुत बडी है। एक गलत शिक्षा-दर्शन को अपनाने का अर्थ होगा शिक्षा की एक गलत नीति को अपनाना, और यदि उस नीति का बहुत दिनो तक जोरशोर से अनुगमन किया गया, तो न केवल आज के समाज के कल्याण मे व्याघात उपस्थित होगा, वल्कि भविष्य में भी उस समाज की सभ्यता तथा सस्कृति की प्रगति पर बुरा असर पडेगा।

इस प्रश्न का उत्तर देना कि शिक्षा का उद्देश्य क्या है, उतना ही कठिन है जितना कि इस दार्शनिक समस्या को सुलझाना कि जीवन का लक्ष्य क्या है। हम यह मानकर चल सकते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य किसी समाज के सदस्यो को इस योग्य बनाना है कि वह सुन्दर तथा सार्थक जीवन व्यतीत कर सके, किन्तु स्वय सार्थक तथा सुखी जीवन की परिभाषा क्या है ? परलोकवादी तथा अध्यात्मवादी विचारक इस प्रश्न का जो उत्तर देंगे वह स्पष्ट ही भौतिकवाद के समर्थको को ग्राह्य न होगा। इस सम्बन्ध मे हम निम्न मानववादी मान्यता को स्वीकार करके बढना चाहेंगे आदर्श जीवन के विभिन्न वर्णन ऐसे होने चाहिएँ जिन्हे हम इस धरती के अनुभवो के आलोक मे समझ सके, और जिनकी उस जीवन की अपेक्षा मे तुलना तथा व्याख्या हो सके।

अब हम श्रेष्ठ तथा वाछनीय जीवन, एव श्रेष्ठ तथा वाछनीय शिक्षा, के सम्बन्ध में दो विरोधी आदर्शो को उपस्थित करेंगे। इनमे से प्रत्येक आदर्श विश्व-सम्बन्धी अनेक दार्शनिक दृष्टियो से, तथा अनेक शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तो से, सम्बन्धित है।

प्रथम दृष्टिकोण की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। मनुष्य नाम के प्राणी की बहुत-सी जरूरते हैं, जिनमें से कुछ वही हैं जो पशुओ मे भी होती हैं। इन जरूरतो की पूर्ति के लिये भौतिक परिवेश से प्राप्त होने वाली अनेक चीजो की जरूरत होती है। मनुष्य को अपनी जरूरत की सामग्री प्राप्त करने के लिये अपने भौतिक परिवेश का

वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करना चाहिए। इस अध्ययन के लिये हमें अनुभवात्मक तथा आलोचनात्मक पद्धतियो का अवलम्ब लेना चाहिए। सावधानी से निरीक्षण तथा तर्क करते हुए ही मनुष्य अपने भौतिक परिवेश पर अधिकार प्राप्त कर सकता और उसे अपनी ज़रूरतो की पूर्ति का उपकरण बना सकता है, बैठे-बैठे मन-मोदक खाने से, अथवा अडबड कल्पनाएँ करने से, कोई लाभ नही है। शिक्षा वह उपकरण है जो व्यक्ति को अपने परिवेश पर नियन्त्रण करने के लिये तैयार करता है। मनुष्य की एक दूसरी आवश्यकता है, अपने को मानव-परिवेश के अनुकूल बनाना, इसके लिये यह आवश्यक है कि हम मनुष्यो, उनकी सस्थाओ, और मानव-इतिहास का अध्ययन करे। यहाँ भी हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक पद्धतियो का अवलम्ब ले, और सिर्फ उन्ही निष्कर्षों को स्वीकार करे जिनकी समुचित परीक्षा हो चुकी है।

मनुष्य के जीवन की और उनके ज्ञान की सार्थकता उनके कर्म मे है। इसलिये उस ज्ञान से कोई फायदा नही जो कर्म को प्रभावित नही करता। वस्तुत मनुष्य के ज्ञान की उन्नति, उसकी कर्म-क्षमता की उन्नति के समानान्तर होती है। साधारण कल्पनाएँ ज्ञान बन जाती हैं जब उनका मानव-हितो तथा रुचियो से सम्बन्ध जोड दिया जाता है; और ज्ञान सत्य बन जाता है, जब कर्म द्वारा उसकी परीक्षा कर ली जाती है। बालक की शिक्षा का आधार तथा केन्द्र उनकी रुचियाँ होनी चाहिएँ, जिनसे कि वह शिक्षा में रस ले सके। इसलिये शिक्षालयो के पाठ्यक्रम का केन्द्र विद्यार्थियो की रुचियाँ होनी चाहिएँ।

मानव-जीवन मे वर्तमान और उसकी जरूरते ही महत्त्वपूर्ण है।' यह वर्तमान जो सतत प्रगतिमान है, हमारी रुचियोका केन्द्र होता है। यदि इतिहास के अध्ययन को सार्थक बनाना है, तो उसके उन अशो पर गौरव देना चाहिए जिनका, जिनके [illegible] द्वारा वर्तमान के लिये महत्त्व देखा जा सके।" वर्तमान से [illegible] इतिहास [illegible] है। आज की दुनिया तेजी से बदल रही है। इस दुनिया मे पुराने लोगो की [illegible] सी शिक्षाएँ व्यर्थ हो गई है। जैसा कि श्री [illegible] ने लिखा है:

पुराने लोगो ने जीवन-विधान मे पुनरावृत्ति पर जोर दिया है, [illegible] महत्त्वपूर्ण परिवर्तन एक मनुष्य के जीवन मे नही आता था [illegible] परन्तु मनुष्यो को यह शिक्षा दी जाती थी कि वे अपने को [illegible] जीवन-दशाओं

अनुकूल वनाये। किन्तु आज परिवर्तन का काल एक मनुष्य के जीवन से कही ज्यादा छोटा हो गया है, इसलिये प्रशिक्षण (Training) ऐसा होना चाहिए जो व्यक्तियो को नव-नवीन परिस्थितियो का सामना करने के योग्य वना दे।[८]

शिक्षा-सम्वन्धी इस दृष्टिकोण को हम सुविधापूर्वक, यद्यपि वहुत सही रूप मे नही, वैज्ञानिक-यथार्थवादी दृष्टि कह सकते हैं। इस दृष्टिकोण की सवल प्रतिध्वनियां, जिनमे न्यूनाधिक आशावाद तथा निराशावाद का मिश्रण होगा, प्राचीन तथा नवीन ऐसे अनेक विचारको मे पाई जा सकेगी जैसे डिमोक्राइटस और एपीक्यूरस, होलवाग और डिडेरो, मार्क्स और एगेल्स, हर्वर्ट स्पेन्सर, पैरेटो, ड्यूई, और रसेल। सक्षेप मे यह दर्शन चाहता है कि हम वैज्ञानिक तथा व्यवहारवादी, वुद्धिवादी तथा यथार्थवादी वने। यह दर्शन धार्मिक परलोकवाद तथा कल्पना-परक रोमान्स का विरोधी है।

हम अब दूसरी दृष्टि का प्रतिपादन करेगे। इस दृष्टि को, सुविधा के लिये, हम नैतिक-सौन्दर्यात्मक-मानववादी कहेगे। प्रसिद्ध चीनी लेखक लिन युताङ ने लिखा है कि 'जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण मूल्यो का दृष्टिकोण है, न कि तथ्यो का।'[९] स्पष्ट ही जिन मूल्यो मे हमारी रुचि होनी चाहिए वे मानव-मूल्य हैं, उनका आश्रय और अभिव्यक्ति का माध्यम मानव-जीवन है। वे वस्तुत श्रेष्ठ अथवा वाछनीय जीवन के ही विविध रूप हैं। जैसा कि कवि पोप ने कहा है "मनुष्य के अध्ययन का उपयुक्त विषय स्वय मनुष्य है।" दूसरे शब्दो मे मनुष्य को विशेप रूप मे यह जानने की इच्छा होनी चाहिए कि कैसे मानव-जीवन सुन्दर, सार्थक तथा श्रेष्ठ वन सकता है। उपनिषदों के ऋषियो ने यह शिक्षा दी थी कि 'अपने को जानो' (आत्मानविद्धि) अपने को जानने का अर्थ केवल यही जानना नही है कि हम इस समय क्या हैं। उसे जानने के मानी यह भी हैं कि हम अपने जीवन की सम्भावनाओ को समझे, और यह जाने कि हमे क्या होना चाहिए। आत्मज्ञान का उचित अर्थ है उन समस्त वौद्धिक-नैतिक और सौन्दर्य-मूलक सम्भावनाओ को जानना जो मानव-जीवन मे यथार्थ बनायी जा सकती हैं, उसका अभिप्राय है मानव-जीवन के उन क्षणो को जानना है जिनमे वह सप्राण तथा प्रशस्त रूप मे, अस्तित्व के विभिन्न धरातलो पर वर्तमान रहा है। अपने को जानने का अर्थ है एक सुकरात की सचाई तथा साहस से, एक वुद्ध के गम्भीर प्रश्नो तथा त्याग से, और दान्ते, पेट्रार्क, शेक्सपियर, अथवा कालिदास के यक्ष के तीव्र आवेगो से परिचित होना।

यह काफी नहीं है कि हम अपने परिवेश पर नियन्त्रण करें, अथवा धनी बन जायें। मुख्य चीज़ वह नहीं है कि जो किसी मनुष्य के पास है, बल्कि वह जो कोई मनुष्य 'है' अथवा 'बन रहा है'। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य यह नहीं है कि मनुष्य की दूसरे मनुष्यों तथा वस्तुओं के ऊपर शक्ति बढ़ जाय। उसका उद्देश्य है व्यक्ति के अस्तित्व को उन सब चिन्तन तथा संवेदना की क्रियाओं में प्रसरित कर देना जो मानव-जाति के महान सदस्यों के जीवन का अंग रह चुकी हैं। धन और शक्ति को स्वयं अपने में साध्य नहीं समझना चाहिए, वे केवल साधन हैं जिनके द्वारा जीवन के सुन्दर तथा उच्चतर स्पन्दनों को प्राप्त करने की सुविधाएँ हासिल की जा सकती हैं।

इससे यह निर्गत होता है कि शिक्षा का प्रधान उद्देश्य शिक्षार्थियों की मूल्य-भावना का विकास होना चाहिए, अर्थात् उनमें यह योग्यता उत्पन्न करने की कोशिश की कि वे चिन्तन, संवेदना तथा कर्म के उच्चतर एवं निम्नतर रूपों को एक-दूसरे से अलग कर सकें, और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व को ऊँचा बना सकें। अपने से ऊँचे तथा श्रेष्ठतर व्यक्तियों के प्रति आदर एवं श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना भी शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। शिक्षार्थी लोग यह सीखें कि दूसरे मनुष्य स्वयं अपने में साध्य हैं, उनके अपने हित-साधन का उपकरण मात्र नहीं है। जैसी कि लिन युतांग ने व्याख्या की है, 'कन्फ्यूशियस के अनुसार किसी सभ्यता के मूल्यांकन का चरम मानदण्ड यह है कि वह अच्छे पुत्र, अच्छे भाई, अच्छे पति, अच्छे मित्र और ऐसे अच्छे व्यक्ति जिनमें सूक्ष्म कोमल संवेदना इतनी विकसित है कि वे किसी का दिल नहीं दुखायेंगे, उत्पन्न करती है?' शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये ऐसे व्यक्तियों, ऐसे पुत्रों, भाइयों, पतियों आदि को उत्पन्न करना। इनके अतिरिक्त शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिये ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना जिनमें मानव-जाति की श्रेष्ठतम प्रवृत्तियां, उसके सुन्दरतम सपने और महत्तम प्रेरणायें, सृजनात्मक जीवन-क्रिया में पुनरुन्मेष पायेंगी।

यह दृष्टिकोण दुनिया के कतिपय महानतम धर्म-शिक्षकों, दार्शनिकों तथा नीति-शास्त्रियों, मानववादियों तथा [illegible] (Classicists) के कथनों में प्रतिबिम्बित लगता है। इसके समर्थकों या ज्ञानियों में हम प्लेटो और अरस्तू, कन्फ्यूशियस, लाओत्से और बुद्ध, ईसा मसीह, कान्ट, गांधी और टागोर जैसे महापुरुषों की गणना कर सकते हैं। यह दृष्टिकोण इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य की महत्ता उसके 'होने' में है, न कि उसके जो उसके पास है, अथवा जो वह करता है, [illegible] इसके का अर्थ "भौतिक परिवेश को बदलना" नहीं।

प्रश्न है क्या जीवन तथा शिक्षा से सवधित इन विरोधी आदर्शों मे सामन्जस्य स्थापित किया जा सकता है ? क्या कोई ऐसा दृष्टिकोण हो सकता है जिसमे इन दोनों की सचाई का समावेश हो सके ? ऐसा ही प्रश्न वैयक्तिक श्रेय तथा सामाजिक श्रेय और सामान्य शिक्षा तथा विशेषीकरण की समस्याओ को लेकर भी उठाया जा सकता है।

हम पहले ही कह चुके है कि मनुष्य जिन मूल्यो की सृष्टि करता है उन्हे दो वर्गों में समावेशित किया जा सकता है, अर्थात् सभ्यता और सस्कृति मे। सभ्यता उस चीज को कहते है जो मनुष्य की निषेधात्मक स्वतत्रता, अर्थात् जरूरतो तथा अन्यायपूर्ण शासन से स्वतत्रता, का विस्तार करती है, और सस्कृति उन क्रियाओ का नाम है जिनके द्वारा मनुष्य का व्यक्तित्व प्रसार पाता और समृद्ध होता है। सभ्यता और सस्कृति दोनो का सरक्षण मनुष्य का ही काम है, जिन्हे हम सास्कृतिक क्रियाएँ कहते हैं, उनके अनुष्ठान के लिये सभ्यता का अधार आवश्यक है। इसलिये शिक्षक का कर्तव्य है कि वह छात्रो को सभ्यता तथा सस्कृति दोनो के सरक्षण तथा सवर्द्धन के लिये तैयार करे।

जैसा कि कहा जा चुका है सभ्यता दो प्रकार की प्रक्रियाओ का नाम है जिन्हे हम क्रमश उत्पादन-तत्र और सस्था-बद्ध जीवन कह सकते है। प्रत्येक मनुष्य को, इच्छा या अनिच्छा से, इन दोनो प्रक्रियाओ में भाग लेना पडता है। वस्तुओ के उत्पादक तथा उपभोक्ता की हैसियत से प्रत्येक मनुष्य का सम्बन्ध औद्योगिक दुनिया से बन जाता है। गाधीजी ने, आदर्श रूप में, यह प्रतिपादित किया था कि प्रत्येक मनुष्य को अपने खानपान की दैनिक जरूरतो की पूर्ति के लिये शारीरिक श्रम करना चाहिए। किन्तु उनका यह प्रस्ताव ग्राह्य नही जान पडता, बात यह है कि आजकल विद्या के हरेक क्षेत्र में विशेषीकरण की अथवा विशेष ज्ञान की जरूरत है। उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये इतना आवकाश चाहिए कि शिक्षार्थी खेत या कारखाने मे काम करने के लिये समय नही पा सकता। आधुनिक सभ्यता को कायम रखने और चलाने का कार्य बडा जटिल है, और उसके लिये भौतिकशास्त्र, गणित, रसायनशास्त्र, इजीनियरिंग, शरीर-शास्त्र आदि की विस्तृत जानकारी चाहिए जो कि पर्याप्त समय तथा शक्ति का व्यय किये बिना नही हो सकती। आज ज्ञान के क्षेत्र मे इतना विस्तार हो गया है किसी एक विषय के सम्पूर्ण अगो की जानकारी भी कठिन हो गयी है, अनेक विषयो की जानकारी की तो चर्चा ही क्या है। आज की सभ्यता विशेषज्ञो के बिना नही चल सकती।

किन्तु इन विशेषज्ञों के ज्ञान से मानवजाति तभी लाभ उठा सकती है जब वे उनके हित के लिये परस्पर सहयोग करें।

मतलब यह कि आज की दुनिया में विशेष ज्ञान अथवा विशेषीकरण (Specialization) नितान्त आवश्यक है। किन्तु इसके साथ यह भी जरूरी है विभिन्न विशेषज्ञों में सामाजिक-राजनैतिक जिम्मेदारी तथा सहयोग की भावना हो। उन सब को यह समझना चाहिए कि ज्ञान, अन्तत, मनुष्य के सुख तथा प्रगति के लिये है। मनुष्य के सुख को महत्व देने का अर्थ है मानव व्यक्तित्व में निहित मूल्यों की अवगति। इसका मतलब यह हुआ कि वैज्ञानिक विशेषज्ञ को भी ऐसी शिक्षा की जरूरत है जिसके द्वारा वह मूल्य-जगत में प्रवेश कर सके। उसे यह जानना चाहिए कि जहाँ "जो है" का ज्ञान आवश्यक है, वहाँ यह जानना भी कम जरूरी नहीं है कि कौन-सी चीजें मूल्यवान तथा वाछनीय हैं। यह दूसरी कोटि का ज्ञान कुछ तो आन्तरिक आत्मानुभूति से मिलता है, और कुछ मानवीय विद्याओं द्वारा सुशिक्षित कल्पना-शक्ति से।

मूल्य-जगत में प्रवेश से हमारा क्या तात्पर्य है? वैज्ञानिक वस्तुओं का अध्ययन करते समय उनके तथ्यात्मक पहलू का ध्यान करता है, वह समझना चाहता है कि कोई चीज है क्या, वह यह जानने की कोशिश नहीं करता कि उस चीज में किस प्रकार के मूल्य निहित हैं। विभिन्न विज्ञान यह जानना चाहते हैं कि कैसे वस्तुएँ अस्तित्व में आती हैं, कैसे एक वस्तु दूसरी वस्तु को उत्पन्न करती है, और कैसे विभिन्न वस्तुएँ अथवा घटनाएँ एक-दूसरे को जन्म देती हैं। विभिन्न परिवर्तनीय वस्तुएँ किस प्रकार एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए आपस में सम्बद्ध होती हैं, इसे गणित-भाषा-निर्देशिनी भाषा में प्रकट करना विज्ञान का लक्ष्य है। और जब कि हम उन वस्तुओं तथा घटनाओं का प्रथम अन्वेषण करते हैं जो कि गति-स्तर में घटित होती रहती हैं, उस समय हमारे सामने मूल्यों का प्रश्न उठता ही नहीं।

यह प्रश्न तब उठता है जब हम विभिन्न घटनाओं तथा वस्तुओं को मानवीय प्रयोजनों की अपेक्षा में देखते हैं। वैज्ञानिक यह [illegible] [illegible] [illegible] पद्धतियों द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान महत्वपूर्ण होता है। [illegible] मानवीयता यह [illegible] देता है कि वैज्ञानिक [illegible] [illegible] के लिये [illegible]। वायुयान, रेडियो, सिनेमा आदि विज्ञान की उपलब्धियाँ [illegible] हैं, किन्तु वे [illegible] [illegible] मनुष्य के लिये उपयोगी हैं। [illegible] यह कि मनुष्य का

विज्ञान को स्वय अपने महत्व के मण्डन के लिये यह मानना पडेगा कि मनुष्य और उसके प्रयोजन महत्वपूर्ण है।

यहाँ एक ज्यादा समझदार वैज्ञानिक कह उठेगा ओहो! आप की वात ठीक है, किन्तु विज्ञान का मूल्य केवल उपयोगिता मे नही। ज्ञान के रूप मे भी विज्ञान का महत्व है, वैज्ञानिक अन्वेपण मे हम निरुपयोगी सौन्दर्यपूर्ण सामन्जस्य की खोज करते हुए विश्व के तथ्यसमूह का अनुचिन्तन करते है। उत्तर मे हम कहेगे कि शायद आप यह कहना चाहते है कि वैज्ञानिक अन्वेपण तथा चिन्तन, अज्ञात ढग से, स्वय उस व्यक्तित्व को महत्वशाली वना देता है जो अन्वेपण तथा चिन्तन कर रहा है। सम्भव है उक्त वैज्ञानिक इस मन्तव्य का विरोध करना चाहे। किन्तु हमारा विश्वास है कि वह विज्ञान के महत्व की कोई दूसरी व्याख्या नही दे सकेगा। विविध वस्तुएँ या तो साध्य-रूप मे महत्वपूर्ण होती है, अथवा साधन-रूप में, अथवा दोनो रूपो में। वायुयान अथवा रेडियो साधन-रूप मे मूल्यवान है। एक सुन्दर गीत द्वारा उत्पन्न किया गया मनोभाव स्वय अपना साध्य है और इस प्रकार मूल्यवान है। स्वास्थ्य तथा वैज्ञानिक जानकारी साध्य-रूप तथा साधन-रूप दोनो तरह से मूल्यवान है। शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्ति मे ऐसी योग्यताओ को उत्पन्न करना जिनके द्वारा वह विभिन्न मूल्यो की सृष्टि, सुरक्षा तथा उपभोग कर सके।

सवसे बडी वात यह है कि शिक्षार्थी में मानव-व्यक्तित्व के प्रति वास्तविक स्नेह, आदर तथा श्रद्धा का भाव उत्पन्न होना चाहिए, यह जानते हुए कि वह व्यक्तित्व असख्य मूल्यात्मक सवेदनाओ, अनेक प्रकार की प्रतीतियो तथा कर्मों का, आश्रय है। विश्व-ब्रह्माण्ड में, हमारी दृष्टि से, कोई भी ऐसी मूल्यवान वस्तु नही है जो किसी-न-किसी रूप मे जीवधारियो, विशेपत मनुष्य के, सुख तथा आनन्द का साधन न होती हो। प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट ने कहा था कि 'ब्रह्माण्ड मे मनुष्य की सत्सकल्प-शक्ति (Good Will) को छोडकर कोई भी ऐसी वस्तु नही है जिसे निरपेक्ष रूप मे भला या शुभ कहा जा सके।' हमारी राय मे सकल्प-शक्ति के स्थान पर निम्न शब्द रख देने चाहिएँ "मूल्यो की सृष्टि मे लगा हुआ मानव व्यक्तित्व।" वैसा व्यक्तित्व ही विश्व-ब्रह्माण्ड की सवसे महत्वपूर्ण चीज है। प्रत्येक व्यक्तित्व स्वय अपना लक्ष्य अथवा साध्य होता है, एक व्यक्तित्व दूसरो के लिये रक्षणीय तथा साध्य बन जाता है, जव वह ऐसे अर्थवान अनुभवो की सृष्टि करता है जिनका उपभोग दूसरे लोग भी कर सकें। किसी मनुष्य को यह अधिकार नही है कि दूसरो की उन क्रियाओ में हस्तक्षेप

करे जिनके द्वारा वे अपने व्यक्तित्व को समृद्ध तथा सुखी बनाते हैं, वह हस्तक्षेप उसी दशा में उचित हो सकता है जब वे क्रियाएँ दूसरों के समान प्रयत्नों में बाधा डालने वाली हों।

हमारे कर्मों का सामान्य लक्ष्य है, सचेत जीवन अथवा अनुभूति के वांछनीय रूपों की सृष्टि और प्रोत्साहन, शिक्षा का विशिष्ट उद्देश्य है, शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का गुणात्मक विकास। यह बात वैज्ञानिक शिक्षा के बारे में उतनी ही सही है, जितनी कि मानवीय विद्याओं के शिक्षण में। यह विकास किस प्रकार होता है? उत्तर है, दुनिया के महान लोगों की बौद्धिक तथा आवेगात्मक प्रक्रियाओं में साझेदार बनकर शिक्षार्थी अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इस वक्तव्य के स्पष्टीकरण की जरूरत है। पढ़ते समय शिक्षार्थी से यह कहा जा सकता है कि उसके पठन-पाठन का लक्ष्य परिवेश पर नियन्त्रण प्राप्त करना है। उससे यह भी कहा जा सकता है कि उसकी शिक्षा का उद्देश्य उसमें वह योग्यता उत्पन्न करना है जिसके द्वारा वह आगे वैज्ञानिक सत्यों का अनुसंधान कर सके। मतलब यह कि विद्यार्थी की रुचि को वैज्ञानिक अन्वेषण के उपयोगी पक्ष से भी सम्बद्ध किया जा सकता है, और उसके निरुपयोगी, सौन्दर्य-मूलक पक्ष से भी। उसके मन में यह धारणा भी पैदा की जा सकती है कि साइन्स का महत्व प्रकृति पर विजय तथा शक्ति-संचय में है, और यह धारणा भी कि वैज्ञानिक अन्वेषण एक आध्यात्मिक साधना है, जिसका उद्देश्य मनुष्य में ब्रह्माण्ड की सननात्मक चेतना उत्पन्न करना है। ज्ञान के उपयोगी पक्ष पर एक दूसरे प्रकार से भी गौरव दिया जा सकता है शिक्षार्थी से यह कहा जा सकता है कि परिश्रमपूर्वक पढ़ने से उसका जीवन सफल, अर्थात् संसार की दृष्टि से समृद्ध, बन सकेगा। इसमें कोई हर्ज नहीं कि शिक्षक और विद्यार्थी शिक्षा के सभी विभिन्न लक्ष्यों को, अथवा उससे मिलने वाले लाभों को, सामने रक्खें, किन्तु विद्यार्थियों के जीवन पर शिक्षा का क्या प्रभाव पड़ेगा, तथा राष्ट्र की संस्कृति की गुणात्मक विशेषताएँ क्या होंगी, यह इस पर निर्भर करेगा कि शिक्षक-वर्ग शिक्षा के किस उद्देश्य पर अधिक गौरव देता है।

यहाँ एक बहुत भौतिकवादी [illegible] प्रश्न कर उठेगा, 'मानव व्यक्तित्व की महत्ता के नाम पर शायद आप यह कहना चाहते हैं कि भौतिक विज्ञान और व्यापार की [illegible] सम्पन्नता की देन विशेष महत्वपूर्ण नहीं है? [illegible] उसके महत्व को कम करके शायद आप यह कहना चाहते हैं कि हम फिर प्राचीन वैराग्यवाद तथा परलोकवाद को अपना लें?' [illegible]

करते। जब हम मानव व्यक्तित्व के विकास तथा हित की बात करते हैं तो हमें उसके भौतिक एवं आत्मिक दोनों पक्षों का ध्यान रखना चाहिए। हम स्वयं केवल इतनी बात कहना चाहते हैं कि भौतिक सम्पत्ति तथा सामग्री स्वयं अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं होती, उनका महत्व मानव-व्यक्तित्व की अपेक्षा से ही है। इस सिद्धान्त का एक पहलू यह है कि समाज के एक हिस्से या वर्ग को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह दूसरे वर्ग या हिस्से को अपने हित-साधन का उपकरण मात्र बना डाले।

उक्त मान्यता का एक दूसरा पहलू भी है। मानव-व्यक्तित्व के विकास का यह अर्थ नहीं है कि हम अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों को दबा डालें, या कुचल डालें, उसका मतलब सिर्फ यही है कि हम अपनी निम्नतर प्रवृत्तियों का इसलिये दमन अथवा नियन्त्रण करें कि हमारी उच्च प्रवृत्तियाँ ज्यादा विकसित हो सकें। व्यक्तित्व का विकास एक गुणात्मक धारणा है। उसका यही अर्थ हो सकता है कि हम क्रमश निम्नतर तथा उच्चतर, घटिया और बढ़िया के, भेद को अधिकाधिक देखना सीखें, और उच्चतर चीजों को घटिया चीजों पर तरजीह दें। विवेकी मनु ने कहा है 'न मांस-भक्षण में दोष है, न मदिरा में, न मैथुन में, ये सब मनुष्य की प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु उनसे निवृत्ति या बचाव बड़ा फल देनेवाला है।'[11] शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए विद्यार्थियों को उनकी बुद्धि तथा कल्पना के विकास द्वारा सोचने, महसूस करने और संकल्पों के उच्चतर रूपों से परिचित कराना जिससे वे स्वत ही निम्नतर रूपों के प्रति उदासीन बन जायँ, और इन्द्रियों से सुख-भोग में सीमा का उल्लंघन न करें।

हम यह नहीं कहते कि समृद्ध तथा सृजनशील जीवन में इन्द्रियों के सुख-भोग के लिये उचित स्थान नहीं होना चाहिए। हम इसके पक्ष में नहीं हैं कि इन्द्रियों को क्षुधित अवस्था में रक्खा जाय, हमारा अनुमान है कि वैसी दशा में मन और बुद्धि भी संतुलित ढंग से काम नहीं कर सकते। व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन में त्याग तथा शारीरिक कष्ट-सहन पर ज्यादा गौरव देना हानिकर होता है, उस गौरव के फलस्वरूप एक प्रतिक्रिया होती है जो व्यक्ति तथा जाति को अमर्यादित इन्द्रिय-भोग की तरफ ले जाती है। फ्रायड ने कहा है कि जो चीज़ निषिद्ध है उसकी बलवती इच्छा होती है, जिस सुखभोग का निषेध किया जाता है उसके प्रति तीव्र आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इसलिए ज्यादा सही नीति यह नहीं है कि युवकों तथा युवतियों को इन्द्रियों के सुख-भोग से रोका जाय, सही नीति यह है कि उनमें उच्चतर कोटि के सुखों के प्रति आसक्ति पैदा कर दी जाय। शिक्षार्थियों को कला, साहित्य तथा विज्ञानों की शिक्षा इस प्रकार

देनी चाहिये कि उनके मन में उन सब विषयो के लिये सच्ची रुचि पैदा हो जाय। सबसे बडी बात यह है कि शिक्षार्थियो मे ऐसी प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए कि वे, यह महसूस करते हुए कि हम विश्व-ब्रह्माण्ड के नागरिक है, उसके बारे में बड़े प्रश्न उठाये, और उन पर बहस करे।

यद्यपि हम इन्द्रिय-सुखो को निन्दित नही समझते, फिर भी हम कहेगे कि आज के युग मे शारीरिक सुखो मे जितनी अभिरुचि हो गई है, वह श्रेयस्कर नही है। इस स्थिति के दो कारण है। प्रथमत मनुष्य की धार्मिक आस्थाएँ विघटित हो गई है, जिसके फलस्वरूप वह अपने को इस दुनिया की चीजो मे भुला देना चाहता है। दूसरे, विज्ञान ने सुख-भोग की इतनी सामग्री प्रस्तुत कर दी है कि वह मनुष्य के अवधान के अधिकाश को घेर लेती है। यह भी कहा जा सकता है कि मध्य युग मे जो जीवन निषेध पर विशेष गौरव दिया गया, उसके विरोध मे अब प्रतिक्रिया हो रही है। इस प्रतिक्रिया को लाने मे, योरपीय पुनर्जागृति के युग मे, मानववाद का भी हाथ रहा था। बाद मे धार्मिक सुधार (Reformation) तथा बुद्धिवाद (Rationalism) ने ऐहलौकिकता को पुष्ट किया।[१२] कारण कुछ भी हो, पर इसमे सन्देह नहीं कि "भौतिक" तथा "शारीरिक" मे बढी हुई आसक्ति मानव-जीवन की सृजनात्मक प्रवृत्तियो के लिये खतरनाक और उसे नीचे की ओर ले जानेवाली है।

बढी हुई भौतिकता तथा शरीरोपासना जिस प्रकार सांस्कृतिक जीवन को हानि पहुँचाती और उसे नीचे ले जाती है, इसका विश्लेषण अपेक्षित है। मनुष्य की सृजन-वृत्ति की दो दिशाएँ है, बाहरी और भीतरी। इसकी बाह्य गति भौतिक परिवेश को परिवर्तित करती है, और आन्तरिक गति मानव-जीवन के आदर्श रूपों के चित्र [illegible] करती है। भौतिक परिवेश मे किए जानेवाले परिवर्तन, और सामाजिक परिवेश के परिवर्तन भी, दीखनेवाली चीजे है, इस दिशा मे मनुष्य की जो प्रगति होती है वह चरम चक्षुओ को प्रत्यक्ष रहती है। किन्तु मनुष्य के आन्तरिक जीवन मे होनेवाले परिवर्तन इन्द्रियगम्य नही होते, वे परिवर्तन प्रायः सर्जको के मानस में घटित होते है, और अपने को विचार-पद्धतियो [illegible] आदि के रूप में व्यक्त करते है। ये दोनो प्रकार की सृजन क्रियाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती है। [illegible] सृष्टि के धरातल पर हमारी सृजन-क्रिया [illegible] मूल्यों [illegible] मूल्यवान् अनुभूतियों, जो प्रतिबिम्ब करती है। [illegible] ने कहा है 'इन्हें सुन्दर [illegible] हम अनुभव कर सकते है, [illegible] है। वह [illegible]

तत्व समस्त कलाओ तथा विज्ञान का स्रोत है।'[13] इसमे हम जोडेगे अनुभूत रहस्य तत्व सदैव अवर्णनीय तथा अपरिमित मूल्य या अर्थवत्ता का वाहक प्रतीत होता है। उच्चतम धरातल पर मनुष्य की सृजन-क्रिया आध्यात्मिक अथवा अलौकिक रूप धारण कर लेती है। उस सृजनात्मक स्फुरण का यह फल होता है कि मनुष्य ससीम गोचर विश्व के प्रति उदासीनता तथा वैराग्य का अनुभव करने लगता है।

अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति अथवा "सस्कृति" पूर्णतया भौतिक तब बन सकती है जब वह उच्चतर धरातलो पर सृजनशील होना बन्द कर दे। यह उच्चतर धरातल दार्शनिक-आध्यात्मिक धरातल है। दीर्घकालीन मनन, श्रद्धा तथा वैराग्य-भावना अथवा उदासीनता की वृत्ति द्वारा मनुष्य उन धरातलो पर पहुँचता है। चूँकि सृजनशीलता मनुष्य का स्वभाव है, इसलिये वह तब तक सुखी नही हो सकता जब तक वह सृजन-व्यापार मे न्यूनाधिक अनवरत न लगा रहे।

आज के मनुष्य का जीवन शून्य जान पडता है, उसका मूल कारण यह है कि उसने उच्चतर धरातलो पर सृजनशील होना बन्द या कम कर दिया है, और वह इन्द्रिय-सुखो की ओर दौडता रहता है। इन्द्रिय-भोग पाप हो या नही (कोई भी चीज पाप होती है अथवा नही), फिर भी यह निश्चित है कि शारीरिक सुख-भोगो मे फँसकर मनुष्य जीवन की श्रेष्ठतम सम्भावनाओ की उपलब्धि नही कर सकता। कहा गया है कि जो सुख के पीछे भागते है, वे सुखी नही हो पाते। यह सौख्यवाद (Hedonism) का विरोधाभास है। सुख के पीछे पडे रहने से न तो तृप्ति ही मिलती है, और न जीवन-क्रिया ही वेगवान् हो पाती है। इसके विपरीत सुखान्वेषी शीघ्र सुख-भोगों से ऊब महसूस करने लगता है। कैटेल नामक लेखक का कथन है कि आज के मनुष्य का जीवन असन्तुलित है, और उसका एक प्रमाण यह है कि आज का मनुष्य 'सुख-भोग की खोज मे प्राय उन्मत्त हो रहा है।' 'पिछले युद्ध के बाद ऐसा समझा गया था कि शारीरिक सुख-भोग, वेगपूर्ण यात्रा, सुरा-भोजो आदि के प्रति बढती हुई आसक्ति, महायुद्ध की प्रतिक्रिया थी, किन्तु इतनी सख्या मे लोगो का सुख भोग मे ससक्त होना एक पुरानी बीमारी-सी जान पडती है।'[14] किसी भी सुखी युग मे थोडे से लोगो मे भी ऐसी प्रवृत्ति मुश्किल से पाई जाती है। कैटेल के विचार मे शारीरिक सुख-भोग की ओर बढी हुई इस लालसा का कारण यह है कि मनुष्य उस बडे आनन्द के स्रोतो से विच्छिन्न हो गया है जो एक प्रयोजनपूर्ण जीवन-दर्शन की परिधि मे रहते हुए उपलब्ध हो सकता है।[15]

हमारा विश्वास है कि इस प्रकार का जीवन-दर्शन तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक हम अपनी नैसर्गिक मूल्य-प्रतीतियों पर विश्वास करना न सीखें। अवश्य ही यह मूल्य-चेतना आलोचनात्मक होनी चाहिए, अंधश्रद्धा पर आधारित नहीं। "आलोचनात्मक" से हमारा तात्पर्य यह है कि हम विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों की मूल्यानुभूतियों पर तुलनात्मक दृष्टि डालें, और उनके बीच समन्वय स्थापित करने की कोशिश करें। वस्तुतः हमारे विचार में मूल्यों का अनुचिन्तन आत्म-चिन्तन का ही एक रूप है, क्योंकि वे चरम मूल्य, जो सब प्रकार के मूल्यांकन का आधार हैं, अन्ततः हमारे अपने अस्तित्व का ही वास्तविक या कल्पित रूप हैं। जीवन के इन चरम मूल्यों को हम इतने अन्तरंग ढंग से जानते हैं कि उनके बारे में यह कथन ठीक है कि वे 'जाने नहीं जाते, अपितु पहिचाने जाते हैं।'[१९]

जीवन की गहरी तृप्तियों अथवा आनन्दों का सम्बन्ध उन दशाओं तथा वस्तुओं से होता है जिनमें हमारे लिये रहस्यपूर्ण आकर्षण रहता है। उदाहरण के लिये हमें वैसा आकर्षण उन व्यक्तियों में मिलता है जिनसे हम प्रेम करने लगते हैं। प्रेमपात्र की भौतिक, ऐन्द्रिय तथा आत्मिक क्रियाएँ, जिन्हें [illegible] हम आत्मसात् कर लेना चाहते हैं, रहस्यमय ढंग से अर्थवती जान पड़ती हैं, और ऐसा आभासित होता है कि उनका सम्पर्क हमें अपूर्व रहस्यमय आनन्द दे सकेगा। इस प्रकार का आनन्द उन चीजों से कभी प्राप्त नहीं हो सकता जिनका मूल्य स्पष्ट तथा बुद्धिग्राह्य होता है, जैसा कि शक्ति, सम्पत्ति आदि साधनभूत पदार्थों का। साध्यरूप मूल्य बुद्धि की पकड़ में आने योग्य नहीं होते, वे स्वयं में अपने ध्येय होते हैं और [illegible] रहस्यमय प्रतीत होते हैं। [illegible] आकर्षण भी रहस्यमय होता है। [illegible] सुन्दर वस्तुओं, उच्च कोटि के नैतिक कर्मों आदि के द्वारा हमारे मन में जो भावना जगाई जाती है वह रहस्यमय होती है। [illegible]

[illegible]

परलोक-सम्बन्धी आस्था से आवश्यक लगाव है। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म ने भारत की बहुत बडी जनसख्या को प्रभावित किया, यद्यपि उसका ईश्वर तथा परलोक मे विश्वास नही था। हिन्दू दार्शनिक ईश्वर तथा आत्मा को मानते हैं, किन्तु उन्होने भी स्वीकार किया है कि जीवन के चरम साध्य अर्थात् मोक्ष का अनुभव इसी जीवन मे किया जा सकता है। जीवन्मुक्ति की धारणा का यही अभिप्राय है कि मनुष्य जीते-जी मुक्ति की अवस्था का अनुभव कर सकता है। अनन्त मूल्यवत्ता का अधिष्ठान होते हुए भी मुक्ति की अवस्था इसी जन्म मे सुलभ हो सकती है। यूनानी विचारक आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को नही मानते थे। उन्होने यह भी नही माना कि मनुष्य के चरम सुख का सम्बन्ध ईश्वर की उपासना अथवा अनुग्रह से है। अरस्तू का विचार था कि सुखी जीवन नैतिक जीवन है, सुख को नैतिक उच्चता के जीवन (Virtuous Living) से अलग नही किया जा सकता। उसके अनुसार उच्चतम जीवन दार्शनिक चिन्तन तथा मनन का जीवन है, और यह जीवन इस धरती से विच्छिन्न नही है।[10]

## व्यक्ति, समाज और राज्य

अब हम एक दूसरी समस्या पर विचार करेगे। हमारी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिए? किस व्यवस्था मे नागरिको के सास्कृतिक व्यक्तित्व विकसित होते रह सकते हैं? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, क्योकि कोई भी शिक्षक अपने विद्यार्थियो मे उन आदर्शो की प्रतिष्ठा नही कर सकता जिनका समाज की मान्यताओ से विरोध है। सच यह है कि अधिकाश समाजो मे शिक्षक को यह स्वतन्त्रता ही नही दी जायगी कि वह विद्यार्थियो को ऐसे आदर्शो की शिक्षा दे जो समाज तथा राज्य को ग्राह्य नही हैं। दूसरे, समाज जिन मूल्यो को मानता है उनकी उपेक्षा करना शिक्षक के लिये सहल नही है। उदाहरण के लिये पूँजीवादी समाज प्रतियोगिता पर आधारित है, इस समाज मे किसी शिक्षक के लिये यह सहज सम्भव नही है कि वह धनोपार्जन के प्रति उदासीन रहे। भले ही वह अपने लिये धन-सम्पत्ति न चाहे, किन्तु अपने बच्चो के लिए उन्हे चाह सकता है। बिना धन के बच्चो को उच्च शिक्षा भी नही दिलाई जा सकती। उनके भविष्य को अच्छा बनाने के लिये धन की अपेक्षा होती है। निष्कर्ष यह कि शिक्षा मे प्रतिफलित आदर्शो का विशिष्ट समाज मे प्रचलित मूल्यो तथा सामाजिक जीवन की जरूरतो से आवश्यक लगाव होता है।

एक शिक्षा-सम्बन्धी विचारक के लिये यह अवश्य ही सम्भव है कि वह समाज

की पूर्ण उपेक्षा करके शिक्षा के आदर्शों की कल्पना करे। किन्तु समाज की शिक्षा-पद्धति मे उन आदर्शों की तब तक प्रतिष्ठा नही हो सकती जब तक उन्हे राज्य की सहायता न मिले। प्लेटो का विचार था कि आदर्श राज्य की स्थापना तब तक नहीं हो सकती जब तक हमारे शासक आदर्श पुरुष न हो। बिना शक्ति के भले मनुष्य भी समाज मे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न नही कर सकते,जब कि वह शासक जो भला नहीं है, उन भले लोगो की अच्छी-से-अच्छी योजनाओं को व्यर्थ कर सकता है।

अराजकतावादियो के विचार मे राज्य को इतना महत्व देना समीचीन नही है। वे चाहते हैं कि राज्य अथवा सरकार नाम की संस्था को एकदम ही खत्म कर दिया जाय। इसी प्रकार साम्यवादियो का खयाल है कि समाजवाद की सार्वभौम स्थापना के बाद राज्य नाम की संस्था तिरोहित हो जायगी। किन्तु मौजूदा स्थिति को देखते हुए यह समझ मे नही आता कि अधिकारियो अथवा उन वर्गो की इच्छा के बिना, जो राज्य-शक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, राज्य या सरकार को कैसे हटाया जा सकता है। आज विज्ञान ने बडे भयकर अस्त्र-शस्त्र निर्मित कर दिये हैं, इन अस्त्र-शस्त्रो के कारण आज की सरकारे इतनी शक्तिवान हो गई हैं कि उन्हे जनता के विद्रोह द्वारा खत्म करना असम्भव हो गया है। इसलिए जब तक दुनिया की विशेष शक्तिशाली सरकारें छोटे राज्यो को, और बाद मे स्वय अपने को, खत्म न कर देना चाहे, तब तक इसकी कोई सम्भावना नही है कि दुनिया से "राज्य" नाम की संस्था का लोप हो सकेगा। जहाँ तक इतिहास की साक्षी का प्रश्न है, वह निश्चित रूप मे यह बतलाता है कि राज्य नाम की संस्था लगातार विद्यमान रही है। इसलिये हमें राज्य के तिरोभाव पर निर्भर न करके, यह पूछना चाहिए कि किस प्रकार के राज्य मे, किस प्रकार के शासन-विधान मे उन आदर्शों की उपलब्धि हो सकती है जिनका वर्णन हमने शिक्षा के प्रसग मे किया है।

राज्य का स्वरूप और उसका कार्य क्या है, और राज्य आवश्यक है या नहीं, इस सम्बन्ध मे विभिन्न, यहाँ तक कि विरोधी, विचार तथा मनोभाव पाये जाते हैं। राजनीति-दर्शन के पंडित यह बराबर कोशिश करते आये हैं कि राज्य के स्वरूप तथा प्रयोजन की ठीक-ठीक व्याख्या करें, और उन मानदण्डों का निरूपण करें जिनके द्वारा यह सोचा जा सके कि कोई राज्य ठीक ढग से काम कर रहा है, या नहीं। प्लेटो और अरस्तू, टॉमस हाब्स, लॉक तथा रूसो और हेगेल जैसे भिन्न मतों वाले विचारक इस बात में सहमत हैं कि राज्य की सत्ता बड़ी जरूरी है, जिसके बिना मानव-जाति

नही चल सकता। अरस्तू कहता है 'जहाँ सारी सस्थाएँ श्रेय अथवा भलाई को लक्ष्य बनाती हैं, वहाँ सबसे बडी सस्था अर्थात् राज्य का, जिसमे शेष सब समुदाय समावेशित हैं, लक्ष्य सर्वोच्च श्रेय को सर्वाधिक मात्रा मे उत्पन्न करना है।'[१८] भौतिकवादी हाब्ज का कथन है कि 'मनुष्य मे लगातार शक्ति को पाने की अभिलाषा रहती है, जो कि मृत्यु के साथ ही समाप्त होती है।'[१९] इस शक्तिलिप्सा पर नियन्त्रण करने के लिये राज्य की आवश्यकता है। राज्य के विना सभ्य जीवन सम्भव नही है। अरस्तू और हाब्ज दोनो से आगे वढकर हीगल कहता है कि 'राज्य निरपेक्ष वुद्धितत्व है, वह दैवी शक्ति है जो स्वय ही अपने ज्ञान तथा सकल्प का विषय है, राज्य आत्मा का आन्तरिक तत्व है, वह दुनिया के बीच ईश्वर का सचार है।'[२०]

उक्त विचारको से दूसरे ध्रुव पर साम्यवादी तथा अराजकतावादी हैं जिनके विचार में राज्य का अस्तित्व सारी बुराइयो की जड है। उदाहरण के लिये साम्यवादियो के अनुसार राज्य एक वर्ग की सत्ता तथा प्रभुत्व का प्रतीक होता है। वर्ग-भेद के लोप के साथ राज्य का भी लोप हो जायगा। साम्यवादी तथा अराजकतावादी निजी सम्पत्ति के भी विरोधी हैं। बाकुनिन का विचार है कि 'निजी सम्पत्ति राज्य नाम की सस्था का कारण भी है, और उसका परिणाम भी, वह सब प्रकार की भौतिक तथा नैतिक बुराइयो को उत्पन्न करती है।'[२१] क्रोपाटकिन के मत में राज्य के अस्तित्व के मडन में कोई ऐतिहासिक युक्ति नही दी जा सकती, इतिहास यह सिद्ध करता है कि राज्य मनुष्य की स्वाभाविक सहयोग-मूलक प्रवृत्तियो का विरोधी है।[२२]

राज्य-सम्बन्धी इन विरोधी वक्तव्यो को कैसे समझा जाय, और कैसे उनमें सामजस्य स्थापित किया जाय? हमारी समझ में मुख्य तथ्य निम्न हैं। प्रथमत इसमें सन्देह नही किया जा सकता कि कुछ बातो मे राज्य राष्ट्र के सब सदस्यो को लाभ पहुँचाता है। राज्य-शक्ति कानून तथा शान्ति की स्थापना करती है, और बाहर के आक्रमणो से लोगो को सुरक्षित रखती है। इस सुरक्षा के वातावरण में नागरिक लोग स्वच्छन्दतापूर्वक अपने-अपने कार्यो में लगे रहते हैं और उन प्रयोजनो की पूर्ति करते हैं जिनका दूसरो की स्वतत्रता तथा शान्ति से विरोध नही है। जैसा कि प्रो० लास्की ने लिखा है "राज्य के साथ सुरक्षा आती है और सुरक्षा के आधार पर लोग अपनी जरूरतो की पूर्ति शान्तिपूर्वक कर पाते हैं।'[२३] जिन तृप्तियो की मनुष्य खोज करता है वे भौतिक भी हैं, और आत्मिक भी। मनुष्य केवल भौतिक सामग्री की ही कामना नही करता और केवल उन्ही के उत्पादन में नही लगा रहता, वह दूसरे मनुष्यों

के साथ मिलकर सांस्कृतिक क्रियाएँ भी करना चाहता है। जहाँ समाज विभिन्न वर्गों में बँटा होता है और राज्य कुछ वर्गों के हितों का संरक्षण करता है, वहाँ भी विशुद्ध सांस्कृतिक क्रियाओं द्वारा राष्ट्र के सभी नागरिक लाभान्वित होते हैं।

दूसरी ओर यह भी सत्य है कि राज्य-शक्ति प्रायः कुछ वर्गों तथा व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। इसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथमतः, हर समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो ज्यादा चतुर, साहसी तथा मनोबल वाले रहते हैं, ऐसे लोग क्रमशः दूसरों को अपना अनुगत बना लेते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति धीरे-धीरे शक्तिशाली बन जाते हैं। लेकिन शक्ति-सम्पन्न बनने के लिये व्यक्ति को दूसरों की सहायता अथवा उदासीनता की जरूरत होती है। कोई भी व्यक्ति तब तक शक्तिशाली नहीं बना रह सकता जब तक कि उसे अनेक दूसरे सक्रिय लोगों का सहयोग तथा प्रभावशाली लोगों की सहायता प्राप्त न हो। सामाजिक-राजनैतिक प्रभाव प्रायः सम्पत्तिवानों के पास रहता है, इसलिये अक्सर राज्य अथवा राज्य के कर्मचारी सम्पत्तिशाली लोगों के सहकारी बन जाते हैं। किन्तु जहाँ धन तथा प्रभाव का गठबन्धन नहीं होता, जैसा कि आज के रूस में है और जैसा कि हिटलर की जर्मनी में था, वहाँ राज्य के शक्तिशाली कर्मचारी धनवान लोगों की उतनी परवाह नहीं करते। वे उन नेताओं को प्रसन्न रखने की कोशिश करते हैं जिनका दलों पर प्रभाव होता है। साथ ही यह भी सही है कि कोई भी सरकार जनता के एक बड़े भाग को रुष्ट करके सुरक्षित नहीं रह सकती। जहाँ सम्पत्ति का महत्त्व है, वहाँ जनसंख्या भी महत्त्वहीन नहीं है। थोड़े से ऐसे लोग जिनका सैनिक शक्ति पर अधिकार है, कुछ दिनों तक जनता की बहुमत की उपेक्षा करते रह सकते हैं। किन्तु यह उपेक्षा बहुत दिनों तक सम्भव नहीं है। इसलिये किसी सरकार की ऐसी स्थिति वांछनीय नहीं समझी जाती, और विभिन्न सरकारें प्रायः यह कोशिश करती हैं कि उनके शासन को वैधानिक रूप प्राप्त हो जाय। केवल शक्ति से सरकार की स्थापना नहीं हो सकती। जैसा कि रूसो ने कहा है, "शक्ति अधिकार उत्पन्न नहीं करती. बड़े से बड़ा शक्तिशाली उतना शक्तिमान नहीं होता कि सदैव मालिक बना रहे, जब तक कि वह अपनी शक्ति को वैधानिक अधिकार में परिवर्तित न कर दे।" इस परिवर्तन को उत्पन्न करने के लिये विभिन्न सरकारें विभिन्न विचारधाराओं (Ideologies) को प्रचारित करती हैं। सरकार विभिन्न वर्गों के लोगों के प्रति भिन्न-भिन्न व्यवहार करती है, पर सरकार को वैधानिक रूप देने के लिये उसे कुछ मान्य आदर्श अपनाने पड़ते हैं। ये आदर्श [illegible]

ऐसी होनी चाहिएँ कि उन्हे अधिकाश जनता स्वीकार कर ले। मतलव यह कि सरकार जिस विचार-सरणि को मानती है, उसे सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत होना चाहिए, ताकि ऐसा जान पडे कि वह विचार-पद्धति समस्त जनता की चीज़ है। इसका एक मतलव यह भी है कि किसी सरकार द्वारा स्वीकृत विचार-पद्धति केवल एक वर्ग की वस्तु नही हानी चाहिए। अन्यथा राज्य की सरकार उन वर्गो पर जो उस विचार-सरणि को स्वीकार नही करते नग्न अर्थात् पशु शक्ति (Naked Power) का प्रयोग कर रही होगी। एक विचार-पद्धति को हम जनता की चीज कहते हैं उस दशा मे जव उसे अधिकाश लोग मानते हो, और जव उसकी विरोधी किसी दूसरी विचार-पद्धति का प्रचार न हो रहा हो। विचार-सरणि की सृष्टि तथा प्रचार किसी के द्वारा क्यो न हो, यदि जनता उसे स्वीकार करती है तो वह जनता की विचार-पद्धति कहलायेगी। विचार-पद्धतियो का निर्माण प्राय किसी देश के वुद्धिजीवियो तथा विचारको द्वारा किया जाता है, न कि सरकारो द्वारा। किन्तु सरकारे अथवा राज्य उन विचार-पद्धतियो को वढावा देती हैं जो शासक-वर्ग के लिये हितकर होती हैं। किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि शासक-वर्गो के हितो का विरोध करनेवाली, और शोषितो के लिये हितकर, विचार-पद्धतियाँ शोषित वर्ग के वुद्धिजीवियो द्वारा ही निर्मित्त हो सकती हैं। अक्सर ऐसा होता है कि शोषितो को लाभ पहुँचाने वाली विचार-पद्धतियाँ उन विचारको द्वारा निर्मित तथा प्रचारित होती हैं जिनका उन शोषित वर्गो से कोई खास सम्वन्ध नही है। नई विचार-पद्धतियो के जन्म का कम-से-कम आशिक कारण यह भी होता है कि सामाजिक परिवेश में कुछ नई शक्तियाँ उत्पन्न हो चुकी होती हैं, और वे शक्तियाँ एक ज्यादा न्यायपूर्ण तथा सुखकर व्यवस्था की ओर सकेत करती हैं। ऐसी दशा में नयी विचार-सरणि में एक प्रकार का नैतिक आकर्षण दिखाई देने लगता है, जिसके कारण वह लोकप्रिय अथवा प्रसिद्ध होने लगती है। समाजवाद नाम की विचार-सरणि का, जिसका प्रचार मार्क्स तथा दूसरे चिन्तकों ने किया, इतिहास ऊपर के मन्तव्य का सवसे वडा प्रमाण है। आधुनिक समाजवाद के प्रवर्त्तक मुख्यत तीन व्यक्ति हैं फर्डिनैण्ड लसाले, कार्लमार्क्स तथा फ्रेडरिक एगेल्स। उनमे से कोई भी श्रमिक वर्ग का व्यक्ति न था। फिर भी यदि, सन् १८८३ ई० में मार्क्स की मृत्यु हो जाने के बाद, प्राय तीस वर्ष तक जो योरप में समाजवाद का व्यापक प्रचार हुआ, उसका कारण यह नही था कि समाजवादी विचार-सरणि को योरप के शासको ने स्वीकार कर लिया, वल्कि यह कि उस सिद्धान्त में एक नैतिक आकर्षण था, और उसने समकालीन शासन-प्रणालियो को एक नैतिक

चुनौती दी। इन तीस वर्षों को ध्यान मे रखते हुए यह नही कहा जा सकता—जैसा कि मार्क्सवादियो का विचार है—कि 'किसी युग मे सब से प्रभावशाली विचार शासको के विचार होते है।'

तथापि, बीसवी सदी मे प्रतिष्ठित होनेवाली तानाशाही सरकारो का इतिहास यह संकेत करता है कि राज्यो के शासक अच्छी-से-अच्छी विचार-धाराओ को दबा सकते है। आज विज्ञान ने शासको के हाथ मे भयंकर भौतिक शक्ति दे दी है। शासक लोग हजार ढग से जनता के मस्तिष्क को प्रभावित कर सकते है, और वे नितान्त निर्दय उपायो का अवलम्ब लेते हुए विद्रोही विचारको को समाप्त कर डालते है। आज के युग मे सचमुच ऐसा जान पड़ता है कि बेचारे नागरिक, विशेषतया शक्तिमान राष्ट्रो और उनके पीछे चलने वाले देशो के नागरिक, शक्तिशाली शासको के सामने प्राय असहाय है।

यह देखते हुए कि राज्य अपनी शक्ति का काफी दुरुपयोग कर सकता है, अराजकतावादी विचारक यह सलाह देते है कि राज्य नाम की संस्था को नष्ट कर देना चाहिए। किन्तु प्रश्न यह है कि उस संस्था का विनाश, और विनाश संभव न होने पर उसकी शक्तियो का संकोचन, किस प्रकार किया जाय? राज्य पर इस प्रकार का दबाव कौन डाल सकता है कि वह अपनी शक्तियो को कम करे, और अपने कार्य के क्षेत्र को संकुचित करे? संसार के सब शासको की चिन्ता का मुख्य विषय यह होता है कि कैसे वे अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करे और फिर उसे कायम रखे, वे शासक अपनी शक्तियो को स्वेच्छा से खत्म करने को कैसे तैयार होगे? उपरोक्त प्रश्न के उत्तर मे, और इस प्रश्न के भी कि कैसे राज्य द्वारा निश्चित की गई शासन नीति को स्वीकृत कराया जाय, हमे कहना है कि राज्य अथवा सरकार उस प्रकार के कानूनो का निर्माण नही कर सकती है जब तक उस पर, वैसा करने के लिये, जनता की ओर से जोर पड़े। किन्तु जनता के दबाव की चिन्ता राज्य को तब होगी जब उसकी सत्ता जनता की इच्छा पर निर्भर हो। इसका मतलब यह हुआ कि एक जनतन्त्रात्मक शासन मे ही जनता का दबाव सरकार की नीति को प्रभावित कर सकता है, और तभी तो शासन व सरकार ऐसे कानून बना सकती है जिनसे शासक उनकी इच्छा [illegible] हो जाये। [illegible] [illegible] विद्रोह [illegible] है। [illegible] जनता के विद्रोह को दबा देना किसी भी [illegible] हो गया है।

कहा गया है कि 'राज्य या सरकार वह पद्धति है जिसके द्वारा जनता की बाध्य करने की शक्ति को सगठित किया जाता है।'[२५] एक जनतन्त्रात्मक राज्य मे जनता की सामूहिक विवेक-बुद्धि का भी सगठन हो सकना चाहिए। विचारशील नेताओ के दबाव से सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी नीति में परिवर्तन किया जा सकता है, और लोगो मे यह भावना फैलाई जा सकती है कि कि धन तथा शक्ति का अन्वेपण उतना श्लाघ्य नही है, और यह कि नैतिक, बौद्धिक तथा सौन्दर्यमूलक सवेदना का विकास ज्यादा वाछनीय चीजें हैं। एक जनतत्र मे ही यह सम्भव है कि इस प्रकार की विचार-पद्धति का प्रचार किया जाय, क्योकि तानाशाही शासक मुख्यत शक्ति के पुजारी होते हैं, वे अपने सहयोगियो तथा अनुयायियो की ही बात मान सकते हैं, विचारशील चिन्तको की नही, विशेपत ऐसे चिन्तको की जो राजनीति से अलग रहते हैं और इसलिये शासको के लिये उपयोगी नहीं होते। किन्तु एक जनतत्र मे यह सम्भव है कि ऐसे लोग जो सचमुच विचारशील और सुसस्कृत हैं, विधान-सभाओ मे चुनकर भेजे जायँ। विधान-सभाओ में न जा सकने पर भी वे लोग स्वेच्छापूर्वक जनता के मस्तिष्क का निर्माण कर सकते हैं, और इस प्रकार जनता के माध्यम से सरकार पर प्रभाव डाल सकते हैं। किन्तु तानाशाही राज्यो में चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता नही होती, और इसकी कोई आशा नही हो सकती कि विचारशील नेताओ के माध्यम से देश की विवेक-शक्ति अपने को प्रभावशाली बनाकर चरितार्थ कर सकेगी।

## जनतत्र और समाजवाद

मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त कि समस्त सरकारे विशेप वर्गो की सरकारें होती हैं, सही नही है। ससार के जनतत्रो का इतिहास उसके विरुद्ध पडता है। यह लक्षित किया गया है कि दलगत वफादारी वर्गगत वफादारी का अतिक्रमण कर जाती है।[२६] मतलब यह कि लोग अपने राजनैतिक दल की चिन्ता करते हुए वर्ग की वफादारी का परित्याग कर देते हैं। उदाहरण के लिये इगलैण्ड में वामपक्षी दलो के सदस्य केवल श्रमिक लोग ही नही होते, श्रमिको के नेता अक्सर दूसरे वर्गों के होते हैं। इसी प्रकार दक्षिणपथी दलो में भी विभिन्न वर्गों के सदस्य रहते हैं। मैकाइवर ने लिखा है कि 'जहाँ-जहाँ जनतत्र की विजय हुई वहाँ-वहाँ दल और वर्ग का तादात्म्य खत्म हो गया।'[२७] स्वय हमारे देश मे काग्रेस, प्रजासोशलिस्ट पार्टी, जनसघ आदि की सदस्यता मिश्रित है, खास कर मध्य वर्ग के लोग सभी दलो में पाये जाते हैं, साम्यवादी दल

भी इसका अपवाद नहीं है। मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि धीरे-धीरे मध्य वर्गों का लोप हो जायगा। किन्तु उनकी भविष्यवाणी सही नहीं उतरी। न केवल मध्य वर्गों का लोप ही नहीं हुआ, अपितु उनकी संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है विशेषतया जनतन्त्रात्मक देशों मे।[२८] यह परिस्थिति मार्क्स के उस सिद्धान्त की भी विरोधिनी है कि सरकार एक खास वर्ग की चीज होती है। उदाहरण के लिये इंग्लैण्ड मे मजदूर पार्टी तथा टोरी पार्टी दोनो की चुनावगत सफलता मध्यवर्गों पर निर्भर करती है, दोनो ही पार्टियो मे काफी संख्या मध्यवर्गीय लोगो की है। जनतन्त्रात्मक सरकारे पूंजीवादियो के हाथ की कठपुतली नहीं होती, इसका सबसे बड़ा सबूत वे पूंजी-विरोधी कानून हैं जो ऐसी सरकारो ने बनाये हैं। इस प्रकार के कानूनो के उदाहरण दुर्लभ नही हैं आय के हिसाब से बढ़ता हुआ इनकम टैक्स, मृत्यु कर; महत्त्वपूर्ण उद्योगो का क्रमिक राष्ट्रीयकरण, इत्यादि। इसी प्रकार सरकार के उस तरह के काम जैसे समस्त बालकों के लिए अनिवार्य शिक्षा का विधान, किसी खास वर्ग के लिये ही हितकर नही सिद्ध किये जा सकते।[२९]

निष्कर्ष यह कि जनतन्त्रात्मक सरकार को किसी खास वर्ग की सरकार नही कहा जा सकता। फिर भी इसमे सन्देह नहीं कि जनतन्त्रात्मक राज्य पर भी धनवानो तथा प्रभावशाली लोगो का नियन्त्रण हो जाने का भय रहता है। एक ऐसे जनतन्त्र को जो अपने नागरिको के गुणात्मक विकास को लक्ष्य बनाता है, धीरे-धीरे समाजवाद की ओर अग्रसर होना चाहिए।[३०] हमारी समझ मे समाजवाद के दो मुख्य तत्त्व हैं। प्रथमतः समाजवाद आर्थिक सम्बन्धो की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण नहीं कर सकेगा, दूसरे, समाजवाद मे बड़ी आर्थिक विषमताएँ नहीं होनी चाहिये। इसका मतलब यह है कि लोग जीवन के लिये आवश्यक भौतिक सामग्री की प्राप्ति के लिये न्यूनाधिक समान अवसर प्राप्त करते रहें। एक पूर्ण जनतन्त्र वह होगा जहाँ सब नागरिको को आत्म-विकास तथा उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों। इस प्रकार की समानता तब तक नहीं आ सकती जब तक कि भौतिक चीजो की उत्पत्ति तथा वितरण एवं शिक्षा आदि पर राज्य का नियन्त्रण न हो।

जिस समाज मे भौतिक वस्तुएँ सुख और आराम का ही नहीं वरन् सामाजिक महत्त्व का कारण भी समझी जाती हैं वहाँ इन वस्तुओं की, उनकी प्रतियोगिता से प्राप्ति पर होने लगती है। इस प्रतियोगिता की स्थिति के कारण ही इंग्लैण्ड जैसे समृद्ध देशों मे भी अधिकांश लोग असन्तुष्ट रहते हैं, [illegible] होड़ [illegible] प्रवृत्ति [illegible] [illegible]

बिल्कुल ही सिद्ध नही करता कि एक समाजवादी राज्य, अर्थात् ऐसा राज्य जहाँ आर्थिक सम्बन्धो पर आधारित वर्ग-विभाजन नही है, कूटनीति द्वारा शक्ति प्राप्त करने में कम अभिरुचि रखेगा। सोवियत सघ को शक्ति-सचय करने की और अपने प्रभाव-क्षेत्र को वढाने की उतनी ही चिन्ता रहती है जितनी कि दूसरे राज्यो को। यह स्थिति कि सोवियत सघ को दूसरे देशो मे अपना व्यापार वढाने की चिन्ता रहती है या नही, ज्यादा महत्वपूर्ण नही है, क्योकि राज्य का अन्तिम लक्ष्य शक्ति होता है, और राजनैतिक शक्ति तथा आर्थिक सुविधा को एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता। आज की सरकारे अपने को अस्त्रशस्त्रो से सुसज्जित करने के लिये अतिशय धन का व्यय कर डालती हैं।

वास्तविकता यह है कि न जनतत्र ही और न समाजवाद ही, अकेले या साथ-साथ, आज के मनुष्य की जिन्दगी की तथा उसकी राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय जटिल समस्याओं को हल कर सकते हैं। ये व्यवस्थाएँ ज्यादा से ज्यादा यही कर सकती हें कि वे एक ऐसा ढाँचा प्रस्तुत कर दें जिसके भीतर मनुष्य अपने को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर सके। किन्तु प्रगति केवल एक बाहरी चीज नही है, असली प्रगति आन्तरिक होती है और वह जीवन मे आन्तरिक अनुशासन माँगती है। बाहरी सामाजिक-राजनैतिक परिवेश मे परिवर्तन द्वारा इस अनुशासन मे मदद मिल सकती है, किन्तु वह परिवर्तन उस अनुशासन का स्थान नही ले सकता। मनुष्य की वैज्ञानिक उपलब्धियो तथा सामाजिक-राजनैतिक प्रयोगो को जो अब तक सीमित सफलता मिली है, उससे हमें यह महत्वपूर्ण शिक्षा लेनी चाहिये कि बाह्य परिवर्तन काफी नही है। न तो भौतिक परिवेश के परिवर्तन से और न सामाजिक-राजनैतिक परिवेश के पुन सगठन से ही, मनुष्य का पूर्ण कल्याण हो सकता है। उसके लिये यह जरूरी है कि उन परिवर्तनो के पीछे आत्मिक लक्ष्यो तथा जरूरतो की प्रेरणा रहे। उन जरूरतो तथा लक्ष्यो का निरूपण मनुष्य की ऊँची प्रकृति ही कर सकती है, अर्थात् वह प्रकृति जो सौन्दर्यानुभूति, दार्शनिक चिन्तन तथा आध्यात्मिक साधना मे अभिव्यक्ति पाती है।

जनतत्र और समाजवाद उन बाहरी स्थितियो की प्रतिष्ठा कर सकते हैं जो मनुष्य की आत्मिक प्रगति के लिये अपेक्षित हैं, किन्तु वे स्वय इस प्रगति के पर्याय नही हैं। यह जरूरी हो सकता है कि विभिन्न राष्ट्रो के नागरिक राजनैतिक मामलो में अभिरुचि लें, किन्तु इससे यह अनुगत नही होता कि राजनीति से ऊँची और कोई चीज़ है ही नही, और उन नागरिको को किसी दूसरी चीज में अभिरुचि लेनी ही नही चाहिए।

राजनीति दर्शन का स्थान नहीं ले सकती, और राजनैतिक मतवाद जीवन-दर्शन का काम नहीं दे सकते। कुछ दिनों से योरप के लोग इस बात पर जोर देते आये हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, आज उन्हें कुछ हद तक अपना यह पाठ भूलना पड़ेगा।" उन्हें यह भूलना पड़ेगा कि एक आदर्श-मनुष्य मात्र एक आदर्श नागरिक होता है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य एक समाज, जाति अथवा देश का सदस्य होता है, और उसे उनके प्रति वफादार होना चाहिए। किन्तु एक चिन्तनशील और कल्पना-शक्ति-सम्पन्न प्राणी होने के नाते मनुष्य को दूसरी चीजों के प्रति भी वफादार होना चाहिए। उसमें सम्पूर्ण मानवजाति का ध्यान होना चाहिए और मानवता के अतीत का भी। अतीत के साथ ही उसे मनुष्य के भविष्य की चिन्ता भी होनी चाहिये। इतिहास में जहाँ-जहाँ मनुष्य ने सौन्दर्य और नैतिक उच्चता की प्रतिष्ठा की है, और भविष्य में वैसी प्रतिष्ठा की जो सम्भावनाएँ हैं, उन सब के प्रति उसमें वफादारी तथा श्रद्धा की भावना होनी चाहिए। साथ ही मनुष्य के लिये यह उचित है कि वह अपने को धरती के जीवन तक सीमित न करे, बल्कि, समस्त ब्रह्माण्ड के नागरिक के रूप में, तथ्यों तथा मूल्यों के अशेष विस्तार के प्रति प्रतिक्रिया करे। प्लेटो का विचार था कि एक आदर्श राज्य की प्रतिष्ठा दार्शनिकों के शासन में ही हो सकती है। एक जनतन्त्रात्मक राज्य, जिसके शासक समस्त नागरिक होते हैं, आदर्श राज्य तब ही बन सकता है जब उसके नागरिक दार्शनिक हों, अथवा दार्शनिकों की विवेक-बुद्धि के अनुसार चलनेवाले हों। यहाँ यह स्मरण रहे कि दार्शनिक विवेक का अर्थ मुख्यत जीवन के विविध मूल्यों के आपेक्षिक महत्त्व का बोध है।

आज का मनुष्य अपनी अनेक उलझी हुई समस्याओं से तब तक [illegible] नहीं बच सकता जब तक कि वह प्राचीन ऋषियों की उस शिक्षा का महत्त्व न समझे कि हमें अपने को जानना चाहिए। यह शिक्षा उपनिषदों ने दी है, जिन्होंने [illegible], सुकरात और प्लेटो, पास्कल और टॉमस एक्वीनास आदि ने भी दी है। टॉल्स्टॉय, रामकृष्ण परमहंस, और गांधीजी ने भी वैसी ही शिक्षा दी है। मानव व्यक्तित्व उच्चतम कोटि के मूल्यों का अधिष्ठान है, वह केवल भौतिक परिवेश से उठनेवाले उत्तेजनों (Stimuli) के प्रति प्रतिक्रिया करनेवाला यन्त्र नहीं है। मनुष्य की महत्ता इसमें है कि वह उन चीजों का [illegible] करे जो उसके [illegible] हैं और [illegible] हैं, और मूल्यों तथा आदर्शों के उस जगत के प्रति प्रतिक्रिया करे जिसके लिए [illegible] नैतिक एवं सौन्दर्यपूर्ण [illegible] द्वारा प्रयत्न किये जाते हैं। यहाँ [illegible] कि [illegible]

सब से वडे अमेरिकी करोडपति की अपेक्षा से वुद्ध और प्लेटो श्रेष्ठतर मनुष्य जान पडते हैं। मनुष्य की असलियत उसकी सृजनशील प्रकृति में है, वह लगातार अपनी जैवी-सामाजिक प्रकृति की जरूरतो और उनके उपभोग से सम्वद्ध सीमाओ का अतिक्रमण करता है। उसे वैसा अतिक्रमण करते रहना चाहिए।

आज के मनुष्य की सवसे वडी आवश्यकता यह है कि वह अपनी प्रकृति की सृजनात्मक सम्भावनाओ मे फिर आस्था रखना सीखे और उनके प्रति विस्मय तथा श्रद्धा का भाव जागृत करे। इसका यह मतलव नही कि जव तक कि ससार का प्रत्येक मनुष्य चिन्तन तथा मनन की दार्शनिक-आध्यात्मिक ऊँचाई पर न पहुँच जाय तव तक ससार का कल्याण नही हो सकता। मतलव सिर्फ यह है कि दुनिया के लोगो को अपने सामने उन महापुरुषो का आदर्श रखना चाहिए जिन्होने विश्व के कल्याण के लिये ज्ञान का सचय तथा नैतिक-आध्यात्मिक साधना की है, तथा त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए आध्यात्मिक ऊँचाई को प्राप्त किया है—वडे-वडे व्यवसायी पूंजीपति और कूटनीति के ज्ञाता, राज्यों के मत्री और पार्लामेण्टो के सदस्य, जिनके पास धन अथवा शक्ति है, आदर्श-रूप मे नही देखे जाने चाहिएँ।

व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनो धरातलो पर मानव-जीवन का पुनर्निर्माण करने के लिये यह जरूरी है कि हम उस जीवन तथा उसकी अनुभूतियो की गुणात्मक विशेषताओ का अध्ययन करे। धन और जमीन अथवा देशगत विस्तार, अस्त्र-शस्त्र तथा व्यापार आदि के विचार को गौण वना देना पडेगा। यदि विभिन्न देशो के विचारक तथा नेता, और वाद मे सरकारे, हमारे इन मन्तव्यो को स्वीकार कर ले, तो दुनिया के मुख्य देशो मे क्रमश असली साम्यवादी जनतत्रो की स्थापना हो जाय।

निकोलाय वार्द्याएव ने यह प्रतिपादित किया है कि सस्कृति और जीवन तथा सस्कृति और सभ्यता में एक प्रकार का विरोध है। जव जीवन समृद्ध, सभ्य तथा सुखी वन जाता है तव सास्कृतिक सृजनशीलता का ह्रास हो जाता है, और क्रमश सस्कृति का स्थान सभ्यता ले लेती है।[१४] हमारी समझ मे इस निराशावादी मन्तव्य को स्वीकार करने की जरूरत नही है। हमारा अनुमान है कि समृद्ध जीवन भी तव तक वस्तुत सुखी नही हो सकता जव तक उसमे सास्कृतिक क्रियाओ का योग न हो, क्योकि अन्तिम विश्लेषण में, सवसे ऊँची कोटि का आनन्द सास्कृतिक होता है। यह भी नही कहा जा सकता है कि विज्ञान और सभ्यता की प्रगति ने मनुष्य की सृजनात्मक

प्रवृत्तियों को क्षत किया है। विज्ञान और दर्शन की प्रगति विस्मय तथा रहस्य की भावनाओं पर निर्भर करती है, विज्ञान की प्रगति के साथ ये भावनायें घटती नहीं, बल्कि बढ़ती ही जाती हैं। सांस्कृतिक ह्रास का कारण निम्न स्थितियाँ मान [illegible] हैं: लोभ तथा वासनात्मकता की वृद्धि और उच्चतर मूल्यों में अनास्था का प्रसार, इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगों में संयम का अभाव, अच्छाई-बुराई के पैमानों के सम्बन्ध में सन्देहवाद की वृद्धि, आन्तरिकता का अभाव, जीवन के विभिन्न लक्ष्यों तथा हितों के अन्वेषण में दिशाहीनता; उस धैर्य तथा संकल्प-शक्ति की कमी जिनकी संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में उच्च कोटि की उपलब्धियाँ करने के लिये अपेक्षा होती है। तात्पर्य यह कि सांस्कृतिक ह्रास अथवा अध पतन के कारण मुख्यत दो होते हैं: जीवन के मूल्यों तथा उसकी उच्चतर सम्भावनाओं में आस्था का अभाव, और मानवीय महत्वाकांक्षाओं का भौतिक तथा क्षणिक चीजों की ओर रुझान। इस प्रकार की प्रवृत्ति तब होती है जब सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक वातावरण में अनिश्चय की भावना होती है, और लोग कल्पना-मूलक दूरदर्शिता के जीवन से विरत होकर बेचैनी से क्षणिक उत्तेजना-मूलक सुखों को पाने की कोशिश करते हैं। ह्रासोन्मुख संस्कृति एक गहरे अर्थ में अधार्मिक अथवा अनाध्यात्मिक होती है। सांस्कृतिक अध:पतन का एक पक्ष होता है, उच्च वर्ग के लोगों में जन-साधारण के प्रति उपेक्षा। सांस्कृतिक या नैतिक अध पतन का यह पक्ष मानव-व्यक्तित्व की अवहेलना का आवश्यक परिणाम होता है।

सिद्धान्तहीन अवसरवादिता, प्रतियोगिता तथा शोषण को हटाकर समाजवादी व्यवस्था लोगों में भौतिक सामग्री के प्रति अधिक सन्तुलित मनोभाव उत्पन्न कर सकती है। उस व्यवस्था में भौतिक सामग्री की वृद्धि सांस्कृतिक विकास के लिये [illegible] नहीं रहेगी। बात यह है कि भौतिक सम्पत्ति का [illegible] [illegible] आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नहीं होता, उसका कारण प्रायः उस सामाजिक [illegible] की [illegible] होती है जो धनवानों को प्राप्त होता है। समाजवादी व्यवस्था में विभिन्न वर्गों के सम्पत्ति-सम्बन्धी भेद कम हो जायेंगे। इसलिये भौतिक सम्पत्ति का [illegible] कम हो जायगा। उस दशा में भौतिक सम्पत्ति सामाजिक [illegible] का प्रतीक नहीं रह जायगी। और [illegible] समाज का [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] को [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के लिये दूसरी जातियों का शोषण भी नहीं [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] हमें स्वार्थी तथा अत्याचारी बना देती है। [illegible] प्रवृत्तियों के [illegible] [illegible]

दूसरे मनुष्यो को अपने व्यक्तिगत लाभ का साधन समझने लगते है। किन्तु एक सृजनशील व्यक्ति दूसरे मनुष्यो में इसलिये रुचि नही लेता कि वे आगे चलकर उसके लिये लाभकारी सिद्ध होगे, बल्कि इसलिए कि वह उनके सम्पर्क से अपने अस्तित्व को समृद्ध कर सकता है। यदि राष्ट्र सघ जैसी सस्थाएँ मानवजाति की विभिन्न इकाइयो मे एकता स्थापित करना चाहती है, तो उन्हे चाहिए कि व्यक्तियो और जातियो मे इस बात का प्रचार करे कि वे आध्यात्मिक-सास्कृतिक क्रियाओ को अधिक महत्व दे, और दूसरे देशो की वैसी क्रियाओ में साझेदार बनें। जब दुनिया के देश धन तथा शक्ति के बदले सास्कृतिक प्रगति को अपना प्रमुख लक्ष्य बना लेंगे तो उनके लिए यह कठिन नही होगा कि वे अपनी राज्य-शक्ति का एक हिस्सा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था को सौंप दें। यदि प्रो० लास्की का मन्तव्य ठीक है, तो उस दशा में दुनिया के देशो के बीच सच्ची शान्ति की स्थापना हो सकेगी।

## सकेत और टिप्पणियाँ

१ भवभूति, उत्तररामचरितम्, अक ३, श्लोक ६ के बाद।

२. दे० रीडर थॉम्ट, कीर्केगार्डस फिलासफी आव् रिलीजन, (प्रिंसटन, १९४९), पृ० २१।

३ एन्साइक्लोपीडिया आव् द सोशल सायन्सेज़, भाग ५, पृ० ४०३।

४. वही।

५. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, चौदहवां सस्करण, एज्यूकेशन पर लेख, पृ० ९६४।

६. दे० जान एल्० चाइल्ड्स, एज्यूकेशन ऐन्ड मारल्स, (ऐपलेटन सेंचुरी क्राफ्ट्स, न्यूयार्क, १९५०), पृ० २७।

७ थियोडोर ब्रेमेल्ड, पैटर्न्स आव् एज्यूकेशनल फिलासफी, (वर्ल्ड बुक क० न्यूयार्क, १९५०), पृ० १५७।

८. जान एल्० चाइल्ड्स द्वारा उद्धृत, वही पृ० ११३।

९. लिन् युताङ्ग द विज्डम आव् चाइना, (माइकेल जोजेफ, लन्दन, १९४८), पृ० १४।

१०. वही, पृ० १५ (गौरव हमारा)।

११. मनुस्मृति, ५।६

१२. इस सम्बन्ध में दे० मैक्स वेबर, द प्रोटेस्टेन्ट एथिक ऐन्ड द स्पिरिट आफ कैपिटेलिज्म, अं० अनु० टैलकाट पार्सन्स कृत, (चार्ल्स स्क्रिब्नर्स सन्स, न्यूयार्क) और ग्रेन विन्टन, आइडियाज ऐन्ड मैन (जोनेथन केप, लन्दन, १९५१) अध्याय ९-१०।

१३. आर० बी० कैटेल द्वारा उद्धृत साइकालॉजी ऐन्ड द रिलीजस मूवमेन्ट, (टॉमस नेल्सन ऐन्ड सन्स, लन्दन ऐन्ड न्यूयार्क, १९३८), पृ० ६२।

१४. वही, पृ० ५३।

१५. वही, पृ० ५५।

१६. जे० एस० ब्रूवाकर, माडर्न फिलासफीज ऑव् एज्यूकेशन, (मैकग्रा हिल बुक कं०, न्यूयार्क, १९५०), पृ० ३०५।

१७. अरस्तू के सुख-सम्बन्धी विवरण के लिये दे० एथिका नाइकोमेकिया, बुक १

१८. अरस्तू, पॉलिटिक्स, बुक १

१९. दे० जार्ज एच० सैबाइन, ए हिस्टरी आव् पोलीटीकल थियरी (जार्ज जी० हैरेप ऐन्ड कं० लि० लन्दन, १९३९), पृ० ४६३।

२०. वही, पृ० ६४१।

२१. दे० एफ० डब्ल्यू कोकर, रीसेन्ट पोलीटीकल थाट, (दी एपल्टन सेंचुरी कम्पनी, न्यूयार्क और लन्दन, १९३४), पृ० २०४।

२२. वही, पृ० २०९।

२३. हैराल्ड जे० लास्की, द स्टेट इन थियरी ऐन्ड प्रैक्टिस, (जार्ज एलेन एन्ड अनविन्, लि०, लन्दन, १९३६), पृ० १६-१७।

२४. मैकाइवर द्वारा, द वेब आव् गवर्नमेंट, (मैकमिलन, न्यूयार्क, १९४७) पृ० १७ पर उद्धृत।

२५. नग्न शक्ति की परिभाषा के लिये दे० बर्ट्रान्ड रसेल, पावर ए न्यू सोशल एनेलिसिस, (जार्ज एलेन ऐन्ड अन्विन, लन्दन, मुद्रण १९४६), अध्याय ६।

२६ लास्की, वही, पृ० २७।

२७ मैकाइवर, वही, पृ० १२२-२३।

२८. वही, पृ० २११।

२९. राय लेविन और ऐंगस माड, द इंगलिश मिडिल क्लासेज, (पेंगुइन बुक्स, १९५३), अध्याय १।

३०. जनतान्त्रिक उपलब्धियों के अधिक विवरण के लिये दे० कार्ल पापर, द ओपेन सोसायटी ऐन्ड इट्स एनीमीज भाग २ (जार्ज रुटलेज एन्ड सन्स, लि० लन्दन, १९४५), पृ० १२९-३०।

३१ सिलेक्टेड पेपर्स आफ वर्ट्रान्ड रसेल, (द माडर्न लायब्रेरी, न्यूयार्क, १९२७), पृ० ७१।

३२. लास्की, वही, पृ० २२९।

३३. वही।

३४. दे० पी० ए० सारोकिन, सोशल फिलासफीज आव् ऐन एज आव् क्राइसिस, पृ० १४३।

---

# शब्द-कोष

| | |
|---|---|
| अध्यात्म | Religion |
| अध्यात्मवाद<br>प्रत्ययवाद | Idealism |
| अन्तः प्रेक्षण | Introspection |
| अन्वेषण-पद्धति | Methodology |
| अनुभव-निरपेक्ष | Apriori |
| अतिमानव | Superhuman |
| अन्योन्याश्रय | Petitio Principii |
| अवचेतन | Unconscious |
| अवधान | Attention |
| अवयवी | Whole, Gestalt |
| अविच्छिन्नता | Continuity |
| अभिव्यंजनावाद | Expressionism |
| अस्तित्ववाद | Existentialism |
| आंकड़ा विज्ञान | Statistics |
| आक्षिप्त अभिप्राय | Implication |
| आक्षिप्त करना | To imply |
| आगमन | Induction |
| आगमनात्मक<br>आगमन-मूलक | Inductive |
| आत्मनिष्ठ<br>आत्म-गत<br>आत्मगतो | Subjective |
| आत्मनिष्ठतावाद | Subjectivism |

| | |
|---|---|
| आत्मिक | Spiritual |
| आदिम | Primary |
| आध्यात्मिक | Religious |
| आवश्यक, अनिवार्य | Necessary |
| आवश्यक मान्यता | Postulate |
| आवेगात्मक | Emotional |
| आवेग-मूलक | Emotive, Emotional |
| आयाम, सिम्त | Dimension |
| उत्सृष्ट प्रत्यय | Construct |
| उद्योग-तंत्र | Technique of production |
| उदासीनता, वैराग्य | Detachment |
| उपचेतन | Sub-conscious |
| उपयोगिता | Utility |
| उपयोगी | Utilitarian, useful |
| उपलब्धि | Achievement |
| ऋणात्मक | Negative |
| एकात्मकता | Identity |
| कथन | Proposition |
| कथन-रूप | Propositional form |
| कल्पना | Imagination |
| कल्पना-मूलक | Imaginative |
| कल्पना-प्रसूत | Speculative |
| काल्पनिक प्रयोग | Imaginary Experiment |
| कृति-शक्ति | Will |
| क्रम | Order |
| गत्यात्मक | Dynamic |
| गुणात्मक | Qualitative |
| गुह्य शक्ति | Mana |
| गुह्य शक्तिवाद | Manaism |

| | |
|---|---|
| चरम तत्व | Reality |
| चरम श्रेय<br>परम श्रेय | Summum Bonum |
| चिदचिद्भिन्नाद्वैत | Neutral Monism |
| जातिप्रत्ययवाद | Theory of Ideas |
| तत्व-दर्शन | Ontology, Metaphysics |
| तथ्य | Fact |
| तथ्य-सामग्री | Data |
| तर्क-मूलक<br>तार्किक | Logical |
| तर्क-मूलक भाववाद | Logical Positivism |
| तारतम्यात्मक श्रेणी | Hierarchy |
| तार्किक आधार | Ground |
| दर्जे | Degrees |
| देश-काल-सातत्य | Space-Time Continuum |
| द्वैत<br>द्वैतवाद | Dualism |
| धनात्मक | Positive |
| धारणा | Concept |
| निगमन | Deduction |
| निश्चयात्मक | Necessary, Certain |
| निष्कृष्ट | Deduced |
| निष्कृष्ट नियम | Derivative Laws |
| निर्धारक | Determinant |
| निर्धारण | Determination |
| निर्वैयक्तिकता | Impersonality |
| निर्मिति | Construction |
| पक्षवाक्य | Premise |
| पद | Term, Status |
| पद्धति | System, Method |

| | |
|---|---|
| पद्धति-मूलक भौतिकवाद | Methodological Materialism |
| परम्परा | Tradition |
| परिणमन | Reduction |
| परिभापा | Definition |
| परिभाषित करना | To define |
| परिवर्तन-मूलक सहचार | Functional Correlation |
| परिवेश | Environment |
| पुनरुक्ति | Tautology |
| पुनर्जागृति | Renaissance |
| पुनर्निर्माण, पुनर्ग्रंथन | Reconstruction |
| पुन सगठन, पुनर्ग्रंथन | Rearrangement |
| पूर्वाभासित करना | Anticipate |
| प्रत्यय | Idea, Concept |
| प्रत्याहरण | Abstraction |
| प्रतिभा, प्रतिभाशाली | Genius |
| प्रतीक | Symbol |
| प्रभाववादी आलोचना | Impressionistic Criticism |
| प्रामाणिकता | Validity |
| प्रेषण | Communication |
| भूतशास्त्रवाद, भौतिकतावाद | Physicalism |
| मात्रा-मूलक | Quantitative |
| मानववाद | Humanism |
| मानदण्ड, पैमाना | Criterion |
| मानवीय अधीतियाँ | Humanities |
| मानवीय विद्याएँ | Human Studies |
| मूल गुण | Primary Quality |
| मूल प्रवृत्ति | Impulse |

| | |
|---|---|
| मूल्य | Value |
| मूल्यानुप्राणित<br>मूल्यात्मक | Evaluative |
| यन्त्रवाद | Mechanism |
| रचना-तंत्र<br>शिल्प-विधान | Technique |
| रूपाकार | Form |
| वक्तव्य | Statement, Proposition |
| वर्ग | Class |
| वस्तुगत, वस्तु-परक, वस्तुपाती | Objective |
| विक्षिप्त | Neurotic |
| विवर्तमान मूल्य या तत्त्व | Variable |
| विकास | Evolution, Development |
| विकासवाद | Evolutionism |
| विद्युदणु | Electric Particles |
| विवर्त, आभास | Appearance |
| विविक्त करना | Distinguish |
| विपरीत | Contrary |
| विरोध | Contradiction |
| विरोधी, विरुद्ध | Contradictory |
| विस्तार | Extension |
| वियोजक | Analytic |
| विरोधाभास | Paradox |
| वेग | Velocity, Speed |
| व्यक्तिवाद | Individualism |
| व्यवक्रम | Arrangement, Order |
| व्याख्या | Explanation |
| व्याख्यात्मक | Explanatory Principle or Concept. |
| व्यापन | Diffusion |

| | |
|---|---|
| वैचित्र्य-मूलक कल्पना | Fancy |
| सकट | Crisis |
| सदेहवाद, सशयवाद | Scepticism |
| सप्रेषण | Transmission |
| सयोजक | Synthetic |
| सवेदना | Feeling |
| सभावना | Possibility |
| सस्कृति | Culture |
| सस्थान | Pattern |
| सदसद्बुद्धि | Conscience |
| सभ्यता | Civilization |
| समष्टि | System, Whole |
| समानात्मक | Identical |
| ममाजशास्त्रीय आलोचना | Sociological Criticism |
| सर्वाहवाद | Solipsism |
| महचार | Correlation |
| महप्रामाणिकता | Simultaneous Validity |
| महमति, समझौता | Contract |
| साधनात्मक मूल्य | Instrumental Value |
| साध्यात्मक मूल्य | Ultimate Value |
| सापेक्ष | Relative |
| सापेक्षवाद | Relativity |
| सापेक्षतावाद | Relativism |
| मामान्य | General, Normal |
| सामान्य कथन | Generalisation |
| मामान्यरूपता | Normality |
| मार्थकता | Significance |
| सार्वभौम | Universal |
| मीढी, सोपान | Stage |

| | |
|---|---|
| सृजनात्मक }<br>सृजनशील } | Creative |
| सृजनशीलता | Creativity |
| स्तर | Level |
| स्थापना-निगमन-मूलक | Hypothetical-Deductive |
| स्थित्यात्मक | Static |
| हेतु | Reason |
| हेतुस्थिति | Condition |

———

| | |
|---|---|
| सृजनात्मक<br>सृजनशील | Creative |
| सृजनशीलता | Creativity |
| स्तर | Level |
| स्थापना-निगमन-मूलक | Hypothetical-Deductive |
| स्थित्यात्मक | Static |
| हेतु | Reason |
| हेतुस्थिति | Condition |

---